ण
विवेचन

वेद प्रकाश वर्मा



हिंदी माध्यम कार्यान्वय नि
दिल्ली विश्वविद्यालय

दर्शन-विवेचना

पुस्तक के विषय में

प्रस्तुत पुस्तक में प्रोफेसर वर्मा के तीस दार्शनिक निबंध संग्रहीत हैं जो उन्होंने गत बीस वर्षों में लिखे हैं और जिन्हें तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में कुछ प्रमुख पाश्चात्य तथा भारतीय दार्शनिकों से संबंधित निबंध संकलित हैं जिनमें उन्होंने इन दार्शनिकों के मुख्य सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन और मूल्यांकन किया है। दूसरे भाग के निबंधों का मूल विषय नैतिक दर्शन है जिसके अंतर्गत प्रोफेसर वर्मा ने नैतिक भाषा तथा मनुष्य के आचरण और उसके जीवन के चरम लक्ष्य से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण नैतिक समस्याओं की विवेचना की है। अंतिम भाग में धर्म-दर्शन विषयक निबंध सम्मिलित किए गए हैं, जिनमें उन्होंने धार्मिक कथनों का अर्थ, धार्मिक अनुभव, ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा की अमरता, विश्व-रचना की अवधारणा, उपासना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद आदि धर्म-दर्शन संबंधी विषयों पर तार्किक दृष्टि से विचार किया है। परिशिष्ट के अंतर्गत स्त्री और पुरुष के अधिकारों तथा नारी की सामाजिक समस्याओं के संबंध में गांधी जी के विचारों की समीक्षा की गई है।

संपूर्ण पुस्तक में जीवन और जगत् के प्रति प्रोफेसर वर्मा का तर्कपूर्ण प्रकृतिवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है जिसमें ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि अतिप्राकृतिक तथा पारलौकिक सत्ताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। हमें विश्वास है कि अभी तक प्रकाशित उनकी अन्य सात पुस्तकों की भांति यह पुस्तक भी दर्शनशास्त्र के अध्येताओं के लिए उपादेय तथा ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

अपने दोनों अनुजों
श्री चंद्र प्रकाश तथा
डॉ० महेंद्र कुमार को
सस्नेह समर्पित

दर्शन-विवेचना

डॉ० वेद प्रकाश वर्मा
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण 1989
प्रतियाँ 3300

संयोजक मंडल

प्रो० के०जी० मुकर्जी
अध्यक्ष, सलाहकार समिति

डॉ० जगदीश चन्द्र मूना
संयोजक

श्री लज्जाराम सिहल
सहसंयोजक

यह पुस्तक मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की गई है।

मूल्य 50 रुपए

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय ... /... मॉडल टाउन दिल्ली-110 009 द्वारा प्रकाशित तथा दिग्विजय फोटो टाइप सैटर्स, डी-288-289 गली नं 10, लक्ष्मी नगर विकास मार्ग, दिल्ली-110 092 द्वारा कम्पोज होकर ~~सिटीजन प्रेस, ... चक्रावल रोड, दिल्ली-110 007 द्वारा मुद्रित~~
राजेन्द्र ... दिल्ली-6 द्वारा ...

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक **दर्शन-विवेचना** प्रोफेसर वेद प्रकाश वर्मा, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा लिखी गई है जो विषय के अधिकारी विद्वान हैं और साथ ही एक सफल लेखक भी। इस पुस्तक मे दर्शन शास्त्र से संबंधित चुने हुए विषयो पर लेखक के 30 लेखों का संग्रह है। कुछ लेख प्रमुख पाश्चात्य तथा भारतीय दार्शनिको के दर्शन से संबंधित हैं तो कुछ नैतिक दर्शन से संबंधित। कुछ लेखो का संबध धर्मदर्शन से है। लेखक ने विभिन्न दार्शनिको के सिद्धातो की विवेचना करने के साथ-साथ जीवन और जगत् के प्रति स्वय अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है जिसे लेखक **प्रकृतिवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण** की सज्ञा देते है, क्योंकि इसमे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि अतिप्राकृतिक तथा पारलौकिक सत्ताओ के लिए कोई स्थान नही है। धर्मदर्शन-संबधी लेखो मे धार्मिक भाषा धार्मिक अनुभव, ईश्वर की सत्ता आत्मा की अमरता, विश्वरचना की अवधारणा, उपासना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवतावाद आदि का लेखक ने उल्लेख किया है। परिशिष्ट मे डॉ० वर्मा ने स्त्री-पुरुष के अधिकारो तथा नारी की सामाजिक समस्याओं के सबध मे गाँधी जी के विचारो की समीक्षा की है। इस प्रकार सामान्य पाठक के लिए भी यह पुस्तक बडी रोचक है।

जैसा कि विदित है, **हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय**, दिल्ली विश्वविद्यालय के एक विभाग के रूप मे हिंदी माध्यम के छात्रों के लिए उपयोगी पाठ्य-सामग्री तैयार करने का कार्य कर रहा है। निदेशालय ने विश्वविद्यालय के अनुभवी अध्यापको के सहयोग से अनेक विषयो पर मानक पुस्तके तैयार की हैं जिनमे से कुछ तो सपादित पुस्तके हैं जिन्हे अनेक लेखको ने मिलकर तैयार किया है और कुछ ऐसी हैं जिन्हे अलग-अलग लेखको ने अलग-अलग पुस्तक के रूप मे हमारे लिए तैयार किया है। इसके अलावा निदेशालय ने कुछ अनूदित पुस्तको का भी प्रकाशन किया है जिनकी हिंदी माध्यम के छात्रो को आवश्यकता थी। इस प्रकार निदेशालय ऐसी मानक पुस्तके तैयार कर रहा है जो अँग्रेजी मे उपलब्ध पुस्तको की तुलना मे किसी भी दृष्टि से कम न हों।

इससे पूर्व निदेशालय डॉ० वर्मा की एक पुस्तक **समकालीन विश्लेषणात्मक धर्मदर्शन** का प्रकाशन कर चुका है जिसका शिक्षा-जगत् मे स्वागत हुआ और शीघ्र ही इसका दूसरा सशोधित सस्करण प्रकाशित किया गया। इस पुस्तक पर डॉ० वर्मा को पुरस्कार भी मिल चुका है।

मैं प्रोफेसर एस०आर० भट्ट, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग का आभारी हूँ जिन्होंने पाडुलिपि को आद्योपान्त पढकर कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए जिनसे पुस्तक बहुत उपयोगी बन गई है।

जगदीश चन्द्र मूना
निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक में विषय-प्रवेश तथा परिशिष्ट सहित दर्शन विषयक मेरे तीस लेख संग्रहीत हैं जो मैंने गत बीस वर्षों में लिखे हैं। संपूर्ण पुस्तक को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में कुछ प्रमुख पाश्चात्य तथा भारतीय दार्शनिकों के दर्शन से संबंधित लेख संकलित हैं। इन लेखों में मैंने प्रत्येक दार्शनिक के मुख्य सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन तथा मूल्यांकन किया है। दूसरे भाग में नैतिक दर्शन संबंधी लेख सम्मिलित किए गए हैं जिनमें मैंने नैतिक भाषा और मानव के आचरण तथा अंतिम ध्येय से संबंधित विभिन्न नैतिक समस्याओं की विवेचना की है। तीसरे और अंतिम भाग में धर्म-दर्शन विषयक लेख संग्रहीत हैं। इन लेखों में धर्म-दर्शन संबंधी कुछ प्रमुख समस्याओं का विवेचन किया गया है जिनमें धार्मिक भाषा, धार्मिक अनुभव, ईश्वर की सत्ता आत्मा की अमरता, विश्व-रचना की अवधारणा, उपासना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानवतावाद आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। परिशिष्ट के अंतर्गत स्त्री और पुरुष के अधिकारों तथा नारी की सामाजिक समस्याओं के विषय में गाँधी जी के विचारों की समीक्षा की गई है। पुस्तक के अंत में पाठकों की सुविधा के लिए हिंदी पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी दे दिए गए हैं।

विभिन्न दार्शनिकों के सिद्धांतों की विवेचना करने के साथ-साथ मैंने प्रस्तुत पुस्तक में जीवन और जगत् के प्रति स्वयं अपना दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है जिसे मेरे विचार में प्रकृतिवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इसमें ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि अतिप्राकृतिक तथा पारलौकिक सत्ताओं के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में मैंने अनेक दार्शनिकों के ग्रंथों से सहायता ली है जिनके नामों का उल्लेख मैंने यथास्थान पाद टिप्पणियों में कर दिया है। मैं इन सभी दार्शनिकों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

इस पुस्तक में संकलित कुछ लेख 'दार्शनिक त्रैमासिक' नामक पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं जिन्हें यहाँ पुनः प्रकाशित करने की औपचारिक अनुमति देने के लिए मैं इस पत्रिका के संपादक डा० रेवती रमण पांडेय का बहुत आभारी हूँ।

श्री संजय माहनक कुमारी विजयलक्ष्मी त्रिपाठी, कुमारी निरुपमा सक्सेना, कुमारी रुचिरा शर्मा कुमारी अंजू जसूवाल आदि छात्र-छात्राओं ने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को सुधारने में मेरी सहायता की है जिसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

मैं अपने मित्र, श्री सेमन सिंह, कार्यालय सहायक श्री गजेन्द्र सिंह बिष्ट तथा अपने भतीजे, श्री अवधेश कुमार के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के कुछ प्रूफ पढ़कर उन्हें सुधारने का कष्ट किया है।

चन्द्र मुना तथा उनके सहयोगी, श्री लज्जाराम सिंहल एवं डॉ० कृष्णदत्त शर्मा का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ जिनके सहयोग से इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हो सका है।

अंत में मैं अपनी पत्नी कृष्णा के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिसने इस पुस्तक की रचना में मुझे अपना पूर्ण सक्रिय सहयोग प्रदान किया है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक हिंदी माध्यम से दर्शन का अध्ययन और अध्यापन करने वाले विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के लिए ज्ञानवर्धक एवं उपादेय सिद्ध हो सकेगी।

वेद प्रकाश वर्मा

विषय-सूची

भाग-1 कुछ प्रमुख दार्शनिक

भाग-2 नैतिक दर्शन

भाग-3 धर्म-दर्शन

परिशिष्ट

विषय-प्रवेश

दर्शन क्या है?

कुछ प्रमुख दार्शनिकों के मूल सिद्धान्तों तथा नैतिक दर्शन और धर्मदर्शन की कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विवेचन करने से पूर्व इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि दर्शन का स्वरूप एवं क्षेत्र क्या है। वस्तुतः दर्शन की कोई निश्चित और सर्वसम्मत परिभाषा करना बहुत कठिन है क्योंकि इस शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। सामान्य व्यक्ति को 'दर्शन' शब्द का अर्थ बहुत ही अस्पष्ट प्रतीत होता है जिसके कारण वह इसके संबंध में अपनी कोई निश्चित अवधारणा नहीं बना पाता। जब वह यह शब्द पढ़ता या सुनता है तो सामान्यतः उसके मन में कुछ ऐसी बातों का विचार आता है जिनका संबंध ईश्वर, आत्मा आदि अलौकिक आध्यात्मिक सत्ताओं से है और जो अत्यंत कठिन होने के कारण उसकी समझ से परे है। दर्शन के विषय में जन-साधारण की यही अवधारणा इस भ्रामक विचार को जन्म देती है कि दर्शन एक ऐसा कठिन बौद्धिक विषय है जिसका मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से कोई संबंध नहीं है। दर्शन निश्चय ही बौद्धिक विषय है और अपेक्षाकृत कुछ कठिन भी है, किन्तु इसे अलौकिक आध्यात्मिक सत्ताओं तक सीमित तथा मानव-जीवन से पृथक या असंबद्ध मानना भ्रामक है।

वास्तव में साहित्य के समान ही दर्शन भी मनुष्य के जीवन से प्रत्यक्षतः संबंधित है, क्योंकि इन दोनों की विषय-वस्तु मानव-जीवन की शाश्वत मूल समस्याएँ हैं। इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि साहित्य का प्रधान तत्त्व भावना है जबकि दर्शन का मुख्य तत्त्व विचार या तर्क है। 'दर्शन' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'देखना' या 'खोजना'। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से 'दर्शन' का अर्थ है 'सत्य का अनुसंधान' अथवा 'सत्य की खोज'। जो निष्पक्ष विचार एवं तर्क के आधार पर जीवन तथा जगत् के मूल सत्यों का अनुसंधान करता है वही दर्शन है। दर्शन के लिए अँग्रेजी भाषा में प्रचलित **'फ़िलॉसॉफी'** शब्द का भी लगभग यही अर्थ है। इस शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के **'फिलॉसॉफ़ॉस'** तथा 'सोफिया' इन दो शब्दों से हुई है जिनका अर्थ क्रमशः 'प्रेम' और 'ज्ञान' अथवा 'विद्या' है। इस प्रकार शब्दार्थ की दृष्टि से 'फिलॉसॉफी' का अर्थ है **'विद्यानुराग'** या **'ज्ञान के प्रति प्रेम'**। इस अर्थ से भी यही ध्वनित होता है कि 'फिलॉसॉफी' जीवन के शाश्वत मूल सत्यों के ज्ञान के प्रति अनुराग है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'दर्शन' तथा 'फिलॉसॉफी' दोनों शब्दों के अर्थ में ज्ञान अथवा चिंतन विषयक तत्त्व की प्रधानता है और यही दर्शन का मूल तत्त्व भी है।

दर्शन के अर्थ को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिए उसके उपर्युक्त बौद्धिक तत्त्व पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि यही तत्त्व उसे साहित्य, कला, धर्म आदि कुछ अन्य विषयों से पृथक करता है। वस्तुतः दर्शन की वही परिभाषा सन्तोषप्रद मानी जा सकती है जिसमें उसके इस चिंतन प्रधान बौद्धिक तत्त्व को समुचित स्थान दिया गया हो। यद्यपि दर्शन की कोई ऐसी परिभाषा

ना बहुत कठिन है जो सर्वमान्य हो और जिसे सभी दृष्टियों से संतोषप्रद माना जा सके, फिर भी र्शन की मूल विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए हम उसकी निम्नलिखित परिभाषा दे सकते हैं

'दर्शन मनुष्य का वह बौद्धिक प्रयास है जिसके द्वारा वह किसी भी विषय से संबंधित मूल त्त्वों अथवा आधारभूत मान्यताओं की तर्कसंगत एवं निष्पक्ष परीक्षा करता है और उसके संबंध में वल तर्क के आधार पर अपना मत निश्चित करता है।' इस परिभाषा से स्पष्ट है कि दर्शन मनुष्य ी वह विशुद्ध बौद्धिक क्रिया है जिसमें निष्पक्ष चिंतन, तर्क और विश्लेषण का सर्वप्रमुख स्थान ोता है। अब हम संक्षेप से दर्शन के उन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की व्याख्या करेंगे जिनकी ओर उपर्युक्त रिभाषा में संकेत किया गया है।

(1) दर्शन के स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है कि दर्शन का मूल आधार मनुष्य की तर्कबुद्धि अथवा विवेक-शक्ति है। मानवीय संवेगों या भावनाओं का दर्शन में कोई स्थान नहीं है। जब दार्शनिक किसी विषय की निष्पक्ष व्याख्या अथवा विवेचना करता है तो वह भावनाओं या संवेगों से पूर्णतः मुक्त हो कर केवल अपनी तर्कबुद्धि पर निर्भर रहता है। यदि कोई दार्शनिक किसी विषय की विवेचना करते समय अपने संवेगों या पूर्वाग्रहों से प्रभावित होता है तो निष्पक्ष न होने के कारण उसकी इस विवेचना का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि दर्शन का यह विशुद्ध बौद्धिक पक्ष उसे उन सभी विषयों से पृथक करता है जिनमें भावनाओं, संवेगों या अभिवृत्तियों की प्रधानता होती है। इन विषयों में साहित्य, कला, धर्म आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी विषयों के विपरीत दर्शन निष्पक्ष रूप से पूर्णतः तर्क का ही अनुसरण करता है— फिर चाहे इसके परिणाम कुछ भी हों। इस प्रकार विशुद्ध बौद्धिकता अथवा तार्किकता दर्शन की अनिवार्य मूल विशेषता है।

(2) दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है उसका अत्यधिक व्यापक क्षेत्र। दर्शन किसी भी विषय अथवा समस्या के मूल तत्त्वों या उसकी आधारभूत मान्यताओं का निष्पक्ष रूप से विश्लेषण कर सकता है, उसका क्षेत्र किसी एक विषय अथवा समस्या तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक विषय की कुछ आधारभूत मान्यताएँ होती हैं जिन्हें वह बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लेता है और जिन पर उसका अस्तित्व एवं संपूर्ण विकास निर्भर होता है। साहित्य, विज्ञान, कला, धर्म, राजनीति, समाज, इतिहास, कानून आदि सभी विषयों के संबंध में यही बात कही जा सकती है। किसी विषय की ये मूलभूत मान्यताएँ कहाँ तक सत्य एवं तर्कसंगत हैं, इस प्रश्न के समुचित उत्तर पर ही वास्तव में उसका महत्त्व निर्भर है और दर्शन इसी प्रश्न का स्पष्ट रूप से उत्तर देने का प्रयास करता है। दर्शन ही हमें यह बताता है कि किसी विषय की कौन-सी आधारभूत मान्यताएँ सत्य हैं और कौन-सी मिथ्या। यही कारण है कि दर्शन का संबंध किसी एक विषय के साथ न हो कर सभी विषयों के साथ है। संसार में ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है जो दर्शन से असंबद्ध हो और जिसे दर्शन की सहायता की आवश्यकता न पड़ती हो। 'साहित्य-दर्शन', 'विज्ञान-दर्शन', 'कला-दर्शन' 'धर्म-दर्शन', 'राजनीति-दर्शन', 'समाज-दर्शन' 'इतिहास-दर्शन', 'कानून-दर्शन' आदि इसी तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। इन सभी विषयों के लिए दर्शन अनिवार्य है, क्योंकि वही इनकी आधारभूत मान्यताओं के सत्य अथवा मिथ्या होने की निष्पक्ष परीक्षा करता है। इसी कारण बहुत प्राचीन काल से ही दर्शन को

समस्त 'विज्ञानो का विज्ञान' माना जाता रहा है और आज भी किसी विषय की उच्चतम उपाधि को 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसॉफी' या 'पी-एच०डी०' कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, क्योंकि ससार के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय के साथ वह अनिवार्यत संबद्ध रहता है।

किसी भी विषय से सबधित विश्वासो अथवा मान्यताओ को स्वीकार या अस्वीकार करने से पूर्व उनकी निष्पक्ष रूप से आलोचनात्मक परीक्षा करना दर्शन की तीसरी अनिवार्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे अन्य सभी विषयो से पृथक करती है। दार्शनिक किसी विश्वास अथवा मान्यता को तब तक स्वीकार या अस्वीकार नही करता जब तक वह सभी प्रासंगिक तथ्यो और समुचित प्रमाणो के आधार पर उसकी भलीभाँति आलोचनात्मक परीक्षा नही कर लेता। इस प्रकार की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा के लिए कुछ नियमो का पालन करना प्रत्येक विचारक या दार्शनिक का अनिवार्य कर्तव्य माना जाता है। सक्षेप मे ये नियम निम्नलिखित है

(क) **स्पष्टता का नियम:** किसी भी विश्वास या सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा करने के लिए सर्वप्रथम उन शब्दो तथा अवधारणाओ का ठीक-ठीक अर्थ समझना आवश्यक है जिनके माध्यम से उसे अभिव्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि हम 'ईश्वर', 'आस्था', 'श्रुति', 'ज्ञान' आदि शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ नही समझते तो हमारे लिए इनसे सबंधित सिद्धान्तो और मान्यताओ की आलोचनात्मक परीक्षा करना सभव नही है। इसी कारण समकालीन दर्शन मे सभी महत्त्वपूर्ण विषयो से सबंधित भाषा के समुचित विश्लेषण को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। वस्तुत किसी भी विषय की आलोचनात्मक परीक्षा के लिए उसे अभिव्यक्त करने वाली भाषा का भलीभाँति विश्लेषण करके उसके अर्थ को स्पष्ट करना अनिवार्य है।

(ख) **संगति का नियम.** जब कोई व्यक्ति किसी विशेष सिद्धान्त या विश्वास को स्वीकार करने का दावा करता है तो दार्शनिक के लिए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि उसके विचारो मे सगति है अथवा नही। ऐसा कोई भी विश्वास या सिद्धान्त तर्कसगत नही हो सकता जिसमे स्वतोव्याघात विद्यमान है—अर्थात् जिसकी मान्यताओ मे परस्पर विरोध है। इसका कारण यह है कि उसकी परस्पर विरोधी मान्यताएँ हमारे लिए उसे निरर्थक बना देती है। उदाहरणार्थ किसी घातक रोग से ग्रस्त होने पर यदि कोई व्यक्ति एक ओर तो यह कहता है कि ईश्वर की उपासना करने से वह पूर्णत स्वस्थ हो जाएगा और दूसरी ओर वह योग्य चिकित्सको का परामर्श लेता है तथा उनके द्वारा दी गई औषधियो का सेवन भी करता है तो यह स्पष्ट है कि उसके विचारो मे गंभीर असगति अथवा स्वतोव्याघात विद्यमान है। यह असगति उसके विचारो को तर्कहीन और निरर्थक बना देती है, क्योंकि रोग-मुक्त होने के लिए वह ईश्वरोपासना के प्रभाव तथा चिकित्सा-विज्ञान की क्षमता इन दोनो परस्पर विरोधी विश्वासो को एक साथ स्वीकार करता है। ऐसे स्वतोव्याघातपूर्ण विचार या सिद्धान्त कभी भी सत्य और तर्कसगत नही हो सकते इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से केवल उन्ही विश्वासों

विचारों या सिद्धांतों को सत्य माना जा सकता है जो स्वतोव्याघात से पूर्णतः मुक्त हों– अर्थात् जिनमे संगति विद्यमान हो।

(ग) **तथ्यों की खोज और स्वीकृति का नियम** किसी विश्वास अथवा सिद्धांत की आलोचनात्मक परीक्षा करने के लिए यह अनिवार्य है कि उससे संबंधित सभी तथ्यो को खोजा जाए और उन्हे ध्यान में रखते हुए उसके सत्य या मिथ्या होने का निर्णय किया जाए। इस संबंध मे किसी ऐसे प्रासंगिक तथ्य की उपेक्षा करना जो हमारे सिद्धांत के विरुद्ध होने के कारण हमे अप्रिय है उसकी आलोचनात्मक परीक्षा मे निश्चय ही बाधक होगा। परंतु इस प्रकार की परीक्षा के लिए सभी प्रासंगिक तथ्यो को खोजना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हे बिना किसी संकोच के स्वीकार करना और समुचित महत्त्व देना भी आवश्यक है। मनुष्य की यह स्वाभाविक दुर्बलता है कि वह जानबूझ कर ऐसे तथ्यो को प्रायः अस्वीकार करता है जो उसके विश्वास या सिद्धांत का खंडन करते हैं। परंतु दार्शनिक के लिए इस दुर्बलता से पूर्णतः मुक्त होना बहुत आवश्यक है अन्यथा वह निष्पक्ष आलोचक होने के अपने गंभीर दायित्व की कभी पूर्ति नहीं कर सकता। वस्तुतः किसी विश्वास या सिद्धांत की आलोचनात्मक परीक्षा करते समय उससे संबंधित सभी प्रासंगिक तथ्यो को खोजना और पूर्णतः तटस्थ एवं निष्पक्ष होकर उन्हे स्वीकार करना तथा समुचित महत्त्व देना दार्शनिक का अनिवार्य कर्त्तव्य है। समस्त प्रासंगिक तथ्यो की निष्पक्ष खोज तथा समुचित स्वीकृति के कारण उपर्युक्त नियम को '**निष्पक्षता का नियम**' भी कहा जा सकता है। इस नियम के अनुरूप कार्य कर के ही दार्शनिक अपने दायित्व की पूर्ति कर सकता है।

(घ) **प्रमाणों की अनिवार्यता का नियमः** किसी भी विचार, विश्वास, मान्यता अथवा सिद्धांत को सत्य मानने से पूर्व उसके समर्थन मे पर्याप्त एवं समुचित प्रमाणों की खोज करना दार्शनिक के लिए अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि केवल पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाण ही वास्तव मे किसी मान्यता, सिद्धांत या विश्वास का सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित कर सकते हैं। ऐसे प्रत्येक विश्वास या सिद्धांत की मान्यता संदिग्ध ही मानी जा सकती है जिसकी पुष्टि के लिए हमारे पास कोई विश्वसनीय प्रमाण नही है। किसी भी विश्वास या सिद्धांत के सत्य अथवा मिथ्या होने के संबंध मे हमारे लिए अपना निश्चित निर्णय तब तक स्थगित रखना आवश्यक हो जाता है जब तक उसके पक्ष या विपक्ष मे हमे स्पष्ट, पर्याप्त और विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त नही हो जाते। प्रमाणों की माँग करने का यह नियम दार्शनिक को सभी प्रकार के पूर्वाग्रहो से मुक्त हो कर किसी मान्यता, विश्वास अथवा सिद्धांत की सत्यता या प्रामाणिकता के विषय मे तर्कसंगत रूप से विचार करने के लिए प्रेरित करता है। इसी नियम के आधार पर हम प्रामाणिक सिद्धांतो को सभी प्रकार के अंध-विश्वासो से पृथक कर सकते हैं जो प्रमाणित न हो सकने के कारण पूर्णतः मिथ्या होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह नियम तथ्यों की खोज तथा स्वीकृति से संबंधित उपर्युक्त तीसरे नियम के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है। इसका कारण यह है कि किसी सिद्धांत या विश्वास के सत्य अथवा मिथ्या होने के प्रमाण उससे संबंधित प्रासंगिक तथ्यों से ही प्राप्त हो सकते हैं। इसी प्रकार संगति संबंधी दूसरे नियम का भी प्रमाण विषयक चौथे नियम के साथ अनिवार्य

> संबध है, क्योकि, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, किसी सिद्धात मे असगति या स्वतोव्याघात का होना उसे अप्रामाणिक बना देता है। सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सभी नियमो का भलीभाँति पालन करके ही दार्शनिक किसी विश्वास अथवा सिद्धान की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा कर सकता है जो दर्शन का मुख्य काय है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी विषय के सूक्ष्म विश्लेषण या निष्पक्ष मूल्याकन के रूप मे दर्शन मानवै-ज्ञान के सभी महत्त्वपूर्ण विषयो से सबधित है और इस दृष्टि से उसका क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। परन्तु इसके साथ ही दर्शन मानव-जीवन की कुछ ऐसी मूल समस्याओ की भी गभीर विवेचना करता है जो केवल उसी के क्षेत्र मे आती है और जिनकी विवेचना अन्य कोई विज्ञान या शास्त्र नही करता। ये वे समस्याएँ हैं जिनका सबध ब्रह्माड की रचना और अतिम सत्ता, उसके रचयिता तथा उसके विकास का लक्ष्य, ज्ञान का स्वरूप एव प्रमाणीकरण मानव-जीवन का परम ध्येय तथा मानवीय आचरण का मानदड, निष्पक्ष चितन एव तर्कना के मूल सिद्धात, सौदर्य का स्वरूप तथा सौदर्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति के साधन आदि विषयो से है। इन सभी विषयो का विस्तृत विवेचन तत्त्वमीमासा, ज्ञानमीमासा, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र सौंदर्यशास्त्र आदि दर्शन की प्रमुख शाखाओ मे किया जाता है। इसी कारण उक्त सभी विषयो को दर्शन के मूल विषय माना जाता है और इन विषयो के अतर्गत जिन समस्याओ की विवेचना की जाती है उन्हे दर्शन की आधारभूत समस्याएँ कहा जा सकता है।

प्राचीन काल से वर्तमान युग तक दर्शन के दीर्घकालीन इतिहास मे महान दार्शनिको द्वारा उठाए गए निम्नलिखित प्रश्नो से दर्शन की उपर्युक्त आधारभूत समस्याओ को कुछ सीमा तक समझा जा सकता है इस ब्रह्माड की रचना कैसे, क्यो और किसके द्वारा की गई है? इसकी अतिम सत्ता का स्वरूप क्या है? क्या यह अतिम सत्ता निर्जीव पुद्गल है अथवा क्या यह कोई चेतनापूर्ण आध्यात्मिक शक्ति है? यदि इस ब्रह्माड का कोई रचयिता है तो उसका स्वरूप क्या है? क्या उसने किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति के लिए इसकी रचना की है? क्या वास्तव मे ईश्वर तथा आत्मा का अस्तित्व है और यदि इनका अस्तित्व है तो इनका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या मनुष्य की मृत्यु के पश्चात उसके शरीर के साथ ही उसका जीवन सदा के लिए समाप्त हो जाता है अथवा क्या मृत्यु के उपरात भी किसी अन्य रूप मे उसका अस्तित्व बना रहता है? क्या दिक् और काल की वस्तुगत एव स्वतत्र सत्ता है अथवा क्या मनुष्य ने केवल अपनी सुविधा के लिए इन प्रत्ययो की रचना की है? मानव-जीवन का अतिम लक्ष्य क्या है और इसकी प्राप्ति किस प्रकार सभव है? क्या इस ससार मे सचमुच 'अच्छाई' और 'बुराई' है अथवा क्या 'अच्छाई' और 'बुराई' केवल परिस्थिति-सापेक्ष शब्द मात्र हैं? हम किस मानदण्ड के आधार पर मानवीय आचरण को शुभ या अशुभ कह सकते हैं और इस मानदड के औचित्य की परीक्षा कैसे की जा सकती है? मनुष्य इस ससार मे जो ज्ञान प्राप्त करता है उसका वास्तविक स्वरूप क्या है और उसे प्रमाणित करने के लिए किस प्रकार के प्रमाण दिए जा सकते हैं? सौदर्य का वास्तविक स्वरूप क्या है और हम किस मानदड के आधार पर किसी व्यक्ति तथा वस्तु को सुदर या कुरूप कह सकते है? क्या सौदर्य बाह्य वस्तुओ मे ही विद्यमान रहता है अथवा क्या यह मनुष्य की अपनी दृष्टि पर ही निर्भर है? हमारे चिंतन के आधारभूत नियम क्या है और हम किन मानदडों द्वारा अपने तर्कों की प्रामाणिकता का निर्णय कर सकते है? क्या इस विश्व मे कोई निश्चित व्यवस्था और कारण कार्य सबधी अनिवार्य नियम है अथवा क्या इसमें घटित होनेवाली समस्त घटनाएँ केवल सयोग क ही घटित होती

हैं? ये सभी तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक प्रश्न दर्शन के मूल प्रश्न हैं जिन पर विश्व के महान दार्शनिक प्राचीन काल से गंभीरतापूर्वक विचार करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। संसार के विभिन्न दार्शनिकों द्वारा शताब्दियों के निरंतर विचार-विमर्श के पश्चात भी इन प्रश्नों का कोई स्पष्ट, निश्चित एवं सर्वमान्य उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। इसी कारण इन प्रश्नों को 'दर्शन के शाश्वत प्रश्न' भी कहा जाता है। इन शाश्वत प्रश्नों पर व्यवस्थित रूप से विचार करना और इनके समुचित एवं तर्कसंगत उत्तर खोजने का प्रयास करना मुख्यतः दर्शन का ही कार्य है जो उसे अन्य सभी विज्ञानों तथा शास्त्रों से पृथक करता है। दर्शन के इन मूल प्रश्नों से यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन तथा संपूर्ण ब्रह्मांड की सभी आधारभूत समस्याओं पर इसके अंतर्गत विचार किया जाता है और यह तथ्य इसके क्षेत्र को अत्यधिक व्यापक बना देता है।

दर्शन विषयक उपर्युक्त शाश्वत प्रश्नों से हमारे इस कथन की भी पुष्टि होती है कि साहित्य के समान ही दर्शन का भी मानव-जीवन के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य का संपूर्ण जीवन भावना और विचार इन दो मूल तत्त्वों द्वारा शासित होता है जो क्रमशः साहित्य तथा दर्शन के आधारभूत तत्त्व हैं। मनुष्य के हृदय की गहरी अनुभूति से साहित्य का और उसकी तर्कबुद्धि से दर्शन का जन्म होता है। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में प्रेम, करुणा, भय, क्रोध, घृणा आदि संवेगों का अनुभव किए बिना नहीं रह सकता उसी प्रकार वह नितांत विचारशून्य जीवन भी व्यतीत नहीं कर सकता। यदि मनुष्य संवेगों या भावनाओं तक ही सीमित रहता है तो उसमें तथा अन्य प्राणियों में कोई अंतर नहीं रह जाता। इसी कारण भारतीय मनीषियों ने यह कहा है कि आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की दृष्टि से मनुष्य और पशु समान ही हैं, किंतु विवेक ही वह मूल तत्त्व है जो उसे अन्य सभी प्राणियों से पृथक् करता है। हम देख चुके हैं कि मनुष्य का यह विवेक अथवा विचार ही दर्शन का मूल आधार है जिसके बिना वह वास्तविक अर्थ में 'मनुष्य' कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। विचार करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है जो उसे अन्य सभी प्राणियों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट बनाता है। वस्तुतः उसके इसी स्वाभाविक गुण के कारण महान विचारकों ने उसे 'बौद्धिक प्राणी' की संज्ञा दी है। दर्शन और विज्ञान दोनों ही मनुष्य के इसी स्वाभाविक गुण—अर्थात् उसकी विवेक-शक्ति—के परिणाम हैं।

जब भी कोई व्यक्ति जीवन तथा जगत् के विषय में विचार करता है और पूर्वोल्लिखित प्रश्नों में से कुछ प्रश्न उठाता है तो 'दर्शन' शब्द के व्यापक अर्थ में उसे 'दार्शनिक' कहा जा सकता है—फिर चाहे वह स्वयं इस तथ्य से परिचित हो या न हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कुछ असाधारण परिस्थितियों के फलस्वरूप कभी न कभी इस व्यापक अर्थ में 'दार्शनिक' बनने के लिए बाध्य हो जाता है। उदाहरणार्थ जब उसके किसी प्रिय संबंधी की मृत्यु होती है तो वह यह सोचने लगता है कि आखिर मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या होता है— क्या वह सदा के लिए समाप्त हो जाता है अथवा क्या किसी अन्य रूप में उसका अस्तित्व बना रहता है? इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति पर कोई भयंकर विपत्ति आती है तो वह प्रायः यह प्रश्न करता है कि आखिर उसे ही यह घोर यातना क्यों भोगनी पड़ रही है— उसने ऐसा क्या किया है जिसके कारण उसे यह कष्ट उठाना पड़ रहा है? इतना ही नहीं, कभी-कभी सामान्य परिस्थितियों में भी मनुष्य यह सोचने लगता है कि आखिर वह क्यों जी रहा है, उसके जीवन का उद्देश्य क्या है, वह इस संसार में कहाँ से आया है और मृत्यु के पश्चात् कहाँ जाएगा। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, ये तथा ऐसे ही अन्य सभी प्रश्न दर्शन के मूल प्रश्न हैं जिन पर केवल दार्शनिक ही नहीं, अपितु साधारण व्यक्ति भी अपने जीवन में कभी न कभी विचार करने के लिए बाध्य हो जाता है, क्योंकि सोचना मनुष्य की नियति है

जिससे वह कभी मुक्त नही हो सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शन मनुष्य मे दूर और उसके लिए कोई अनजानी वस्तु न हो कर वास्तव मे उसके जीवन का अभिन्न अग है।

दर्शन के सबध मे प्राय: यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि इसका आरभ क्यो और कैसे हुआ? ऊपर दर्शन के जिन मूल प्रश्नो का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकना है। इन प्रश्नो से यह स्पष्ट है कि मनुष्य मे जगत्-और जीवन को जानने की जो प्रबल स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसी के फलस्वरूप दर्शन का आरभ हुआ है। जब से इस पृथ्वी पर विवेकशील प्राणी के रूप मे मनुष्य का विकास हुआ है तभी से वह अपने चतुर्दिक परिवेश तथा उसमे विद्यमान सभी वस्तुओ एव प्राणियो के सबध मे अधिकाधिक जानने का प्रयास करता रहा है। प्रारभ से ही मनुष्य मे यह जानने की प्रबल जिज्ञासा रही है कि वह अपने चारो ओर जिन ग्रह-नक्षत्रो, वस्तुओ तथा प्राणियो को देखता है उनकी उत्पत्ति कैसे हुई और उनका वास्तविक स्वरूप क्या है? यह जिज्ञासा मानव की जन्मजात प्रवृत्ति है जो उसे स्वय अपने विषय मे तथा अपने सपूर्ण परिवेश के सबध मे अधिकाधिक जानने के लिए निरतर प्रेरित करती रहती है। वस्तुत मनुष्य की इस नैसर्गिक अदम्य जिज्ञासा ने ही दर्शन तथा विज्ञान दोनों को जन्म दिया है और इसी जिज्ञासा के कारण इन दोनो का निरतर विकास भी हुआ है। इस स्वाभाविक जिज्ञासा के परिणामस्वरूप मनुष्य ने जगत् और जीवन का जो ज्ञान प्राप्त किया है उससे उसके दो प्रमुख उद्देश्यो की पूर्ति हुई है। सर्वप्रथम इस ज्ञान के कारण उसे वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझने का सतोष प्राप्त हुआ है और इस प्रकार जीवन तथा जगत् को जानने की उसकी प्रबल इच्छा की पूर्ति हुई है। दर्शन ने मुख्यत मनुष्य के इसी उद्देश्य की पूर्ति मे सहायता की है। स्पष्ट है कि इस उद्देश्य की पूर्ति करने वाली जिज्ञासा को हम किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति का साधन न मान कर अपने आप मे साध्य मान सकते हैं। दर्शन की उत्पत्ति के मूल मे मनुष्य की यही स्वत साध्य जिज्ञासा रही है।

परतु इसके साथ ही मनुष्य ने अपनी जिज्ञासा के फलस्वरूप ऐसा ज्ञान भी प्राप्त किया है जिस ने उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति करके उसके जीवन को अधिक सुखमय बनाया है। इस पृथ्वी पर अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए मनुष्य आदि-काल से ही उन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता रहा है जो उसके जीवन के लिए घातक अथवा कष्टप्रद रही हैं। स्वयं अपने जीवन के लिए अपने परिवेश को अधिक सुखद बनाने का उसका यह प्रयास आज भी चल रहा है और निश्चय ही तब तक चलता रहेगा जब तक वह इस ससार मे जीवित है। विज्ञान ने--जिसका जन्म भी मनुष्य की जिज्ञासा के फलस्वरूप ही हुआ है--उसके इस प्रयास मे विशेष रूप से सहायता दी है। इसी कारण विज्ञान दर्शन की अपेक्षा मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के लिए अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। परतु विशुद्ध विज्ञान के रूप मे वह भी दर्शन के समान ही मूलत. सैद्धातिक ज्ञान है जिसका उद्देश्य जीवन और जगत् के सबध मे मानव की नैसर्गिक अदम्य जिज्ञासा को शात करना ही है। इस दृष्टि से दर्शन तथा विज्ञान मे आधारभूत समानता है, क्योकि दोनो का मूल स्रोत मनुष्य की जिज्ञासा ही है और दोनो मे भावना की अपेक्षा तर्क को कही अधिक महत्त्व दिया जाता है।

परतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दर्शन तथा विज्ञान का यह बौद्धिक तत्त्व इन दोनो को धर्म से पृथक करता है जिसमे तर्क की अपेक्षा भावना का ही अधिक महत्त्व होता है। यहाँ सक्षेप मे धर्म और दर्शन मे पाए जाने वाले अतर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। धर्म तथा दर्शन के विषय मे ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि ये दोनो ही मानव-जीवन के बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं प्राचीन काल से ही मनुष्य के तथा विचारों पर इन दोनों का बहुत गहरा और

प्रभाव रहा है। दोनो ही मानव जीवन के किसी एक पक्ष से सबंधित न होकर उसके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षो को व्यापक रूप से प्रभावित करते रहे हैं, अत इस दृष्टि से इन दोनों मे पर्याप्त समानता है। परतु इस समानता के होते हुए भी जीवन और जगत् के प्रति धर्म तथा दर्शन के दृष्टिकोण में आधारभूत अतर है जिसे स्पष्ट रूप से जान लेना बहुत आवश्यक है। इसका कारण यह है कि धर्म और दर्शन के मूल भेद को भली भाँति जान लेने पर हम इन दोनों के स्वरूप को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। धर्म, जीवन और जगत् के प्रति मनुष्य की एक विशेष प्रकार की अभिवृत्ति है। स्पष्टत: इसका अर्थ यही है कि धर्म में भावना अथवा अनुभूति का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है। इसके विपरीत दर्शन जीवन तथा जगत् को समझने का मनुष्य का सुव्यवस्थित, सगतिपूर्ण और बौद्धिक प्रयास है जिसका मूल आधार भावना न हो कर केवल तर्क है। भक्त या धर्मपरायण व्यक्ति केवल अपनी आस्था के फलस्वरूप अपने आराध्य विषय के प्रति अपने आप को पूर्ण रूप से समर्पित करता है, इस आत्म-समर्पण के लिए वह किसी प्रकार के तर्क अथवा प्रमाण की आवश्यकता का अनुभव नही करता। परतु दार्शनिक किसी भी सिद्धात, विश्वास या मान्यता को स्वीकार करने से पूर्व उसके समर्थन मे पर्याप्त एव विश्वसनीय प्रमाणो की माँग करता है, क्योकि ऐसे प्रमाणो के अभाव मे वह अपना कोई निष्पक्ष निर्णय नही दे सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म के आधारभूत तत्त्व अनुभूति और आस्था हैं, जबकि दर्शन के मूल तत्त्व निष्पक्ष चिंतन एव तर्क हैं। जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण में इस मूल भेद के कारण ही भक्त तथा दार्शनिक के विचारो एव विश्वासो में आधारभूत अतर पाया जाता है। स्पष्टत इसका अर्थ यही है कि कोई भी व्यक्ति अपने विचारो में सगति बनाए रखते हुए एक ही समय मे तथा एक ही साथ भक्त और दार्शनिक नही हो सकता। यदि वह सच्चा भक्त या आस्थावान धर्मपरायण व्यक्ति है तो वह तर्कों अथवा प्रमाणों की चिता किए बिना केवल अपनी श्रद्धा से प्रेरित होकर अपने उपास्य विषय के प्रति आत्म-समर्पण करेगा। इसके विपरीत यदि वह वास्तव मे दार्शनिक है तो वह आस्था और आराध्य विषय के अस्तित्व एव स्वरूप के समर्थन मे विश्वसनीय तथा पर्याप्त प्रमाणो की अनिवार्यत: खोज करेगा। ऐसी स्थिति मे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि एक ही व्यक्ति एक ही समय मे तथा एक ही साथ भक्त और दार्शनिक के कार्य नही कर सकता, क्योकि इन दोनो के कार्यों में आधारभूत अतर है। इसी कारण यदि कोई व्यक्ति एक ही साथ भक्त और दार्शनिक होने का दावा करता है तो उसके इस दावे को युक्तिसगत नही माना जा सकता। वस्तुत धर्म तथा दर्शन इन दोनो का दीर्घकालीन इतिहास इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि कोई भी व्यक्ति एक ही साथ सच्चा भक्त और सच्चा दार्शनिक नही हो सकता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे हम यह कह सकते हैं कि धर्म और दर्शन दोनो मानव-जीवन के बहुत महत्त्वपूर्ण पक्ष होते हुए भी एक दूसरे से मूलत भिन्न हैं।

भाग 1
कुछ प्रमुख दार्शनिक

1

टॉमस हॉब्स

पुनर्जागरण काल के अंग्रेज दार्शनिक टॉमस हॉब्स (1588-1679) का जन्म निर्धन तथा अशिक्षित परिवार में हुआ था, किंतु अपनी प्रतिभा के कारण उन्होंने पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। उनके दर्शन पर एक अन्य अंग्रेज दार्शनिक फ्रान्सिस बेकन की अनुभववादी तथा भौतिकवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बेकन के अतिरिक्त कापरनिकस, गैलीलियो, हार्वे आदि वैज्ञानिकों के क्रांतिकारी विचारों से भी हॉब्स बहुत प्रभावित हुए थे। इन वैज्ञानिकों के विचारों से प्रभावित होने के कारण ही उन्होंने जीवन और जगत् के सब प्र में धार्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार किया। उनके दर्शन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भौतिकवाद तथा अनुभववाद में विश्वास करते थे। वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे और यह मानते थे कि ईश्वर तथा आत्मा से संबंधित किसी प्रकार का विज्ञान संभव नहीं है। अपने समय में प्रचलित सभी अंधविश्वासों को अस्वीकार करते हुए उन्होंने भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर ही धर्म के उद्गम की व्याख्या की है। उनका विचार है कि आदि काल में मनुष्य प्राकृतिक नियमों से अनभिज्ञ था और अनेक प्रकार की प्राकृतिक विपत्तियों के फलस्वरूप सदैव असुरक्षित एवं भयभीत रहता था, इसी अनभिज्ञता असुरक्षा तथा भय के कारण मानव-समाज में धर्म का जन्म हुआ। आज हमें धर्म के उद्गम की यह व्याख्या बहुत साधारण प्रतीत होती है, किंतु हॉब्स के समय में बहुत कम विचारक इसे स्वीकार करते थे। धर्म के अतिरिक्त ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, नैतिक दर्शन तथा राजनीति-दर्शन के विषय में भी हॉब्स ने विस्तारपूर्वक अपने विचार व्यक्त किए हैं। दर्शन से संबंधित उनकी प्रमुख पुस्तक 'लेवियाथन' है जो 1650 अथवा 1651 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में अभिव्यक्त हॉब्स के परंपरा विरोधी विचारों के कारण तत्कालीन राजनीतिज्ञों तथा धर्मपरायण रूढ़िवादियों ने उनकी भर्त्सना एवं निंदा की। परंतु इस विरोध से विचलित न हो कर हॉब्स अपने विचारों पर दृढ़ रहे। यहाँ हम उनके अनुभववादी तथा भौतिकवादी दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(1) ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा बुद्धिवादी दार्शनिकों के विपरीत हॉब्स मनुष्य के अनुभव को ही ज्ञान का मूल आधार मानते हैं और इसी आधार पर ज्ञान के उद्गम की व्याख्या करते हैं। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का खंडन नहीं किया जैसा कि उनके परवर्ती दार्शनिक लॉक ने किया है, फिर भी उनके विचारों से यह स्पष्ट है कि वे जन्मजात प्रत्ययों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। ज्ञान के उद्गम के विषय में अपने समकालीन बुद्धिवादी दार्शनिक रेने डेकार्ट के मत को अस्वीकार करते हुए हॉब्स कहते हैं कि हम अपने इंद्रिय संवेदनों के माध्यम से ही बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जब हमारी ज्ञानेंद्रियाँ बाह्य वस्तुओं के संपर्क में आती हैं तो हमारे मन में

इन वस्तुओं से सबधित सवेदन उत्पन्न होते हैं जिनके फलस्वरूप हमें इन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इन सवेदनो के अभाव मे हम बाहय जगत् का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। हमारी ज्ञानेंद्रियो के सपर्क मे आने पर बाह्य वस्तुएँ उन्हे प्रभावित कर के हमारे मन मे सवेदन उत्पन्न करती है। परतु हॉब्स यह मानते हैं कि रग, ध्वनि, स्वाद, गध आदि जिन गुणो का हमे ज्ञान प्राप्त होता है वे स्वय इन वस्तुओं मे न होकर हमारे मन मे ही विद्यमान रहते हैं। आगे चल कर लॉक ने भी इन गुणो को व्यक्तिगत माना और उन्हे गौण अथवा द्वैतिक गुण कहा। हॉब्स ने इन व्यक्तिगत गुणो के अतिरिक्त उन गुणो का पृथक् उल्लेख नही किया जिन्हे लॉक वस्तुगत और प्राथमिक गुण मानते हैं। हम भौतिक वस्तुओ के स्वतत्र अस्तित्व को कैसे प्रमाणित कर सकते है? इस प्रश्न का हॉब्स ने कोई उत्तर नही दिया और इस पर विचार करना ही उन्होने आवश्यक नही समझा। साधारण व्यक्तियो की भाँति वे भी इन वस्तुओ के स्वतत्र अस्तित्व को स्वत सिद्ध मान लेते हैं। इस का अर्थ यह है कि हॉब्स के मतानुसार हम भौतिक वस्तुओ को प्रत्यक्षत उसी रूप मे जानते है जिस रूप मे वे है। आगे चलकर लॉक, बर्कले, ह्यूम आदि दार्शनिको ने इस मान्यता को अस्वीकार किया और भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व तथा ज्ञान की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि हॉब्स ने ज्ञानमीमासा सबधी समस्याओ पर उतनी गभीरता से विचार नही किया जितनी गभीरता से लॉक बर्कले, ह्यूम आदि उनके परवर्ती दार्शनिको ने किया है।

तत्त्वमीमासात्मक विषयो पर हॉब्स के विचार प्रस्तुत करने से पूर्व यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ज्ञान के क्षेत्र मे वे अनुभववादी होने के साथ-साथ नामवादी भी हैं। वे सामान्य अथवा अमूर्त प्रत्ययो के अस्तित्व मे विश्वास नही करते। उनका मत है कि हम सदैव केवल विशेष वस्तुओं के विषय मे ही सोचते हैं, अत हमारे मन मे किसी प्रकार के अमूर्त प्रत्यय नही हो सकते। मनुष्यत्व, घटत्व, अश्वत्व आदि तथाकथित अमूर्त प्रत्यय किन्हीं वास्तविक सत्ताओ का बोध नहीं कराते, वे वास्तव मे शब्द अथवा नाम मात्र हैं जिनकी सहायता से हम एक प्रकार की वस्तुओं को दूसरे प्रकार की वस्तुओ से पृथक करते हैं। ज्ञान की समुचित व्याख्या की दृष्टि से हॉब्स का यह नामवाद कहाँ तक सतोषप्रद है यह कहना बहुत कठिन है, किंतु यह अनुभववाद के अधिक अनुरूप प्रतीत होता है, क्योंकि केवल अनुभव द्वारा हमे किसी सामान्य या अमूर्त प्रत्यय का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण आगे चल कर बर्कले और ह्यूम दोनो ने अमूर्त प्रत्ययो के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। वस्तुत इस सबध मे हॉब्स का मत अनुभववाद की दृष्टि से लॉक के मत की अपेक्षा अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है जो अनुभववादी होते हुए भी सामान्य अथवा अमूर्त प्रत्ययो के अस्तित्व मे विश्वास करते हैं।

जगत्, आत्मा, ईश्वर आदि तत्त्वमीमासात्मक विषयो के सबध मे हॉब्स के विचारो से यह स्पष्ट है कि वे भौतिकवाद के दृढ समर्थक है। अध्यात्मवादी दार्शनिको के विपरीत उनका मत है कि किसी प्रकार के अभौतिक द्रव्य का अस्तित्व सभव नही है। वस्तुत भौतिक वस्तु का नाम ही द्रव्य है अत 'अभौतिक द्रव्य' की अवधारणा मे स्पष्टत. स्वतोव्याघात विद्यमान है। हम देख चुके है कि हॉब्स भौतिक जगत् की वास्तविकता और स्वतत्र सत्ता मे विश्वास करते हैं। परतु उन्होने भौतिक जगत् के स्वरूप की कोई स्पष्ट एव संतोषप्रद व्याख्या नही की। उनका मत है कि सपूर्ण भौतिक जगत् गतिमय पुद्गल है, किंतु यह कहना बहुत कठिन है कि वे किस अर्थ मे निर्जीव भौतिक वस्तुओं को मानते हैं गति की परिभाषा करते हुए उन्होंने ने कहा है कि किसी वस्तु का

निरन्तर स्थान परिवर्तन होता है इसी गति के आधार पर वे केवल भौतिक वस्तुओं की क्रियाओं की ही नहीं, अपितु मनुष्य की मानसिक क्रियाओं की भी व्याख्या करते हैं। इस दृष्टि से उनकी तत्त्वमीमांसा में गति की अवधारणा का विशेष महत्त्व है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं हॉब्स अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते अतः उन्होंने आत्मा के स्वरूप और अस्तित्व संबंधी समस्या पर अधिक विस्तार से विचार नहीं किया। उन्होंने जगत् के आदि कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को अवश्य स्वीकार किया है और यह कहा है कि युक्तियों द्वारा उसके अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है। परंतु ईश्वर के स्वरूप संबंधी ज्ञान को मनुष्य की बुद्धि से परे मानते हुए वे कहते हैं कि ईश्वर का वास्तविक स्वरूप क्या है यह हम कभी नहीं जान सकते। इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप के विषय में हॉब्स अज्ञेयवाद को स्वीकार करते हैं। परंतु यहाँ हॉब्स के दर्शन में एक कठिनाई स्पष्ट दिखाई देती है। एक ओर तो वे अभौतिक द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते और दूसरी ओर वे ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास करते हैं। इस समस्या का समाधान करने के लिए कुछ दार्शनिकों ने यह कहा है कि हॉब्स ईश्वर को भी भौतिक द्रव्य ही मानते हैं। परंतु यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर के स्वरूप के संबंध में हॉब्स अज्ञेयवादी थे। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, हॉब्स ने इस समस्या का कोई निश्चित एवं संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः ज्ञानमीमांसा संबंधी समस्याओं की भाँति तत्त्वमीमांसात्मक समस्याओं के विषय में भी हॉब्स के विचारों में अनेक कठिनाइयाँ त्रुटियाँ तथा असंगतियाँ विद्यमान हैं, अतः उनकी ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा को पूर्णतः संतोषप्रद नहीं माना जा सकता।

(2) **नैतिक दर्शन** हॉब्स यह मानते थे कि दर्शन का मुख्य उद्देश्य मानव-जीवन की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करना है, अतः उन्होंने मनुष्य के स्वभाव तथा उसके आचरण के संबंध में विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके नैतिक दर्शन का मूल आधार मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद तथा सुखवाद है। मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि मनुष्य समस्त ऐच्छिक कर्म केवल अपने हित अथवा सुख को ध्यान में रखकर ही करता है। जिस कर्म से उसे लाभ होता है अथवा सुख मिलता है वह स्वभावतः उसे ही करने के लिए प्रेरित होता है। स्वार्थरहित विशुद्ध सहानुभूति, परोपकार की भावना अथवा केवल कर्त्तव्य-चेतना से प्रेरित होकर वह कोई कर्म नहीं करता। अपने जीवन को सुरक्षित रखने की प्रबल इच्छा, अधिकाधिक सुख प्राप्त करने की कामना तथा दूसरों पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने की आकांक्षा मनुष्य के समस्त ऐच्छिक कर्मों की मूल अभिप्रेरणाएँ हैं। वह सदा इन्हीं नैसर्गिक मूल अभिप्रेरणाओं से प्रेरित होकर आचरण करने के लिए बाध्य है। एक उपमा द्वारा मानव-स्वभाव की स्वार्थ संबंधी बाध्यता को स्पष्ट करते हुए हॉब्स ने कहा है कि जिस प्रकार एक पत्थर आकाश में नहीं उड़ सकता और अटल प्राकृतिक नियम के कारण धरती पर अवश्य गिरता है, उसी प्रकार मनुष्य भी स्वभावतः अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर समस्त कर्म करने के लिए बाध्य होता है। जिस प्रकार हम पत्थर को पृथ्वी पर गिरने के लिए दोषी नहीं मानते उसी प्रकार केवल अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्म करने के लिए मनुष्य को भी दोषी नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि हॉब्स मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद तथा सुखवाद के आधार पर संपूर्ण मानवीय आचरण की व्याख्या करते हैं। उनका विचार है कि अंततः मनुष्य की स्वार्थसिद्धि में सहायक होने के कारण ही स्नेह, उदारता, मैत्री, सहनशीलता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा आदि समस्त सद्गुणों का महत्त्व है इसी कारण उन्हें नैतिक दृष्टि से प्रशंसनीय माना

जाता है। स्वयं अपने लाभ अथवा सुख के लिए ही मनुष्य इन सद्गुणों के अनुसार आचरण करता है। इस प्रकार हॉब्स समस्त सद्गुणों को स्वतः साध्य अथवा अपने आप में शुभ न मान कर मनुष्य की स्वार्थसिद्धि का साधन मात्र मानते हैं।

मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद तथा सुखवाद के आधार पर हॉब्स ने मानव-स्वभाव का जो विश्लेषण किया है उससे यह स्पष्ट है कि नैतिक दृष्टि से मनुष्य के कर्मों का निर्णय करने के लिए वे व्यक्ति निष्ठवाद और सापेक्षवाद में ही विश्वास करते हैं। उनके अनुसार जो कर्म मनुष्य की जीवन-रक्षा तथा सुख-प्राप्ति की इच्छा में सहायक है वह शुभ अथवा उचित है और जो कर्म उसकी इन नैसर्गिक इच्छाओं की पूर्ति में बाधक है वह अशुभ या अनुचित है। दूसरे शब्दों में कोई भी कर्म अपने आप में शुभ या उचित नहीं होता समस्त कर्मों का शुभत्व अथवा औचित्य अन्ततः मनुष्य की कुछ मूल नैसर्गिक इच्छाओं की पूर्ति में सहायक होने पर निर्भर है। स्पष्ट है कि हॉब्स मानवीय कर्मों के शुभत्व अथवा औचित्य का निर्णय करने के लिए वस्तुनिष्ठवाद को अस्वीकार करके केवल व्यक्तिनिष्ठवाद तथा सापेक्षवाद का समर्थन करते हैं। उनके विचार में अन्ततः व्यक्ति की इच्छाओं की तृप्ति पर निर्भर होने के कारण कर्मों का शुभत्व या औचित्य इन परिवर्तनशील इच्छाओं के अनुरूप ही परिवर्तित होता रहता है। इसका अर्थ यह है कि जो कर्म एक व्यक्ति के लिए शुभ है वही दूसरे व्यक्ति के लिए अशुभ हो सकता है। यही नहीं, एक ही कर्म एक व्यक्ति के लिए कभी शुभ और कभी अशुभ हो सकता है। इस प्रकार हॉब्स अपने मूल सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद के अनिवार्य परिणाम के रूप में व्यक्तिनिष्ठवाद तथा सापेक्षवाद को पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

परन्तु हॉब्स की ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा की भाँति उनका नैतिक दर्शन भी कठिनाइयों तथा दोषों से मुक्त नहीं है। उन्होंने मनुष्य के स्वभाव तथा आचरण की जो स्वार्थवादी व्याख्या की है वह पूर्णतः उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। यह सत्य है कि अपने कल्याण की कामना मनुष्य की प्रबल स्वाभाविक इच्छा है और वह सामान्यतः अधिकतर ऐच्छिक कर्म अपनी इसी नैसर्गिक इच्छा से प्रेरित होकर करता है। परन्तु यह मानव-स्वभाव का केवल एक पक्ष है जिसे हॉब्स ने आवश्यकता से कहीं अधिक महत्त्व दिया है। वे मानव-स्वभाव से सम्बन्धित इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि मनुष्य में अपने कल्याण की कामना के साथ-साथ दूसरों के प्रति स्वार्थरहित सहानुभूति, विशुद्ध परोपकार की भावना तथा अपने सुख-दुःख की चिन्ता किए बिना अपने कर्त्तव्य का पालन करने की इच्छा भी पाई जाती है। अधिकतर व्यक्ति प्रायः अपने परिवार के सुख के लिए स्वयं अपने सुख का परित्याग कर देते हैं। यही नहीं संकट-काल में अनेक देशभक्त तथा सैनिक अपने राष्ट्र के हित के लिए स्वयं अपने जीवन का भी बलिदान करने में कोई संकोच नहीं करते। कठिन परिस्थितियों में अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अनेक व्यक्ति प्रायः अपना हित और कभी-कभी अपने जीवन का भी बलिदान कर देते हैं। इन सभी तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि हॉब्स ने मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद के आधार पर मनुष्य के स्वभाव तथा आचरण की जो व्याख्या की है वह एकांगी होने के कारण उचित एवं सन्तोषप्रद नहीं है।

(3) **राजनीति-दर्शन** हॉब्स द्वारा लिखित और 1650 या 1651 में प्रकाशित 'लेवियाथन' नामक पुस्तक राजनीति-दर्शन सम्बन्धी सत्रहवीं शताब्दी की बहुत महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है। इस पुस्तक में हॉब्स ने नैतिक सिद्धान्तों के साथ-साथ राजनीति-दर्शन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। मानव-समाज में राजनैतिक व्यवस्था का जन्म राज्य तथा सरकार के अधिकार और कर्त्तव्य नागरिकों

के अधिकार एव कर्तव्य, राज्य और नागरिकों का पारस्परिक सबध आदि राजनीति-दर्शन सबधी समस्याएँ इस पुस्तक के प्रमुख विषय है। इन सभी विषयों का सविस्तार विवेचन करने के कारण ही हॉब्स के राजनीति-दर्शन को उनके दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष माना जाता है। लगभग सभी विचारक यह स्वीकार करते है कि हॉब्स ने जितनी गभीरता से राजनीतिक दर्शन सबधी उपर्युक्त समस्याओ पर विचार किया है उतनी गभीरता से ज्ञानमीमासा, तत्त्वमीमासा और आचारमीमासा सबधी समस्याओ पर विचार नही किया। इसी कारण राजनीति-दर्शन सबधी उनके विचारो को आज भी बहुत महत्त्व दिया जाता है।-

हॉब्स के नैतिक दर्शन का विवेचन करते हुए हम यह बता चुके हैं कि वे मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद मे विश्वास करते है—अर्थात् वे यह मानते है कि प्रत्येक मनुष्य स्वभावत अपने सुख अथवा कल्याण की कामना करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अपने इसी सिद्धात के आधार पर उन्होने मानव-समाज मे राजनैतिक व्यवस्था के उदय की व्याख्या की है। उनका विचार है कि मानव-जीवन के आदिकाल मे किसी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था नही थी। उस समय कोई एेसा सर्वाधिकारसपन्न शासक नही था जो सभी व्यक्तियो के स्वार्थपूर्ण आचरण को नियत्रित करता। तब सभी मनुष्य केवल अपनी इच्छाओं की अबाध तृप्ति के लिए ही निरतर प्रयत्नशील रहते थ जिसके फलस्वरूप उनमे परस्पर सतत सघर्ष चलता रहता था। प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के सुख-दुख क प्रति पूर्णत उदासीन होकर केवल अपने जीवन की रक्षा, प्रभुत्व-कामना तथा अन्य सभी नैसर्गिक इच्छाओ की पूर्ति के लिए सदैव प्रयास करता रहता था। मानव-जीवन की इस आदिकालीन अवस्था को हॉब्स ने 'प्राकृ ... अवस्था' की सज्ञा दी है। उनके मतानुसार इस प्राकृतिक अवस्था मे स्नेह, सहानुभूति, पर ... कार न्याय, कर्तव्य-पालन आदि सद्गुणो का कोइ स्थान नही था। केवल शक्ति और छल द्वारा ... त्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरो क साथ निरतर सघर्ष करता रहता था। इस व्य ... क सघर्ष को हॉब्स ने 'सबके विरुद्ध सबका सतत सघर्ष' कहा है। यह समझना कठिन नही है कि इस पारस्परिक घातक सघर्ष के कारण प्राकृतिक अवस्था मे किसी भी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित और सुखमय नही था। अन्य व्यक्तियो के निरतर आक्रमण अथवा विरोध के कारण कोई भी व्यक्ति अपनी किसी इच्छा की पूर्ति नही कर पाता था। यही कारण है कि कालातर मे मानव-समाज के लिए इस स्वार्थपूर्ण प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करना अनिवार्य हो गया।

हॉब्स का मत है कि मानव-जीवन क लिए घातक इस प्राकृतिक अवस्था का अत करने के लिए ही राजनैतिक व्यवस्था का जन्म हुआ। विनाशकारी पारस्परिक सघर्ष से बचने तथा अपने जीवन को सुरक्षित रखने के लिए सभी मनुष्यो ने यह निश्चय किया कि वे अपनी इच्छानुसार एक सर्वाधिकार सपन्न राजा अथवा सरकार का नियत्रण स्वीकार करेगे और अपने बहुत से अधिकार उसे समर्पित कर देगे। समाज मे शाति, सुरक्षा तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए उन्होंने उस सर्वाधिकार सपन्न राजा अथवा सरकार के आदेशो को मानने का निर्णय किया। नागरिको तथा सर्वाधिकार सपन्न शासक के बीच सपन्न हुए इस अनुबध को हॉब्स ने 'सामाजिक समझौता' कहा है। उनका विचार है कि मानव-समाज मे विद्यमान राजनैतिक व्यवस्था इसी सामाजिक समझौते का परिणाम है। इस समझौते के अनुसार नियुक्त शासक को अनेक विशेषाधिकार प्रदान किए गए जिनके द्वारा वह ... के पारस्परिक सघर्ष को समाप्त कर सके और समाज मे शाति सुरक्षा तथा व्यवस्था स्थापित कर सके इस समझौते क ... नागरिको की ... बहुत

सीमित हो गई और वे ऐसे अनेक अधिकारो से भी वंचित हो गए जो उन्हे प्राकृतिक अवस्था मे प्राप्त थे। परन्तु फिर भी उन्होने इस समझौते को अपनी इच्छा से स्वीकार किया, क्योंकि इसके द्वारा वे उस संघर्षपूर्ण प्राकृतिक अवस्था से मुक्त हो सके जो सब के लिए बहुत घातक थी। इस प्रकार हॉब्स के मतानुसार हमारी संपूर्ण राजनैतिक व्यवस्था सुरक्षित, शांतिपूर्ण तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने की हमारी प्रबल इच्छा पर ही आधारित है जिससे प्रेरित होकर आदिकालीन मनुष्यो ने सामाजिक समझौता किया।

हॉब्स का विचार है कि राजा अथवा सरकार के अधिकार लगभग असीमित है। नागरिको को उसके विरुद्ध अपनी जीवन रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी परिस्थिति मे विद्रोह नही करना चाहिए। उसके सभी आदेशो का पूर्ण रूप से पालन करना नागरिको का अनिवार्य कर्त्तव्य है। वे केवल उन्ही अधिकारो का प्रयोग कर सकते है जो सर्वाधिकार सपन्न शासक उन्हे प्रदान करे। परंतु हॉब्स का मत है कि शासक नागरिको के कुछ विशेष अधिकारो को नही छीन सकता। अपने जीवन को सुरक्षित रखना, अपने विरुद्ध गवाही न देना, युद्ध मे भाग न लेना आदि ऐसे ही अधिकार है जिनसे नागरिको को सर्वाधिकारसपन्न शासक द्वारा वंचित नही किया जा सकता। इसका कारण यह है कि अपने इन्ही अधिकारो को सुरक्षित रखने के लिए ही मनुष्यो ने राजनैतिक व्यवस्था को स्वीकार किया है। शासक के कर्तव्य के विषय मे हॉब्स का कथन है कि उसे प्रजा के हित को ही सर्वाधिक महत्त्व देना चाहिए। उसे केवल ऐसे कानून बनाने तथा लागू करने चाहिए जिनके द्वारा समाज मे शांति एव व्यवस्था बनी रहे और प्रजा का जीवन सुरक्षित तथा सुखमय हो सके। शासक का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के हित का ही अपना हित समझे और अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए ऐसा कोई कार्य न करे जिससे प्रजा को कष्ट अथवा हानि पहुँचने की आशका हो। स्पष्ट है कि हॉब्स ऐसे निरकुश शासक का समर्थन नही करते जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही प्रजा पर शासन करता है। इसका कारण यह है कि ऐसा शासक अपनी प्रजा का सहयोग प्राप्त नही कर सकता और इस प्रकार समाज मे सुरक्षा, शांति एव व्यवस्था बनाए रखने से सबधित अपने अनिवार्य कर्त्तव्य का भलीभाँति पालन नही कर सकता।

हॉब्स के मतानुसार एकतत्रीय शासन-प्रणाली ही प्रजा के लिए सर्वाधिक उपयोगी तथा हितकर हो सकती है, लोकतत्र नही। अपने इस मत के समर्थन में उन्होने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनका कथन है कि बहुत से व्यक्तियो के समुदाय की अपेक्षा एक राजा शासनतत्र को अधिक कुशलतापूर्वक सगठित और सचालित कर सकता है। वह किसी दल या समुदाय के दबाव से प्रभावित हुए बिना केवल प्रजा के हित के लिए निष्पक्ष रूप से उचित और शीघ्र निर्णय कर सकता है। वह शासनतत्र का कुशलतापूर्वक सचालन करने के लिए अपनी इच्छानुसार किन्ही भी योग्य व्यक्तियो का सहयोग तथा परामर्श प्राप्त कर सकता है। इसके लिए उसे किसी विशेष दल अथवा समुदाय की स्वीकृति पर निर्भर नही रहना पडता। इस दृष्टि से एकतत्रीय शासन-प्रणाली लोकतत्र की अपेक्षा प्रजा के लिए कही अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकती है। अतराष्ट्रीय सबधो के लिए भी लोकतत्र की अपेक्षा एकतत्रीय शासन-प्रणाली अधिक सुविधाजनक है, क्योकि एक शासक अन्य देशो के शासको के साथ अपने देश के सबध के विषय मे अधिक सरलतापूर्वक निर्णय कर सकता है। इन सभी तर्को द्वारा हॉब्स ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि प्रत्येक देश के लिए एकतत्रीय शासन-प्रणाली लोकतत्र की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और हितकर है।

इस लेख को समाप्त करने से पूर्व यहाँ हॉब्स के राजनीति-दर्शन से सबधित कुछ कठिनाइयो तथा समस्याओ का उल्लेख कर देना है सर्वप्रथम उनके इस मत को स्वीकार करना

बहुत कठिन है कि मनुष्यों ने किसी विशेष समय में वह सामाजिक समझौता किया जिसके फलस्वरूप राजनैतिक व्यवस्था का जन्म हुआ। बहुत से विचारक यह मानते हैं कि आदि काल से ही मानव-समाज में किसी न किसी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था विद्यमान थी अतः यह व्यवस्था किसी विशेष समय में किए गए सामाजिक समझौते का परिणाम नहीं है। इसके अतिरिक्त एकतन्त्रीय शासन-प्रणाली की श्रेष्ठता और उपयोगिता के विषय में हॉब्स ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं उनकी वास्तविकता एवं व्यावहारिकता बहुत संदिग्ध प्रतीत होती है। सम्भवतः इसी कारण बहुत कम देशों में इस शासन-प्रणाली को स्वीकार किया गया है। आज संसार के अधिकतर देश एकतन्त्रीय इस शासन-प्रणाली की अपेक्षा लोकतन्त्र को ही अधिक श्रेष्ठ और हितकर मानते हैं।

हॉब्स ने नागरिकों तथा राज्य के अधिकारों और कर्तव्यों के विषय में जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हें भी पूर्णतः स्वीकार करना बहुत कठिन है। हम देख चुके हैं कि हॉब्स नागरिकों को जीवन-रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं देते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अराजकता की अपेक्षा निरंकुश शासन कहीं अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी-कभी शासन के विरुद्ध नागरिकों का विद्रोह करना अनिवार्य हो जाता है। जब राजा या सरकार अन्यायी तथा अत्याचारी हो तो उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए नागरिकों को उसके विरुद्ध विद्रोह करना ही पड़ता है। 1789 में फ्रांस की क्रांति और 1917 में रूस की क्रांति इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। इस प्रकार नागरिक सभी परिस्थितियों में शासन के अधिकारों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं। वस्तुतः यदि सरकार को नागरिकों के विद्रोह का भय न हो और उसपर उनका कोई नियंत्रण न रहे तो वह अन्यायी तथा अत्याचारी हो सकती है। परन्तु हॉब्स ने अपने राजनीति-दर्शन में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है। वे यह मान लेते हैं कि शासक केवल प्रजा के हित के लिए ही कार्य करेगा, किन्तु विश्व की राजनीति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह सदैव अनिवार्य नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में नागरिकों को सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

राज्य और नागरिकों के संबंधों का विवेचन करते हुए हॉब्स ने यह मान लिया है कि एक देश के सभी नागरिकों के हित समान ही होते हैं। परंतु उनकी यह मान्यता सभी परिस्थितियों में पूर्णतः उचित प्रतीत नहीं होती। यह सत्य है कि युद्ध अथवा संकटकालीन स्थिति में एक देश के सभी नागरिकों के हित प्रायः समान ही होते हैं, क्योंकि उस समय उनका एकमात्र उद्देश्य अपने देश की रक्षा करना ही होता है। परंतु सामान्य परिस्थितियों में एक ही देश के नागरिकों में राजनैतिक आर्थिक तथा धार्मिक कारणों से संघर्ष हो सकता है और प्रायः होता है। यह सर्वविदित है कि कार्ल मार्क्स ने अपने दर्शन में इस तथ्य को विशेष महत्त्व दिया है। अंत में इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि हॉब्स ने विभिन्न देशों के संबंधों के विषय में किसी संतोषजनक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं किया। वे यह मान लेते हैं कि संसार के विभिन्न देशों में युद्ध अथवा संघर्ष अनिवार्य है। उनके राजनीति-दर्शन में 'विश्व-राज्य' अथवा अंतर्राष्ट्रीय सरकार के सिद्धांत का उल्लेख नहीं है। स्पष्ट है कि इस दिशा में उनका राजनीति-दर्शन मानव-समाज को कोई मार्ग-दर्शन प्रदान नहीं करता। परंतु उपर्युक्त सभी समस्याओं तथा कठिनाइयों के होते हुए भी हॉब्स के राजनीति-दर्शन का मानव-समाज के लिए निश्चय ही बहुत महत्त्व है।

2

जॉन लॉक

पाश्चात्य दर्शन में जिस अनुभववादी विचारधारा को डेविड ह्यूम ने चरम सीमा तक पहुँचाया उसका प्रारंभ पुनर्जागरण-काल के महान अंग्रेज दार्शनिक जॉन लॉक (1632-1704) ने किया था। लॉक का जन्म संपन्न परिवार में हुआ था और उन्होंने उच्च शिक्षा के साथ-साथ चिकित्सा संबंधी उच्च उपाधि भी प्राप्त की थी, किंतु उन्होंने चिकित्सा के स्थान पर दर्शन को ही अपना कार्य-क्षेत्र चुना। दर्शन की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विधाओं-ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा, राजनीति दर्शन, धर्म-दर्शन, शिक्षादर्शन- के विषय में उन्होंने मौलिक चिंतन किया जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन को एक नई दिशा मिली। उनसे पूर्व पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवाद की प्रधानता थी और डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्नीज आदि बुद्धिवादी दार्शनिक मुख्यतः बुद्धि के आधार पर ज्ञान के उद्गम, स्वरूप तथा उसकी प्रामाणिकता की व्याख्या कर चुके थे जिसमें अनुभव को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया था। ये बुद्धिवादी दार्शनिक बुद्धि को ही निश्चित ज्ञान का स्रोत समझते थे और अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान को अनिश्चित एवं निम्नकोटि का ज्ञान मानते थे। 1690 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऐन एस्से कन्सरनिंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' द्वारा सर्वप्रथम लॉक ने ही युक्तिसंगत रूप से इस बुद्धिवादी विचारधारा का खंडन करने का प्रयास किया और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रकार उनकी नवीन एवं क्रांतिकारी विचारधारा के फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन में अनुभववाद की वह परंपरा स्थापित हुई जिसका बर्कले तथा ह्यूम ने और अधिक विकास किया और जो संशोधित रूप में आज भी समकालीन दर्शन में विद्यमान है। प्रस्तुत लेख में हम लॉक के इस अनुभववादी दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(1) **ज्ञानमीमांसा** लॉक से पूर्व पाश्चात्य दर्शन में ज्ञानमीमांसा की अपेक्षा तत्त्वमीमांसा को अधिक महत्त्व दिया जाता था और अधिकतर दार्शनिक ज्ञानमीमांसा संबंधी समस्याओं को गौण मान कर मुख्यतः तत्त्वमीमांसात्मक समस्याओं पर ही विचार किया करते थे। परंतु इस विचार-पद्धति के विपरीत लॉक ने ज्ञानमीमांसा को दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष माना और उससे संबंधित समस्याओं पर विस्तार से तथा गंभीरतापूर्वक विचार किया। वे यह मानते थे कि दर्शन की अन्य समस्याओं के विषय में विचार करने से पूर्व हमारे लिए ज्ञान के उद्गम तथा स्वरूप और उसकी प्रक्रिया एवं सीमाओं के संबंध में स्पष्ट और समुचित जानकारी प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने अपनी पुस्तक 'ऐन एस्से कन्सरनिंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' में सर्वप्रथम ज्ञान के उद्गम एवं स्वरूप और उसकी प्रक्रिया तथा सीमाओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया है।

बाह्य जगत और मनोवृत्तियों से संबंधित हमारे संपूर्ण ज्ञान के स्रोत पर विचार करने से पूर्व

लॉक जन्मजात प्रत्ययो के उस सिद्धात का खडन करते है जिसे डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्नीज आदि बुद्धिवादी दार्शनिक ज्ञान का मुख्य स्रोत मानते थे और जिसके आधार पर वे ज्ञान की निश्चयात्मकता की व्याख्या करते थे। इन बुद्धिवादी दार्शनिको की यह मान्यता थी कि प्रत्येक मनुष्य के मन मे कुछ जन्मजात प्रत्यय होते है जिनके द्वारा वह कुछ विषयो तथा नियमों से सबधित निश्चित ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ होता है। लॉक ने अनेक तर्को द्वारा इस मान्यता का खडन किया है। उनका विचार है कि मनुष्य के मन मे किसी प्रकार के जन्मजात प्रत्यय नही होते। जिन प्रत्ययो को सार्वभौम, अनिवार्य तथा स्वत सिद्ध समझकर जन्मजात माना जाता है वे वास्तव मे अनुभवजन्य ही होते हैं। बुद्धिवादी दार्शनिक यह मानते थे कि ईश्वर का प्रत्यय, कुछ नैतिक सिद्धात और कुछ तार्किक नियम जन्मजात होते है, क्योंकि सभी मनुष्यों का अनिवार्यत इनका ज्ञान होता है। इस मत का खडन करते हुए लॉक कहते हैं कि ईश्वर का प्रत्यय तथा कोई भी नैतिक और तार्किक नियम ऐसा नही है जिसका सभी मनुष्यो को ज्ञान हो। विभिन्न जातियों मे ईश्वर की भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ पाई जाती हैं और कुछ लोग तो ईश्वर में विश्वास ही नही करते। सभी नैतिक नियम सापेक्ष हैं— जो कर्म एक व्यक्ति के लिए अपराध है वही दूसरे के लिए कर्तव्य हो सकता है। इसी प्रकार बालकों तथा अशिक्षित व्यक्तियों को अनेक नैतिक नियमो और तार्किक नियमो का ज्ञान नही होता। फिर किसी प्रत्यय अथवा नियम का सार्वभौम ज्ञान यह प्रमाणित नही करता कि वह जन्मजात है। जल, वायु, अग्नि सूर्य, चद्र आदि के प्रत्यय सार्वभौम हैं, किन्तु इन प्रत्ययो को स्वय बुद्धिवादी दार्शनिक भी जन्मजात नही मानते। इन सभी तर्को द्वारा लॉक ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि कोई भी प्रत्यय अथवा नियम वस्तुत जन्मजात नही होता अत जन्मजात प्रत्ययो का सिद्धात युक्तिसगत नही है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि हमारे मन मे किसी प्रकार के जन्मजात प्रत्यय नही हैं तो हम बाहय जगत तथा अपनी मनोदशाओ का ज्ञान कैसे प्राप्त करते है— अर्थात्, हमारे ज्ञान के उदगम का वास्तविक स्रोत क्या है? इस प्रश्न का उत्तर लॉक एक ही शब्द में देते हैं और वह शब्द है 'अनुभव'। उनका मत है कि हमारा सपूर्ण ज्ञान हमे अनुभव द्वारा ही प्राप्त होता है। किसी प्रकार का अनुभव प्राप्त करने से पूर्व मनुष्य का मन कोरे कागज, सफेद स्लेट अथवा रिक्त कक्ष की भाँति ही होता है। अनुभव के फलस्वरूप ही उसके मन में ज्ञान का उदगम होता है और उसमें वृद्धि होती है। लॉक के मतानुसार मनुष्य के पास अनुभव प्राप्त करने के दो स्रोत हैं और ये हैं उसकी ज्ञानेंद्रियाँ तथा अनुचिंतन। बाहय जगत के साथ ज्ञानेंद्रियो के सपर्क के परिणामस्वरूप वह सवेदन प्राप्त करता है जिनके द्वारा उसे बाहय जगत का ज्ञान उपलब्ध होता है। अनुचिंतन के फलस्वरूप उसे अपनी सभी मनोदशाओ तथा मानसिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार सवेदन और अनुचिंतन ही मनुष्य के सपूर्ण ज्ञान के दो स्रोत है। ज्ञान के उदगम के विषय मे लॉक का यह अनुभवमूलक सिद्धात आज हमें बहुत साधारण प्रतीत होता है, किंतु उनके समय मे यह निश्चय ही क्रांतिकारी सिद्धात था जिसे अधिकतर तत्कालीन दार्शनिक स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। उस युग मे, जब बुद्धिवाद की प्रधानता थी, ऐसे नवीन सिद्धात का प्रतिपादन करना लॉक की विशेष प्रतिभा का द्योतक है।

ज्ञान के उदगम की प्रक्रिया के विषय म लॉक का मत है कि बाहय वस्तुओ के साथ हमारी ज्ञानेन्द्रियों के सपर्क के परिणामस्वरूप हमारे मन मे इन वस्तुओं से सबधित सवेदन उत्पन्न होते हैं। इन सवेदनो के फलस्वरूप हमारे मन म बाहय वस्तुओं की प्रतिमाएँ अथवा प्रतिकृतियाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हे लॉक न प्रत्यय कहा है सवेदन क अतिरिक्त [illegible] से भी हमारे मन मे कुछ

प्रत्यय उत्पन्न होते है जिनके द्वारा हमें अपनी मनोदशाओं तथा मानसिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। संवेदन तथा अनुचिंतन से उत्पन्न इन सभी प्रत्ययों को लॉक 'सरल प्रत्यय' कहते है जो उनके विचार में बाह्य जगत् और मानसिक जगत् से सबंधित हमारे संपूर्ण ज्ञान के मूल तत्त्व है। हमारा समस्त ज्ञान अतत इन्ही सरल प्रत्ययो पर आधारित है जो हमें संवेदन तथा अनुचिंतन से प्राप्त होते है। ये सरल प्रत्यय हमारे ज्ञान की अविभाज्य इकाइयाँ है जिन्हे ग्रहण करने मे हमारा मन निष्क्रिय रहता है— वह स्वय इन्हे उत्पन्न या नष्ट नही कर सकता। संवेदन संबंधी कुछ सरल प्रत्यय हमारी पाँच ज्ञानेंद्रियो मे से किसी एक ज्ञानेंद्रिय द्वारा प्राप्त होते है और कुछ एक से अधिक ज्ञानेंद्रियो द्वारा। रग, ध्वनि स्वाद गंध, शीतलता आदि सरल प्रत्यय क्रमश नेत्रो, कानो जिहवा, नासिका तथा स्पर्श द्वारा प्राप्त होते है, कितु विस्तार, आकार, गति, स्थिरता, ठोसपन आदि के सरल प्रत्यय नेत्रो तथा स्पर्श द्वारा प्राप्त होते हैं। संवेदन संबंधी इन सभी सरल प्रत्ययो को हमारा मन तभी ग्रहण कर सकता है जब बाह्य वस्तुओं के साथ हमारी ज्ञानेंद्रियो का संपर्क हो। परन्तु अनुचिंतन संबंधी सरल प्रत्यय आत्मनिरीक्षण के फलस्वरूप हमारे मन में उत्पन्न होते हैं अत इनकी उत्पत्ति के लिए बाह्य वस्तुओं के साथ हमारी ज्ञानेंद्रियो के संपर्क की आवश्यकता नही होती। सुख, दु ख, भय क्रोध इच्छा, विचार आदि हमारी मनोदशाओ तथा मानसिक क्रियाओं का ज्ञान हमें अनुचिंतन संबंधी इन्ही सरल प्रत्ययो द्वारा प्राप्त होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लॉक के मतानुसार हम बाह्य वस्तुओ को साक्षात् अथवा प्रत्यक्षत नही अपितु हमारे मन मे उत्पन्न उनकी प्रतिकृतियो के माध्यम से ही जानते हैं। इसका अर्थ यह है कि हमें बाह्य वस्तुओं की प्रतिकृतियो का ही ज्ञान प्राप्त होता है, स्वय बाह्य वस्तुओ का नही। ऐसी स्थिति में हम यह कैसे जानते है कि हमारे मन मे उत्पन्न बाह्य वस्तुओं की प्रतिकृतियाँ उनकी वास्तविक प्रतिकृतियाँ है, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, लॉक इस मूल प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सके। वास्तव मे इसी कठिनाई के कारण बर्कले तथा ह्यूम ने बाह्य वस्तुओ के स्वतत्र अस्तित्व को अस्वीकार किया है और काट ने उन्हे अज्ञात एव अज्ञेय माना है। इस प्रकार लॉक की उपर्युक्त समस्या को अनुभववादी दर्शन की मूल समस्या माना जा सकता है जिसका संतोषप्रद समाधान बहुत कठिन प्रतीत होता है।

यद्यपि लॉक जन्मजात प्रत्ययो के अस्तित्व को स्वीकार नही करते और सरल प्रत्ययो को ग्रहण करने की प्रक्रिया मे मन को निष्क्रिय मानते है फिर भी उनका विचार है कि मनुष्य के मन में कुछ ऐसी जन्मजात शक्तियाँ होती है जो सरल प्रत्ययो को परस्पर सबद्ध तथा सगठित करती हैं। अपनी इन्ही शक्तियो द्वारा मन सरल प्रत्ययो की एक दूसरे से तुलना करके तथा उन्हे एक दूसरे के साथ सयोजित करके जटिल प्रत्ययो का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ लाल रग, मीठापन सुगध, गोलाकार आदि सरल प्रत्ययो को सयोजित करके हम सेब का जटिल प्रत्यय बनाते हैं। इसी प्रकार अन्य सभी जटिल प्रत्ययो का निर्माण सरल प्रत्ययो के सयोग से ही होता है। लॉक ने जटिल प्रत्ययो को तीन वर्गो में विभाजित किया है — 1. पर्याय 2. सबध तथा 3 द्रव्य। पर्यायो संबंधी जटिल प्रत्यय वे है जो द्रव्य के प्रत्ययो पर आश्रित रहते हैं अथवा उनके रूपातर होते हैं। ये प्रत्यय दो प्रकार के होते है— एक वे जिनका निर्माण एक ही प्रकार के सरल प्रत्ययो के सयोग से होता है और दूसरे वे जो विभिन्न प्रकार के सरल प्रत्ययो के सयोग से बनते हैं। उदाहरणार्थ दशक, दर्जन, शतक आदि पर्यायो सबधी प्रथम प्रकार के प्रत्यय है जो सख्या सबधी एक ही प्रकार के सरल प्रत्ययो से बने है परतु सौंदर्य दूसरे प्रकार का पर्याय सबधी प्रत्यय है जिसका निर्माण रग, आकार, मोहकता आदि विभिन्न प्रकार के सरल प्रत्ययो के सयोग से हुआ है। प्रथम प्रकार के प्रत्ययो को लॉक ने 'सरल पर्याय सबधी प्रत्यय' और दूसरे प्रकार के प्रत्ययो को 'मिश्रित पर्याय सबधी प्रत्यय' कहा है दूसरे

प्रकार के जटिल प्रत्यय सबधो के प्रत्यय हैं जिनका निर्माण हमारा मन सरल प्रत्ययो की एक दूसरे के साथ तुलना द्वारा करना है। कारण-कार्य-सबध, अभेद का सबध, पति-पत्नी, माता-पिता भाई-बहन आदि 'सबध-प्रत्ययो' के उदाहरण है। तीसरे प्रकार के जटिल प्रत्यय द्रव्य के प्रत्यय है जो किसी पर आश्रित नही होते और जो पर्याय सबधी प्रत्ययो को आश्रय देते हैं। इन प्रत्ययो के विषय मे लॉक का मत स्पष्ट और सुसगत प्रतीत नही होता। वे जटिल प्रत्यय के अतिरिक्त भौतिक वस्तु, आत्मा तथा ईश्वर के लिए भी 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग करते है और उसे वस्तुओ के गुणो का सघात तथा अज्ञेय दोनो मानते हैं। उन्होने द्रव्य को 'अज्ञात अधिष्ठान' भी कहा है। ऐसी स्थिति मे यह कहना बहुत कठिन है कि लॉक के अनुसार द्रव्य का ठीक-ठीक अर्थ और स्वरूप क्या है? इसके अतिरिक्त वे इस प्रश्न का भी कोई सतोषप्रद उत्तर नही दे सके कि द्रव्य के प्रत्यय का स्रोत क्या है—अर्थात् इसे हम कैसे प्राप्त करते है। वे स्वय यह मानते है कि द्रव्य का प्रत्यय हमे न तो सवदेन से प्राप्त होता है और न अर्तचितन से। हम देख चुके है कि उनके विचार मे इन दो स्रोतो के अतिरिक्त प्रत्ययो को प्राप्त करने का हमारे पास अन्य कोई स्रोत नही है। यदि द्रव्य का प्रत्यय हमे इन दोनो मे से किसी भी स्रोत से प्राप्त नही होता तो हम उसे कैसे जानते हैं? इसी कठिनाई के कारण लॉक को यह स्वीकार करना पडा है कि द्रव्य अज्ञात अधिष्ठान है। दूसरे शब्दो मे, द्रव्य का कोई अनुभवजन्य स्रोत न होने के कारण हम यह नही जानते कि वह वास्तव मे क्या है। यहाँ लॉक के दर्शन मे उस सशयवाद का पूर्वाभास प्राप्त होता है जिसे आगे चलकर ह्यूम ने चरम सीमा तक पहुँचाया। लॉक स्वय सशयवादी नही थे, अत उन्होने इस तथ्य की उपेक्षा की है कि उनके अनुभववाद का अतिम परिणाम सशयवाद ही हो सकता है।

ज्ञान के स्रोत प्रत्ययो का विवेचन समाप्त करने से पूर्व यहाँ अमूर्त प्रत्ययो के विषय मे लॉक के मत पर विचार करना आवश्यक है। वे अमूर्त अथवा सामान्य प्रत्ययो के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और उन्हे ज्ञान के लिए आवश्यक भी मानते हैं। उनका विचार है कि सामान्य प्रत्यय किसी एक वर्ग अथवा जाति से सबधित सभी वस्तुओ का प्रतिनिधित्व करता है, वह उस वर्ग या जाति की किसी विशेष वस्तु का ही बोध नहीं कराता। उदाहरणार्थ 'मनुष्यत्व' सभी मनुष्यो तथा 'अश्वत्व' सभी अश्वो का सामान्य प्रत्यय है, इसके द्वारा किसी एक विशेष मनुष्य तथा किसी एक विशेष अश्व का बोध नही होता। अन्य सभी सामान्य प्रत्ययो के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। लॉक के अनुसार सामान्य प्रत्यय के निर्माण के लिए हम सर्वप्रथम ऐसे किसी एक लक्षण अथवा गुण को पृथक करते हैं जो एक वर्ग या जाति की सभी वस्तुओ मे विद्यमान रहता है। यह लक्षण या गुण हमे तभी प्राप्त हो सकता है जब हम सभी वस्तुओ की व्यक्तिगत विशेषताओ—आकृति, रग आकार आदि—पर ध्यान न देकर उन सब मे पाई जाने वाली किसी एक समानता पर विचार करे। इसी समानता के आधार पर हम किसी वर्ग या जाति की सभी वस्तुओ से सबधित सामान्य प्रत्यय का निर्माण कर सकते हैं। परतु सामान्य प्रत्ययो के विषय मे लॉक का उपर्युक्त मत उनके अनुभववाद के अनुरूप प्रतीत नही होता, क्योंकि हम केवल अनुभव के आधार पर इन प्रत्ययो का निर्माण नही कर सकते। अनुभव द्वारा हम विशेष वस्तुओ के प्रत्ययो का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, सामान्य प्रत्ययो का नही। उदाहरणार्थ जब हम 'मनुष्यत्व' के विषय मे सोचते हैं तो हमारे मन मे किसी व्यक्ति विशेष की प्रतिमा ही उपस्थित होती है, हमारा अनुभव हमें 'मनुष्यत्व' का ज्ञान प्रदान नही कर सकता। जहाँ तक मुझे ज्ञान है, लॉक ने इस समस्या का कोई सतोषजनक समाधान प्रस्तुत नही किया। वस्तुत इसी समस्या के कारण बर्कले और ह्यूम ने अमूर्त सामान्य प्रत्ययो के अस्तित्व को अस्वीकार किया है

लॉक का विचार है कि भौतिक वस्तुओं म कुछ विशेष गुण होते हैं जो हमारे मन में उनसे

सबंधित सरल प्रत्यय उत्पन्न करते है। इन गुणो को उन्होंने 'प्राथमिक गुण' कहा है जो अनिवार्यत वस्तुओं मे विद्यमान रहते है। आकार, विस्तार, ठोसपन गति, स्थिरता और सख्या ये छह प्राथमिक गुण है जिन्हे हम वस्तुओं मे पृथक नही कर सकते। स्वय वस्तुओ मे विद्यमान होने के कारण ये गुण सभी के मन मे समान प्रत्यय उत्पन्न करते है, अत इनके सबध मे मतभेद नही हो सकता। इन प्राथमिक गुणो के अतिरिक्त लॉक ने कुछ अन्य गुणो का भी उल्लेख किया है जिन्हे वे गौण अथवा द्वैतिक गुण कहते हैं और जो उनके अनुसार स्वय वस्तुओ मे नही अपितु व्यक्तियो के मन मे विद्यमान रहते हैं। रग, ध्वनि, स्वाद, स्पर्श, गध, शीतलता, उष्णता आदि गुण ऐसे ही गौण अथवा द्वैतिक गुण हैं। इन गुणो के सबध में विभिन्न व्यक्तियो में मतभेद हो सकता है और होता है। उदाहरणार्थ एक ही खाद्य वस्तु किसी को बहुत मीठी और किसी को कम मीठी प्रतीत होती है। इसी प्रकार एक ही ध्वनि किसी को बहुत आकर्षक और किसी को अनाकर्षक लगती है। अन्य सभी गौण गुणो के सबध मे भी यही कहा जा सकता है। इसी कारण इन गुणो को लॉक ने वस्तुगत न मानकर व्यक्तिगत ही माना है। परन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि वस्तुओं मे कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं जो हमारे मन मे गौण गुण उत्पन्न करती है, अत ये गुण पूर्णत व्यक्तिगत अथवा मानसिक नही है। लॉक द्वारा किया गया गुणों का उपर्युक्त वर्गीकरण सतोषजनक प्रतीत नही होता, क्योकि जिस तर्क के आधार पर उन्होंने गौण गुणो को व्यक्तिगत सिद्ध करने का प्रयास किया है उसी तर्क के आधार पर प्राथमिक गुणो को भी व्यक्तिगत सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ लॉक आकार को प्राथमिक गुण मानते हैं, किन्तु एक ही वस्तु निकट से बडी तथा दूर से छोटी दिखाई देती है। वस्तुत इसी तर्क द्वारा बर्कले ने गौण गुणो की भाँति प्राथमिक गुणो को भी व्यक्तिगत सिद्ध करने का प्रयास किया है और ह्यूम भी उनके इस मत का समर्थन करते है।

हम देख चुके हैं कि लॉक के मतानुसार हमारा सपूर्ण ज्ञान अंतत प्रत्ययो पर ही आधारित है अत उन्होंने प्रत्ययो की सगति और विसगति को ही 'ज्ञान' की सज्ञा दी है। यह ज्ञान मुख्यत तीन प्रकार का होता है— अत प्रज्ञात्मक, बौद्धिक तथा सवेदनात्मक। किसी माध्यम के बिना प्राप्त प्रत्ययो के साक्षात ज्ञान को ही लॉक ने अत प्रज्ञात्मक ज्ञान कहा है। उदाहरणार्थ हम साक्षात रूप से यह जानते है कि सफेद काला नही है, आठ सात से अधिक होते है, वृत्त त्रिभुज से भिन्न है, इत्यादि। इस अत प्रज्ञात्मक ज्ञान को लॉक स्वत सिद्ध और सर्वाधिक निश्चित मानते है। अन्य प्रत्ययो के माध्यम से परोक्षत प्राप्त ज्ञान बौद्धिक अथवा निर्देशात्मक ज्ञान है। गणित, नीतिशास्त्र तथा ईश्वर से सबंधित ज्ञान को लॉक ने निर्देशात्मक ज्ञान माना है। उनके विचार मे यह ज्ञान अत प्रज्ञात्मक ज्ञान की अपेक्षा कुछ कम निश्चित होता है। इद्रियो के माध्यम से प्राप्त बाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष एव तात्कालिक ज्ञान सवेदनात्मक ज्ञान है। जब हमारी ज्ञानेद्रियाँ भौतिक वस्तुओं के सपर्क मे आती हैं तभी हम यह सवेदनात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान को लॉक ने सबसे कम निश्चित ज्ञान माना है। परन्तु उनके विचार मे यह ज्ञान मिथ्या अथवा भ्रामक नही है। ज्ञान की सीमा का वर्णन करते हुए लॉक कहते हैं कि हमारा सपूर्ण ज्ञान प्रत्ययो तथा उनके सबधो तक ही सीमित है। ज्ञानेद्रियो की सख्या तथा क्षमता की कमी और अनेक प्रत्ययो के सबधो को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण हम बहुत-सी वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। इस प्रकार लॉक के अनुसार हमारा ज्ञान वास्तव मे बहुत ही सीमित है।

(2) **तत्त्वमीमांसा** ज्ञान की समस्याओ के अतिरिक्त लॉक ने जगत्, आत्मा, ईश्वर आदि तत्त्वमीमासा सबधी विषयो पर भी विचार किया है। डेकार्ट की भाँति द्वैतवाद का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि द्रव्य दो प्रकार का है भौतिक तथा आध्यात्मिक

भौतिक द्रव्य का अनिवार्य गुण है और समस्त भौतिक वस्तुएँ इसी द्रव्य के विभिन्न रूप हैं। सपूर्ण ज्ञान को प्रत्ययो तक ही सीमित मानते हुए भी लॉक भौतिक वस्तुओ के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु हम देख चुके है कि अनुभववाद के साथ उनकी इस मान्यता की सगति स्थापित करना सभव प्रतीत नही होता। अपने मूल सिद्धान्त प्रतिनिधित्ववाद के आधार पर वे भौतिक वस्तुओ के स्वतत्र अस्तित्व को युक्तिसगत रूप से प्रमाणित नही कर सके अत उनके अनुभववादी दर्शन मे गभीर असगति उत्पन्न हो गई है। परन्तु इस असगति की चिन्ता न करते हुए उन्होने भौतिक वस्तुओ को प्रत्यय मात्र नही माना और उनका स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार ये भौतिक वस्तुएँ ही अपने प्राथमिक गुणो तथा कुछ अन्य शक्तियो द्वारा हमारे मन मे अपने अनुरूप सवेदन सबधी सरल प्रत्यय उत्पन्न करती हैं। इनका स्वतत्र अस्तित्व अस्वीकार करके हम प्रत्ययो की उत्पत्ति की व्याख्या नही कर सकते। भौतिक द्रव्य के अतिरिक्त लॉक ने आध्यात्मिक द्रव्य के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है और आत्मा तथा ईश्वर को आध्यात्मिक द्रव्य माना है। यह आध्यात्मिक द्रव्य अभौतिक है और चिंतन तथा सकल्प इसके प्रमुख गुण है। लॉक मन तथा आत्मा को अलग-अलग न मानकर एक ही आध्यात्मिक द्रव्य मानते है और इसी के आधार पर समस्त मानसिक क्रियाओ की व्याख्या करते है। उनके विचार मे अतर्चिन्तन द्वारा हमे मन या आत्मा का स्पष्ट एव स्वत सिद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। यह आत्मा सक्रिय है और हमारे समस्त प्रत्ययो को सयोजित तथा परस्पर सबद्ध करती है। इसके अभाव में हमारे लिए किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना सभव नही है। भौतिक द्रव्य स्वय निष्क्रिय होने के कारण आध्यात्मिक द्रव्य को उत्पन्न नही कर सकता। इस प्रकार लॉक की ज्ञानमीमासा अतत उनकी इस तत्त्वमीमासात्मक मान्यता पर आधारित है कि भौतिक द्रव्य तथा आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व है और ज्ञान-प्राप्ति के लिए इन दोनो का परस्पर सबद्ध होना अनिवार्य है। इन दोनो द्रव्यो के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार किए बिना हम ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या नही कर सकते। ईश्वर को लॉक ने आत्मा से भिन्न आध्यात्मिक द्रव्य माना है। ईश्वर विषयक परम्परागत अवधारणा को स्वीकार करते हुए वे कहते है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा जगत् का रचयिता और नियता है। एक ही शक्ति मे अपने समस्त अभीष्ट गुणो को असीमित मात्रा मे स्वीकार करने से हमे ईश्वर का प्रत्यय प्राप्त होता है जो जन्मजात न होकर अनुभवजन्य ही है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए लॉक ने सृष्टिमूलक तथा कारणमूलक युक्तियाँ प्रस्तुत की है, किन्तु वे प्रत्यय-सत्ता युक्ति का खडन करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार जगत् सबधी हमारा अनुभव ही ईश्वर के अस्तित्व का वास्तविक आधार है।

नैतिक दर्शन और राजनीति-दर्शन लॉक का नैतिक दर्शन अनुभववाद, स्वार्थमूलक सुखवाद तथा ईसाई धर्म द्वारा मान्य ईश्वरवाद पर आधारित है। हम देख चुके है कि वे किसी प्रकार के जन्मजात नैतिक प्रत्ययो अथवा नियमो मे विश्वास नही करते। उनका मत है कि हम जिन नैतिक नियमो के अनुसार आचरण करते है वे हमें अपने परिवार तथा समाज मे ही प्राप्त होते है। शिक्षा के फलस्वरूप हम बाल्यकाल से ही इन नैतिक नियमो का पालन करना आरभ कर देते है और कालान्तर मे हम इन्हे आचरण के लिए अनिवार्य मान लेते है। इससे स्पष्ट है कि हमारा अनुभव नैतिक नियमो का मुख्य आधार है लॉक ने मानवीय आचरण की व्याख्या ———— सुखवाद के आधार पर की

है जो उनके अनुभववाद के अनुरूप है। वे यह मानते हैं कि मनुष्य स्वभावत सुख प्राप्त करना तथा दु ख से बचना चाहता है। सुख प्राप्त करने की यह नैसर्गिक इच्छा ही उसके समस्त ऐच्छिक कर्मो की मूल अभिप्रेरणा है। जिस कर्म से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है वह शुभ अथवा उचित है और जिस कर्म से उसे दु ख प्राप्त होता है वह अशुभ या अनुचित है। प्रत्येक व्यक्ति नैतिक नियमो का पालन केवल इसलिए करता है कि वे अतत उसकी सुख-प्राप्ति मे सहायक होते है। समाज दड और पुरस्कार द्वारा सभी व्यक्तियो को इन नैतिक नियमो के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित करता है। दु ख से बचने तथा सुख प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा के कारण सामान्यत व्यक्ति समाज द्वारा बनाए गए नैतिक नियमो की उपेक्षा नही कर पाता।

परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लॉक अनुभववाद तथा सुखवाद के साथ-साथ ईश्वरीय इच्छा और ईश्वरीय आदेश को भी नैतिक नियमो का आधार मानते है। उनका विचार है कि राज्य के कानूनो तथा सामाजिक नियमो के अतिरिक्त एक दैवी नियम भी है जिसका निर्माण स्वय ईश्वर ने मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए किया है। मृत्यु के पश्चात मनुष्य के पारलौकिक जीवन मे दड और पुरस्कार द्वारा ईश्वर अपने इस नियम को लागू करता है। ईश्वर ने ही हम सब के मन मे सुख की इच्छा उत्पन्न की है और हमे तर्कबुद्धि प्रदान की है जिसके द्वारा हम नैतिक नियमो का ज्ञान प्राप्त करते है, अत नैतिकता का अतिम आधार ईश्वर ही है। परन्तु नैतिकता के विषय मे लॉक का यह मत उनके अनुभववाद के अनुरूप नही है। वस्तुत उनके अनुभववाद के साथ उनके इस धार्मिक दृष्टिकोण की सगति स्थापित करना सभव प्रतीत नही होता। इस आपत्ति के अतिरिक्त लॉक के नैतिक दर्शन के विरुद्ध वे सभी आपत्तियाँ भी उठाई जा सकती हैं जो स्वार्थमूलक मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विरुद्ध उठाई गई हैं।

लॉक के राजनीति-दर्शन पर कुछ सीमा तक टॉमस हॉब्स के विचारो का प्रभाव पड़ा है। हाब्स की भाँति वे भी सामाजिक समझौते के सिद्धात को स्वीकार करते है और यह मानते है कि अपने जीवन की सुरक्षा तथा शाति के लिए ही मनुष्यो ने राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण किया है। परन्तु हॉब्स के सामाजिक समझौता सबधी मूल सिद्धात का समर्थन करते हुए भी लाक ने उनकी बहुत-सी मान्यताओ को स्वीकार नही किया। विशेषत शासन-प्रणाली तथा नागरिको और शासक के अधिकारो के विषय मे हॉब्स से उनका पर्याप्त मतभेद है। वे हॉब्स के इस मत को स्वीकार नही करते कि एकतत्र ही मानव-समाज के लिए सर्वोत्तम शासन-प्रणाली है। उनका विचार है कि इस प्रणाली के अतर्गत सभी नागरिक एक शासक के दास हो जाते है, किन्तु किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय को यह अधिकार नही है कि वह अन्य व्यक्तियो को अपना दास बना ले। इसी कारण लॉक एकतत्र की अपेक्षा लोकतत्र को अधिक उत्कृष्ट शासन-प्रणाली मानते है। उनका कथन है कि नागरिको को स्वय अपने शासक चुनने तथा अपने हितो के विरुद्ध कार्य करने पर उन्हे हटा देने का पूर्ण अधिकार है। इस बात का निर्णय स्वय नागरिक ही कर सकते है कि शासक उनके हित के विरुद्ध कार्य कर रहे है अथवा नहीं। हॉब्स के विपरीत लॉक यह मानते है कि शासन-सचालन का अतिम अधिकार जनता के हाथ मे ही होना चाहिए, किसी एक राजा के हाथ मे नहीं। निरकुश, अन्यायी तथा अत्याचारी शासकों के विरुद्ध विद्रोह करना जनता का अधिकार ही नही, अपितु आवश्यक कर्तव्य भी है। लॉक की यह मान्यता लोकतत्र का मूल आधार है और इसी कारण आज इसे ससार के सभी लोकतत्रीय देश पूर्णत स्वीकार करते है। एकतत्रीय शासन प्रणाली का विरोध करने के साथ साथ लॉक ने अपने समय मे उस का भी

अस्वीकार किया है जिसके अनुसार प्रजा पर शासन करना राजा का दैवी अधिकार माना जाता था। इस परम्परागत मान्यता का अस्वीकार करके उन्होंने लोकतंत्र का ही समर्थन किया है। इस प्रकार हॉब्स के राजनीति-दर्शन की अपेक्षा लॉक का राजनीति-दर्शन वर्तमान युग की विचारधारा के अधिक निकट प्रतीत होता है।

ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, नैतिक दर्शन तथा राजनीति-दर्शन के अतिरिक्त लॉक ने धर्म-दर्शन, शिक्षा-दर्शन तथा मनोविज्ञान के संबंध में भी अपने विचार विस्तारपूर्वक व्यक्त किए हैं, किन्तु यहाँ स्थानाभाव के कारण इनका उल्लेख करना संभव नहीं है। इन सभी क्षेत्रों में लॉक के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। विशेषतः ज्ञानमीमांसा पर उनके व्यापक एवं क्रांतिकारी प्रभाव के कारण पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में उन्हें अनुभववाद का मुख्य प्रणेता माना जाता है। यह सत्य है कि लॉक के अनुभववादी दर्शन में बहुत-सी कठिनाइयाँ और असंगतियाँ हैं, किंतु हमें इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि बर्कले, ह्यूम, कान्ट आदि परवर्ती दार्शनिकों ने उनकी इन कठिनाइयों तथा असंगतियों का निराकरण करके अपने दर्शन का विकास किया है। वस्तुतः इन सभी दार्शनिकों की विचारधारा के पूर्ण विकास में लॉक के अनुभववादी दर्शन का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यदि स्वयं मौलिक चिंतन करना तथा अन्य विचारकों को मौलिक चिंतन के लिए प्रेरित करना महान दार्शनिक का लक्षण है तो इस दृष्टि से लॉक निश्चय ही महान दार्शनिक थे।

3

लाइबुनीज़

जर्मन दार्शनिक गॉटफ्रेड विल्हेल्म लाइबुनीज (1646-1716) यूरोप में पुनर्जागरणकाल के अन्तिम महान दार्शनिक माने जाते हैं। उनका जन्म 1 जुलाई 1646 को जर्मनी के लीपजिग नामक नगर में हुआ था। उनके पिता लीपजिग विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन के प्रोफेसर थे और उनकी माता प्रोफेसर की पुत्री थी। दुर्भाग्यवश लाइबुनीज को अपने विद्वान पिता का मार्गदर्शन नहीं मिल सका, क्योंकि जब वे केवल छह वर्ष के ही थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने से पूर्व उनकी माता का भी निधन हो गया। इस प्रकार किशोरावस्था में ही लाइबुनीज अनाथ हो गए, किन्तु इन दुखद परिस्थितियों में भी वे निराश नहीं हुए। बाल्यकाल में ही अध्ययन में उनकी विशेष रुचि थी और इसी कारण अपने पिता के पुस्तकालय में उपलब्ध सभी ग्रन्थों का उन्होंने बड़े मनोयोग से अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों में वे विशेष रुचि लेने लगे। लीपजिग विश्वविद्यालय में उन्होंने दर्शन के साथ-साथ गणित, कानून तथा इतिहास का भी गम्भीर अध्ययन किया। वे अत्यधिक प्रतिभासम्पन्न छात्र थे और इसी कारण बीस वर्ष की आयु में ही कानून पर उत्कृष्ट शोध प्रबन्ध लिखकर उन्होंने जर्मनी के आल्टडॉर्फ विश्वविद्यालय से 'डॉक्टर ऑफ लॉ' की उच्चतम उपाधि प्राप्त की थी। लाइबुनीज की इस महान प्रतिभा का सम्मान करते हुए इसी विश्वविद्यालय ने उन्हें प्रोफेसर के पद पर नियुक्त किया, किन्तु उन्होंने इस पद को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे अध्यापन-कार्य नहीं करना चाहते थे। अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात भी वे आजीवन निरन्तर अध्ययन एवं मनन करते रहे और फलस्वरूप वे महान दार्शनिक के रूप में ही नहीं, अपितु महान गणितज्ञ, विधिवेत्ता, राजनीतिज्ञ तथा इतिहासकार के रूप में भी सम्पूर्ण यूरोप में विख्यात हुए। उनकी इसी बहुमुखी प्रतिभा के कारण अनेक विचारकों ने उन्हें अरस्तू की भाँति सर्वज्ञान सम्पन्न दार्शनिक माना है। दर्शन, गणित, कानून, इतिहास आदि विविध क्षेत्रों में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण लेख अथवा निबन्ध लिखे हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम उनके दर्शन के कुछ प्रमुख पक्षों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

1. तत्त्वमीमांसा : बहुत से तत्त्वों अथवा चिद्बिन्दुओं के अन्तर्गत अपनी चार महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में लाइबुनीज ने दर्शन सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं पर विचार किया है। ये चार पुस्तकें हैं मोनेडॉलॉजी, दि प्रिंसिपल्स ऑफ नेचर एण्ड ऑफ ग्रेस, न्यू एसेज तथा थियोडिसी। डेकार्ट और स्पिनोज़ा की भाँति लाइबुनीज भी बुद्धिवादी दार्शनिक थे, किन्तु मूल दार्शनिक समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में उनका इन दोनों दार्शनिकों से पर्याप्त मतभेद है। स्वयं बहुतत्त्ववादी दार्शनिक होने के कारण वे डेकार्ट के द्वैतवाद तथा स्पिनोज़ा के एकतत्त्ववाद का समान रूप से खण्डन करते हैं। उनका मत है कि अन्तिम तत्त्व अथवा परम सत्ताएँ असंख्य हैं, एक या दो नहीं। प्रत्येक परम सत्ता अपने आप में परिपूर्ण तथा अन्य सभी परम सत्ताओं से पृथक एवं स्वतन्त्र है। इन सभी परम सत्ताओं को लाइबुनीज ने 'मोनेड्स' की संज्ञा दी है और इन्हें हम 'चिद्बिन्दु' कह सकते हैं

ईश्वर ने इन्ही चिदणुओ से संपूर्ण ब्रहमाड की रचना की है। जड तथा चेतन जगत में सर्वत्र ये चिदणु ही व्याप्त हैं। ये चिदणु गणित के बिदुओ तथा डेमोक्रेटस के परमाणुओ मे भिन्न हैं। गणित के बिदु अवास्तविक हैं जबकि ये चिदणु वास्तविक अथवा यथार्थ हैं। डेमोक्रेटस ने परमाणुओं को जड अथवा भौतिक माना था, किंतु लाइब्नीज के चिदणु विस्तारहीन अभौतिक एव आध्यात्मिक हैं। ये सभी चिदणु शक्ति के केंद्र एव चेतनायुक्त हैं। डेकार्ट तथा स्पिनोजा द्वारा बताए गए द्रव्य के सभी गुण इन चिदणुओ में भी विद्यमान हैं, अतर केवल संख्या का है। उदाहरणार्थ लाइब्नीज के अनुसार ये चिदणु अनश्वर, शाश्वत, अविभाज्य तथा निरपेक्ष हैं। ये चिदणु द्वाररहित अथवा गवाक्षहीन हैं — अर्थात न तो इनके भीतर कुछ प्रवेश कर सकता है और न इन से बाहर कुछ जा सकता है। परस्पर स्वतत्र तथा असबद्ध होने के कारण ये चिदणु किसी भी रूप में एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। प्रत्येक चिदणु पूर्णत आत्मनिर्भर है और वह सूक्ष्म रूप मे सपूर्ण ब्रह्माड को प्रतिबिंबित करता है। ब्रह्माड की समस्त घटनाएँ तथा क्रियाएँ सूक्ष्म रूप से प्रत्येक चिदणु मे निहित हैं, अत वह अपने आप मे एक अति सूक्ष्म ब्रह्माड है। प्रत्येक चिदणु एक सरल तत्त्व है जिसके भीतर कोई भाग नही होते और इसी कारण उसे विभाजित भी नही किया जा सकता। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति उसे नष्ट नही कर सकती। विश्व के समस्त भौतिक पदार्थो पेड-पौधो तथा प्राणियो का निर्माण ऐसे ही चिदणुओ से हुआ है। इस प्रकार लाइब्नीज को 'चेतन परमाणुवादी' कहा जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सभी चिदणु चैतन्यपूर्ण हैं तो भौतिक वस्तुओ तथा प्राणियो मे विद्यमान अतर की व्याख्या कैसे की जा सकती है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए लाइब्नीज ने चिदणुओ मे विद्यमान चेतना की मात्रा और अवस्था के अनुसार उन्हे अनेक वर्गो मे विभाजित किया है। उनका कथन है कि सभी चिदणुओ मे चैतन्य समान मात्रा और समान अवस्था मे विद्यमान नही होता। इसी कारण जड वस्तुओ, पेड-पौधो, पशु-पक्षियो तथा मनुष्यो मे अतर होता है। भौतिक वस्तुओ के चिदणु निम्नतम श्रेणी के हैं क्योंकि उनमे चैतन्य सुशुप्तावस्था मे ही रहता है। पेड-पौधो के चिदणुओ में चैतन्य की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है, अत ये चिदणु भौतिक वस्तुओ के चिदणुओ की अपेक्षा उच्चतर श्रेणी के होते हैं। इसी प्रकार पशु-पक्षियो के चिदणु पेड-पौधो के चिदणुओ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ठ श्रेणी के हैं, क्योंकि इनमे चैतन्य जागृतावस्था और पर्याप्त मात्रा मे होता है। इस चैतन्य के कारण पशु-पक्षी सुख-दु ख का अनुभव करते हैं और उनमे स्मृति तथा कुछ सीमा तक विचार-शक्ति भी पाई जाती है। मनुष्यो के चिदणुओ मे चैतन्य का पूर्ण विकास हुआ है और इसी कारण मनुष्यो मे आत्म-चेतना पाई जाती है जिसका पशु-पक्षियो मे अभाव है। पूर्ण विकसित चैतन्य के कारण ही मनुष्यो के चिदणु पशु-पक्षियो के चिदणुओ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट श्रेणी के होते हैं। इस प्रकार लाइब्नीज यह मानते हैं कि निम्नतम से क्रमशः उच्चतर चिदणुओ मे एक सुनिश्चित विकास-क्रम है जिसके अनुसार उनमे उत्तरोत्तर चैतन्य का विकास हुआ है।

चिदणुओ के उपर्युक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि लाइब्नीज पुदगल अथवा जड़ पदार्थ की सत्ता स्वीकार नही करते। उनका निश्चित मत है कि भौतिक वस्तुओ के चिदणुओ मे भी चैतन्य विद्यमान है, किंतु वह केवल सुशुप्तावस्था मे है। स्पष्टत इसका अर्थ यही है कि सपूर्ण ब्रह्माड मे चेतना-शून्य कुछ भी नही है। निम्नतम चिदणुओ से ले कर उच्चतम चिदणुओं तक एक निरतर अविछिन्नता है, उनमें कोई व्यवधान या असंबद्धता नहीं है। चैतन्यमय होने के कारण सभी चिदणओं की जाति एक ही है उनमें कोई प्राकारिक अतर नहीं है उनमें जो भेद है वह केवल

चैतन्य की अवस्था और मात्रा के कारण ही है। इस प्रकार लाइबनीज के अनुसार सपूर्ण ब्रह्माड चैतन्यमय है।

डेकार्ट ने केवल मनुष्यो मे ही आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया था। उनका विचार था कि जड वस्तुओ तथा पशु-पक्षियो में आत्मा नहीं होती। परतु सपूर्ण ब्रह्माड को मूलत चैतन्यमय मानने के कारण लाइबनीज डेकार्ट के इस विचार से सहमत नही हैं। वे सभी प्राणियो मे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर मे एक प्रमुख चिदणु होता है और वही उसकी आत्मा है। यह प्रमुख चिदणु अथवा आत्मा प्राणी के शरीर के अन्य चिदणुओं को प्रभावित नही करता, किंतु यह क्रियाशील होता है जबकि शरीर के अन्य सभी चिदणु निष्क्रिय होते हैं। आत्मा और शरीर के चिदणुओ मे जो सामजस्य दिखाई देता है वह ईश्वर द्वारा पहले से ही स्थापित कर दिया गया है। इसी कारण आत्मा को प्रति क्षण शरीर के चिदणुओ को प्रभावित करने की आवश्यकता ही नही होती। आत्मा मे कोई इच्छा उत्पन्न होने के साथ ही उसकी पूर्ति के लिए शरीर के चिदणु स्वत सक्रिय हो उठते हैं। उन्हे आत्मा स्वय किसी भी रूप मे प्रभावित नही करती। हम आगे देखेगे कि ईश्वर द्वारा चिदणुओं मे पूर्व स्थापित सामजस्य के सिद्धात का लाइबनीज के दर्शन मे बहुत महत्त्व है। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि उन्होने इसी सिद्धात के आधार पर शरीर तथा मन या आत्मा के सबध की व्याख्या की है।

अन्य अधिकतर पाश्चात्य दार्शनिको की भाँति लाइबनीज भी ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करते हैं। उन्होने ईश्वर को प्रमुखतम तथा सर्वश्रेष्ठ चिदणु माना है। उनका कथन है कि ईश्वर ने ही समस्त चिदणुओ को उत्पन्न किया है और वही उन्हे नष्ट भी कर सकता है। समस्त चिदणु अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर ही निर्भर हैं और वही उनमे सामजस्य स्थापित करता है। लाइबनीज भी ईश्वर मे वे सभी गुण स्वीकार करते है जो डेकार्ट और स्पिनोजा ने बताए थे। वे भी यह मानते हैं कि ईश्वर अजर-अमर, शाश्वत, स्वयभू, पूर्ण, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक दयालु अनादि तथा असीम है। उनके अनुसार उच्चतम चिदणु होने के कारण ईश्वर ही अन्य सभी चिदणुओं का आधार तथा नियता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लाइबनीज के दर्शन मे भी ईश्वर का वही महत्त्व है जो डेकार्ट तथा स्पिनोजा के दर्शन मे है।

एक दूसरे से पृथक और स्वतत्र चिदणुओ मे परस्पर सबध अथवा सामजस्य स्थापित करने के लिए भी लाइबनीज ने ईश्वर का आधार लिया है। हम देख चुके हैं कि उनके अनुसार समस्त चिदणु गवाक्षहीन हैं और वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। अब प्रश्न यह है कि हम अपने जीवन के समस्त कार्य किस प्रकार करते हैं और जगत् का सपूर्ण व्यवहार कैसे सभव होता है? हमे विश्व की घटनाओ मे जो कारण-कार्य-सबध दिखाई देता है उसकी व्याख्या कैसे की जा सकती है? इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए ही लाइबनीज ने पूर्व स्थापित सामजस्य के सिद्धात का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धात के अनुसार ईश्वर ने आदिकाल से ही चिदणुओं में ऐसा सामजस्य स्थापित कर दिया है कि विश्व के समस्त कार्य उचित एव व्यवस्थित ढग से चलते रहते हैं और ईश्वर उनमें बार-बार हस्तक्षेप नहीं करता जैसा कि तटस्थेश्वरवादियो का मत है। इस पूर्व स्थापित सामजस्य के सिद्धात को स्पष्ट करने के लिए लाइबनीज ने एक ही घडीसाज द्वारा बनाई गई बहुत सी घडियो का उदाहरण दिया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार एक ही घडीसाज द्वारा निर्मित अनेक घडियाँ एक दूसरे को प्रभावित किए बिना ही समान रूप से ठीक-ठीक समय बताती हैं क्योकि घडीसाज ने उन सब मे पहले से ही ऐसी व्यवस्था कर दी है इसी प्रकार चिदणुओ के एक दूसरे से असबद्ध होते [illegible] जगत का व्यवहार भली भाँति तथा व्यवस्थित ढग से चलता है क्योकि घडीसाज की भाँति

इश्वर ने पहले से ही उनमे उचित सामंजस्य स्थापित कर दिया है। इस पूर्व स्थापित सामजस्य के सिद्धान्त द्वारा लाइब्नीज ने अन्योन्यक्रियावाद तथा तटस्थेश्वरवाद दोनो को ही अस्वीकार किया है। उनका मत है कि गवाक्षहीन होने के कारण चिदणुओ मे कारण-कार्य-सबध नही हो सकता और न ही ईश्वर उनकी क्रियाओं को निर्धारित करने के लिए बार-बार हस्तक्षेप करता है। उसने पहले से ही चिदणुओ की रचना इस प्रकार की है कि जगत् मे सदैव व्यवस्था बनी रहती है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लाइब्नीज का यह सिद्धात उन्हे स्पिनोजा की भाँति अद्वैतवादी बना देता है। यदि ईश्वर ही चिदणुओ को उत्पन्न करता है, उन्हे नष्ट कर सकता है और उनमे सामजस्य स्थापित करता है तो केवल उसे ही विश्व का अतिम तत्त्व अथवा परम सत्ता माना जा सकता है असख्य चिदणुओं को नही। लाइबनीज स्वय मानते हैं कि समस्त चिदणु अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर निर्भर है। ऐसी स्थिति मे केवल ईश्वर को ही स्वतंत्र, स्वाधारित और निरपेक्ष सत्ता माना जा सकता है, असख्य चिदणुओ को नही। इस प्रकार स्पिनोजा की भाँति लाइब्नीज भी अतत एकतत्त्ववादी हो जाते हैं। इसमे उनके दर्शन पर स्पिनोजा का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है।

डेकार्ट तथा स्पिनोजा की भाँति लाइब्नीज ने भी अनेक बौद्धिक युक्तियो द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इस सबध मे उन्होने चार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं--प्रत्यय-सत्ता-युक्ति, सृष्टि-कारण-युक्ति, शाश्वत सत्यो से सबधित युक्ति और पूर्व स्थापित सामजस्य सबधी युक्ति। प्रत्यय-सत्ता-युक्ति के अनुसार पूर्ण ईश्वर वह है जिसकी अपेक्षा अधिक महान अन्य कोई नही है। हमारे मन मे ऐसे पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है अथवा हमारे लिए ऐसे पूर्ण ईश्वर के विषय मे सोचना सभव है। 'अस्तित्व' ऐसे पूर्ण ईश्वर का अनिवार्य गुण है, क्योकि 'अस्तित्व' का अभाव उसमे अपूर्णता उत्पन्न करता है। पूर्ण ईश्वर का अनस्तित्व सभव नही है अत ऐसे ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है। स्पष्ट है कि इस युक्ति में वस्तु के अन्य गुणो की भाँति 'अस्तित्व' को भी एक गुण मान लिया गया है। परतु जैसा कि काट ने कहा है, वास्तव मे 'अस्तित्व' कोई गुण नही है। जब हम कहते है कि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो इसका अर्थ यही होता है कि वह वस्तु विद्यमान है। उसके अस्तित्व का होना उसमे कोई अतिरिक्त गुण उत्पन्न नही करता। इसी आधार पर काट ने प्रत्यय-सत्ता-युक्ति को अस्वीकार किया है। इस युक्ति के विरुद्ध उनका यह कथन उचित ही है कि पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय मात्र से यह प्रमाणित नही होता कि उसका अस्तित्व है।

सृष्टि-कारण-युक्ति मे ब्रह्माड के 'आदि कारण' के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। इस युक्ति के अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना अनिवार्य है, अत ब्रह्माड का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। सपूर्ण ब्रह्माड का आदि कारण ईश्वर ही हो सकता है, अत ईश्वर का अस्तित्व है। यदि हम आदिकारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करे तो हमे कारणो की अनत श्रृखला को स्वीकार करना पडेगा जिससे अनावस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस अनावस्था दोष से बचने के लिए आदि कारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी आधार पर लाइब्नीज पर्याप्त कारण के रूप मे ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास करते है। परतु इस युक्ति मे स्वतोव्याघात स्पष्ट है, क्योकि इस मे एक ओर तो यह माना गया है कि प्रत्येक वस्तु का कारण होना अनिवार्य है और दूसरी ओर ईश्वर को स्वयभू मान लिया गया है जिसका कोई कारण नही है। प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर स्वयभू हो सकता है तो ब्रह्माड स्वयभू क्यो नही हो सकता? वस्तुत इस प्रश्न का कोई युक्तिसगत उत्तर देना सभव नही है, अत उपर्युक्त स्वतोव्याघात के कारण इस युक्ति को सतोषप्रद नही माना जा सकता

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए लाइबनीज़ ने शाश्वत सत्यों से संबंधित युक्ति इस प्रकार प्रस्तुत की है। कुछ सत्य ऐसे है जो आपातिक होते हैं—अर्थात वे कभी सत्य होते हैं और कभी नहीं। परंतु कुछ अन्य सत्य शाश्वत होते हैं। उदाहरणार्थ "दो और दो चार होते हैं" यह एक शाश्वत सत्य है। गणित और तर्कशास्त्र में इस प्रकार के अनेक शाश्वत सत्य पाए जाते हैं। ऐसे शाश्वत सत्य केवल शाश्वत ईश्वर के मन में ही रह सकते हैं अत ईश्वर का अस्तित्व है। परंतु लाइबनीज की यह युक्ति भी संतोषप्रद नहीं है, क्योंकि इसमें यह मान लिया गया है कि किसी व्यक्ति के मन में उसी प्रकार शाश्वत सत्यों का अस्तित्व होता है जिस प्रकार एक बक्स में वस्तुएँ पड़ी रहती हैं। वस्तुत शाश्वत सत्य कोई वस्तुएँ नहीं हैं जो ईश्वर के मन में विद्यमान रहती हैं, अत ऐसे सत्यों के लिए ईश्वर के अस्तित्व की प्राक्कल्पना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

पूर्व स्थापित सामंजस्य संबंधी युक्ति लाइबनीज की अपनी मौलिक युक्ति है और इस युक्ति में एक दूसरे से पृथक असंख्य चिदणुओं में सामंजस्य द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। हम देख चुके हैं कि लाइबनीज के अनुसार ब्रह्माड का निर्माण ऐसे असंख्य चिदणुओं से हुआ है जो परस्पर असंबद्ध होने के कारण एक दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। ऐसी स्थिति में इन चिदणुओं में सामंजस्य स्थापित करने वाली किसी शक्ति को मानना आवश्यक है और यह शक्ति ईश्वर ही है जिसने सभी चिदणुओं में आदिकाल से ही समुचित सामंजस्य स्थापित कर दिया है। परन्तु इस युक्ति को स्वीकार करने के लिए लाइबनीज के चिदणुवाद को स्वीकार करना अनिवार्य है। जो व्यक्ति उनके इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता उसके लिए इस युक्ति का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। वस्तुत- इस युक्ति द्वारा लाइबनीज ने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के स्थान पर अपने दर्शन की मूल समस्या का ही समाधान किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त प्रमाणों अथवा युक्तियों के आधार पर वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता।

2. **ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा** . लाइबनीज की ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा दोनों ही उनकी उपर्युक्त तत्त्वमीमांसा पर आधारित हैं। ज्ञान की उत्पत्ति और प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस संबंध में डेकार्ट तथा लॉक दोनों के विचारों को अस्वीकार किया है। डेकार्ट यह मानते थे कि हमारे मन में कुछ प्रत्यय जन्मजात होते हैं। इसके विपरीत लॉक अनुभव से पूर्व मनुष्य के मन को कोरे कागज की भाँति मानने के कारण जन्मजात प्रत्ययों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। परन्तु लाइबनीज ने इन दोनों दार्शनिकों के मत को अस्वीकार करते हुए यह कहा है कि हमारे समस्त प्रत्यय जन्मजात ही होते हैं। चिदणुओं में बाहर से कुछ भी प्रवेश नहीं कर सकता अत हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसका स्रोत बाह्य जगत् न हो कर स्वयं हमारा मन ही है। इसका अर्थ यह है कि इंद्रिय-संवेदनों द्वारा हमें किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, हमारे मन में विद्यमान जन्मजात प्रत्ययों से ही हमें समस्त ज्ञान प्राप्त होता है। हमारा इंद्रिय अनुभव इस ज्ञान को जागृत और अधिक स्पष्ट करने में सहायक होता है, किंतु वह इस ज्ञान का स्रोत नहीं है। वस्तुओं और घटनाओं के विषय में हमारा अनुभव कभी भी हमें असंदिग्ध ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता, ऐसा ज्ञान हम केवल तर्कबुद्धि द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। हमारे इंद्रिय अनुभव पर आधारित ज्ञान केवल आपातिक ही हो सकता है, निश्चित या असंदिग्ध नहीं। सिद्धांतत ऐसे ज्ञान का खंडन करना संभव है।

लाइबनीज का विचार है कि वास्तविक ज्ञान वही है जो असंदिग्ध हो अर्थात जिसका खंडन करना संभव न हो ऐसा वास्तविक ज्ञान तर्कशास्त्र के उन मूल सिद्धांतों पर आधारित होता है जो

जन्मजात होने के कारण पहले से ही हमारे मन मे विद्यमान रहते हैं और जिन्हे हम अनुभव द्वारा प्राप्त नही कर सकते। अनन्यता का नियम, व्याघात का नियम आदि ऐसे ही जन्मजात मूल सिद्धात है। स्पष्ट है कि लाइबनीज लॉक के इस मत को स्वीकार नही करते कि अनुभव से पूर्व हमारा मन ज्ञानशून्य होता है और हमारे समस्त ज्ञान का एकमात्र आधार अनुभव ही है। लॉक के विपरीत उनका कथन है कि हमारा मन चैतन्यमय है और द्रव्य, अस्तित्व, देश-काल, कारण-कार्य आदि मूल अवधारणाएँ जन्मजात रूप मे उसमे विद्यमान रहती हैं। इन मूल अवधारणाओ के अभाव मे हम कभी भी कोई ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। इस दृष्टि से ज्ञान-प्राप्ति के लिए हमारे मन का योगदान अनिवार्य है। मन के योगदान के बिना केवल इद्रिय सवेदनो द्वारा हम ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। लाइबनीज के इसी मत को स्वीकार करते हुए आगे चल कर काट ने अपनी ज्ञानमीमासा का विकास किया। इसी कारण यह माना जाता है कि लाइबनीज की ज्ञानमीमासा मे हमे काट की ज्ञानमीमासा का पूर्वाभास प्राप्त होता है। काट से बहुत पहले ही लाइबनीज ने कहा था कि इद्रिय अनुभव हमारे मन में जन्मजात रूप से विद्यमान प्रत्ययो को जागृत करता है और हमारी ज्ञान-प्राप्ति मे यही उसका योगदान है। हमारे मन मे विद्यमान सभी जन्मजात प्रत्यय सदा एक ही अवस्था मे नही रहते अनुभव की वृद्धि के फलस्वरूप वे अधिकाधिक स्पष्ट होते जाते है। इस दृष्टि से लाइबनीज के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया मे इद्रिय अनुभव के महत्त्व को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। इद्रिय अनुभव हमारे मन मे—प्रत्ययों को उत्पन्न नही करता किंतु उसके फलस्वरूप हम इन प्रत्ययो का ज्ञान होता है। इस प्रकार बुद्धिवादी होते हुए भी लाइबनीज ने — अपनी ज्ञानमीमासा मे अनुभववाद तथा बुद्धिवाद का समन्वय करने का प्रयास किया है। आगे चल कर काट ने इन दोनो सिद्धातो के इसी समन्वय के आधार पर ज्ञान की उत्पत्ति और प्रक्रिया की अधिक तर्कसंगत रूप मे व्याख्या की। इसी कारण लाइबनीज की ज्ञानमीमासा का पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे विशेष महत्त्व है।

प्रत्ययो की भाँति मूल नैतिक सिद्धातो को भी लाइबनीज जन्मजात ही मानते है। उनका मत है कि ये मूल नैतिक सिद्धात सभ्य तथा असभ्य सभी मनुष्यो मे समान रूप से पाए जाते हैं, किंतु सभी मनुष्यों को इनका समान ज्ञान नहीं होता। शिक्षा तथा परम्परा के अनुसार विभिन्न मनुष्यों मे इन नैतिक सिद्धातो के ज्ञान का भिन्न-भिन्न प्रकार से विकास होता है। परन्तु कोई भी मनुष्य नैतिक सिद्धातों से पूर्णत अनभिज्ञ नही होता। उदाहरणार्थ न्याय, कर्त्तव्य, ईमानदारी, सत्य आदि नैतिक नियमो का ज्ञान असभ्य लोगो तथा चोर-डाकुओं मे भी पाया जाता है। इनके बिना वे भी अपने समुदाय को व्यवस्थित और सगठित नही कर सकते। लाइबनीज के अनुसार यदि हमे किसी नैतिक सिद्धात का ज्ञान नही है तो इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि वह सिद्धात हमारे मन मे विद्यमान नही है। यह सभव है कि अनेक अवसरो पर अपनी अनभिज्ञता अथवा अपने तीव्र सवेगो के कारण हम नैतिक सिद्धातो के अनुसार आचरण न करे, किंतु ये सिद्धात हमारे मन मे जन्म से ही अवश्य विद्यमान रहते हैं। परतु लाइबनीज की इस मान्यता को स्वीकार करना बहुत कठिन है क्योकि नैतिक सिद्धातो का ज्ञान वास्तव में जन्मजात न हो कर हमे समाज से ही प्राप्त होता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि किसी शिशु को जन्म के पश्चात वन मे छोड दिया जाए और वह किसी प्रकार जीवित बच जाए तो वह मानव-समाज के अभाव मे नैतिक नियमो अथवा सिद्धातो का ज्ञान कभी प्राप्त नही कर सकेगा।

लाइबनीज मनुष्य के सकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं, किंतु उनका विचार है कि यह सकल्प-स्वातंत्र्य कारण-कार्य के नियम का निषेध नही करता। मनुष्य के सकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ केवल यही है कि वह कोई कर्म करने के लिए किसी बाह्य शक्ति द्वारा बाध्य नहीं है वह स्वय

अपने संकल्प द्वारा प्रेरित हो कर कर्म कर सकता है। परन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसके प्रत्येक कर्म का कोई कारण अवश्य होता है। यह कारण बाह्यारोपित न होकर स्वयं मनुष्य के भीतर होता है और इसी अर्थ में उसे कर्म करने के लिए स्वतन्त्र माना जा सकता है। इस प्रकार अनियतत्ववाद को अस्वीकार करते हुए लाइबनीज ने नियतत्ववाद तथा संकल्प-स्वातंत्र्य का समन्वय करने का प्रयास किया है। परंतु उनका पूर्व स्थापित सामंजस्य का सिद्धांत मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य का निषेध करता है, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर ने आदि काल से ही समस्त चिदणुओं में जो सामंजस्य स्थापित किया है वे सदैव उसी के अनुरूप कार्य करते हैं।

लाइबनीज यह मानते थे कि हमारा संसार सर्वोत्तम है, क्योंकि स्वयं शुभ होने के कारण ईश्वर ने यथासंभव सर्वोत्तम संसार की रचना की है। इस संसार में हमें जो अशुभ दिखाई देता है वह वास्तव में अशुभ न हो कर शुभ का अनिवार्य साधन है। दुःख सहने के पश्चात ही हम सुख का महत्त्व समझ सकते हैं। इसी प्रकार दुःख तथा पाप के रूप में अशुभ के अस्तित्व के कारण ही हमारे लिए करुणा, न्याय, साहस आदि अनेक सद्गुणों का महत्त्व है। मनुष्य को संकल्प-स्वातंत्र्य प्रदान करने के कारण ईश्वर ने उसे शुभ कर्म करने के साथ-साथ अशुभ कर्म करने की भी क्षमता दी है, अतः नैतिक अशुभ संकल्प-स्वातंत्र्य का अनिवार्य परिणाम है। परंतु लाइबनीज की इस मान्यता के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर मनुष्य की रचना इस प्रकार कर सकता था कि वह अपने संकल्प-स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करने के लिए कभी प्रेरित ही न होता। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान ईश्वर दुःख से रहित संसार की रचना भी कर सकता था।



हीगल

महान जर्मन दार्शनिक जॉर्ज विलहैल्म फ्रैड्रिक हीगल (1770-1831) का पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है और उनकी तुलना प्लैटो, अरस्तू, काट, शकर आदि विश्व के प्रमुख दार्शनिको से की जा सकती है। हीगल का जन्म 1770 मे जर्मनी के एक नगर स्टटगार्ट मे हुआ था और इसी देश की राजधानी बर्लिन मे हैजे के फलस्वरूप 1831 में उनका देहात हुआ। वे अपने छात्र-जीवन मे अधिक प्रतिभाशाली प्रतीत नही होते थे, किंतु वे बहुत परिश्रमी तथा अध्ययनशील विद्यार्थी थे। पाश्चात्य दर्शन का व्यापक अध्ययन करने के पश्चात वे अपने देश के अनेक विश्वविद्यालयों मे लबे समय तक दर्शन के प्रोफेसर के रूप में अध्यापन-कार्य करते रहे। इस अध्यापन-कार्य के साथ-साथ उन्होने दर्शन के क्षेत्र मे अपना महान योगदान भी किया है। तत्त्वमीमासा, आचारमीमासा, इतिहास का दर्शन, राजनीति-दर्शन, धर्म-दर्शन, तर्कशास्त्र, सौंदयशास्त्र आदि दर्शन की लगभग सभी प्रमुख विधाओ पर उन्होने पुस्तके लिखी हैं जो आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। हीगल की इन विविध कृतियो से यह स्पष्ट है कि दर्शन के क्षेत्र में उनका कार्य कितना महत्त्वपूर्ण और व्यापक है। इस महान योगदान के कारण ही दर्शन तथा राजनीति के क्षत्र मे उनके विचारो का व्यापक प्रभाव पड़ा है। उन्नीसवी शताब्दी के अत मे अधिकतर अंग्रेज तथा अमेरिकन दार्शनिक हीगल के दर्शन से प्रभावित थे। इस सबध मे कार्ल मार्क्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होने हीगल की द्वद्वात्मक प्रणाली के आधार पर अपन साम्यवादी दर्शन का निर्माण किया। प्रस्तुत लेख मे हीगल के व्यापक दर्शन के सभी पक्षो का विवेचन करना सभव नही है, अत. यहाँ हम उनके दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षो पर ही सक्षेप मे विचार करेगे।

1 **तत्त्वमीमासा** : लॉक, बर्कले, ह्यूम, काट आदि हीगल के पूर्ववर्ती दार्शनिको ने अपने दर्शन मे ज्ञानमीमासा सबधी समस्याओ के विवेचन को ही प्रमुख स्थान दिया था, किंतु हीगल ज्ञानमीमासा की अपेक्षा तत्त्वमीमासा को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। उनका विचार है कि दर्शन का मुख्य उद्देश्य विश्व के परम तत्त्व, उसके विकास तथा मानवीय अनुभव को भलीभाँति समझने का प्रयास करना है। इसी कारण दर्शन के लिए मनुष्य की बुद्धि अथवा उसके विवेक का विशेष महत्त्व है जिसके द्वारा वह अपने इस महान उद्देश्य को प्राप्त करने मे सफल हो सकता है। हीगल के दर्शन मे विवेक या बुद्धि का विशेष महत्त्व इस बात से स्पष्ट है कि वे 'वास्तविक' तथा 'विवेकसगत' को एक ही मानते है और इन दोनो मे कोई भेद नही करते। उनका यह कथन बहुत प्रसिद्ध है कि 'जो वास्तविक है वही विवेकसगत है और जो विवेकसगत है वही वास्तविक है।' इसका अर्थ यही है कि हमारा विवेक जिसकी पुष्टि नही करता वह यथार्थ अथवा वास्तविक नही हो सकता। इस प्रकार हीगल ने विवेक अथवा बुद्धि के आधार पर ही विश्व के परम तत्त्व तथा उसके विकास की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

अपने पूर्ववर्ती दो दार्शनिको फिश्टे तथा शेलिंग की भाँति हीगल भी परमतत्त्व को ही विश्व की अंतिम सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार इस परमतत्त्व का स्वरूप आध्यात्मिक है और संपूर्ण विश्व मे यही परमतत्त्व व्याप्त है। दिक् तथा काल की कोई अपनी वास्तविक सत्ता नही है और वे इसी परमतत्त्व मे निहित रहते हैं, अत यह उनके द्वारा सीमित नही है। विश्व की सर्वाधिक व्यापक वास्तविकता यही परमतत्त्व है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हीगल के मतानुसार यह परमतत्त्व विश्व से पृथक कोई स्थिर सत्ता नही है, यह निरंतर गतिशील तथा विकासमान है और विश्व की समस्त जड-चेतन वस्तुओ मे व्याप्त रहता है। सभी जड वस्तुओ तथा प्राणियो मे विभिन्न स्तरो पर इसी परमतत्त्व का विकास हुआ है। जड जगत् से प्राणी जगत् तक इसी परमतत्त्व की सत्ता विद्यमान है, अत यह सर्वव्यापक और सपूर्ण ब्रह्माड का आधारभूत तत्त्व है। इस प्रकार ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता के रूप मे परमतत्त्व का हीगल के दर्शन मे विशेष महत्त्व है।

एक ही अंतिम तत्त्व मे विश्वास करने के कारण हीगल विश्व की अलग-अलग वस्तुओ को पूर्णत और अंतिम रूप से वास्तविक नही मानते। उनका विचार है कि अलग-अलग प्रतीत होने वाली सभी वस्तुएँ एक दूसरे से पृथक न होकर वास्तव मे एक ही महा समष्टि का अखड भाग हैं। यह महा समष्टि परमतत्त्व ही है जिसकी सत्ता पृथक-पृथक प्रतीत होने वाली सभी वस्तुओ मे अनिवार्यत व्याप्त है। विश्व मे अलग-अलग वस्तुओ की हमें जो वास्तविकता प्रतीत होती है वह इसी महा समष्टि की वास्तविकता के कारण है। इस प्रकार हीगल सभी अलग-अलग वस्तुओ तथा व्यक्तियो को अपने आप मे पूर्णत वास्तविक न मानकर एक ही महा समष्टि के अखड भागों के रूप मे ही वास्तविक मानते हैं। उनका मत है कि यद्यपि यह समष्टि विभिन्न खडो से पृथक नही है, फिर भी इसे इन खडो का योग मात्र नही माना जा सकता, यह इन सब खडो के योग के अतिरिक्त कुछ और भी है। प्रत्येक खड का महत्त्व इसलिए है कि वह इस समष्टि का एक भाग है। समष्टि से पृथक उसका कोई महत्त्व नही हो सकता। समष्टि तथा उसके खंडो के इस सबध को स्पष्ट करने के लिए हीगल ने शरीर और उसके अंगो के सबध का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार शरीर से पृथक उसके किसी अग का और अगो से पृथक शरीर का कोई महत्त्व नही रह जाता उसी प्रकार समष्टि से पृथक खडो का तथा खडो से पृथक समष्टि का कोई महत्त्व नही हो सकता। परंतु हीगल केवल समष्टि को ही अंतिम रूप से वास्तविक मानते हैं, उनके अनुसार खडो की वास्तविकता अतत समष्टि की वास्तविकता पर ही निर्भर है। समष्टि की अवधारणा और उसके खंडो के सबध को हीगल ने बहुत विस्तृत रूप मे प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि विश्व की समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे परस्पर सबंधित हैं और इस प्रकार एक महा समष्टि बनाती है। इस दृष्टि से अलग-अलग प्रतीत होने वाली वस्तुएँ अंतिम रूप मे वास्तविक न होते हुए भी नितान्त अवास्तविक अथवा भ्रम मात्र नही हैं। समष्टि के खडो के रूप मे ये वस्तुएँ अतत वास्तविक हैं। परतु केवल समष्टि ही पूर्णत वास्तविक है और इसी कारण हीगल ने विश्व की अंतिम सत्ता के रूप मे परमतत्त्व को 'समष्टि' कहा है।

हीगल ने जिस विशेष विधि द्वारा मानवीय चिंतन के विकास की व्याख्या की है उसे वे 'द्वंद्वात्मक प्रणाली' की सज्ञा देते हैं। उनका मत है कि मनुष्य के चिंतन का विकास विचारो के पारस्परिक द्वंद्व अथवा सघर्ष के फलस्वरूप ही होता है। प्रत्येक विचार या सिद्धांत के विकास की तीन स्थितियाँ होती हैं जिन्हें हीगल ने 'पक्ष, 'प्रतिपक्ष' तथा 'सपक्ष' कहा है। सर्वप्रथम कोई व्यक्ति एक विशेष विचार या सिद्धांत प्रस्तुत करता है। इसके पश्चात कोई अन्य व्यक्ति उस विचार अथवा सिद्धांत का खडन कर के उसका विरोधी सिद्धांत प्रस्तुत करता है। इन दोनो को क्रमश 'पक्ष' तथा 'प्रतिपक्ष' कहा जाता है अतत एक अन्य व्यक्ति उक्त विरोधी सिद्धांतों का

करके एक नवीन सिद्धांत प्रस्तुत करता है जिसे 'सपक्ष' कहा जाता है। यह सपक्ष अपने पूर्ववर्ती पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों का समन्वित रूप होने के कारण उनकी अपेक्षा अधिक व्यापक और संतुलित होता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सपक्ष मे जिन दो विरोधी विचारो का समन्वय किया जाता है उनका महत्त्व कम नही हो जाता। प्रत्येक विचार की उपयोगिता इसी से सिद्ध होती है कि उसमे आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान रहता है और यह अधिक व्यापक तथा संतुलित नवीन विचार की उत्पत्ति मे सहायक होता है। वस्तुत हीगल निरंतर द्वंद्व अथवा विरोध को ही जीवन और चिंतन के विकास का अनिवार्य आधारभूत नियम मानते है। उनका कथन है कि जब हम वस्तुओ तथा विचारो को एक दूसरे से पृथक करके देखते है तभी वे हमे परस्पर विरोधी प्रतीत होते है समष्टि के संदर्भ मे देखने पर वे एक दूसरे के पूरक हो जाते हैं। इस प्रकार हमे विश्व मे जो विरोध दिखाई देता है उसे समष्टि के संदर्भ मे देखने पर उसकी वास्तविकता स्वत समाप्त हो जाती है। इस प्रकार हीगल यह मानते हैं कि सपक्ष मे दो विरोधी विचारो का समन्वय संभव है। द्वंद्वात्मक प्रणाली के आधार पर सपक्ष मे पक्ष तथा प्रतिपक्ष के समन्वय के फलस्वरूप ही मानवीय चिंतन का निरंतर विकास होता है, अत ज्ञान के विकास के लिए इस प्रणाली का बहुत महत्त्व है।

हीगल ने तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत ही तर्कशास्त्र, प्रकृति-संबंधी दर्शन तथा मनस-संबंधी दर्शन का विवेचन किया है। यहाँ हम इन तीनों विषयो पर संक्षेप मे उनके विचार प्रस्तुत करेंगे। हीगल तर्कशास्त्र का सामान्य प्रचलित अर्थ स्वीकार नही करते। वे तर्कशास्त्र को तत्त्वमीमांसा का ही एक भाग मानते है। इसी तथ्य का उल्लेख करते हुए बरट्रैन्ड रसल ने कहा है कि हीगल के लिए तत्त्वमीमांसा तथा तर्कशास्त्र एक ही हैं। हीगल का कथन है कि तर्कशास्त्र विशुद्ध विचार संबंधी विज्ञान है और उसका कार्य प्रत्ययो अथवा अवधारणाओ के पारस्परिक संबंध का विवेचन करना है। तर्कशास्त्र के अंतर्गत ही उन्होंने मनस के प्रमुख संवर्गों का वर्णन किया है। उनके विचार से मूल और सब से प्रमुख संवर्ग सत्ता से संबंधित है, क्योंकि सर्वप्रथम मनुष्य को यही ज्ञान होता है कि किसी वस्तु का अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त उन्होने द्रव्य, गुण, कारण-कार्य-संबंध आदि अन्य अनेक संवर्गों का भी विवेचन किया है।

अपने प्रकृति संबंधी दर्शन मे हीगल ने भौतिक जगत् मे पूर्ण प्रत्यय से संबंधित मनस के क्रमिक विकास का वर्णन किया है। उनका विचार है कि भौतिक जगत् मे चैतन्य या मनस का अभाव नहीं है, किंतु उसमे वह अविकसित दशा अथवा सुषुप्तावस्था मे है। खनिज पदार्थो, वनस्पति, पशु-पक्षियो तथा मनुष्यो मे मनस का क्रमश विकास हुआ है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यो में मनस अधिकतम विकसित अवस्था मे है। इस प्रकार हीगल भौतिक जगत् और प्राणी-जगत् दोनो मे मनस को ही व्याप्त मानते हैं, अत उनके अनुसार ये दोनों मूलत भिन्न नही है।

अपने मनस संबंधी दर्शन मे हीगल ने मनस के पूर्ण विकास का विवेचन किया है। उनका मत है कि मनस आत्मगत, विषयगत और निरपेक्ष इन तीन रूपो में अभिव्यक्त होता है। मनस का आत्मगत रूप व्यक्ति के विकास मे देखा जा सकता है। व्यक्ति की समस्त मानसिक शक्तियाँ मनस के इसी आत्मगत रूप से विकसित होती हैं। मनस का विषयगत रूप समाज तथा परिवार, विवाह, राज्य आदि उसकी विभिन्न संस्थाओ मे व्यक्त होता है। हीगल के अनुसार राज्य ही समाज की सब से अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है और अन्य सभी संस्थाएँ अतत उसी के विकास के आवश्यक साधन है। राज्य सहित सभी सामाजिक संस्थाएँ मनस के विकास का ही परिणाम हैं। परंतु हीगल का विचार है कि मनस का पूर्ण तथा विकास कला धर्म और दर्शन में ही होता है इन

तीनों मे मनस के निरपेक्ष रूप की अभिव्यक्ति होनी है। इनमे भी दर्शन का स्थान सर्वोच्च है, क्योकि उसी मे मनस की पूर्ण तथा स्वतत्र अभिव्यक्ति सभव है। इस प्रकार हीगल के मतानुसार सपूर्ण विश्व मे एक ही पूर्ण प्रत्यय अथवा मनस विकास के विभिन्न स्तरो पर सर्वत्र व्याप्त है और यही उसकी अंतिम सत्ता है।

2. **नैतिक दर्शन** : हीगल का नैतिक दर्शन उनकी उपर्युक्त तत्त्वमीमासा पर ही आधारित है। उन्होंने अपनी दो पुस्तको 'फिनोमिनोलॉजी ऑफ़ माइन्ड' तथा 'फिलॉसॉफी ऑफ राइट' मे नैतिकता की समस्याओ और उसके उदगम एव विकास का विस्तृत विवेचन किया है। वे अपने नैतिक दर्शन मे व्यक्ति ओर समाज के घनिष्ठ सबध को विशेष महत्त्व देते हैं। यद्यपि उन्होंने मनुष्य के स्वतत्र व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण निषेध नही किया, फिर भी वे उसके व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सामाजिक कल्याण को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। उनका मत है कि सामाजिक जीवन व्यतीत करने के कारण ही मनुष्य मे नैतिकता का विकास होता है, अत वे व्यक्ति को समाज का अभिन्न अग मान कर ही उसके नैतिक विकास पर विचार करते है। हीगल ने मनुष्य मे नैतिकता के विकास की निम्नलिखित मुख्य तीन अवस्थाएँ बताई हैं

(1) **कानूनी अधिकार अथवा बाध्यता** . नैतिकता के विकास की इस प्रथम अवस्था मे मनुष्य राज्य के कानूनो, सामाजिक नियमो अथवा ईश्वरीय दड के भय के कारण ही उचित कर्म करने तथा अनुचित कर्म न करने के लिए बाध्य होता है। इस अवस्था मे नैतिकता मनुष्य पर कुछ बाह्य शक्तियों द्वारा ही आरोपित की जाती है, वह स्वय अत प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने कर्त्तव्य का पालन नही करता। यही कारण है कि हीगल ने नैतिकता के विकास की इस प्रथम अवस्था को निम्नतम अवस्था माना है। उनका कथन है कि इस अवस्था में मनुष्य राज्य तथा समाज द्वारा निर्मित नियमो से बाध्य होकर ही दूसरो के अधिकारो का सम्मान करता है और यह आशा करता है कि अन्य व्यक्ति भी इसी सामाजिक एव कानूनी बाध्यता के कारण उसके अधिकारो को स्वीकार करेंगे। इस अवस्था मे राज्य का दड-विधान अनिवार्य है, क्योकि इसमे व्यक्ति दंड के भय के कारण ही समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करता है। हीगल दड को उचित तथा बुद्धिसगत मानते हुए यह कहते हैं कि अनुचित कर्म करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को दड अवश्य मिलना चाहिए। सक्षेप में हीगल के मतानुसार इस अवस्था के अतर्गत नैतिकता पूर्णत बाह्यारोपित होती है, अत यह नैतिकता के विकास की निम्नतम अवस्था है।

(2) **अंत प्रेरित नैतिकता** बुद्धि अथवा विवेक-शक्ति के अधिक विकसित हो जाने के पश्चात मनुष्य किसी बाह्य शक्ति के दड के भय से बाध्य होकर नही, अपितु स्वय अपने अत.करण की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही उचित कर्म करने लगता है। नैतिकता के विकास की इस दूसरी अवस्था मे मनुष्य अपनी स्वतत्र इच्छानुसार राज्य एव समाज के नियमों का पालन करता है, दड के भय अथवा पुरस्कार के प्रलोभन से प्रेरित हो कर नही। इस अवस्था मे मनुष्य अपने नैतिक उत्तरदायित्व को भलीभाँति समझने लगता है, अत अनुचित कर्म करने पर वह स्वय दड स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है। इसी कारण हीगल नैतिकता के विकास की इस अवस्था को प्रथम अवस्था की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानते है। परन्तु उनका मत है कि इस अवस्था मे भी व्यक्ति के अपने हित और व्यापक सामाजिक कल्याण मे सघर्ष हो सकता है। इसका कारण यह है कि इस अवस्था मे भी मनुष्य अपने व्यक्तिगत हित के लिए बहुत सजग रहता है और वह समाज के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित नही कर पाता। हीगल के मतानुसार जब मनुष्य व्यापक सामाजिक कल्याण की चिता किए बिना अपने व्यक्तिगत हित के लिए प्रयास करता है तो वह अशुभ की ओर

अग्रसर होता है, क्योंकि केवल स्वार्थसिद्धि नैतिक दृष्टि से पूर्णतया अशुभ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हीगल के विचार मे नैतिकता के विकास की यह द्वितीय अवस्था भी वास्तव मे उच्चतम अवस्था नही है।

(3) **वैयक्तिक और सामाजिक हित का एकीकरण** - नैतिकता के विकास की इस अंतिम अवस्था मे मनुष्य की बुद्धि अथवा विवेक-शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाता है, अत. वह अपने आप को समाज का ही अभिन्न अग मानने लगता है। समाज के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण ही इस अवस्था मे मनुष्य व्यापक सामाजिक कल्याण मे ही अपना वास्तविक व्यक्तिगत हित अनुभव करता है। दूसरे शब्दो मे, इस अतिम अवस्था के अतर्गत मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक हित का वह विरोध पूर्णत समाप्त हो जाता है जो नैतिकता के विकास की द्वितीय अवस्था में विद्यमान था। इस अवस्था मे वैयक्तिक और सामाजिक शुभ का पूर्ण एकीकरण हो जाने के कारण हीगल ने इसे नैतिकता के विकास की उच्चतम अवस्था माना है। उनका कथन है कि इस अवस्था में मनुष्य अपने व्यक्तिगत हित का ध्यान रखते हुए भी सामाजिक कल्याण की उपेक्षा नहीं कर सकता, क्योकि वह भलीभाँति जानता है कि अतत सपूर्ण समाज के कल्याण मे ही उसका अपना कल्याण निहित है। वह जिस समाज का सदस्य है उसी की इच्छा को स्वय अपनी इच्छा मान कर अपने समस्त कर्त्तव्यों का पालन करता है, किसी बाह्य शक्ति द्वारा दिए जाने वाले दड के भय अथवा पुरस्कार के प्रलोभन से प्रेरित हो कर नही। इस प्रकार हीगल का यह निश्चित मत है कि व्यक्ति और समाज के हित के विरोध को समाप्त कर देने वाली यह अंतिम अवस्था ही मनुष्य के लिए उच्चतम नैतिक आदर्श प्रस्तुत करती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हीगल के विचार मे नैतिकता के विकास की इन तीनो अवस्थाओ में मनुष्य की उस विवेक-शक्ति का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास होता है जो वास्तव मे विश्वव्यापी चैतन्यतत्त्व की ही अभिव्यक्ति है।

3. **राजनीति-दर्शन** - हीगल के नैतिक दर्शन की भाँति उनके राजनीति-दर्शन का आधार भी उनकी तत्त्वमीमांसा ही है। अपनी दो पुस्तको 'फिलॉसॉफी ऑफ हिस्ट्री' तथा 'फिलॉसॉफी ऑफ़ लॉ' में उन्होने राजनीति-दर्शन सबधी कुछ प्रमुख समस्याओ का विवेचन किया है। सर्वप्रथम हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि हीगल के अनुसार व्यक्ति तथा राज्य का क्या सबध है और राज्य में नागरिको का क्या स्थान है। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि हीगल अन्य सभी सामाजिक संस्थाओ की अपेक्षा राज्य को अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण सस्था मानते हैं। उनके विचार मे समस्त सामाजिक संस्थाएँ तथा राज्य के सभी नागरिक अतत उसके विकास के साधन मात्र हैं। प्रत्येक नागरिक का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह राज्य के सभी आदेशो का पूर्णत पालन करे और इस प्रकार उसके विकास मे अपना अधिकतम योगदान करे। यदि व्यक्ति और राज्य के हितो मे सघर्ष हो तो राज्य की उन्नति के लिए व्यक्ति को अपने हितो का अवश्य बलिदान करना चाहिए। किसी भी स्थिति मे व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नही है। राज्य की इच्छा अथवा आज्ञा ही व्यक्ति के लिए सर्वोपरि होनी चाहिए और उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य राज्य के विकास के लिए अधिकतम प्रयास करना ही होना चाहिए। इस प्रकार हीगल व्यक्ति के स्वतत्र महत्त्व को स्वीकार न करके उसे राज्य की प्रगति का एक साधन मात्र समझते हैं। परिवार, विवाह तथा अन्य सभी सामाजिक संस्थाओं के विषय मे भी उनका यही दृष्टिकोण है।

राजनीति-दर्शन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या है विभिन्न राज्यो का पारस्परिक सबध। इस समस्या के विषय में भी हीगल ने स्पष्टत अपने विचार व्यक्त किए हैं उनके दर्शन में राज्यों

का वही स्थान है जो मार्क्स के दर्शन में वर्गों का है। इसका अर्थ यही है कि विभिन्न वर्गों की भाँति राज्यों में भी संघर्ष का होना अनिवार्य है और हीगल इस तथ्य को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि राज्य एक स्वतंत्र तथा स्वतः साध्य इकाई है जिसे अपने हितों को सब से अधिक महत्त्वपूर्ण मानने और किसी भी उपाय द्वारा उन्हें सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार है। उसपर कोई ऐसे कानूनी अथवा नैतिक नियम लागू नहीं होते जो उसके इस अधिकार को सीमित कर सकें। इस दृष्टि से राज्य की स्थिति व्यक्ति की स्थिति से पूर्णतः भिन्न है। राज्य को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने हितों के लिए व्यक्ति के अधिकारों को सीमित करे, किंतु राज्य के अधिकारों को सीमित करने वाली कोई शक्ति नहीं है। इस प्रकार हीगल राज्य को स्वशासित निरंकुश इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि जब दो या दो से अधिक राज्यों के हितों में संघर्ष होता है तो इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हीगल कहते हैं कि ऐसी स्थिति में राज्यों में युद्ध का होना अनिवार्य ही नहीं, अपितु उचित एवं वांछनीय भी है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक राज्य को अपने हितों की सुरक्षा तथा अपने विकास के लिए किसी भी अन्य राज्य से युद्ध करने का अधिकार है। कोई भी कानूनी अथवा नैतिक नियम उसे ऐसा करने से नहीं रोक सकता। इस प्रकार हीगल विभिन्न राज्यों के हितों में होने वाले संघर्ष का अंत करने के लिए युद्ध को न्यायोचित्त उपाय मानते हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि राज्यों के पारस्परिक संबंध के विषय में हीगल का उपर्युक्त दृष्टिकोण बहुत आपत्तिजनक है और इसे नैतिक दृष्टि से कदापि उचित एवं वांछनीय नहीं माना जा सकता। राज्यों के प्रसंग में हीगल उसी घातक प्राकृतिक अवस्था को स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख हॉब्स ने किया है और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियों के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करता रहता है। हॉब्स ने स्वयं कहा था कि यह प्राकृतिक अवस्था सभी व्यक्तियों के लिए बहुत दुखद थी जिसमें उनका जीवन निरंतर भयत्रस्त और पूर्णतः असुरक्षित था। ठीक यही बात एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करने वाले सभी राज्यों के संबंध में भी कही जा सकती है। पारस्परिक सतत संघर्ष की स्थिति में न कोई राज्य सुरक्षित रह सकता है और न उसका विकास ही हो सकता है। वस्तुतः जब तक संसार में विभिन्न राज्यों का अस्तित्व है और जब तक संपूर्ण विश्व एक ही राज्य में परिवर्तित नहीं हो जाता तब तक कुछ कानूनी अथवा नैतिक नियमों द्वारा राज्यों के पारस्परिक संघर्ष को रोकना अनिवार्य होगा। मानव-जाति के अस्तित्व और उसकी सुरक्षा के लिए राज्यों के अधिकारों को सीमित करना बहुत आवश्यक है। परंतु हीगल ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है और इसे उनके राजनीति-दर्शन का एक प्रमुख दोष माना जा सकता है। वे राज्यों के पारस्परिक संबंध की समस्या के विषय में नैतिक दृष्टि से कोई वांछनीय तथा युक्तिसंगत समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके।

इसी प्रकार व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक संबंध के विषय में हीगल ने जो मत व्यक्त किया है वह भी पूर्णतः उचित एवं संतोषप्रद नहीं है। हम देख चुके हैं कि वे व्यक्ति के स्वतंत्र महत्त्व को अस्वीकार करके उसे राज्य के विकास तथा उत्थान का एक साधन मात्र मानते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि राज्य क्या है—क्या व्यक्तियों के संगठित समुदाय से उसकी पृथक और स्वतंत्र सत्ता है? इस प्रश्न का उत्तर निश्चय ही केवल नकारात्मक हो सकता है। जब बहुत-से व्यक्ति परस्पर संगठित हो कर किसी निश्चित भू-भाग पर एक इकाई का निर्माण करते हैं तो उसे ही राज्य की संज्ञा दी जाती है। ऐसी स्थिति में राज्य का कल्याण तथा विकास अंततः व्यक्तियों के कल्याण एवं विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में राज्य का हित उसके नागरिकों के हित से पृथक नहीं

है। इसी कारण व्यक्ति के स्वतंत्र महत्त्व को अस्वीकार करके उसे राज्य की प्रगति का साधन मात्र मानना उचित प्रतीत नहीं होता। राज्य का नागरिक और अपनी आवश्यकताओं के लिए उसपर निर्भर होते हुए भी व्यक्ति अपने आप में एक पृथक इकाई है जिसमें स्वतंत्र रूप से चिंतन तथा कर्म करने की क्षमता है। वह किसी यंत्र का निर्जीव भाग नहीं है जिसका अपना कोई मूल्य और महत्त्व नहीं होता। वस्तुतः व्यक्ति ही स्वतः साध्य तथा अपने आप में मूल्यवान है, राज्य नहीं। ऐसी स्थिति में हीगल के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य की इच्छा ही व्यक्ति की इच्छा है और व्यक्ति को राज्य के प्रत्येक आदेश का सभी परिस्थितियों में अनिवार्यतः पालन करना चाहिए। राज्य के कानून अथवा आदेश अनैतिक तथा अन्यायपूर्ण हो सकते हैं। ऐसे सभी कानूनों अथवा आदेशों के विरुद्ध कार्य करना व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। परन्तु राज्य को स्वतः साध्य सत्ता मानने के कारण हीगल व्यक्ति को यह अधिकार नहीं देना चाहते। इसी कारण व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक संबंध के विषय में उनका दृष्टिकोण एकांगी तथा असंतुलित हो गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हीगल का दर्शन मौलिक तथा बहुत व्यापक होते हुए भी कठिनाइयों तथा दोषों से मुक्त नहीं है। उनके दर्शन का एक मुख्य दोष है अनुभव की उपेक्षा और बुद्धिवाद का आवश्यकता से अधिक आग्रह। निरीक्षण तथा अनुभव की उपेक्षा करते हुए वे बुद्धि को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं और यह मानते हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा विश्व की अंतिम सत्ता अथवा परमतत्त्व का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। परन्तु उनके इस मत का समर्थन करना बहुत कठिन है, क्योंकि यह मानवीय बुद्धि की अनिवार्य सीमाओं को पूर्णतः अस्वीकार करना है। इसके अतिरिक्त हीगल का यह दावा भी उचित प्रतीत नहीं होता कि उनका दर्शन विश्व का पूर्ण और अंतिम दर्शन है।

ऑगस्ट कूम्ट

उन्नीसवी शताब्दी के समाज-सुधारको तथा मानवतावादी विचारको मे फ्रांस के अनुभववादी दार्शनिक ऑगस्ट कूम्ट (1798-1857) का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म धर्मपरायण परिवार में हुआ था और उन्हे बाल्यकाल से ही ईसाई धर्म के उपदेशो तथा सिद्धातो के अनुसार आचरण करने की शिक्षा दी गई थी। उन्होने किशोरावस्था में ही तत्कालीन प्रमुख दार्शनिक विचारधाराओं तथा वैज्ञानिक सिद्धातो का भलीभाँति अध्ययन कर लिया था जिनका उनके दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। डेविड ह्यूम तथा ऐडम स्मिथ के विचारो का उन्होने विशेष रूप से अध्ययन किया था और उनके अनुभववादी दर्शन पर इन दोनो विचारको का प्रभाव स्पष्टत दिखाई देता है। परतु 1818 में कूम्ट फ्रास के तत्कालीन प्रमुख समाजवादी विचारक सेट साइमन के सपर्क मे आए, जिनके समाजवादी तथा मानवतावादी दर्शन का उनके विचारो पर सब से अधिक प्रभाव पड़ा है। कूम्ट कुछ वर्षो तक सेट साइमन के शिष्य रहे, किंतु बाद मे उन्होंने स्वतत्र रूप से अपने दार्शनिक सिद्धातों का प्रतिपादन किया। वे एक विशेष अनुभववादी विचारधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं जिसे 'प्रत्यक्षवाद' कहा जाता है और जिसका समकालीन विश्लेषणात्मक दर्शन मे बहुत महत्त्व रहा है। इस विचारधारा मे अनुभव, निरीक्षण तथा वैज्ञानिक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया जाता है और कूम्ट का दर्शन मूलत इन्ही पर आधारित है। रुढ़िवादी कट्टर ईसाई परिवार मे जन्म लेकर भी कूम्ट ने ईसाई धर्म के स्थान पर मानवतावाद का समर्थन किया और उसे ही मनुष्य का एकमात्र धर्म माना। उन्होने ईश्वर के स्थान पर मानवता को ही धर्म का आधार माना और यह कहा कि मनुष्य की सेवा तथा सहायता ही सर्वोत्तम पूजा है। अपनी इसी मानवतावादी विचारधारा के कारण वे व्यक्ति के कल्याण के लिए समाज-सुधार को सर्वाधिक महत्त्व देते रहे। इसी महान उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए सर्वप्रथम उन्होने समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के महत्त्व को स्पष्ट किया और समाज सबधी अध्ययन को विज्ञान मान कर उसे 'समाजशास्त्र' की सज्ञा दी। यहाँ हम कूम्ट के अनुभववादी दर्शन के कुछ प्रमुख पक्षों का सक्षेप मे विवेचन करेगे।

1. **प्रत्यक्षवाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण :** लॉक, बर्कले, ह्यूम आदि अनुभववादी दार्शनिको की परपरा का अनुसरण करते हुए कूम्ट ने जिस दार्शनिक सिद्धात का प्रतिपादन किया है उसे उन्होने प्रत्यक्षवाद की सज्ञा दी है। यह सिद्धात मानवीय अनुभव तथा उस पर आधारित निरीक्षण को सपूर्ण ज्ञान का एकमात्र अतिम स्रोत मानता है और इसी कारण आत्मा, ईश्वर आदि समस्त अतीन्द्रिय सत्ताओ की तत्त्वमीमासात्मक प्राक्कल्पनाओ को पूर्णत. अस्वीकार करता है। प्रत्यक्षवाद सबधी प्रमुख मान्यताएँ कूम्ट तथा उनके अनुयाइयो द्वारा 1849 मे प्रकाशित 'दि पोजिटिविस्ट कैलेन्डर' मे प्रस्तुत की गई हैं। इसके अतिरिक्त कूम्ट ने दर्शन सबधी अपनी अनेक पुस्तकों मे भी इस सिद्धात की मुख्य मान्यताओ का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। केवल अनुभव पर आधारित होने के कारण प्रत्यक्षवाद में अनभवातीत सत्ताओ से सबधित धर्म और तत्त्वमीमासा

के लिए कोई स्थान नही है। कूम्ट ने धर्म और तत्त्वमीमासा दोनो को मानवीय ज्ञान के विकास की प्राथमिक तथा अपरिपक्व अवस्थाएँ मानकर ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से उन्हे कोई विशेष महत्त्व नही दिया। उनका विचार है कि विज्ञान ही हमे जगत् सबधी यथार्थ ज्ञान प्रदान कर सकता है, क्योकि उसका आधार स्वय हमारा अनुभव तथा निरीक्षण है। हम केवल विज्ञान की सहायता से यह जान सकते हैं कि प्राकृतिक नियम क्या हैं और इन नियमो के अनुरूप जगत् में प्राकृतिक घटनाएँ किस प्रकार घटित होती हैं। धर्मशास्त्र और तत्त्वमीमांसा दोनो ही हमे जगत् के विषय मे इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान प्रदान करने मे असमर्थ हैं। अपनी इसी मान्यता के कारण कूम्ट धर्मशास्त्र और तत्त्वमीमासा के स्थान पर विज्ञान को जगत् सबधी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र उपयुक्त स्रोत मानते हैं। जीवन और जगत् के विषय मे केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करना उनके प्रत्यक्षवादी दर्शन की प्रमुख विशेषता है। उनका मत है कि प्राकृतिक घटनाओ की भाँति सामाजिक समस्याओ पर भी हमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर ही विचार करना चाहिए।

जिस समय कूम्ट ने अपने प्रत्यक्षवादी दर्शन का प्रतिपादन किया था उस समय धर्म और विज्ञान मे बहुत तीव्र सघर्ष चल रहा था। तत्कालीन अन्य विचारको की भाँति उनके समक्ष भी यह जटिल प्रश्न विद्यमान था कि धर्म और विज्ञान के इस सघर्ष को कैसे समाप्त किया जाए। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि तीन उपायो द्वारा धर्म और विज्ञान के सघर्ष का अत किया जा सकता है। प्रथम उपाय यह है कि जीवन और जगत् की समस्याओ के विषय मे निर्णय करने के लिए केवल धर्म तथा धर्मगुरुओ के सर्वोच्च अधिकार को स्वीकार करके विज्ञान का परित्याग कर दिया जाए। परन्तु विज्ञान के प्रबल समर्थक होने के कारण कूम्ट इस उपाय को स्वीकार नही करते। उनका कथन है कि हम मानव-जाति के विकास के इतिहास को पीछे की ओर नही ले जा सकते। कॉपरनिकस, गैलीलियो, कैप्लर आदि वैज्ञानिको के अन्वेषणो के फलस्वरूप जीवन और जगत् की समस्याओं के विषय मे हमारे विचारो मे जो क्रातिकारी परिवर्तन हुआ है उसकी उपेक्षा करना हमारे लिए सभव नही है। धर्म और विज्ञान के सघर्ष को समाप्त करने का दूसरा उपाय यह है कि इन दोनो के बीच परस्पर सगति स्थापित की जाए। परतु कूम्ट के विचार मे ऐसा होना सभव नही है, क्योकि धर्म और विज्ञान की मान्यताओ मे मौलिक विरोध है। यह विरोध इतना गहरा है कि इसे समाप्त नही किया जा सकता। इसी कारण कूम्ट उपर्युक्त दूसरे उपाय को भी अस्वीकार करते हैं। धर्म और विज्ञान के सघर्ष को समाप्त करने का तीसरा उपाय यह है कि स्वय विज्ञान ही धर्म का स्थान ले ले और हम उसे मानव-जाति का एकमात्र धर्म मान लें। इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवन पर धर्म का नही अपितु केवल विज्ञान का व्यापक प्रभाव होना चाहिए और हमे सभी समस्याओं के विषय में धार्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार ही विचार करना चाहिए। कूम्ट का विचार है कि केवल इसी उपाय द्वारा हम धर्म और विज्ञान के सघर्ष का अत कर सकते है। उनके विचारो से स्पष्ट है कि वे मानव-जाति के कल्याण के लिए धर्म के स्थान पर विज्ञान की उपादेयता को ही स्वीकार करते है। वस्तुत यह विज्ञानपरक दृष्टिकोण ही उनके प्रत्यक्षवादी दर्शन के अनुरूप है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मनुष्य के ज्ञान और इस ज्ञान पर आधारित उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास किस प्रकार हुआ है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कूम्ट ने कहा है कि मानवीय ज्ञान तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास की तीन अवस्थाएँ हैं—ईश्वरपरक, तात्त्विक और प्रत्यक्षवादी। ईश्वरपरक अवस्था मानवीय ज्ञान के विकास की प्रथम और निम्नतम अवस्था है। कूम्ट ने इसकी तुलना मनुष्य के शैशवकाल से की है। वे कहते हैं कि इस अवस्था मे मनुष्य इंद्रियातीत सत्ताओ अथवा शक्तियों में पूर्णत विश्वास करता है बालक की भाँति वह प्रत्येक

प्राकृतिक घटना का कारण किसी अनुभवातीत दैवी पुरुष में ही खोजता है। इस प्रथम अवस्था मे अनुभवातीत दैवी शक्तियो और उनमे विश्वास करने वाले धर्मगुरुओ का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है। व्यक्ति और समाज दोनो को अनिवार्यत: इस अवस्था से गुजरना पडता है। विकास की दूसरी अवस्था में दैवी पुरुषो का महत्त्व समाप्त हो जाता है और उनके स्थान पर मनुष्य निर्वैयक्तिक अमूर्त शक्तियो मे विश्वास करने लगता है। कूम्ट ने इस द्वितीय अवस्था की तुलना मानव के यौवन काल से की है। उनका विचार है कि इस अवस्था मे मनुष्य किसी अमूर्त शक्ति को ही प्रत्येक प्राकृतिक घटना का कारण मान लेता है। जिस प्रकार वह प्रथम अवस्था मे प्राकृतिक घटनाओ की व्याख्या के लिए एक उच्चतम दैवी पुरुष या ईश्वर की कल्पना करता है उसी प्रकार इस दूसरी अवस्था मे भी वह एक सर्वोच्च तथा सर्वव्यापक अमूर्त शक्ति की कल्पना करके प्राकृतिक घटनाओ की व्याख्या करता है। इस दृष्टि से विकास की यह दूसरी अवस्था प्रथम अवस्था से मूलत भिन्न नही है। इन दोनो अवस्थाओ के पश्चात ही मानवीय ज्ञान के विकास की तीसरी अवस्था आती है जिसे कूम्ट ने प्रत्यक्षवादी अवस्था कहा है। उनके विचार मे यही हमारे ज्ञान के विकास की उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य दैवी पुरुषो तथा अमूर्त शक्तियो के विचार का परित्याग करके अपने अनुभव और निरीक्षण को ही ज्ञान का आधार बनाता है। वह स्वय अपने अनुभव तथा निरीक्षण द्वारा सर्वव्यापी प्राकृतिक नियमो की खोज करता है और इन्हीं नियमो के आधार पर सभी वस्तुओ तथा घटनाओ की व्याख्या करने का प्रयास करता है। इस अवस्था के अतर्गत जीवन और जगत् की व्याख्या के लिए धर्म, ईश्वर-विद्या एव तत्त्वमीमांसा का कोई स्थान नहीं है। इस अवस्था मे मनुष्य प्रत्येक समस्या पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने लगता है, अत इसमे विज्ञान का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है। कूम्ट यह मानते हैं कि विज्ञान का उद्देश्य प्राकृतिक नियमो की खोज करना, उनके पारस्परिक सबध को स्पष्ट करना और यह बताना है कि ये नियम प्राकृतिक घटनाओ पर किस प्रकार लागू होते हैं। हमारी ज्ञानेंद्रियो की अनिवार्य सीमाओ के कारण विज्ञान हमे जगत् के विषय मे केवल सभावित ज्ञान ही प्रदान कर सकता है, पूर्णत निश्चित ज्ञान नहीं। इसी कारण विकास की इस अतिम अवस्था में मनुष्य पूर्ण और निश्चित ज्ञान प्राप्त करने की अपनी शैशवकालीन इच्छा का परित्याग कर देता है। स्वय अपने अनुभव तथा निरीक्षण पर निर्भर रहने के कारण वह अपने ज्ञान की अनिवार्य सीमाओ को भलीभाँति समझ लेता है और यह जान लेता है कि उसके लिए जगत् के विषय में पूर्ण एवं निश्चित ज्ञान प्राप्त करना सभव नही है। किसी भी घटना का पूर्ण तथा निश्चित ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे सभी स्थानो पर और सभी कालो मे घटित होते हुए देखा जाए, किंतु यह सभव नही है, अत विज्ञान की सहायता से हम जो ज्ञान प्राप्त करते है वह हमारे आगमनात्मक अनुमान पर ही आधारित होता है और यह अनुमान हमे केवल प्रायिक ज्ञान ही प्रदान कर सकता है। परंतु कूम्ट का मत है कि विज्ञान के फलस्वरूप हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह पूर्ण तथा निश्चित न होते हुए भी हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए पर्याप्त है। उदाहरणार्थ विज्ञान की सहायता से ही हम यह जान सके हैं कि सभी प्राकृतिक नियम अपवादरहित तथा सार्वभौम होते हैं और यह ज्ञान हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए बहुत आवश्यक एव उपयोगी है। इस प्रकार कूम्ट मानवीय ज्ञान के विकास की अंतिम अवस्था मे उपलब्ध होने वाले विज्ञान की सीमाओं को स्वीकार करते हुए भी उसे मानव-जीवन के लिए अनिवार्य मानते हैं।

2. समाज-सुधार और मानवतावाद जैसा कि पिछले खड म सकेत किया जा चुका है, कूम्ट के प्रत्यक्षवादी दर्शन का मुख्य उद्देश्य मानव-जाति का कल्याण एव उत्थान ही है। उनके विचार में इस महान उद्देश्य की पूर्ति तभी सभव है जब ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाए

जिसके अतर्गत व्यक्ति तथा समाज मे कोई संघर्ष न हो और उन दोनों के हितो का समान रूप मे ध्यान रखा जा सके। ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए उन विचारो तथा विश्वासो का निराकरण आवश्यक है जो व्यक्ति और समाज के हितो मे विरोध उत्पन्न करके दोनो को बहुत हानि पहुँचाते हैं। इस सबध में व्यक्ति अथवा समाज दोनो मे से किसी एक को दूसरे का साधन मात्र मानने का विचार विशेष रूप से हानिकारक है, अतः व्यक्ति और समाज दोनो के कल्याण के लिए इस विचार का परित्याग करना आवश्यक है। परस्पर स्नेह, सहयोग तथा मैत्री रखने वाले व्यक्तियो और परिवारों से ही समाज का निर्माण होता है। इस दृष्टि से व्यक्ति तथा समाज परस्पर पूरक हैं, अत इन दोनो के हितो मे उचित संतुलन द्वारा ही सपूर्ण मानव-जाति का कल्याण सभव है। इसी व्यापक उद्देश्य को ध्यान मे रख कर समाज-सुधार के लिए प्रयास करना आवश्यक है। कूम्ट ने इस सदर्भ मे मनुष्य की दो परस्पर विरोधी नैसर्गिक प्रवृत्तियों—आत्मप्रेम तथा परोपकार—के महत्त्व का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि ये दोनो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ मनुष्य के कल्याण के लिए अनिवार्य हैं। व्यक्ति की उन्नति की दृष्टि से आत्मप्रेम का बहुत महत्त्व है जिसके अभाव में वह अपने सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास नही कर सकता। परतु मनुष्य के अत्यधिक स्वार्थ को नियत्रित करने के लिए परोपकार-वृत्ति बहुत आवश्यक है। इसी परोपकार-वृत्ति से प्रेरित हो कर व्यक्ति दूसरो के कल्याण के लिए विचार और प्रयास करता है। यही कारण है कि समाज द्वारा व्यक्ति की इस परोपकार-भावना की विशेष रूप से प्रशसा की जाती है और इसके अनुसार आचरण करने के लिए उसे अधिकाधिक प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार कूम्ट के मतानुसार व्यक्ति और समाज के कल्याण के लिए आत्मप्रेम तथा परोपकार-वृत्ति दोनो की आवश्यकता है।

हम देख चुके हैं कि कूम्ट के दर्शन म विज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। इसी कारण समाज-सुधार के लिए भी उन्होंने विज्ञान तथा वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करना आवश्यक माना हैं। उनका विचार है कि केवल भौतिक घटनाओ को समझने के लिए ही नही, अपितु सामाजिक व्यवस्था को समझने तथा उसे सुधारने के लिए भी विज्ञान हमारी बहुत सहायता कर सकता है। विज्ञान की सुनिश्चित एव सुव्यवस्थित विधि का प्रयोग करके हम सामाजिक प्रथाओ और सस्थाओ के उद्भव तथा विकास की पर्याप्त सीमा तक तर्कसगत व्याख्या कर सकते हैं। इससे हमें उन सामाजिक दुष्प्रथाओ का अंत करने में सहायता मिल सकती है जो समाज के विकास और उत्थान म बाधक सिद्ध होती हैं। प्राकृतिक घटनाओ का अध्ययन करने के लिए भौतिक विज्ञानो की भाँति समाज का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए भी कूम्ट ने एक विशेष विज्ञान का होना आवश्यक माना और इस विज्ञान को सर्वप्रथम उन्होंने ही समाजशास्त्र की सज्ञा दी। उनके अनुसार यह विज्ञान अन्य सभी विज्ञानो की अपेक्षा अधिक जटिल तथा अधिक महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र आदि अन्य सभी सामाजिक विज्ञान इसी विज्ञान के सहायक हैं, क्योकि ये सभी समाज मे मनुष्य के आचरण के विभिन्न पक्षो का व्यवस्थित अध्ययन करते हैं। इतना ही नहीं, भौतिक विज्ञानों का अंतिम लक्ष्य भी व्यक्ति और समाज की उन्नति मे सहायता प्रदान करना ही है। मनुष्य के कल्याण को ध्यान में रखकर ही हमें सभी भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार कूम्ट के विचार मे सभी विज्ञान अतत समाजशास्त्र के पूरक अथवा सहायक विज्ञान हैं और स्वय समाजशास्त्र व्यक्ति तथा समाज के कल्याण का [illegible] साधन है। अतत मानव-कल्याण के लिए [illegible] साधन के रूप मे ही हम विज्ञान के महत्त्व [illegible] कर सकते हैं क्योंकि किसी भी विज्ञान का [illegible] स्वत साध्य नही हो सकता

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि समाज-सुधार का अंतिम लक्ष्य क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में कूम्ट का कथन है कि व्यक्ति के कल्याण तथा सर्वांगीण विकास के लिए समाज-सुधार आवश्यक है। समाज की इकाई परिवार है और परिवार की इकाई व्यक्ति है, अत व्यक्ति तथा परिवार के उत्थान पर ही समाज अथवा मानव-जाति का उत्थान निर्भर है। कूम्ट के प्रत्यक्षवादी दर्शन में मानव और उसकी प्रतिष्ठा का सर्वोच्च स्थान है। विश्व मे विद्यमान सभी परंपरागत धर्मों को अस्वीकार करके उन्होंने मानवतावाद को ही मनुष्य का एकमात्र धर्म माना है। हम देख चुके हैं कि पूर्णत अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण वे ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे, अत उनके दर्शन मे ऐसी किसी दैवी शक्ति की उपासना के लिए कोई स्थान नही है। मानवतावाद को विश्व का एकमात्र धर्म मानने के कारण कूम्ट मानवता की पूजा को ही प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य मानते हैं। उनका मत है कि किसी कल्पित दैवी शक्ति की पूजा करने के स्थान पर हम सब को मानवता के नाते मनुष्य की सेवा करनी चाहिए जिसकी सत्ता यथार्थ और निर्विवाद है। मानवतावाद की यह आवश्यक माँग है कि हम प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा को स्वीकार करे और उससे उसी प्रकार प्रेम करे जिस प्रकार हम अपने आप से प्रेम करते हैं। मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम और मानवता की पूजा ही प्रत्येक व्यक्ति का सब मे बडा धर्म है। मानवता को हमे वही पवित्र और उच्चतम स्थान प्रदान करना चाहिए जो अभी तक हम ईश्वर अथवा अन्य कल्पित दैवी शक्तियो को देते रहे हैं। मानवता को ही ईश्वर मानकर प्रत्येक मनुष्य के प्रति स्नेह रखना और उसकी सेवा करना मानवतावादी धर्म का मूल सिद्धात है। ईश्वरोन्मुख धर्मों के विपरीत इस धर्म का पालन करने के लिए हमें ससार और मानव-समाज से दूर जाने की कोई आवश्यकता नही है। मनुष्य के रूप मे हम सब का ईश्वर प्रत्यक्षतः हमारे समक्ष विद्यमान है और हम सब उस ईश्वर से भिन्न न हो कर स्वयं उसी के अग हैं। यही कूम्ट का मानवतावाद है जिसे वे मनुष्य के एकमात्र धर्म के रूप मे स्वीकार करते हैं। विश्व मे इसी व्यापक धर्म की स्थापना करना ही उनके प्रत्यक्षवादी दर्शन का प्रमुख उद्देश्य था, क्योंकि वे यह मानते थे कि संपूर्ण मानव-जाति का भविष्य प्रत्येक व्यक्ति द्वारा इसी धर्म का भलीभाँति पालन करने पर ही निर्भर है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कूम्ट मनुष्य की नैसर्गिक दुर्बलताओ की उपेक्षा नही करते। उनका कथन है कि यथार्थ रूप में अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं को समझ कर ही हम उनसे मुक्त होने का प्रयास कर सकते हैं। ईश्वर अथवा कोई अन्य कल्पित दैवी शक्ति हमे इन दुर्बलताओ से मुक्त नही कर सकती। मनुष्य को वर्तमान स्तर से ऊँचा उठा कर 'महा मानव' बनाने के लिए हमे अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। साहित्य, कला तथा विज्ञान सभी का उपयोग मानवता की सेवा के लिए ही किया जाना चाहिए। कूम्ट का यह मानवतावाद आज भी विश्व के बहुत-से विचारको के लिए प्रबल प्रेरणा का मुख्य स्रोत बना हुआ है। इस दृष्टि से दर्शन के इतिहास में कूम्ट की मानवतावादी विचारधारा का महत्त्व निर्विवाद है।

6

जॉन स्टुअर्ट मिल

उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज विचारकों में जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-1873) का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे अठारहवीं शताब्दी के महान विचारक जेम्स मिल के पुत्र थे जिन्होंने दर्शन मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे थे। अपने पिता की प्रेरणा तथा उनके समुचित मार्गदर्शन के फलस्वरूप जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इन सभी विषयों का गहन अध्ययन किया था। दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं में उनकी विशेष रुचि थी और इसी कारण उन्होंने अपनी पुस्तकों में इन सभी समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति-दर्शन, धर्म-दर्शन तथा अर्थशास्त्र पर उन्होंने जो पुस्तकें लिखी हैं वे आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से मिल उस अनुभववादी परंपरा के प्रबल समर्थक थे जिसका प्रारंभ — जॉन लॉक ने किया था और जिसे डेविड ह्यूम ने चरम सीमा तक पहुँचाया था। आत्मा, ईश्वर आदि तत्त्वमीमांसात्मक विषयों में मिल की विशेष रुचि नहीं थी, क्योंकि वे यह मानते थे कि इन विषयों में सर्वाधिक प्रश्नों का कोई संतोषजनक उत्तर देना संभव नहीं है। इसी कारण उन्होंने तत्त्वमीमांसात्मक विषयों पर अधिक विस्तार से विचार नहीं किया। वे मानव-जीवन में सुख अथवा आनंद को विशेष महत्त्व देते थे, अतः उन्होंने अपने ग्रंथों में नैतिकता, धर्म, राजनीति, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि विषयों से संबंधित उन व्यावहारिक समस्याओं का अधिक विस्तृत विवेचन किया है जिनका मनुष्य के सुखमय जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। मिल के अनुभववादी दर्शन के निर्माण में उनके पिता के अतिरिक्त हार्टले, बैन्थम, ह्यूम, कांट आदि दार्शनिकों के विचारों का भी बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यहाँ हम उनके दर्शन के कुछ प्रमुख पक्षों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

1. तत्त्वमीमांसा - यद्यपि तत्त्वमीमांसात्मक विषयों में मिल की विशेष रुचि नहीं थी, फिर भी उन्होंने इन विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। ह्यूम और कांट की भाँति मिल भी यह मानते थे कि हम ऐसी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते जो हमारे अनुभव से परे हैं। अनुभववादी दर्शन की इस आधारभूत मान्यता को स्वीकार करने के कारण वे ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में अज्ञेयवाद का पूर्णतया समर्थन करते हैं। उनका मत है कि हम ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कुछ भी नहीं जानते और न जान ही सकते हैं अतः हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि ईश्वर की सत्ता है अथवा नहीं। प्रमाणों अथवा तर्कों के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित तथा अप्रमाणित करने के लिए समान रूप से प्रबल एवं प्रभावशाली तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं और किए भी गए हैं। ऐसी स्थिति में प्रमाणों अथवा तर्कों के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना संभव नहीं है। स्पष्ट है कि इस

सबंध में अज्ञेयवाद ही हमारे समक्ष एकमात्र विकल्प रह जाता है। परंतु मिल ईश्वरवादियों की इस मान्यता का खडन करते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान भी है और अत्यंत दयालु भी। इस मान्यता के विरुद्ध मिल का कथन है कि विश्व मे दु ख तथा दुर्गुण के रूप में अशुभ को देखते हुए हम ईश्वर को सर्वशक्तिमान और दयालु दोनों एक साथ नहीं मान सकते। यदि ईश्वर अशुभ का निराकरण नही कर सकता तो वह सर्वशक्तिमान नही है और यदि वह अशुभ का निराकरण नहीं करना चाहता तो वह दयालु नही है। यदि उसे सर्वशक्तिमान तथा दयालु दोनो माना जाए तो अशुभ की उत्पत्ति की कोई सतोषजनक व्याख्या करना संभव प्रतीत नही होता। तार्किक दृष्टि से यह नही माना जा सकता कि ऐसा ईश्वर ससार में अशुभ को उत्पन्न कर सकता है और उसे निरतर बनाए रख सकता है। इस प्रकार अशुभ की समस्या के आधार पर मिल ने ईश्वर के उस स्वरूप को पूर्णत अस्वीकार किया है जिसमे अधिकतर ईश्वरवादी विश्वास करते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ईश्वरवाद के विरुद्ध मिल की यह आपत्ति नई नही है, क्योंकि उनसे पूर्व डेविड ह्यूम अपनी पुस्तक 'डाएलॉग्स कन्सरनिग नेचुरल रिलिजन' में अशुभ की समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार कर चुके थे और ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा दयालु मानने के विरुद्ध उन्होंने भी वही तर्क प्रस्तुत किया था जो मिल ने दिया है। इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप के विषय में वे ह्यूम के मत को स्वीकार करते हैं।

अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण मिल अनुभवातीत सत्ता के रूप मे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। उनका कथन है कि हम ऐसे किसी भी द्रव्य का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते जो हमारे अनुभव से परे है। परतु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि हमारे विभिन्न अनुभवो का एक ऐसा स्थायी आधार होना आवश्यक है जो इन अनुभवो का ज्ञान प्राप्त करके इन्हें सगठित करे और जिसके द्वारा इनकी सतोषप्रद व्याख्या की जा सके। हमारे अनुभवो के इस स्थायी आधार का वास्तविक स्वरूप क्या है यह हम कभी नही जान सकते, क्योंकि वह हमारे अनुभव का विषय नही है। मिल 'आत्मा' तथा 'मन' को समानार्थक शब्द मानते हैं और विभिन्न अनुभवो एव भावनाओ के स्थायी आधार के रूप मे उसके अस्तित्व की आवश्यकता को भी स्वीकार करते हैं। परतु यह कहना बहुत कठिन है कि आत्मा के स्वरूप के विषय मे उनका निश्चित मत क्या है।

सामान्य व्यक्तियों की भाँति मिल भी व्यावहारिक दृष्टि से भौतिक वस्तुओ के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उन्होने मुख्यतः स्मृति के आधार पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन वस्तुओं के स्थायी और स्वतत्र अस्तित्व की व्याख्या की है। उनका कथन है कि अपनी इंद्रियो द्वारा बार-बार किसी वस्तु का अनुभव करने के पश्चात् हमारे मन मे उसकी स्मृति बनी रहती है और हम यह आशा करने लगते हैं कि भविष्य में भी हमे उस वस्तु का उसी रूप मे अनुभव होगा। हम प्राय भौतिक वस्तुओ का एक ही रूप में बार-बार अनुभव करते हैं और इसी कारण हम उनके स्थायी तथा स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करने लगते हैं। परतु मिल यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा की भाँति भौतिक जगत् के अतिम तत्त्व—पुद्गल—को भी हम अपने अनुभव द्वारा कभी नही जान सकते। हम भौतिक वस्तुओ को केवल उसी रूप मे जानते हैं जिस रूप मे हम उनका अनुभव करते हैं, कितु हम यह कभी नही जान सकते कि उनका वास्तविक स्वरूप क्या है—अर्थात वे अपने आप मे कैसी हैं। काट की भाँति मिल भी यह मानते है कि हम जिस भौतिक जगत् का अनुभव करते हैं उसके अतिरिक्त एक पारमार्थिक जगत् भी है जो भौतिक जगत् का आधार है। यह पारमार्थिक जगत् हमारे लिए अज्ञात और अज्ञेय है, कितु भौतिक जगत् के आधार के रूप मे इसका अस्तित्व स्वीकार करना हमारे लिए आवश्यक है। यहाँ मिल के विचारो पर काट का प्रभाव स्पष्ट दिखाई

देता है। परन्तु मिल के अनुभववादी दर्शन के साथ पारमार्थिक जगत् के अस्तित्व के विषय में उनकी उपर्युक्त मान्यता की संगति स्थापित करना संभव प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त कांट तथा मिल की उपर्युक्त मान्यता के विरुद्ध यह आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि जो कुछ हमारे लिए पूर्णतः अज्ञात एवं अज्ञेय है उसके अस्तित्व के विषय में हम कुछ भी निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हैं। परन्तु मिल ने पारमार्थिक जगत् संबंधी अपनी मान्यता के विषय में इन कठिनाइयों पर विचार नहीं किया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उनकी तत्त्वमीमांसा में कुछ असंगतियाँ तथा कठिनाइयाँ विद्यमान हैं जिनके कारण परवर्ती विचारकों ने उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया।

2. **नैतिक दर्शन** जैसा कि हम पिछले खंड में बता चुके हैं, तत्त्वमीमांसात्मक विषयों की अपेक्षा मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से संबंधित विषयों में मिल की अधिक रुचि थी। इसी कारण उन्होंने मानवीय आचरण संबंधी समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'युटिलिटेरियनिज़्म' में उन्होंने उस उपयोगितावादी विचारधारा के आधार पर मानवीय आचरण और उसके नैतिक मानदंड की व्याख्या की है जिसका प्रतिपादन उनसे पूर्व जर्मी बैन्थम कर चुके थे। बैन्थम की भाँति वे भी सुखवाद में विश्वास करते हैं और यह मानते हैं कि केवल सुख तथा दुःख के आधार पर ही मनुष्य के समस्त कर्मों के शुभ और अशुभ होने का निर्णय किया जा सकता है। परन्तु मिल स्वार्थमूलक सुखवाद के स्थान पर उपयोगितामूलक सुखवाद का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' ही सर्वोच्च शुभ है। मनुष्य का जो कर्म अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख में सहायक होता है उसे ही शुभ अथवा उचित माना जा सकता है। इसी प्रकार जो कर्म अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख में बाधक सिद्ध होता है वह अशुभ या अनुचित है। मिल के मतानुसार मानव-जीवन में सुख ही एकमात्र स्वतः शुभ है, अन्य सभी वस्तुएँ तथा सद्गुण सुख के साधन मात्र हैं। हमें सुख प्रदान करने वाली सभी वस्तुएँ शुभ अथवा वांछनीय और दुःख पहुँचाने वाली सभी वस्तुएँ अशुभ या अवांछनीय हैं। सुख के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु अपने आप में शुभ नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि हमारे पास सुख के स्वतः शुभ होने का क्या प्रमाण है — अर्थात् हम यह कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि केवल सुख ही अपने आप में शुभ है। इस प्रश्न के उत्तर में मिल का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतः शुभ के रूप में केवल सुख की ही इच्छा करता है, अन्य सभी वस्तुओं तथा सद्गुणों को वह सुख के साधन के रूप में ही वांछनीय मानता है। इसी कारण हम यह कह सकते हैं कि केवल सुख ही अपने आप में शुभ अथवा वांछनीय है। अपने इस तर्क को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए मिल कहते हैं कि जिस प्रकार दृश्य वस्तु वह है जिसे हम देखते हैं और श्रव्य ध्वनि वह है जिसे हम सुनते हैं उसी प्रकार वांछनीय वस्तु वह है जिसकी हम इच्छा करते हैं। हम सुख को ही स्वतः साध्य के रूप में चाहते हैं, अतः केवल सुख ही अपने आप में शुभ या वांछनीय है। परन्तु सुख को स्वतः शुभ सिद्ध करने के लिए मिल का उपर्युक्त तर्क भ्रामक है, क्योंकि वांछनीय शब्द का अर्थ वैसा नहीं है जैसा 'दृश्य' और 'श्रव्य' का है। हम जिस वस्तु को देखते हैं वह दृश्य और जिस ध्वनि को सुनते हैं वह श्रव्य है, किंतु हम जिस वस्तु को चाहते हैं उसका वांछनीय होना अनिवार्य नहीं है। यह संभव है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते हैं वह वास्तव में अवांछनीय या अशुभ हो। केवल उसी वस्तु को 'वांछनीय' कहा जा सकता है जिसकी हमें इच्छा करनी चाहिए किंतु दृश्य वस्तु और श्रव्य ध्वनि के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। इस प्रकार केवल सुख को स्वतः शुभ प्रमाणित करने के लिए मिल ने जो तर्क प्रस्तुत किया है वह उचित एवं विश्वसनीय नहीं है।

हम देख चुके हैं कि मिल के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति सुख की इच्छा करता है। तब प्रश्न यह है कि अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख—जिसे मिल ने उच्चतम स्वत शुभ कहा है और जिसे वे सामान्य सुख भी कहते हैं—उसके लिए कैसे वाछनीय हो सकता है। हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि सामान्य सुख ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए सर्वोच्च शुभ है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मिल ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए उच्चतम शुभ है, अत सभी व्यक्तियो का सामान्य सुख सब के लिए सर्वोच्च शुभ है। परतु उनका यह तर्क उचित प्रतीत नही होता। इसका कारण यह है कि सुख एक व्यक्तिगत अनुभूति है, अत बहुत-से व्यक्तियो के सुख को जोडना सभव नही है। इस प्रकार मिल ने अपने उपयोगितावाद के मूल आधार के रूप मे सामान्य सुख की जो अवधारणा प्रस्तुत की है वह पूर्णत युक्तिसगत और संतोषप्रद प्रतीत नही होती।

यद्यपि मिल बैन्थम के नैतिकता सबधी विचारो से बहुत प्रभावित हुए थे, फिर भी उन्होने बैन्थम की कुछ मान्यताओ को स्वीकार नहीं किया। उदाहरणार्थ बैन्थम मनुष्य के स्वार्थ अथवा आत्मप्रेम को ही अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख के सिद्धात का मूल आधार मानते थे। उनका विचार था कि इस सिद्धात के अनुसार आचरण करना स्वय मनुष्य के अपने हित मे सहायक होता है, अत उपयोगितावादी नैतिकता का अतिम आधार स्वार्थ या आत्मप्रेम है। परतु बैन्थम की इस मान्यता को अस्वीकार करते हुए मिल ने कहा है कि दूसरो के प्रति सहानुभूति और प्रेम भी मनुष्य के लिए उतने ही स्वाभाविक हैं जितना उसका आत्मप्रेम। अपने हित के लिए प्रयास करने के साथ-साथ दूसरो के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करना भी मनुष्य के स्वभाव का अनिवार्य अग है, अत केवल आत्मप्रेम को नैतिकता का आधार नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त मिल ने बैन्थम की इस मान्यता को भी अस्वीकार किया है कि सुख मे केवल परिमाणात्मक भेद ही हो सकता है, गुणात्मक भेद नही। बैन्थम का विचार था कि गुणात्मक दृष्टि से सभी सुख समान ही होते हैं, उनमे केवल मात्रा का ही भेद होता है। तीव्रता, अवधि, निकटता, विस्तार, निश्चयात्मकता आदि के आधार पर ही सुख की मात्रा को मापा जा सकता है। परतु मिल के मतानुसार सुख मे परिमाणात्मक भेद के अतिरिक्त गुणात्मक भेद भी होता है। अपनी इसी मान्यता के कारण वे मानसिक अथवा बौद्धिक सुख को शारीरिक या इंद्रिय सुख की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा वाछनीय मानते हैं। उनका कथन है कि इद्रिय सुख चाहे कितना ही तीव्र क्यो न हो, वह साहित्य, कला, चितन, दर्शन आदि से प्राप्त कम तीव्र बौद्धिक सुख की अपेक्षा निम्न कोटि का होता है। जिन व्यक्तियो को शारीरिक तथा बौद्धिक दोनो प्रकार के सुख का अनुभव प्राप्त है वे बौद्धिक सुख को शारीरिक सुख की अपेक्षा निश्चय ही अधिक उत्कृष्ट एव वाछनीय मानते हैं और हमे उनके इस मत को स्वीकार करना चाहिए। बौद्धिक सुख को शारीरिक सुख की अपेक्षा गुणात्मक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट मानने के कारण ही मिल यह कहते हैं कि "सतुष्ट शूकर होने की अपेक्षा असतुष्ट मनुष्य होना और सतुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असतुष्ट विचारक होना अधिक श्रेष्ठ है"। परतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सुख के विषय मे मिल की यह मान्यता उनके मूल सिद्धात सुखवाद के विरुद्ध है। यदि गुणात्मक दृष्टि से एक सुख दूसरे सुख की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है तो इसका अर्थ यह है कि सुख के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी अपने आप मे शुभ है जो एक सुख को दूसरे सुख की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट बनाती है। परंतु अपने सिद्धात में आत्मसगति बनाए रखते हुए मिल इस मत को स्वीकार नही कर सकते, क्योकि उनके अनुसार सुख के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु अपने आप मे शुभ या वाछनीय नही है। वस्तुत यदि सुख ही स्वत शुभ है तो बैन्थम का यह मत उचित प्रतीत होता है कि विभिन्न सुखो में केवल परिमाणात्मक भेद ही हो सकता है, गुणात्मक भेद नही। इस दृष्टि से वे ठीक ही कहते हैं कि यदि सुख की मात्रा समान हो तो साधारण क्रीड़ा तथा कविता से

प्राप्त सुख मे कोई अतर नही है—अर्थात ये दोनो सुख समान रूप से वाछनीय हैं। इस प्रकार विभिन्न सुखो मे गुणात्मक भेद स्वीकार करके मिल ने अनजाने ही स्वय अपने सिद्धात का खडन किया है।

इसके अतिरिक्त बैन्थम की भाँति मिल ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर अपने उपयोगितावाद अथवा नैतिक सुखवाद को स्थापित करने का जो प्रयास किया है वह भी उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नही होता। यदि मनुष्य स्वत शुभ के रूप में स्वभावत केवल सुख ही चाहता है तो यह कहना निरर्थक है कि उसे सुख की इच्छा करनी चाहिए। अनेक दार्शनिको ने प्रबल तर्कों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद उचित और युक्तिसगत सिद्धात नही है, क्योंकि कुछ विशेष परिस्थितियो मे मनुष्य सुख के अतिरिक्त कर्त्तव्य-पालन, आत्म-त्याग आदि अन्य अभिप्रेरणाओं से प्रेरित होकर भी कर्म करता है। फिर यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद को स्वीकार कर भी लिया जाए तो भी उसे उपयोगितावाद अथवा नैतिक सुखवाद का आधार नही माना जा सकता जैसा कि मिल ने माना है। इस प्रकार मिल के नैतिक दर्शन में अनेक गंभीर असंगतियाँ तथा कठिनाइयाँ विद्यमान हैं।

3. **राजनीति-दर्शन** : नैतिक दर्शन की भाँति राजनीति-दर्शन की मुख्य समस्याओ के विषय में भी मिल ने अपने विचार व्यक्त किए हैं जिन्हे आज भी बहुत महत्त्व दिया जाता है। उन्होंने राजनीति-दर्शन से संबंधित अनेक पुस्तके लिखी हैं जिनमे 'ऑन लिबर्टी', प्रिन्सिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनॉमी', 'कन्सिडरेशन्स ऑन रिप्रेसैंटेटिव गवर्नमैंट' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तको मे उन्होंने व्यक्ति की स्वतत्रता, लोकतत्र और मानवीय अधिकारो का प्रबल तर्कों द्वारा समर्थन किया है। वे ऐसी प्रत्येक सामाजिक तथा राजनैतिक विचारधारा को व्यक्ति और समाज दोनो के लिए बहुत हानिकारक मानते हैं जो मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतत्रता तथा उसके मूल अधिकारों का हनन करती है। अपनी पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' मे उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के लिए विचाराभिव्यक्ति की स्वतत्रता, धर्म और उपासना की स्वतत्रता तथा समाज को किसी प्रकार की हानि पहुँचाए बिना अपने ढग से जीवन व्यतीत करने की स्वतत्रता का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है जिन्हें आज मनुष्य के मूल अधिकारो के रूप मे आवश्यक माना जाता है। मिल का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक तथा मानसिक विकास और उसके साधनो के विषय मे स्वय निर्णय करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा इसका निर्णय करने का अधिकार स्वय उसे ही मिलना चाहिए, समाज अथवा राज्य को नही। मनुष्य के किसी भी व्यक्तिगत कार्य मे समाज अथवा राज्य को तब तक हस्तक्षेप करने का अधिकार नही है जब तक उससे किसी अन्य व्यक्ति को हानि पहुँचने की आशका न हो। मिल के मतानुसार धर्मगुरुओ, समाज अथवा राज्य द्वारा मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि को नियत्रित करने का प्रयास व्यक्ति और समाज दोनो के लिए बहुत हानिकारक है। जो समाज मनुष्य के ऐसे व्यक्तिगत कार्यों को नियत्रित करने का प्रयत्न करता है जिनका दूसरो पर कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पडता उसे उन्नत और सभ्य नहीं माना जा सकता। समाज अथवा राज्य को मनुष्य के उन्ही कर्मो को प्रतिबधित करने का अधिकार है जो दूसरो के लिए हानिकारक हैं अथवा जिनके कारण दूसरो को हानि पहुँचने की आशका है। अन्य सभी कर्मो के लिए मनुष्य को स्वतत्रता प्रदान करना समाज का आवश्यक कर्त्तव्य है।

अपने व्यक्तिगत कार्यों मे मनुष्य की स्वतंत्रता के साथ-साथ मिल उसके विचार की स्वतत्रता को भी बहुत महत्त्व देते हैं। विचार की स्वतत्रता के अतर्गत वे किसी भी विषय अथवा समस्या पर निर्भय होकर चितन करने तथा किसी प्रकार के प्रतिबध और भय के बिना अपने मत को अभिव्यक्त

करने की स्वतत्रता को सम्मिलित करते हैं उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी सामाजिक अथवा राजनैतिक समस्या पर स्वय विचार करने तथा समाज को कोई हानि पहुँचाए बिना अपने विचारो को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त होनी चाहिए। इस सबध मे उनका यह प्रसिद्ध कथन उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार कोई एक व्यक्ति दूसरो को विचार करने तथा अपने विचारों को अभिव्यक्त करने से नही रोक सकता उसी प्रकार सपूर्ण मानव-जाति को भी यह अधिकार नही है कि वह किसी एक व्यक्ति को स्वतत्रतापूर्वक विचार करने और अपने मत को अभिव्यक्त करने से रोके। मिल का यह दृढ़ विश्वास है कि किसी व्यक्ति को चितन और विचाराभिव्यक्ति की स्वतत्रता के अधिकार से वचित करना केवल उस व्यक्ति के लिए ही नही, प्रत्युत सपूर्ण समाज के लिए बहुत हानिकारक है। किसी भी समस्या पर भलीभाँति विचार तभी किया जा सकता है जब उसके विभिन्न पक्षो के सबध मे चितन करने वाले सभी व्यक्तियो को परस्पर विरोधी विचार अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतत्रता दी जाए। केवल अपने मत को पूर्णतया उचित मानकर उससे भिन्न अथवा विरोधी अन्य सभी मतों का दमन करना और उनकी अभिव्यक्ति न होने देना सत्य के अनुसधान मे सब से बड़ी बाधा है। किसी समस्या पर भिन्न-भिन्न अथवा परस्पर विरोधी विचार रखने वाले व्यक्तियों को निष्पक्ष चितन करने तथा निर्भय होकर अपने मत को अभिव्यक्त करने की स्वतत्रता देकर ही हम उसके विषय मे सत्य की खोज कर सकते हैं। सभी व्यक्तियो से यह आशा करना कि वे किसी समस्या पर एक ही दृष्टिकोण से विचार करे अथवा उन्हे ऐसा करने के लिए बाध्य करना मानव-जाति के बौद्धिक विकास को अवरुद्ध करना है।

मिल यह निश्चयपूर्वक मानते हैं कि ऐसी प्रत्येक सरकार अधिनायकवादी है जो व्यक्ति को निष्पक्ष चितन और अपने विचारो की स्वतत्र अभिव्यक्ति के अधिकार से वचित करती है। उनके अनुसार मनुष्य के विचार-स्वातन्त्र्य का हनन केवल एकतत्रीय शासन-प्रणाली मे ही नही, अपितु लोकतत्र मे भी हो सकता है और होता है। शासक दल अनेक उपायो द्वारा ऐसे व्यक्तियो के विचार-स्वातत्र्य को सीमित कर देता है जो उससे भिन्न अथवा विरोधी विचार रखते हैं। प्रत्येक देश की सरकार शिक्षा तथा जनमत का निर्माण करने वाले साधनो को नियत्रित या प्रभावित करके प्राय सभी नागरिको को समस्याओ के विषय मे केवल एक ही दृष्टिकोण से विचार करने के लिए प्रेरित करती है। सरकार के इस व्यापक प्रभाव तथा उसकी शक्ति के कारण अधिकतर विचारको—विशेषत अपनी जीविका के लिए उस पर आश्रित बुद्धिजीवियों—के लिए किसी समस्या पर स्वतत्रतापूर्वक विचार करना और उसके विषय मे अपना स्वतत्र मत अभिव्यक्त करना बहुत कठिन हो जाता है। इस प्रकार मिल के मतानुसार समाज और राज्य दोनो अपनी असीमित शक्तियो द्वारा व्यक्ति के स्वतत्र चिंतन तथा उसकी विचाराभिव्यक्ति को अधिकाधिक नियत्रित करने का प्रयास करते हैं और इस प्रयास मे उन्हे प्राय सफलता भी प्राप्त होती है, कितु व्यक्ति एव समाज दोनो के हित की दृष्टि से यह बहुत हानिकारक है।

4. **तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमासा** नैतिक दर्शन तथा राजनीति-दर्शन की समस्याओ के अतिरिक्त तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमासा सबधी समस्याओं पर भी मिल ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। 1843 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि सिस्टम ऑफ लॉजिक' मे उन्होंने अरस्तु के निगमनात्मक तर्कशास्त्र का खडन करते हुए यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि अनुभवमूलक आगमनात्मक तर्कशास्त्र ही सपूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल आधार है। उनके आगमनात्मक तर्कशास्त्र पर ह्यूम के साहचर्य सबधी नियमो का बहुत प्रभाव पड़ा है। ह्यूम की

भाँति वे भी यह मानते थे कि स्वय वस्तुओ मे कोई अनिवार्य सबध नही है, हम केवल अनुभव द्वारा ज्ञात साहचर्य के नियमो के आधार पर वस्तुओं के स्वरूप और उनके पारस्परिक संबंधो का ज्ञान प्राप्त करते हैं। मिल के विचार मे हमारा अनुभव और उसपर आधारित निरीक्षण ही हमारे ज्ञान का एकमात्र आधार है, निगमनात्मक विधि द्वारा हम किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। इस विधि की सहायता से हम जो आधारवाक्य बनाते हैं वह स्वत: सिद्ध सत्य न होकर स्वय हमारे आगमनात्मक अनुमान पर ही आधारित होता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित न्यायवाक्य पर विचार कीजिए — "सभी मनुष्य मरणशील हैं। सुकरात एक मनुष्य है। सुकरात मरणशील है।" इसका आधारवाक्य— "सभी मनुष्य मरणशील हैं" — हमे अनुभवमूलक आगमनात्मक अनुमान द्वारा ही प्राप्त हुआ है। हमने स्वय बहुत से मनुष्यो को मरते हुए देखा है और अपने इसी निरीक्षण के आधार पर हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। आगमनात्मक अनुमान के अतिरिक्त इस निष्कर्ष को प्राप्त करने का हमारे पास अन्य कोई आधार नही है, अत: इस निष्कर्ष को स्वत सिद्ध सत्य न मानकर आगमन पर आधारित अनुमान ही माना जा सकता है। निगमन विधि द्वारा प्राप्त अन्य सभी आधारवाक्यो के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। वस्तुत अनुभव और निरीक्षण के अभाव मे निगमन विधि का प्रयोग सभव ही नही है। इस प्रकार मिल के मतानुसार हमारे सपूर्ण ज्ञान का अतिम आधार आगमनात्मक विधि ही है, निगमनात्मक विधि नही।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि स्वय आगमनात्मक विधि का आधार क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे मिल का कथन है कि आगमनात्मक विधि प्रकृति में विद्यमान एकरूपता अथवा प्राकृतिक नियमों पर ही आधारित है। हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि प्रकृति में सर्वत्र एकरूपता है—अर्थात सभी प्राकृतिक घटनाएँ कुछ निश्चित प्राकृतिक नियमो के अनुसार ही घटित होती हैं। इसी प्राकृतिक एकरूपता के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जिन कारणो के फलस्वरूप एक घटना घटित हुई है उन्हीं कारणो के फलस्वरूप भविष्य मे भी सदा वही घटना घटित होगी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मिल के अनुसार प्राकृतिक एकरूपता के इस ज्ञान का आधार भी हमारा अनुभव ही है। हम अपने अनुभव द्वारा ही यह जानते हैं कि प्रकृति के नियमो मे निश्चितता और एकरूपता पाई जाती है—अर्थात ये नियम सभी स्थानो पर तथा सभी कालो मे निश्चित एवं समान रूप से लागू होते हैं। इस प्रकार हम जिस आगमनात्मक विधि द्वारा ज्ञान प्राप्त करते है उसका आधार प्राकृतिक एकरूपता है जिसे हम अपने अनुभव द्वारा जानते हैं। मिल ज्ञान के आधार के रूप मे आगमनात्मक विधि के इस अनिवार्य परिणाम को स्वीकार करते हैं कि हमारा सपूर्ण ज्ञान केवल प्रायिक ही हो सकता है, निश्चित नही। हम जो भी ज्ञान प्राप्त करते हैं वह आगमनात्मक अनुमान का ही परिणाम होता है और यह अनुमान हमे कभी भी निश्चित ज्ञान प्रदान नही कर सकता है। मिल गणित के सिद्धातो तथा तर्क शास्त्र के नियमो के ज्ञान को भी आगमनात्मक अनुमान पर ही आधारित मानते हैं और इसी कारण उनका कथन है कि यह ज्ञान भी निश्चित न हो कर प्रायिक ही होता है। परतु समकालीन दार्शनिक मिल की इस मान्यता को स्वीकार नही करते, क्योकि इन दार्शनिको के मतानुसार तर्कशास्त्र तथा गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ हमारे अनुभव पर आधारित न होकर विश्लेषणात्मक होती हैं जिन्हे कभी भी मिथ्या प्रमाणित नही किया जा सकता, अत इनके द्वारा हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह प्रायिक न हो कर निश्चित ही होता है। समकालीन दार्शनिक यह मानते है कि सभी प्रागनुभविक सत्यो को अस्वीकार करके और तर्कशास्त्र के नियमो तथा गणित के सिद्धातो को केवल प्रायिक तथा अनुभवाधारित मानकर मिल ने भूल की है। अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज, ट्रूथ ऐंड लॉजिक' मे ए०जे० एयर ने इसी आधार पर तर्कशास्त्र और गणित के सिद्धातो के विषय में मिल के मत की पर्याप्त आलोचना की है। गणित

और तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों के विश्लेषणात्मक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए एयर की इस आलोचना को उचित माना जा सकता है।

इस लेख को समाप्त करने से पूर्व कारण-कार्य-संबंध के विषय में मिल के मत का संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। उन्होंने कारण-कार्य-संबंध की जो व्याख्या की है उस पर ह्यूम के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ह्यूम की भाँति वे भी वस्तुओं में किसी ऐसे अनिवार्य संबंध को स्वीकार नहीं करते जिसके आधार पर एक वस्तु के कारण दूसरी वस्तु को कार्य माना जा सके। ह्यूम के समान ही वे भी अनुभव और निरीक्षण द्वारा ज्ञात वस्तुओं के पूर्वापर्य संबंध के आधार पर ही कारण और कार्य की व्याख्या करते हैं। उनका विचार है कि जब हम किन्हीं दो घटनाओं को एक दूसरे के पश्चात बार-बार घटित होते हुए देखते हैं तो हम अपने इस अनुभव के आधार पर पूर्ववर्ती घटना को कारण तथा अनुवर्ती घटना को कार्य मान लेते हैं। हम जितनी बार इन घटनाओं को इसी रूप में घटित होते हुए देखते हैं इनके कारण और कार्य के संबंध में हमारा विश्वास उतना ही दृढ़ होता जाता है। इसका अर्थ यह है कि कारण-कार्य-संबंध का आधार कोई वस्तुगत तत्त्व न होकर हमारा व्यक्तिगत अनुभव अथवा निरीक्षण ही है। जब हम निरीक्षण द्वारा बार-बार यह अनुभव करते हैं कि एक विशेष घटना के घटित होने के पश्चात सदैव दूसरी घटना भी घटित होती है और पहली घटना के घटित न होने पर दूसरी घटना भी घटित नहीं होती तो हम उन दोनों घटनाओं में कारण-कार्य-संबंध स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार मिल ह्यूम के इस मत को स्वीकार करते हैं कि कारण-कार्य-संबंध का कोई वस्तुगत आधार नहीं है। परंतु ह्यूम की भाँति वे भी कारण-कार्य-संबंध को ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका कथन है कि यह कारण-कार्य-संबंध उस आगमनात्मक विधि का आवश्यक आधार है जिसके द्वारा हम जगत् का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि से हमारे लिए कारण-कार्य-संबंध का विशेष महत्त्व है। कारण-कार्य-संबंध के बिना घटनाओं के प्रारंभ तथा उनके पारस्परिक संबंध की व्याख्या करना संभव नहीं है। इस प्रकार मिल कारण-कार्य-संबंध को वस्तुगत न मानते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

7

फ्रैड्रिक ऐंजेल्स

मार्क्सवादी दर्शन के विकास मे कार्ल मार्क्स के सहयोगी जर्मन दार्शनिक फ्रैड्रिक ऐंजेल्स (1820-1895) का विशेष योगदान रहा है। ऐंजेल्स का जन्म धर्मपरायण तथा सपन्न परिवार मे 28 नवम्बर 1820 को जर्मनी के बारमन नामक नगर में हुआ था। उनके पिता बहुत बडे व्यापारी थे और उन्होने व्यापार द्वारा पर्याप्त धनार्जन किया था। बारमन तथा मैंचेस्टर मे उनके अपने कारखाने थे जिनमे सेकडो श्रमिक कार्य करने थे। ईसाई धर्म मे उनकी अखड श्रद्धा थी और वे बाइबल मे लिखे वाक्यो को अक्षरश सत्य मानते थे। ऐंजेल्स की माता अध्यापक की पुत्री थीं और अपने पति की भाँति वे भी ईसाई धर्म मे अगाध श्रद्धा रखती थीं। इस प्रकार सपन्न धर्मपरायण परिवार मे ऐंजेल्स का पालन-पोषण हुआ।

बाल्यकाल मे ऐंजेल्स प्रतिभाशाली छात्र नही थे और सभवत इसी कारण वे विद्यालय की शिक्षा भी पूरी नहीं कर सके। ऐंजेल्स के पिता उन्हे अपने व्यापार मे लगाना चाहते थे, किंतु व्यापार मे उनकी रुचि नही थी। अपने छात्र-जीवन मे वे साहित्य के प्रति बहुत आकर्षित हुए थे और उन्होने बडी रुचि से कविता का अध्ययन किया था। परतु साहित्य के प्रति उनका यह आकर्षण अधिक समय तक नहीं रहा और वे शीघ्र ही साहित्य के स्थान पर दर्शन का रुचिपूर्वक अध्ययन करने लगे। उस समय जर्मनी मे—विशेषत बर्लिन के विश्वविद्यालय में—हीगल के दर्शन का बहुत प्रभाव था, किंतु अनेक युवक दार्शनिक उनके दर्शन की आलोचना भी करने लगे थे। ये युवक दार्शनिक विशेषत धर्म और राजनीति के सबध मे हीगल के विचारो से सहमत नही थे। बर्लिन मे ऐंजेल्स इन युवक दार्शनिको के सपर्क मे आए और वे इनके नवीन विचारो से बहुत प्रभावित हुए। धर्म के सबध में ऐंजेल्स के दृष्टिकोण पर स्ट्रॉस, श्लीरमेकर तथा फ्यूबरबैक के विचारो का विशेष प्रभाव पडा। ऐंजेल्स फ्यूबरबैक के इस मत को पूर्णत स्वीकार करते थे कि अपने समस्त सद्गुणो को ईश्वर मे प्रत्यारोपित करके मनुष्य स्वय ही ईश्वर के प्रत्यय की रचना करता है, अत ईश्वर वास्तव मे मनुष्य की अपनी मानसिक सृष्टि है। इस प्रकार यद्यपि ऐंजेल्स का पालन-पोषण धर्मपरायण परिवार मे हुआ था, फिर भी अपने माता-पिता के विपरीत धर्म और ईश्वर के प्रति उनके मन मे कोई श्रद्धा नही थी। इस धर्म विरोधी दृष्टिकोण तथा व्यापार मे रुचि न होने के कारण ऐंजेल्स का अपने पिता के साथ प्राय. सघर्ष होता रहा। कभी-कभी तो उन दोनो का यह सघर्ष इतना अधिक बढ जाता था कि ऐंजेल्स अपने जीवन को बहुत दुख मय मानने लगते थे और अपने परिवार को सदा के लिए छोड देने का विचार करने लगते थे। परतु आर्थिक दृष्टि से अपने पिता पर पूर्णत निर्भर होने के कारण वे अपने परिवार से कभी पृथक नही हो सके।

1. मार्क्स के साथ सहयोग . लगभग चालीस वर्षो तक ऐंजेल्स और मार्क्स दोनो मिलकर उस भौतिकवादी दार्शनिक विचारधारा का निर्माण करते रहे जिसे आज साम्यवादी विचारधारा कहा जाता है ... 1843 में जर्मनी में ऐंजेल्स मार्क्स से मिले थे किन्तु उस समय मार्क्स युवक

ऐंजेल्स के विचारों से प्रभावित नही हुए। अगले ही वर्ष 1844 मे उन दोनो की पैरिस में पुन भेट हुई। इस बार उन्होने परस्पर विस्तारपूर्वक विचार-विनिमय किया और इस विचार-विनिमय के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन तथा जगत् के विषय मे उनके विचार लगभग समान हैं। उसी समय से साम्यवादी विचारधारा के निर्माण एव विकास के लिए ऐंजेल्स तथा मार्क्स ने मिल कर कार्य करना प्रारभ किया और इस कार्य मे उन दोनो का यह सहयोग 1883 मे मार्क्स की मृत्यु तक निरतर बना रहा। 1847 मे ऐंजेल्स ने ही साम्यवादी विचारधारा के घोषणापत्र 'कोम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' का प्रथम प्रारूप तैयार किया था। इसी प्रारूप में कुछ सशोधन करके मार्क्स ने इसे अंतिम रूप दिया। ऐंजेल्स भौतिकवादी दर्शन तथा समाज मे उत्पादन एव वितरण के साधनो के विशेष महत्त्व के सबंध मे मार्क्स के क्रांतिकारी विचारो से पूर्णत सहमत थे। इन विचारों के प्रचार तथा प्रसार के लिए न्यू यॉर्क की 'ट्रिब्यून' नामक पत्रिका मे वे कार्ल मार्क्स के नाम से स्वय अपने लेख प्रकाशित कराते थे। ऐसे लेख लिखने के लिए मार्क्स के पास न तो अधिक समय था और न उन का अँग्रेजी भाषा पर उतना अधिकार था जितना ऐंजेल्स का। मैंचेस्टर मे श्रमिको के कष्टमय जीवन तथा दुखद परिस्थितियो का स्वय व्यक्तिगत रूप से विस्तारपूर्वक अध्ययन करके समाज मे आर्थिक साधनो के महत्त्व के विषय मे ऐंजेल्स ने जो निष्कर्ष निकाले थे वे उन्होने लेखो के रूप मे मार्क्स के समक्ष प्रस्तुत किए। इन निष्कर्षों से मार्क्स को अपनी साम्यवादी विचारधारा की पुष्टि के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त मार्क्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि कैपिटल' के तीन खंडो का सपादन-कार्य भी ऐंजेल्स ने ही किया। इसके लिए उन्हे अत्यधिक परिश्रम करना पडा, क्योंकि मार्क्स द्वारा लिखित सामग्री को पढ़ना बहुत कठिन कार्य था। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार तथा प्रसार के साथ-साथ ऐंजेल्स ने मार्क्स को पर्याप्त आर्थिक सहायता भी प्रदान की जिसके फलस्वरूप मार्क्स अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके और अपने साम्यवादी दर्शन का निर्माण एवं विकास करने मे समर्थ हो सके। ऐसी स्थिति मे यह कहना शायद अनुचित न होगा कि यदि मार्क्स को ऐंजेल्स का पूर्ण सहयोग प्राप्त न होता तो सभवत उस रूप मे मार्क्सवादी विचारधारा का विकास न हो पाता जिस रूप मे वह आज हमारे समक्ष विद्यमान है। मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् भी ऐंजेल्स लगभग बारह वर्ष तक मार्क्सवादी दर्शन के प्रसार और विकास के लिए निरतर प्रयास करते रहे। उनका यह प्रयास तभी समाप्त हुआ जब अगस्त 1895 मे उनका निधन हो गया। इस प्रकार मार्क्स को अपने क्रांतिकारी दर्शन के लिए जो महान ख्याति और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उसमे ऐंजेल्स का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान था।

2. **भौतिकवाद** यह सत्य है कि ऐंजेल्स ने विश्वविद्यालय की कोई उपाधि प्राप्त नही की थी, किंतु उन्होने दर्शन, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति और इतिहास का व्यापक तथा गहन अध्ययन किया था। अपनी दो पुस्तको मे उन्होने मुख्यत दार्शनिक समस्याओ का विवेचन किया है। वे दो पुस्तके हैं 'ऐन्टि-ड्हरिंग' तथा 'दि डाएलेक्टिक्स ऑफ नेचर'। इन दोनो पुस्तको को लिखने मे ऐंजेल्स का मुख्य उद्देश्य मार्क्सवादी दर्शन की आधारशिला स्थापित करना तथा भौतिक विज्ञान के आधार पर उसे व्यवस्थित रूप प्रदान करना था। उस समय यूरोप मे अनेक दार्शनिक अपने विचार प्रस्तुत कर रहे थे जिनका साम्यवादी दल के सदस्यो पर प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। ऐसी स्थिति मे मार्क्स के विचारो को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करना बहुत आवश्यक था और इस आवश्यकता की पूर्ति ऐंजेल्स ने की।

ऐंजेल्स के समय में सपूर्ण यूरोप में विज्ञान तथा वैज्ञानिक प्रणाली का बहुत महत्त्व था अत जीवन और जगत् सबधी उनके विचारो पर भी भौतिक विज्ञान का प्रभाव स्पष्टत दिखाई देता है।

वे ऐसी किसी मान्यता अथवा प्राक्कल्पना को स्वीकार नहीं करते जो भौतिक विज्ञान द्वारा प्रमाणित तथ्यों के विपरीत है। भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त चार्ल्स डार्विन के जैविक विकासवाद से भी ऐंजेल्स बहुत प्रभावित हुए थे। प्राणियो के विकास के सबध मे डार्विन ने जो निष्कर्ष निकाले थे वे उन्हे पूर्णत स्वीकार करते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ऐंजेल्स का दर्शन तत्कालीन भौतिक विज्ञान के मूल सिद्धातो पर ही आधारित है। मार्क्स की भाँति वे भी भौतिकवाद के प्रबल समर्थक हैं और समस्त अध्यात्मवादी सिद्धान्तो को अस्वीकार करते हैं। उनका निश्चित मत है कि ब्रह्मांड का अंतिम तत्त्व पुद्गल ही है, ईश्वर अथवा कोई अन्य आध्यात्मिक सत्ता नहीं। यह पुदगल अनादि तथा स्वयं अपना कारण है, इसे किसी अन्य शक्ति ने उत्पन्न नही किया। पुद्गल तथा इसके गुणो को कभी भी नष्ट नहीं किया जा सकता। समस्त जड वस्तुओ तथा प्राणियो की उत्पत्ति मूलत इसी पुद्गल मे हुई है। मस्तिष्क के जटिल ततुओ से उत्पन्न हमारी चेतना का मूल आधार भी यह पुद्गल ही है। गति पुद्गल का अनिवार्य गुण है और स्वभावत उसमे विद्यमान रहती है, कोई अन्य शक्ति उसमे गति उत्पन्न नही करती। इस प्रकार ऐंजेल्स भौतिकवादी दर्शन की समस्त आधारभूत मान्यताओ को पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

भौतिकवादी दार्शनिक होने के कारण ऐंजेल्स किसी प्रकार के शाश्वत अथवा अपरिवर्तनशील सत्यो मे विश्वास नही करते। उनका मत है कि दर्शन, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि किसी भी क्षेत्र मे शाश्वत सत्यों का होना सभव नही है। मनुष्य की बुद्धि तथा ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता सीमित है, अतः वह केवल सापेक्ष सत्यों को ही जान सकता है। यही कारण है कि विज्ञान निरपेक्ष और शाश्वत सत्यो के अस्तित्व को स्वीकार नही करता। वस्तुत मनुष्य उन्ही तथ्यो का ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो उसके अनुभव का विषय हो सकते हैं अथवा जिन्हे वह बौद्धिक युक्तियो द्वारा समझ सकता है। इस प्रकार ऐंजेल्स की ज्ञानमीमामा उनके भौतिकवादी दर्शन के अनुरूप मूलत अनुभववाद पर ही आधारित है। अनुभववाद मे विश्वास करने के कारण ही उन्होने स्पष्ट कहा है कि मनुष्य के लिए अनुभवातीत, निरपेक्ष एव शाश्वत सत्यो की खोज करना व्यर्थ है। ज्ञान-प्राप्ति की अपनी अनिवार्य सीमाओं को ध्यान मे रखते हुए उसे केवल सापेक्ष सत्यो के ज्ञान से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। इसी अनुभववाद के आधार पर ऐंजेल्स ने उन सभी आध्यात्मिक सत्ताओ के अस्तित्व को अस्वीकार किया है जो शाश्वत, निरपेक्ष तथा अनुभवातीत मानी जाती हैं।

उपर्युक्त सभी दार्शनिक विषयो की चर्चा ऐंजेल्स ने अपनी पुस्तक 'ऐन्टि-डहरिग' के प्रथम खड मे की है। यह पुस्तक उन्होने 1877-78 में तत्कालीन समाजवादी जर्मन दार्शनिक यूजीन डहरिंग के मार्क्स-विरोधी विचारो का खडन करने के लिए लिखी थी। उस समय जर्मनी के युवा दार्शनिको पर यूजीन डहरिंग का प्रभाव बढ़ रहा था जो मार्क्स की कुछ मान्यताओ की आलोचना करते थे। डहरिग के इस प्रभाव को समाप्त करने के लिए ऐंजेल्स ने उपर्युक्त पुस्तक लिखी जिसमे उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन को अधिक व्यवस्थित और युक्तिसगत ढग से प्रस्तुत किया। मार्क्स के विचारो को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के लिए उन्होने उसी द्वद्वात्मक प्रणाली का आधार लिया जिसका प्रयोग हीगल ने किया था। स्वय मार्क्स ने भी अपने दर्शन को हीगल की इसी द्वंद्वात्मक प्रणाली के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से ऐंजेल्स और मार्क्स दोनो पर हीगल का प्रभाव निर्विवाद है। यद्यपि इन दोनो दार्शनिकों ने हीगल के अध्यात्मवादी दर्शन की आलोचना की है, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि हीगल की द्वद्वात्मक प्रणाली के आधार पर ही अपने दर्शन की करके उन्होंने उनके महत्त्व को स्पष्टत स्वीकार किया है इस प्रकार ऐंजेल्स और मार्क्स के दर्शन के विकास म हीगल के दर्शन का भी पर्याप्त योगदान रहा है

3. **साम्यवाद-संबंधी सिद्धांत :** पिछले खंड में हम ऐंजेल्स के दर्शन के सैद्धांतिक पक्ष—भौतिकवाद—पर विचार कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि उन्होंने अध्यात्मवाद का खंडन करते हुए केवल भौतिकवाद के आधार पर जीवन और जगत् के विकास की व्याख्या की है। परंतु मार्क्स की भाँति ऐंजेल्स भी केवल सैद्धांतिक अथवा शास्त्रीय दार्शनिक नही थे। वे अपने विचारो द्वारा मनुष्य के सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन करना चाहते थे, अत: उनके दर्शन को 'व्यावहारिक दर्शन' की संज्ञा दी जा सकती है। अपने इस व्यावहारिक दर्शन के अनुरूप उन्होंने सभी मनुष्यो की समानता पर आधारित और शोषण से मुक्त मानव-समाज की कल्पना की है। मार्क्स की भाँति ऐंजेल्स भी यह निश्चित रूप से मानते थे कि केवल साम्यवाद द्वारा ही ऐसे समाज की रचना संभव है। इसी कारण वे आजीवन साम्यवाद के प्रचार और प्रसार के लिए निरंतर प्रयास करते रहे। उन्होंने अपनी अनेक पुस्तको मे साम्यवाद संबंधी सिद्धांतो का विस्तृत विवेचन किया है। इन पुस्तको में 'दि कन्डिशन ऑफ दि वर्किंग क्लास इन इंग्लैंड', 'दि जर्मन आइडियोलॉजी' तथा 'दि प्रिन्सिपल्स ऑफ कोम्युनिज्म' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'दि जर्मन आइडियोलॉजी' नामक पुस्तक ऐंजेल्स और मार्क्स ने मिल कर लिखी थी। अन्य दो पुस्तकें ऐंजेल्स की अपनी स्वतंत्र कृतियाँ हैं।

'दि कन्डिशन ऑफ दि वर्किंग क्लास इन इंग्लैंड' ऐंजेल्स की प्रथम पुस्तक थी जो उन्होंने 1840-41 मे लिखी थी जब वे केवल 20-21 वर्ष के युवक थे। इस पुस्तक मे उन्होंने इंग्लैंड के औद्योगिक नगर मैंचेस्टर के कारखानो मे कार्य करने वाले हजारों श्रमिकों की दुखद आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का सजीव और विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। ऐंजेल्स को इन श्रमिकों के कष्टपूर्ण जीवन को बहुत निकट से देखने और समझने का अवसर प्राप्त हुआ था, क्योंकि स्वयं उनके पिता के कारखानो में सैकड़ो श्रमिक कार्य करते थे। किशोरावस्था मे ही ऐंजेल्स साम्यवादी विचारधारा से बहुत प्रभावित हो चुके थे, इसी कारण उन्होंने स्वयं व्यक्तिगत संपर्क द्वारा श्रमिकों की दुखद स्थिति को समझने का प्रयास किया। इंग्लैंड के उद्योगपतियो के कारखानो मे कार्य करने वाले श्रमिको की सामाजिक तथा आर्थिक दुर्दशा का वर्णन करते हुए ऐंजेल्स ने उनकी घोर दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा, अनैतिकता और अपराध की प्रवृत्ति का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इन श्रमिकों को वेतन इतना कम दिया जाता था कि भोजन, वस्त्र, मकान आदि उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी नही हो पाती थी। उन्हे बहुत प्रतिकूल परिस्थितियों में लंबे समय तक प्रतिदिन कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता था। कम वेतन तथा अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियो मे निरंतर कार्य करते रहने के कारण ये श्रमिक और इनके परिवारों के सदस्य प्राय: रोगग्रस्त ही रहते थे। नगरों के जिन क्षेत्रों में ये श्रमिक रहते थे उनमे शुद्ध वायु और शुद्ध जल संबंधी आवश्यक सुविधाएँ भी उपलब्ध नही थी। उद्योगपतियो की ओर से न तो उनकी चिकित्सा के लिए कोई प्रबंध था और न दुर्घटना होने पर उन्हें क्षतिपूर्ति के रूप मे कोई धन दिया जाता था। लगभग सभी श्रमिक तथा उनके परिवारो के सदस्य अशिक्षित थे। घोर निर्धनता और अशिक्षा के फलस्वरूप ये श्रमिक अनेक प्रकार के अपराध करने के लिए सरलतापूर्वक प्रेरित होते थे जिनके लिए उन्हें कठोर दंड दिया जाता था। इस प्रकार अपनी पुस्तक मे ऐंजेल्स ने सविस्तार यह स्पष्ट किया है कि अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे उद्योगपतियो द्वारा सभी दृष्टियो से श्रमिकों का शोषण किया जाता था।

यूरोप मे तत्कालीन औद्योगिक क्रांति का यह निश्चय ही बहुत भयंकर परिणाम था जिससे ऐंजेल्स, मार्क्स तथा अन्य अनेक विचारक अत्यंत क्षुब्ध थे यूरोप का समाज आर्थिक आधार पर

स्पष्टत दो वर्गों मे विभाजित हो चुका था। एक वर्ग मे थोडे-से पूँजीपति तथा उद्योगपति थे जिन्हे सुख-भोग के समस्त साधन उपलब्ध थे और जिनका उत्पादन एव वितरण के साधनो पर पूर्ण नियत्रण था। दूसरे वर्ग मे करोडो श्रमिक तथा कृषक थे जो घोर दरिद्रता मे जीवन व्यतीत कर रहे थे और जिनके पास अपनी प्राथमिक अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी साधन नही थे। उद्योगपति तथा पूँजीपति इन श्रमिको एव कृषको को नाम मात्र की मजदूरी दे कर उन्हे अत्यत प्रतिकूल परिस्थितियो मे प्रति दिन दीर्घकाल तक कार्य करने के लिए बाध्य कर सकते थे। निर्धनता और अशिक्षा के कारण इन श्रमिको तथा कृषको का समाज मे कोई महत्त्व एव सम्मान नही था। इस प्रकार औद्योगिक क्राति के पश्चात तत्कालीन यूरोपीय समाज घोर आर्थिक विषमता, अन्याय तथा शोषण पर ही आधारित था। इस अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का निराकरण करके इसके स्थान पर सभी प्रकार के शोषण से मुक्त तथा न्याय और समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने के लिए ही ऐंजेल्स, मार्क्स तथा उनके सहयोगियो ने साम्यवाद सबधी सिद्धातो का प्रतिपादन किया था। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि साम्यवाद पूँजीवादी व्यवस्था और औद्योगिक क्राति से उत्पन्न घोर आर्थिक विषमता, अन्याय तथा शोषण का ही अनिवार्य परिणाम था।

ऐंजेल्स ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सिपल्स ऑफ कोम्युनिज्म' मे साम्यवाद सबधी सिद्धातो का विस्तृत विवेचन किया है। उनकी यह पुस्तक साम्यवाद सबधी बहुत महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। इसमे उन्होने साम्यवाद के विषय में अपने उन सभी लेखो का साराश प्रस्तुत किया है जो उनकी पूर्वलिखित अन्य दो पुस्तको – 'दि जर्मन आईडियॉलॉजी' तथा 'दि कन्डिशन ऑफ दि वर्किंग क्लास इन इग्लैंड' – मे प्रकाशित हो चुके थे। मानव-समाज के लिए साम्यवाद को अनिवार्य मानते हुए अपनी इसी पुस्तक मे ऐंजेल्स कहते है कि यदि समाज से घोर आर्थिक विषमता, अन्याय' तथा शोषण को शीघ्र ही समाप्त न किया गया तो विश्व मे अधिक समय तक शाति और व्यवस्था नही बनी रह सकती। ऐसे समाज में असमानता, अन्याय और शोषण से पीडित श्रमिक वर्ग द्वारा हिंसात्मक क्राति का होना अनिवार्य है। अन्यायपूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के लिए श्रमिक वर्ग को सभी देशो की सरकारो पर स्वय अपना नियत्रण स्थापित करना होगा। इस के बिना, समाज मे समता एव न्याय पर आधारित साम्यवाद की स्थापना सभव नही है और साम्यवाद के अभाव मे श्रमिक वर्ग पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण से मुक्त नही हो सकता। परतु ऐंजेल्स के विचार मे साम्यवाद किसी एक वर्ग अथवा देश तक ही सीमित नही हैं, वह सपूर्ण मानव-समाज के लिए है और उसका लक्ष्य ससार मे न्यायपूर्ण तथा सभी प्रकार के शोषण से मुक्त आर्थिक, राजनीतिक एव सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना है। इस व्यापक उद्देश्य की पूर्ति तब तक सभव नही है जब तक समाज के आर्थिक साधनो तथा राजनीतिक प्रशासन पर कुछ थोडे-से पूँजीपतियो और उद्योगपतियो का अधिकार बना हुआ है। उनके इस एकाधिकार को समाप्त करने के लिए श्रमिक वर्ग को सभी प्रकार के उपायो का प्रयोग करना होगा जिनमे हिंसात्मक क्राति भी सम्मिलित है। परतु साम्यवाद की स्थापना के लिए हिंसात्मक क्राति को ऐंजेल्स केवल अतिम साधन के रूप मे ही स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि हिंसात्मक क्राति से पूर्व श्रमिक वर्ग को ससदीय तथा लोकतत्रीय प्रणाली द्वारा समाज की आर्थिक एव राजनीतिक व्यवस्था पर अपना नियत्रण स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। इसमे असफल होने पर ही साम्यवाद की स्थापना के लिए श्रमिक वर्ग हिंसात्मक क्राति का मार्ग ग्रहण कर सकता है।

अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सिपल्स ऑफ कोम्युनिज्म' मे साम्यवादी दल का कार्यक्रम स्पष्ट करते हुए ऐंजेल्स कहते हैं कि सर्वप्रथम दल की और वितरण के समस्त

साधनों पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित करेगी। ऐसा करके ही वह समाज में आर्थिक विषमता, अन्याय तथा शोषण को समाप्त कर सकती है और समाज के सभी वर्गों के कल्याण के लिए प्रभावशाली कार्य कर सकती है। साम्यवादी व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने और उसके द्वारा स्वयं अपने तथा अपने परिवार के लिए धनोपार्जन करने का अधिकार नहीं होगा। सभी व्यक्तियों को उपयुक्त शिक्षा तथा रोजगार प्रदान करने का उत्तरदायित्व साम्यवादी सरकार का ही होगा। किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय को अन्य व्यक्तियों का किसी भी रूप में आर्थिक शोषण नहीं करने दिया जाएगा। साम्यवादी सरकार की स्थापना के लिए यथासंभव लोकतंत्रीय प्रणाली को स्वीकार किया जाएगा और अपने प्रतिनिधियों को चुनने के लिए सभी वयस्क व्यक्तियों को समान मताधिकार प्रदान किया जाएगा। समाज के सभी वर्गों—विशेषत श्रमिकों तथा कृषकों—के आर्थिक हितों की रक्षा करना साम्यवादी सरकार का मुख्य कार्य होगा। पुरुषों पर स्त्रियों की आर्थिक निर्भरता को समाप्त करने के लिए साम्यवादी सरकार स्त्रियों को भी उचित रोजगार प्रदान करेगी। उत्पादन तथा वितरण के समस्त साधनों पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार स्थापित हो जाने के फलस्वरूप समाज में वह घातक व्यक्तिगत प्रतियोगिता समाप्त हो जाएगी जो घोर आर्थिक विषमता, अन्याय और शोषण का मूल कारण है। वस्तुत सभी व्यक्तियों के कल्याण के माध्यम से समाज की सर्वांगीण प्रगति का प्रमुख दायित्व सरकार का ही होगा।

साम्यवाद की इस संक्षिप्त रूपरेखा से यह स्पष्ट है कि एंजेल्स के मतानुसार साम्यवादी सरकार संपूर्ण सामाजिक तथा पारिवारिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन करेगी। वे साम्यवाद को एक अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त मानते थे और इसी कारण संसार में इस साम्यवाद की स्थापना करने के लिए वे आजीवन यथासम्भव निरंतर प्रयास करते रहे। साम्यवाद के विकास का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कार्ल्स मार्क्स, लेनिन आदि महान साम्यवादी विचारकों पर एंजेल्स के उपर्युक्त विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इससे साम्यवादी विचारधारा के विकास और प्रसार में एंजेल्स के दर्शन का महत्त्वपूर्ण योगदान पूर्णत स्पष्ट हो जाता है।

8

नीत्शे—मूल्यों के मूल्यांतरण का सिद्धांत

1. जीवन और कृतियाँ

उन्नीसवी शताब्दी के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी जर्मन दार्शनिक फ्रैड्रिक विल्हैल्म नीत्शे का जन्म 15 अक्तूबर 1844 को जर्मनी के एक नगर 'रॉकिन' मे हुआ था। उनके पिता पादरी थे और ईसाई धर्म की प्रोटेस्टैंट विचारधारा मे विश्वास करते थे। शैशव-काल से मृत्युपर्यंत नीत्शे का सपूर्ण जीवन दु ख, निराशा तथा अवसाद से ग्रस्त रहा। जब वे केवल पाँच वर्ष के ही थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया जिसके फलस्वरूप उन्हे सदा के लिए पितृस्नेह से वचित होना पडा। उनका पालन-पोषण 'नॉमबर्ग' नामक नगर मे उनकी दादी, माता, बहन तथा दो चाचियो ने ही किया। उनका कोई भाई नही था और शीघ्र ही पिता के निधन के कारण उन्हे अपने बाल्यकाल मे किसी पुरुष का साथ, सरक्षण एव मार्गदर्शन प्राप्त नही हो सका। उनका सपूर्ण बाल्यकाल धर्मपरायण प्रौढ नारियो के सरक्षण मे ही व्यतीत हुआ जिन्होंने उन्हे ईसाई धर्म के परम्परागत सत्यो की शिक्षा दी। इस स्थिति की उनके परवर्ती जीवन पर गहरी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हुई और वे सदा के लिए धर्म तथा नारी के घोर विरोधी हो गए। वे आजीवन अविवाहित रहे और यौवन तथा प्रौढावस्था मे नारी के स्नेह से वचित रहने के कारण उनका यह नारी-विरोध और भी अधिक तीव्र हो गया। वे कहा करते थे कि पुरुष को अपने हाथ मे चाबुक लेकर ही नारी से किसी प्रकार का सबध स्थापित करना चाहिए। नारी के प्रति इस कटुता एव असतुलित दृष्टिकोण के कारण वे अपने परवर्ती जीवन मे कभी किसी स्त्री का प्रेम प्राप्त नही कर सके जिसके फलस्वरूप उनका जीवन दु ख, एकाकीपन तथा निराशा से भर गया। इस दुखद स्थिति ने धीरे-धीरे उनका मानसिक सतुलन नष्ट कर दिया और उन्हे अपने जीवन के अतिम बारह वर्ष पूर्ण रूप से पागलपन मे ही व्यतीत करने पडे। वे अपने सपूर्ण जीवन मे किसी भी व्यक्ति को अपना ऐसा अभिन्न मित्र न बना सके जिससे वे अपनी मनोव्यथा कह सकते। अतरग मित्र का यह अभाव भी उनके अकेलेपन का एक बहुत बडा कारण था जिसने उन्हे अतत मानसिक दृष्टि से पूर्णतया अस्वस्थ कर दिया। इस प्रकार नीत्शे की जीवन-गाथा निराशा, एकाकीपन, उदासी, दु ख और अवसाद की एक लबी कहानी है जिसने उनके सपूर्ण दर्शन पर गहरा प्रभाव डाला है।

नीत्शे ने अपनी प्राथमिक शिक्षा एक स्थानीय विद्यालय मे प्राप्त की जहाँ वे कुछ समय के पश्चात एक प्रतिभाशाली छात्र के रूप मे विख्यात हो गए। वे बडे परिश्रमपूर्वक पुस्तकों का अध्ययन करते थे और विद्यालय मे शिक्षकों द्वारा उन्हे जो कार्य दिया जाता था उसे भी बडे मनोयोग से किया करते थे। वे अन्य बच्चो के साथ खेलने के स्थान पर पुस्तके पढने में ही अपना समय व्यतीत करते थे। जर्मन तथा लैटिन भाषाओ तथा धर्म के अध्ययन मे उनकी विशेष रुचि थी अपनी अ[illegible] एव प्रतिभा के कारण वे सपूर्ण विद्यालय मे एक आदर्श छात्र समझे

जाते थे। बाल्यकाल से ही उनके मन में महान विचारक बनने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गई थी जिसकी पूर्ति के लिए वे आजीवन प्रयास करते रहे। 1854 से 1858 तक स्थानीय विद्यालय में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त नीत्शे ने 'फोर्टा' नामक नगर के प्रसिद्ध आवासीय विद्यालय में प्रवेश किया जहाँ उन्होंने लगभग छह वर्ष तक माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की। इसी विद्यालय में अध्ययन करते हुए उनके मन में यूनानी भाषा तथा संस्कृति के विषय में विशेष रुचि उत्पन्न हुई और उन्होंने प्लैटो एवं अन्य महान यूनानी विचारकों के ग्रंथों का अध्ययन किया। बाद में उन्होंने यूनानी साहित्य के दुखान्त नाटकों के संबंध में एक पुस्तक भी लिखी। उक्त विद्यालय में अपनी माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात 1864 में नीत्शे ने उच्च शिक्षा के लिए 'बॉन विश्वविद्यालय' में प्रवेश किया। इसी विश्वविद्यालय में उन्होंने भाषाशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ किया, किंतु यहाँ वे केवल एक वर्ष ही रहे। 1865 में वे रिशल के मार्गदर्शन में भाषाशास्त्र का अध्ययन करने के लिए 'लीप्जिग विश्वविद्यालय' में चले गए। यहाँ उन्होंने महान दार्शनिक शापिनहॉवर के ग्रंथों का भी अध्ययन किया और वे उनकी निरीश्वरवादी विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए। शापिनहॉवर के दर्शन का यह प्रभाव उनपर आजीवन बना रहा। लगभग चार वर्ष तक नीत्शे ने 'लीप्जिग विश्वविद्यालय' में उच्च शिक्षा प्राप्त की और भाषाशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन किया।

1869 में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने से पूर्व ही स्विटज़रलैंड के 'बेसल विश्वविद्यालय' में भाषाशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में नीत्शे की नियुक्ति हो गई। एक विदेशी विश्वविद्यालय में यह उच्च पद उन्होंने अपनी अध्ययनशीलता एवं प्रतिभा के कारण ही प्राप्त किया था। परन्तु इस विश्वविद्यालय का शैक्षणिक परिवेश उन्हें अच्छा नहीं लगा। छात्रों में अध्ययन के प्रति रुचि के अभाव तथा उनके संबंध में शिक्षकों की उदासीनता से वे बहुत क्षुब्ध हुए। वे अपने सहयोगी शिक्षकों को ज्ञान के विक्रेता कहते थे जो बौद्धिक प्रगति को प्रोत्साहित करने के स्थान पर उसमें केवल बाधा ही डालते थे। इस प्रकार प्रतिभाशाली शिक्षक होते हुए भी नीत्शे बेसल विश्वविद्यालय के ऐसे अनुपयुक्त परिवेश में अपना अध्यापन-कार्य भलीभाँति संपन्न नहीं कर पा रहे थे। उनके मन में कोई साहसपूर्ण कार्य करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो चुकी थी। संभवत इसी कारण वे अपना अध्यापन-कार्य छोड़कर उस समय जर्मन सेना में भरती हो गए जब फ्रांस और जर्मनी में युद्ध चल रहा था। परन्तु अपने खराब स्वास्थ्य के कारण उन्हें कुछ समय के पश्चात सेना से त्याग-पत्र देकर अध्यापन-कार्य के लिए पुन 'बेसल विश्वविद्यालय' में लौटना पड़ा। यहाँ भी उनके स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हो सका और वे प्राय अस्वस्थता के कारण अध्यापन-कार्य नहीं कर पाते थे। अतत इसी कारण उन्हें 1879 में बेसल विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर के पद से भी त्याग-पत्र देना पड़ा।

धीरे-धीरे नीत्शे का स्वास्थ्य और अधिक खराब होता गया, किन्तु फिर भी वे अध्ययन करते रहे और पुस्तकें लिखते रहे। आगामी दस वर्षों में उन्होंने अस्वस्थता की इसी स्थिति में अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी। वस्तुत इस दशक को उनके जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल कहा जा सकता है क्योंकि उनकी सभी प्रसिद्ध दार्शनिक कृतियाँ इसी दशक के अंतर्गत प्रकाशित हुई। परंतु 1888 के अंत तक वे मानसिक दृष्टि से बहुत अस्वस्थ हो गए और जनवरी 1889 में उनका मानसिक संतुलन पूर्णतया नष्ट हो गया। तब उन्हें बेसल के मनोरोगचिकित्सालय में भरती करा या गया जहाँ कुछ समय तक उनका उपचार होता रहा। इसके पश्चात 'जेना' के मनोरोग-चिकित्सालय में भी उनका उपचार किया गया किंतु इससे उनके मानसिक में

कोई सुधार नही हुआ। तब उन्हे 'नॉमबर्ग' मे उनके घर ले जाया गया जहाँ उनकी माता रहती थी। परतु कुछ समय के पश्चात उनकी माता का भी देहात हो गया और उन्हे अपनी बहन के पास 'वीमर' नामक नगर मे जाना पडा। इस प्रकार बारह वर्ष से अधिक लबे समय तक मानसिक दृष्टि से पूर्णत अस्वस्थ रहने के उपरांत इसी नगर मे 25 अगस्त 1900 मे उनका निधन हो गया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अस्वस्थ रहते हुए भी नीत्शे अनेक वर्षों तक निरतर अध्ययन तथा लेखन-कार्य करते रहे, क्योंकि वे महान विचारक बनना चाहते थे। 1872 से 1888 तक उन्होने तेरह पुस्तके लिखी जिनमें दर्शन के अतिरिक्त साहित्य, कला, सगीत एव सस्कृति के विषय मे उन्होंने अपने क्रातिकारी विचार व्यक्त किए। उनकी प्रथम पुस्तक, 'दि बर्थ ऑफ ट्रैजडी आउट ऑफ दि स्पिरिट ऑफ म्यूजिक' 1872 मे प्रकाशित हुई जिसमे उन्होने यूनानी सस्कृति के सबध मे परपरागत दृष्टिकोण से भिन्न अपना नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इस पुस्तक के पश्चात 1878 मे उनकी एक अन्य पुस्तक 'ह्यूमन, ऑल-टू-ह्यूमन' प्रकाशित हुई जिसमे उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भौतिकवाद के आधार पर सपूर्ण मानवीय ज्ञान तथा अनुभव की सतोषप्रद व्याख्या की जा सकती है। उदाहरणार्थ, उपयोगितावाद के आधार पर नैतिकता की व्याख्या करते हुए हम यह कह सकते है कि जो कर्म मानव-समाज के लिए हितकर हैं उन्हे शुभ तथा जो उसके लिए अहितकर हैं उन्हे अशुभ कहा जाता है। इसी प्रकार मनुष्य की अतश्चेतना की व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह ईश्वर की ध्वनि न होकर वास्तव मे समाज की ही ध्वनि है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से नीत्शे की इस पुस्तक का बहुत महत्त्व है। 1881 मे उनकी पुस्तक, 'दि डॉन ऑफ डे' प्रकाशित हुई जिसमे उन्होने सर्वप्रथम आत्मत्याग सबधी परपरागत नैतिकता का विरोध आरभ किया जो उनकी परवर्ती कृतियो मे अधिकाधिक तीव्र होता गया। अगले ही वर्ष 1882 मे 'दि जॉएफुल विज्डम' नामक उनकी एक अन्य पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे उन्होने ईसाई धर्म की मान्यताओ का खडन किया और उन्हे मानव-जीवन के लिए हानिकारक बताया। ईश्वरवाद का विरोध करते हुए इसी पुस्तक मे नीत्शे ने सर्वप्रथम यह कहा था कि "ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है"। इस पुस्तक के उपरात उनकी प्रसिद्ध पुस्तक, 'दस स्पेक जरथुस्ट्रा चार भागो मे प्रकाशित हुई। इसके प्रथम दो भाग 1883 मे, तीसरा भाग 1884 मे और अंतिम भाग 1885 मे प्रकाशित हुआ। कुछ विद्वान इस पुस्तक को नीत्शे की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानते हैं। इसमे नीत्शे ने अपने अनेक क्रातिकारी दार्शनिक सिद्धातो की विवेचना की है जिनमे शाश्वत आवर्तन का सिद्धात, 'अतिमानव का सिद्धांत' तथा 'मूल्यो के मूल्यातरण का सिद्धात' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके इन सिद्धातो पर हम अगले खडो मे यथास्थान विचार करेगे।

नीत्शे की एक अन्य पुस्तक, 'बियॉन्ड गुड ऐंड ईविल' 1886 मे प्रकाशित हुई। इसमे उन्होने समस्त परपरागत नैतिक मूल्यो का विरोध तथा अभिजात वर्गीय मूल्यो का समर्थन किया। इस पुस्तक मे नीत्शे ने उन सभी परंपरागत नैतिक अवधारणाओ का खडन किया जिन्हे प्राचीन काल से स्वीकार किया जाता रहा है। 1887 में 'दि जीनिएलॉजी ऑफ़ मॉरल्ज' नामक उनकी एक और पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमे उन्होंने प्रचलित नैतिक अवधारणाओं के साथ-साथ ईसाई धर्म के सिद्धातों का भी खडन किया। वस्तुत नैतिकता और धर्म के सबध मे नीत्शे के विचारो के अध्ययन की दृष्टि से उपर्युक्त दोनो पुस्तको का विशेष महत्त्व है। अभी तक जिन पुस्तको का उल्लेख किया गया है उनके अतिरिक्त 1889 से पूर्व ही नीत्शे की अन्य पाँच पुस्तके भी प्रकाशित हो चुकी थी जिनके नाम इस प्रकार हैं :— (1) 'थॉट्स आउट ऑफ सीजन', (2) 'दि केस ऑफ वैगर', (3) 'दि टिवलाइट ऑफ दि आइडल्स' (4) 'एकेहोमो' (5) 'दि ऐन्टी-क्राइस्ट'। अधिकतर विद्वान इन

पुस्तकों को नीत्शे के दार्शनिक विचारो की विवेचना की दृष्टि से आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण नही मानते। परतु उनकी कुछ पूर्वोल्लिखित कृतियो को इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस प्रकार नीत्शे की कृतियो के सबध मे उपर्युक्त सपूर्ण विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उन्होने अपने परपरा-विरोधी एव क्रातिकारी विचारो द्वारा धर्म, नैतिकता और दर्शन के समक्ष एक नवीन आयाम प्रस्तुत किया है जिसकी तर्कसंगत तथा निष्पक्ष समीक्षा करना आवश्यक है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1888 से पूर्व विद्वानो ने नीत्शे की कृतियो को कोई विशेष महत्त्व नही दिया। 1889 में इनके मानसिक दृष्टि से पूर्णतया अस्वस्थ होने से पूर्व विद्वानो की इस उपेक्षा के कारण उन्हे अपनी कृतियो से कोई यश और सम्मान प्राप्त नही हो सका। 1888 मे ब्रैंडिस नामक एक विद्वान ने डेनमार्क की राजधानी कोपनहेगन मे नीत्शे पर विस्तृत भाषण दिए। इन भाषणों के फलस्वरूप यूरोप मे नीत्शे को एक विचारक के रूप में जाना जाने लगा और दूर-दूर तक उनकी ख्याति फैल गई। परतु दुर्भाग्यवश नीत्शे स्वय अपनी इस ख्याति को कभी न जान सके क्योकि, जैसा कि हम ऊपर बता चुके है, वे जनवरी 1889 मे ही मानसिक दृष्टि से पूर्णत अस्वस्थ हो गए थे और मृत्युपर्यत इसी स्थिति में रहे। निश्चय ही यह उनका बहुत बडा दुर्भाग्य था जिसके कारण वे यह भी न जान सके कि बाल्यकाल मे उनके मन मे विचारक बनने की जो बलवती इच्छा थी वह अतत पूरी हुई। उनके जीवन की यही दुखद नियति रही कि जब तक वे अपनी कृतियो के फलस्वरूप यश तथा सम्मान का आनद प्राप्त कर सकते थे तब तक उन्हे दार्शनिक जगत् मे केवल उदासीनता एव उपेक्षा ही मिली और जब वे असाध्य मनोरोग मे ग्रस्त हो गए तो उनका यश चारो ओर फैल गया। 1888 के पश्चात उनकी कृतियो तथा इनमे अभिव्यक्त उनके क्रातिकारी विचारो की दार्शनिक जगत् मे व्यापक चर्चा होती रही। परतु जहाँ तक नीत्शे का संबध है, वे स्वय अपनी इस चर्चा से पूर्णत अनभिज्ञ ही रहे और इस ससार से तिरस्कृत तथा उपेक्षित ही विदा हो गए। दर्शन के इतिहास मे जीवन के ऐसे दुखद अत का उदाहरण शायद ही अन्यत्र कही मिल सके।

नीत्शे के जीवन तथा उनकी कृतियो की इस चर्चा को समाप्त करने से पूर्व यहाँ उनके दर्शन पर कुछ महान विचारको के प्रभाव का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, नीत्शे अपने छात्र-जीवन मे शापिनहॉवर के विचारो से बहुत प्रभावित हुए थे। तब वे शापिनहॉवर को ही अपने जीवन का आदर्श मानते थे और उनके दार्शनिक सिद्धातो को पूर्णतया स्वीकार करते थे। नीत्शे के विचारों पर शापिनहॉवर के निरीश्वरवाद का जो गहरा प्रभाव पडा था वह उनके दर्शन पर सदा बना रहा और उसने उनके दर्शन की दिशा को निर्धारित किया। नीत्शे ने अपने दर्शन मे शक्ति की इच्छा को जो विशेष महत्त्व दिया है वह भी शापिनहॉवर के 'जीवन की इच्छा' के सिद्धात का सशोधित रूप ही प्रतीत होता है। शापिनहॉवर के समान ही नीत्शे ने भी हीगल के प्रत्ययवादी दर्शन का तीव्र विरोध किया था। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि नीत्शे के दर्शन पर शापिनहॉवर के दार्शनिक सिद्धातो का पर्याप्त प्रभाव पडा है।

शापिनहॉवर के अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी के महान क्रांतिकारी फ्रासीसी विचारक वोल्टेयर के विचारों से भी नीत्शे बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होने अपनी अनेक कृतियो मे वोल्टेयर की व्यग्यपूर्ण शैली का अनुसरण किया है। इसी प्रकार नीत्शे ईसाई धर्म के रूढिवाद के विरुद्ध भी वोल्टेयर के विचारो को पूर्णतया स्वीकार करते थे। वे वोल्टेयर के इस मत का पूर्ण रूप से समर्थन करते थे कि ईसाई धर्म की रूढिवादी विचारधारा मानव-जीवन की प्रगति मे बाधक है। वे वोल्टेयर को महान चितक मानते थे और उनके परपरा-विरोधी तथा क्रातिकारी विचारो को विशेष महत्त्व देते थे।

शापिनहॉवर और वोल्टेयर के विचारों के साथ-साथ डार्विन के विकासवाद का भी नीत्शे के दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। नीत्शे ने अपने दर्शन मे अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा किए जाने वाले सघर्ष को विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने जिस अतिमानव की कल्पना की है वह अपनी शक्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए समस्त बाधाओ के विरुद्ध निरतर सघर्ष करता रहता है। वह अपने आपको वातावरण के अनुसार समायोजित करने के स्थान पर वातावरण को स्वय अपने अनुरूप परिवर्तित करने का प्रयास करता है। डार्विन के समान ही नीत्शे ने भी जैविक कारणो के आधार पर ही सपूर्ण मानव-जीवन के विकास की व्याख्या की है। उनके मतानुसार केवल वे सिद्धात ही सत्य हैं जो जैविक दृष्टि मे व्यक्ति अथवा समाज के लिए लाभदायक हैं। इस प्रकार नीत्शे के दर्शन के निर्माण तथा विकास मे शापिनहॉवर, वोल्टेयर और डार्विन का पर्याप्त योगदान रहा है।

परतु यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि उपर्युक्त तीनो दार्शनिको के विचारो से प्रभावित होते हुए भी नीत्शे ने इनमें से किसी भी दार्शनिक के सभी सिद्धातो को स्वीकार नही किया। अपनी परवर्ती रचनाओ मे उन्होंने इन दार्शनिको के अनेक सिद्धातो का खडन भी किया है, उदाहरणार्थ, वे जीवन के प्रति शापिनहॉवर के पलायनवादी दृष्टिकोण का समर्थन नही करते। इसी प्रकार वे वोल्टेयर के शातिवाद अथवा युद्ध-विरोधी विचारो को भी स्वीकार नही करते। इसके विपरीत वे शक्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए अतिमानव द्वारा निरतर सघर्ष को अनिवार्य मानते हैं। वे डार्विन से प्रभावित विकासवादी नीतिशास्त्रियो के इस मत का भी समर्थन नही करते कि मनुष्य को अपने वातावरण के अनुरूप स्वयं अपने आप को समायोजित करना चाहिए। इसके स्थान पर वे यह मानते हैं कि अपनी शक्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए मनुष्य को अपने वातावरण में यथोचित परिवर्तन करने का निरतर प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनो विचारको के सिद्धातो मे कुछ सीमा तक प्रभावित होते हुए भी नीत्शे वास्तव में एक मौलिक तथा स्वतत्र चितक हैं। उनकी विभिन्न कृतियो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनका चितन केवल दर्शन के क्षेत्र तक ही सीमित नही था। अपनी पुस्तको मे उन्होंने दर्शन, धर्म तथा नैतिकता के अतिरिक्त भाषाशास्त्र, साहित्य, कला, सगीत और यूनानी संस्कृति के सबंध मे भी अपने मौलिक विचार व्यक्त किए है। इन सभी क्षेत्रो मे परपरागत मूल्यो एव मान्यताओं का खडन उनके चिंतन की मूल विशेषता है जो उनकी प्रतिभा और स्वतंत्र चितन-शक्ति का परिचय देती है। अपनी इसी प्रतिभा के कारण नीत्शे अपने समकालीन विचारको की अपेक्षा यूरोपीय सभ्यता एव संस्कृति का अधिक तर्कसगत और यथार्थवादी मूल्याकन करने मे सफल हुए थे। यूरोप की आर्थिक एव राजनीतिक स्थिति के आधार पर उन्होंने बहुत पहले ही यह भविष्यवाणी की थी कि व्यापक युद्ध के फलस्वरूप सपूर्ण विश्व को भारी क्षति पहुँचेगी और उनकी यह भविष्यवाणी अनेक वर्षो के पश्चात पूर्णत सत्य प्रमाणित हुई।

इस प्रकार उपर्युक्त सपूर्ण विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते है कि पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे नीत्शे के परपरा-विरोधी और क्रातिकारी विचारों का अपना विशेष स्थान है।

2. नैतिकता का स्वरूप और वर्गीकरण

नीत्शे के जीवन और उनकी कृतियो की चर्चा करने के उपरात अब कुछ दार्शनिक समस्याओ के विषय में उनके मत की विवेचना करना है जैसा कि हम पिछले खड में बता चुके हैं

नैतिकता, ईसाई धर्म तथा ईश्वरवाद के संबंध में उन्होंने अपने क्रांतिकारी विचार व्यक्त किए हैं। नीत्शे नैतिकता में सर्वथा उन सभी मान्यताओं और मूल्यों का खंडन करते हैं जिन्हें प्राचीन काल से मानव-समाज में स्वीकार किया जाता रहा है। वे इन सभी परंपरागत मूल्यों के स्थान पर इनके विरोधी मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं। इसी कारण उनके नैतिक सिद्धांत को 'मूल्यों के मूल्यांतरण का सिद्धांत' कहा जाता है। वस्तुतः नीत्शे के संपूर्ण दर्शन का एकमात्र आधार 'शक्ति की इच्छा' ही है, अतः मनुष्य की इस इच्छा की पूर्ति में बाधक सभी मूल्यों को अस्वीकार करते हुए वे केवल उन्हीं मूल्यों का समर्थन करते हैं जो इसकी पूर्ति में सहायक हैं। प्राचीन काल से अधिकतर विचारक यह मानते रहे हैं कि स्नेह, सहानुभूति, सेवा, सहिष्णुता, सहयोग, परोपकार, दया, उदारता, न्याय आदि सद्गुणों का नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है, क्योंकि ये सद्गुण ही व्यक्ति को वास्तव में उत्कृष्ट मनुष्य बनाते हैं। परंतु नीत्शे इन सभी नैतिक सद्गुणों को 'कायरों और दुर्बलों के मूल्य' कह कर इनका घोर विरोध करते हैं और शक्ति की इच्छा की पूर्ति का प्रयास करने वाले मनुष्य के लिए इनका पूर्णतया परित्याग करना अनिवार्य मानते हैं। उनका स्पष्ट तथा निश्चित मत है कि केवल दुर्बल व्यक्ति ही अपनी शक्तिहीनता के कारण इन परंपरागत नैतिक सद्गुणों के अनुसार आचरण करते हैं, क्योंकि वे इसके अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकते। परंतु जो सामर्थ्यवान अथवा शक्तिशाली हैं उनके लिए दुर्बलों के इन तथाकथित सद्गुणों का कोई मूल्य नहीं है। इन परंपरागत सद्गुणों के विपरीत वे अपने जीवन में केवल उन्हीं मूल्यों को स्वीकार करते हैं जो उनकी शक्ति की इच्छा की पूर्ति में सहायक हैं और जो उन्हें दुर्बलों पर शासन करने में समर्थ बनाते हैं। ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियों के लिए साहस, कठोरता, दृढ़ता, निर्दयता, अन्याय, शोषण आदि गुण अत्यावश्यक हैं, क्योंकि केवल इन्हीं गुणों द्वारा वे दुर्बलों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं। अपनी इसी मान्यता के कारण नीत्शे शक्तिशाली व्यक्तियों के इन्हीं गुणों को सच्ची नैतिकता के अनिवार्य तत्त्वों के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके मतानुसार परंपरागत नैतिक सद्गुणों के विरोधी गुणों पर आधारित नैतिकता ही शक्तिशाली व्यक्तियों की नैतिकता है और शक्ति की इच्छा की पूर्ति में सहायक इसी नैतिकता को वास्तविक अर्थ में 'नैतिकता' की संज्ञा दी जा सकती है।

नीत्शे उन सभी नैतिक सिद्धांतों का खंडन करते हैं जो मनुष्य के लिए शाश्वत मूल्यों तथा निरपेक्ष प्रतिमानों को स्वीकार करना अनिवार्य मानते हैं। इस संबंध में नीत्शे कांट के नैतिक सिद्धांत की तीव्र आलोचना करते हैं जो नैतिकता को मनुष्य की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं से सर्वथा स्वतंत्र मानकर केवल निरपेक्ष आदेश पर आधारित मानते हैं और कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य सिद्धांत द्वारा ही समस्त मानवीय कर्मों की नैतिकता का निर्णय करते हैं। नीत्शे निरपेक्ष आदेश के इस सिद्धांत को मिथ्या और निराधार मानते हैं। इसी प्रकार उन्होंने नैतिकता को शाश्वत या निरपेक्ष मानने वाले अन्य नैतिक सिद्धांतों की भी आलोचना की है। इन सभी सिद्धांतों के विपरीत उपयोगितावाद के आधार पर नैतिकता के उद्भव तथा विकास की व्याख्या करते हुए नीत्शे कहते हैं कि मानव-समाज के अस्तित्व, सुख और हित के साधन के रूप में ही समस्त नैतिक मूल्यों का उदय एवं विकास होता है। उन्हीं के शब्दों में, "नैतिकता मुख्यतः समाज को सुरक्षित रखने तथा उसे विनाश से बचाने का साधन है"[1]।

इस आधार पर नैतिकता के विकास की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए नीत्शे ने उसके अनेक सोपानों का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि सर्वप्रथम समाज द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को उन

---

1. ओस्कर लेवी (संपादक), 'नीत्शेज वर्क्स', खंड 2, पृ. 221

नैतिक मूल्यों तथा मान्यताओं के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य किया जाता है जो समाज के हित में सहायक होते हैं। नैतिकता के विकास के इस प्रथम सोपान में दंड की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जिसके भय से प्रेरित होकर व्यक्ति नैतिक मूल्यों और नियमों को स्वीकार करता है। परन्तु समय व्यतीत होने के साथ-साथ सामाजिक रीति-रिवाज दंड का स्थान ले लेते हैं और व्यक्ति इन रीति-रिवाजों के कारण अनायास ही नैतिकता के अनुरूप आचरण करने लगता है। यह नैतिकता के विकास का दूसरा सोपान है जिसे प्रथम सोपान की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट माना जा सकता है। कालान्तर में इन सामाजिक रीति-रिवाजों के अनुसार बार-बार आचरण करते हुए व्यक्ति में नैतिक मूल्यों, मान्यताओं तथा नियमों को स्वीकार करने की बलवती इच्छा उत्पन्न हो जाती है जिसे 'अंतश्चेतना' कहा जाता है। तब व्यक्ति अपनी इस अंतश्चेतना से प्रेरित होकर ही नैतिकता के अनुसार आचरण करना अनिवार्य मानने लगता है और इसके लिए उसपर किसी प्रकार का दबाव डालने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह नैतिकता के विकास का अंतिम सोपान है जिसे सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है, क्योंकि इसमें व्यक्ति नैतिकता के अनुरूप आचरण करके आनंद का अनुभव करता है और नैतिकता उसके स्वभाव का अभिन्न अंग बन जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विकास की इस संपूर्ण प्रक्रिया में नैतिकता धीरे-धीरे बाह्योन्मुखी से अंतरोन्मुखी होती जाती है। परंतु यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि नीत्शे के मतानुसार मनुष्य की अंतश्चेतना ईश्वर की ध्वनि न होकर वास्तव में उस समाज की ही ध्वनि है जिसमें वह जन्म लेता है और अपना जीवन व्यतीत करता है। इसके अतिरिक्त नैतिकता के विकास की उपर्युक्त प्रक्रिया के विवेचन द्वारा उन्होंने यही प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि ऐसे नैतिक मूल्यों, नियमों तथा प्रतिमानों की कोई संभावना नहीं है जो शाश्वत और निरपेक्ष हों।

यद्यपि नीत्शे उपयोगितावाद के आधार पर नैतिकता के विकास की व्याख्या करते हैं, फिर भी वे समानता, स्वतंत्रता, न्याय आदि उन सभी नैतिक मूल्यों के घोर विरोधी हैं जो उपयोगितावादी नैतिकता के आधारभूत मूल्य माने जाते हैं। वे 'सभी मनुष्यों की समानता' और 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' — उपयोगितावाद के इन दोनों मूल सिद्धान्तों को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। नीत्शे का मत है कि मानव-समाज में दूसरों पर शासन करने वाले ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है जिनमें साहस, कठोरता, दृढ़ता, क्रूरता आदि प्रशंसनीय नैतिक गुण पाए जाते हैं। ऐसे साहसी और वीर शासकों को ही समस्त सुख भोगने का एकमात्र अधिकार है। अन्य सभी मनुष्य इन शासकों के अभिजात वर्ग के हित का साधन मात्र हैं। नैतिक दृष्टि से इन सामान्य मनुष्यों के सुख अथवा हित का कोई महत्त्व नहीं है। इन्हें शासकों के समान मानना और उनके साथ इनकी तुलना करना मूर्खता है। नीत्शे सामान्य मनुष्यों को प्रायः 'तुच्छ' तथा 'निकृष्ट' कहते हैं और यह मानते हैं कि अभिजात वर्गीय व्यक्तियों के सुख या हित के लिए उन्हें दुःख पहुँचाना उचित एवं वांछनीय है। उनका कथन है कि सभी मनुष्यों की समानता एवं स्वतंत्रता की बात करना नितांत अनुचित है, क्योंकि इससे मानव-समाज में कायर तथा दुर्बल व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ता है और अभिजातवर्गीय व्यक्तियों के महत्त्व में कमी होती है। साधारण मनुष्यों का सभी प्रकार से शोषण करना और उनपर अत्याचार करना शासकों का पूर्ण अधिकार है जिसे वे अपने साहस तथा शौर्य द्वारा प्राप्त करते हैं। अभिजातवर्गीय व्यक्तियों को स्वतंत्रता, समानता, न्याय आदि उन सभी लोकतंत्रीय मूल्यों के विरुद्ध संगठित रूप से संघर्ष करना चाहिए जिनके आधार पर सामान्य मनुष्य समान अधिकारों की माँग करते हैं और शासकों का विरोध करते हैं। इस संगठित प्रयास द्वारा ही शासक साधारण व्यक्तियों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर सकते हैं और उसे बनाए रख सकते हैं। इस प्रकार नीत्शे उन सभी लोकतंत्रीय मूल्यों को पूर्ण रूप से अस्वीकार करते हैं जिन्हें अधिकतर

विचारक मानव-समाज की सुख-समृद्धि, प्रगति एव शाति के लिए आवश्यक मानते रहे हैं और जो नैतिकता के आधारभूत मूल्य माने जाते हैं।

परपरागत नैतिक मूल्यो के स्थान पर नीत्शे उन मूल्यो की स्थापना करना चाहते है जिन्हे प्राय नैतिक दृष्टि से निकृष्ट तथा निदनीय समझा जाता रहा है। इन मूल्यो का मूल आधार शक्ति की इच्छा अथवा प्रभुत्व-प्राप्ति की आकाक्षा ही है। इसी आधार पर नीत्शे अभिजातवर्गीय व्यक्तियो तथा शासको की असहिष्णुता एव निर्दयता और उनके अन्याय, शोषण तथा अत्याचार का पूर्णतया समर्थन करते हैं। उनका मत है कि साधारण मनुष्यो पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से उन्हे कष्ट पहुँचाना शासको के लिए उचित और वाछनीय है। पीडा अथवा दु ख को अशुभ मान कर उससे दूर हटना तथा उसके निराकरण का प्रयास करना शक्ति की इच्छा की पूर्ति में बाधक है, अत नैतिक दृष्टि से इसे उचित नही माना जा सकता। कष्ट सहन करने के फलस्वरूप मनुष्य की इच्छा-शक्ति सुदृढ होती है जिसके द्वारा वह दूसरो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। इसी कारण दु ख को आवश्यक तथा शुभ मानते हुए नीत्शे कहते हैं कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति की परीक्षा उसके मार्ग मे आने वाली बाधाओं के प्रतिरोध और कष्ट सहन करने की उसकी क्षमता द्वारा ही की जा सकती है। ऐसी स्थिति मे दु ख को अवाछनीय मानकर उससे बचने का प्रयत्न करना नितात अनुचित है। नीत्शे के मतानुसार हमे यह आशा करनी चाहिए कि मनुष्य के जीवन मे दु ख की अधिकाधिक वृद्धि होगी और दु ख से परिपूर्ण उसका यह जीवन ही वास्तव मे नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट होगा। दुखी मनुष्यो पर दया करना और उनके दु ख को दूर करने का प्रयास करना केवल दुर्बलता है जिस पर शक्तिशाली व्यक्तियो को विजय प्राप्त करनी चाहिए। नीत्शे के शब्दों मे, "दु ख को देखने से मनुष्य का हित होता है, किसी को दु ख पहुँचाने से उसका और भी अधिक हित होता है—यह एक कठोर, किंतु मूल सिद्धात है जो प्राचीन, शक्तिशाली तथा पूर्णत मानवीय है ।"[1] नैतिक दृष्टि मे दु ख की वांछनीयता के विषय मे अपनी इसी मान्यता के कारण नीत्शे मनुष्यो मे होने वाले पारस्परिक व्यापक सघर्ष अथवा युद्ध को उचित मानते हैं और उसकी प्रशसा करते हैं। यदि वे इस शताब्दी मे होने वाले दो विश्व-युद्धों को देख सकते तो उन्हे निश्चय ही हार्दिक प्रसन्नता होती। इस प्रकार 'मूल्यों के मूल्यातरण' सबधी अपने सिद्धात के अनुसार नीत्शे समस्त परपरागत मूल्यो के विपरीत पीडा अथवा दु ख उत्पन्न करने वाले केवल उन्ही मूल्यो को नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट तथा वाछनीय मानते हैं जो शासको या अभिजातवर्गीय व्यक्तियो की शक्ति की इच्छा की पूर्ति में सहायक है।

अनेक विचारक नारी को स्नेह, दया, ममता एव त्याग का प्रतीक मानकर उसके प्रति अपना आदर व्यक्त करते रहे हैं और उसके इन्ही गुणो के कारण उसे समाज मे सर्वोच्च स्थान प्रदान करना आवश्यक मानते रहे है। परन्तु नीत्शे नारी के सबध मे इस दृष्टिकोण का तीव्र विरोध करते हैं। जैसा कि हम प्रथम खंड मे बता चुके है, उनके मन मे बाल्यकाल से ही नारी के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो गई थी जो आजीवन बनी रही। अपनी अनेक पुस्तकों मे उन्होंने नारी के प्रति इस उपेक्षा और घृणा को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ, अपनी पुस्तक, 'दस स्पेक जरथुस्त्रा' मे वे कहते है कि स्त्रियाँ मित्रता के योग्य नही होती, उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसे पशुओ के साथ किया जाता है। वे केवल पुरुषो के मनोरजन तथा सुख-भोग का साधन मात्र हैं। पुरुषो को युद्ध के लिए प्रशिक्षित किया जाना चाहिए और स्त्रियों को केवल उनके मनोरजन के लिए। इसी प्रकार अपनी एक अन्य पुस्तक, 'बियॉड गुड ऐंड ईविल' मे

---

1. एम सी बियर्डस्ले (सपादक) 'दि यूरोपियन फिलॉसॉफर्ज फ्रॉम डेकार्ट टु नीत्शे,' पृ 863

नीत्शे कहते हैं कि नारी को केवल सम्पत्ति अथवा मनोरंजन की वस्तु समझा जाना चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नारी के प्रति अपने इन तिरस्कारपूर्ण विचारों को नीत्शे स्वतः सिद्ध सत्य मान लेते हैं, वे इनके लिए कोई कारण या तर्क प्रस्तुत नहीं करते। वस्तुत उनके ये विचार नारी के प्रति उनके नितांत एकांगी तथा विकृत दृष्टिकोण के ही परिणाम हैं और इस दृष्टिकोण के मूल कारण उनके जीवन की कुछ मनोवैज्ञानिक समस्याएं है जिनका उल्लेख हम पिछले खंड में कर चुके हैं। इस प्रकार नारी के प्रति मानसिक विकृतियों से उत्पन्न नीत्शे के उक्त असंतुलित दृष्टिकोण का दार्शनिक दृष्टि से न तो कोई महत्त्व है और न औचित्य।

अभी तक हमने नैतिकता के स्वरूप के विषय में नीत्शे के परम्परा-विरोधी विचारों की विवेचना की है। अब नैतिकता के नवीन वर्गीकरण के संबंध में उनके मत पर विचार करना आवश्यक है। नीत्शे ने नैतिकता का जो वर्गीकरण किया है वह अन्य किसी विचारक के दर्शन में उपलब्ध नहीं होता। उनके अनुसार नैतिकता को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है — दासों की नैतिकता और प्रभुओं की नैतिकता जिन्हें हम संक्षेप में क्रमशः 'दास-नैतिकता' तथा 'प्रभु-नैतिकता' कह सकते हैं। अधिकतर मानवीय सभ्यताओं में ये दोनों प्रकार की नैतिकताएँ एक ही साथ पाई जाती हैं। इतना ही नहीं, एक व्यक्ति में भी ये दोनों नैतिकताएँ एक ही साथ विद्यमान हो सकती हैं। परंतु फिर भी नीत्शे का विचार है कि इन दोनों प्रकार की नैतिकताओं में स्पष्ट रूप से भेद करना आवश्यक है। अपनी दो पुस्तकों— 'बियॉंड गुड ऐंड ईविल' तथा 'दि जीनिएलॉजी ऑफ मारल्ज' — में उन्होंने इन दोनों नैतिकताओं के स्वरूप और इनमें विद्यमान अंतर का सविस्तार विवेचन किया है। नीत्शे परंपरागत नैतिक मूल्यों पर आधारित नैतिकता को ही 'दास-नैतिकता' की संज्ञा देते हैं। उनका कथन है कि इस नैतिकता के अंतर्गत केवल उन्हीं मूल्यों को महत्त्व दिया जाता है जो समाज में दुर्बलों अथवा शक्तिहीन व्यक्तियों का अस्तित्व बनाए रखने में सहायक होते हैं। स्नेह, सहयोग, सहानुभूति, सेवा, सहनशीलता, त्याग, परोपकार, दया, उदारता आदि गुणों का इस नैतिकता में बहुत महत्त्वपूर्ण सद्गुण माना जाता है जिनके कारण दुर्बल व्यक्ति अपने जीवन को सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं। यह नैतिकता अभिजात वर्ग के शक्तिशाली व्यक्तियों की निंदा करती है, क्योंकि वे दुर्बलों को हानि पहुँचाते है और उनके अस्तित्व के लिए भी खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। अपनी शक्ति तथा क्रूरता के कारण इन व्यक्तियों को इस नैतिकता में 'बुरे मनुष्य' माना जाता है। इस दास-नैतिकता को नीत्शे 'समूह-नैतिकता' भी कहते हैं, क्योंकि उनके विचार में इसका उद्देश्य समाज में दुर्बलों की रक्षा करना ही है। इस नैतिकता के समर्थक शक्तिशाली व्यक्तियों से भयभीत रहते हैं और इसी कारण वे यह चाहते है कि ये व्यक्ति भी उनके दुर्बलतापूर्ण मूल्यों को स्वीकार कर ले। इस प्रकार यह नैतिकता वास्तव में उपयोगितावादी नैतिकता है जो केवल दुर्बलों के लिए ही लाभदायक है। परम्परागत उपयोगितावादी मूल्यों को महत्त्व देने के कारण ही इस नैतिकता को नीत्शे निम्न कोटि की 'समूह-नैतिकता' मानते हैं जिसका शक्तिशाली व्यक्तियों के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

नीत्शे के मतानुसार प्रभु-नैतिकता उपर्युक्त दास-नैतिकता के ठीक विपरीत है। यह उन व्यक्तियों की नैतिकता है जो शक्तिशाली होने के कारण दूसरों पर शासन करते है और समाज में सदा अपना प्रभुत्व बनाए रखते हैं। साहस, कठोरता, दृढ़ता, अनुशासन, निर्दयता, अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि इस प्रभु-नैतिकता के आवश्यक मूल्य है जिनके द्वारा शासक और शक्तिशाली व्यक्ति साधारण मनुष्यों पर अपना अधिकार स्थापित करते हैं। इन परंपरा-विरोधी नैतिक मूल्यों को स्वयं करते हैं वे इन्हें किसी अन्य स्रोत से प्राप्त नहीं

करते। इन मूल्यों पर आधारित इस प्रभु-नैतिकता को नीत्शे 'अभिजात-नैतिकता' भी कहते हैं क्योंकि उनके विचार में यह नैतिकता अभिजातवर्गीय शक्तिशाली व्यक्तियों की नैतिकता है। दास-नैतिकता के विपरीत यह प्रभु-नैतिकता शक्ति की इच्छा रखने वाले शासकों तथा अभिजात-वर्गीय व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है। इन व्यक्तियों की शक्ति की इच्छा की पूर्ति में सहायक होने के कारण यही नैतिकता वास्तव में उत्कृष्ट नैतिकता है और इसकी तुलना में दास-नैतिकता बहुत निम्न कोटि की है जो मनुष्य के निकृष्ट जीवन का ही प्रतिनिधित्व करती है। दासों तथा दुर्बलों की नैतिकता के विपरीत शक्तिशाली व्यक्तियों की प्रभु-नैतिकता में न्याय, परोपकार, दया, सेवा, स्नेह, सहानुभूति, सहयोग, सहनशीलता आदि पारंपरिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि ये मूल्य शक्ति की इच्छा की पूर्ति में बाधक सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त प्रभु-नैतिकता के स्वरूप तथा इसके प्रमुख लक्षणों का वर्णन करते हुए नीत्शे कहते हैं कि "सभी अभिजात व्यक्तियों का यह मूल विश्वास है कि साधारण लोग भ्रष्ट होते हैं। उत्कृष्ट कोटि का व्यक्ति स्वयं अपने आप को मूल्यों का निर्माता समझता है, उसे किसी के अनुमोदन की आवश्यकता नहीं होती। वह यह निर्णय करता है कि 'जो मेरे लिए हानिकारक है वही वास्तव में हानिकारक है'। वह स्वयं मूल्यों का निर्माता है। वह उन सभी गुणों का सम्मान करता है जो स्वयं उसमें विद्यमान हैं। यह नैतिकता आत्म-प्रशंसा की नैतिकता है। उत्कृष्ट व्यक्ति भी अभागे लोगों की सहायता करता है, किन्तु वह दया से प्रेरित होकर नहीं, अपितु अपनी शक्ति की अधिकता से उत्पन्न मनोवृत्ति के कारण ही ऐसा करता है। उत्कृष्ट व्यक्ति अपनी शक्ति का सम्मान करता है और वह अपनी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली व्यक्ति का भी सम्मान करता है। वह कठोरता तथा कष्ट सहन करने में आनंद का अनुभव करता है और उसका सम्मान करता है जो कठोर एवं कष्टदायक है। दास-नैतिकता के अनुसार 'बुरा मनुष्य' भय उत्पन्न करता है किन्तु प्रभु-नैतिकता के अनुसार 'अच्छा मनुष्य' भय उत्पन्न करता है और वह ऐसा करना चाहता है जब कि बुरे मनुष्य को घृणास्पद प्राणी माना जाता है"।[1] यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त उद्धरण में उत्कृष्ट व्यक्ति तथा अच्छे मनुष्य से नीत्शे का तात्पर्य शक्तिशाली व्यक्ति से है और उनके मतानुसार बुरा मनुष्य वह है जो दुर्बल अथवा शक्तिहीन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नीत्शे दास-नैतिकता को निकृष्ट और प्रभु-नैतिकता को उत्कृष्ट नैतिकता मानते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की नैतिकताओं के पारस्परिक संबंध की विवेचना करते हुए नीत्शे कहते हैं कि बहुत प्राचीन काल से ही इन दोनों में निरन्तर संघर्ष होता रहा है। दास-नैतिकता के समर्थक संख्या में बहुत अधिक हैं, अतः वे अपने नैतिक मूल्यों को सार्वभौम मानकर प्रभु-नैतिकता के समर्थक शक्तिशाली व्यक्तियों पर उन्हें थोपने का प्रयास करते हैं। नीत्शे का मत है कि दुर्बल व्यक्तियों के इस प्रयास को विफल करना आवश्यक है, क्योंकि प्रभु-नैतिकता ही उत्कृष्ट नैतिकता है और इसी के फलस्वरूप अंततः अतिमानव का जन्म हो सकता है जो मानवता के विकास की अंतिम परिणति है। दास-नैतिकता के समर्थक अपने नैतिक मूल्यों के अनुसार आचरण कर सकते हैं और उन्हें ऐसा करना भी चाहिए। इसका कारण यह है कि ये दुर्बल मनुष्य प्रभु-नैतिकता के मूल्यों के अनुरूप आचरण करने में नितांत असमर्थ हैं। परन्तु उन्हें अपने निकृष्ट मूल्यों को प्रभु-नैतिकता के समर्थकों पर थोपने का कोई अधिकार नहीं है। शक्तिशाली व्यक्तियों को दास-नैतिकता के मूल्यों का दृढ़तापूर्वक विरोध करना चाहिए और इन मूल्यों को पूर्ण रूप से अस्वीकार करना चाहिए। नीत्शे का कथन है कि ईसाई धर्म, लोकतंत्र तथा समाजवाद

[1] वही पुस्तक, पृ. 845-846

दास-नैतिकता के मूल्यों के विकास और प्रसार में सहायक होते हैं, अत प्रभु-नैतिकता के समर्थकों के लिए इनका विरोध करना बहुत आवश्यक है। इसी कारण उन्होंने इन तीनों को प्रभु-नैतिकता के विकास में बाधक मानकर इन्हें पूर्णतया अस्वीकार किया है। परंतु नीत्शे सामान्य मनुष्यों के लिए दास-नैतिकता के मूल्यों के अनुरूप आचरण करना आवश्यक मानते हैं जिससे शक्तिशाली अभिजातवर्गीय व्यक्ति तथा शासक उन पर अपना वर्चस्व स्थापित कर सकें और उसे बनाए रख सकें। उनके मतानुसार साधारण लोगों को शक्तिशाली व्यक्तियों की आज्ञा में रहकर उनकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि यही दास-नैतिकता का मूल आधार है। इस प्रकार नीत्शे साधारण मनुष्यों के लिए दास-नैतिकता को और शक्तिशाली व्यक्तियों के लिए प्रभु-नैतिकता को अनिवार्य मानते है।

3. शक्ति की इच्छा और अतिमानव का सिद्धांत

पिछले खंड में हम इस तथ्य की चर्चा कर चुके हैं कि नीत्शे के दर्शन में शक्ति की इच्छा का विशेष महत्त्व है। अब इस प्रश्न पर कुछ विस्तार में विचार करना आवश्यक है कि 'शक्ति की इच्छा' से उनका क्या तात्पर्य है। सामान्यत यह माना जाता है कि शक्ति की इच्छा मनुष्य की एक मनोवृत्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति में अन्य अनेक मनोवृत्तियों के साथ-साथ कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाई जाती है। परंतु नीत्शे 'शक्ति की इच्छा' को इस सामान्य अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण करते है। इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि शक्ति की इच्छा मनुष्य की कभी न तृप्त होने वाली ऐसी आतरिक इच्छा है जो सृजनात्मक प्रवृत्ति के रूप में शक्ति की अभिव्यक्ति और व्यावहारिक जीवन में उसके प्रयोग के माध्यम से व्यक्त होती है। प्रत्येक प्राणी की समस्त प्रवृत्तियों तथा क्रियाओं का मूल स्रोत यह शक्ति की इच्छा ही है।[4] नीत्शे इस शक्ति की इच्छा को जीवित रहने की इच्छा की अपेक्षा भी कहीं अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक प्राणी में पाई जाने वाली आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति वस्तुत इसी शक्ति की इच्छा का परिणाम मात्र है। जीवन स्वयं ही शक्ति की इच्छा है, अत प्रत्येक प्राणी के जीवन में इसी का स्थान सर्वोपरि है।[5]

नीत्शे संसार में इस शक्ति की इच्छा को ही सर्वत्र व्याप्त मानते है। उनका मत है कि हम संसार में प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक वस्तु में इस शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति को देख सकते है। मनुष्य का संपूर्ण ज्ञान इसी शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति और वृद्धि का साधन है। वह प्राकृतिक शक्तियों तथा सांसारिक वस्तुओं पर अपना स्वामित्व स्थापित करने और स्वयं अपने हित के लिए उनका प्रयोग करने के उद्देश्य से ही ज्ञान प्राप्त करता है। केवल सत्य के अनुसंधान की जिज्ञासा से प्रेरित होकर ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का उद्देश्य नहीं होता। ज्ञान की भाँति संसार की अन्य सभी वस्तुओं को भी नीत्शे मानव की शक्ति की इच्छा का साधन मात्र मानते है। इस शक्ति की इच्छा के सर्वाधिक महत्त्व तथा इसकी सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि "यह संसार शक्ति की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, आप स्वयं भी इस शक्ति की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है"[6]। हम पिछले खंड में देख चुके हैं कि नीत्शे के मतानुसार यह शक्ति की इच्छा ही प्रभु-नैतिकता का मूल आधार है, अत इस नैतिकता के अनुरूप आचरण करने वाले

4 वही पुस्तक, पृ 852

5 वही पुस्तक, पृ 813

वही पुस्तक, पृ

अभिजातवर्गीय व्यक्ति अपनी इसी शक्ति की इच्छा के कारण साधारण लोगों पर प्रभुत्व स्थापित करते हैं और उसे बनाए रखने में सफल होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शक्ति की इच्छा का सिद्धांत नीत्शे के दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नीत्शे संपूर्ण मानवीय आचरण की व्याख्या भी शक्ति की इच्छा के सिद्धांत के आधार पर ही करते हैं। वे सुखवादियों के इस मत का खंडन करते हैं कि सुख-प्राप्ति और दु:ख-निवृत्ति ही समस्त मानवीय कर्मों की मूल अभिप्रेरणाएँ हैं। इसके विपरीत उनका विचार है कि मनुष्य वास्तव में शक्ति की इच्छा से प्रेरित होकर ही सभी कर्म करता है और यही उसके सुख-दु:ख का भी आधार है। जिस कर्म के द्वारा मनुष्य की शक्ति की इच्छा पूरी होती है उससे उसे सुख प्राप्त होता है और जिस कर्म के फलस्वरूप उसकी इस इच्छा में बाधा पड़ती है वह उसके दु:ख का कारण बनता है। इस प्रकार अन्ततः शक्ति की इच्छा ही मनुष्य के सुख-दु:ख को निर्धारित करती है। नीत्शे सुखवादियों के इस मत का भी विरोध करते हैं कि केवल सुख अपने आप में शुभ और दु:ख अपने आप में अशुभ है। उनका कथन है कि दु:ख शक्ति की इच्छा की पूर्ति में आने वाली बाधाओं के निराकरण के लिए मनुष्य को प्रेरित करता है, अतः वह शुभ है। दु:ख के कारण ही मनुष्य उन कठिनाइयों तथा बाधाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है जो इस दु:ख को जन्म देती हैं। ऐसी स्थिति में दु:ख को अशुभ मानना मूर्खता है। इस प्रकार नीत्शे सुखवाद का खंडन करते हुए ऐसे दु:ख को शुभ मानते हैं जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शक्ति की इच्छा की पूर्ति में मनुष्य के लिए सहायक होता है।

जैसा कि हम पिछले खंड में संकेत कर चुके हैं, नीत्शे के मतानुसार इस पृथ्वी पर मनुष्य के विकास की चरम परिणति अतिमानव है जिसके प्रादुर्भाव के लिए यथासंभव अधिकतम प्रयास किया जाना चाहिए। यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि 'अतिमानव' से उनका क्या तात्पर्य है और इस मानव का जन्म तथा विकास किस प्रकार हो सकता है। इस संबंध में सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब नीत्शे अतिमानव के विकास की बात करते हैं तो इसमें उनका तात्पर्य किसी एक व्यक्ति से न हो कर विशेष प्रकार के मानवों की जाति से है जो इस संपूर्ण पृथ्वी पर शासन करेगी और जो वर्तमान मानव-जाति से बहुत भिन्न होगी। इस विशेष जाति के व्यक्तियों—अर्थात अतिमानवों—का नीत्शे पृथ्वी के भावी स्वामी कहते हैं। 'पृथ्वी के शासकों की यह जाति संपूर्ण संसार में विद्यमान होगी, अतः इसे नीत्शे ने 'अन्तर्राष्ट्रीय शासक जाति' भी कहा है।[7] उनके विचार में इस जाति का प्रत्येक सदस्य सभी दृष्टियों से वर्तमान मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट होगा, अतः उसके लिए 'मानव' के स्थान पर 'अतिमानव' शब्द का प्रयोग करना ही उपयुक्त होगा। इस अतिमानव में वे सभी शारीरिक तथा मानसिक गुण होंगे जो शक्ति की इच्छा की पूर्ति में सहायक हैं और जिनके द्वारा साधारण मनुष्यों पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। यह अतिमानव अत्यंत शक्तिशाली, कठोर, निर्दय, साहसी, स्वाभिमानी, बलवान, निर्भीक, तेजस्वी, प्रतिभासंपन्न तथा बुद्धिमान होगा और अपनी शारीरिक शक्ति एवं बौद्धिक क्षमता द्वारा सामान्य मनुष्यों पर शासन करेगा जो उसकी शक्ति की इच्छा की पूर्ति में पूर्ण रूप से सहायक होंगे। वस्तुतः इसे ही नीत्शे 'मूल्यों का मूल्यांतरण' कहते हैं जो उनके अनुसार अतिमानव के प्रादुर्भाव के लिए अनिवार्य है।

अपनी अनेक कृतियों में नीत्शे ने इस अतिमानव के स्वरूप का सविस्तार वर्णन किया है। वे

7 वही पुस्तक, पृ. 857

यह स्वीकार करते हैं कि अभी तक इस पृथ्वी पर अतिमानव का जन्म नहीं हुआ है, किंतु उनका मत है कि ऐसे मानव का आविर्भाव संभव है और हम सबको इसके लिए अधिकाधिक प्रयास करना चाहिए। यह अतिमानव ही सृष्टि के संपूर्ण विकास का एकमात्र अंतिम लक्ष्य है। अपनी पुस्तक 'बियॉंड गुड ऐंड ईविल' में इस अतिमानव के स्वभाव तथा गुणों का वर्णन करते हुए नीत्शे कहते हैं कि वह अत्युत्कृष्ट व्यक्ति होगा, वह दूसरों से बिल्कुल भिन्न होगा और अकेले ही सभी कठिनाइयों का सामना करेगा, उसमें स्वतंत्र रूप से निर्णय करने की क्षमता होगी, वह इस सिद्धांत को स्वीकार करेगा कि जो बिल्कुल अकेला रह सकता है, जो सभी परंपराओं को तोड़ सकता है, जो शुभ-अशुभ से परे है, जो अपने मूल्यों का निर्माण स्वयं करता है और जिसमें सुदृढ़ इच्छा-शक्ति है वही सर्वाधिक महान है।[8] नीत्शे का मत है कि साधारण मनुष्य इस अतिमानव के दास होंगे और उन्हें उसके हित के लिए स्वयं अपने हितों का त्याग करना होगा। इस अतिमानव के आविर्भाव तथा विकास के लिए मूल्यों का मूल्यांतरण—अर्थात समस्त प्रचलित नैतिक मूल्यों में आमूल परिवर्तन—अनिवार्य होगा। इसके लिए मनुष्य को उन सब प्रवृत्तियों के अनुरूप आचरण करने की पूर्ण स्वतंत्रता देनी होगी जो उसकी शक्ति की इच्छा से संबंधित हैं और जिन पर अभी तक प्रतिबंध लगा हुआ है। इन प्रवृत्तियों की निंदा करने के स्थान पर इन्हें विशेष महत्त्व देना होगा और इनके विकास के लिए अधिकतम प्रयास करना होगा, क्योंकि अंततः ये प्रवृत्तियाँ ही शक्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए अतिमानव के संघर्ष में सहायक हो सकती हैं। इन प्रवृत्तियों को सर्वाधिक महत्त्व दे कर ही हम विकास के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं जो वर्तमान मानव-जाति को जीवित रखना नहीं, अपितु साहसी, बलवान, कठोर, संघर्षशील, अनुशासनप्रिय, प्रतिभासंपन्न तथा शक्ति की इच्छा से परिपूर्ण अतिमानव का आविर्भाव ही है।[9]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डार्विन के विकासवाद में संशोधन करते हुए नीत्शे ने जीवन के लिए संघर्ष के स्थान पर शक्ति के लिए संघर्ष को ही अनिवार्य माना है, क्योंकि उनके विचार में शक्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए सतत संघर्ष द्वारा ही अंततः अतिमानव का जन्म और विकास हो सकता है। वे इस अतिमानव में उन सभी गुणों के एक ही साथ सम्मिलित होने की कल्पना करते हैं जिनका संबंध मनुष्य की शारीरिक शक्ति, बौद्धिक क्षमता और चारित्रिक दृढ़ता से है। उनका कथन है कि अतिमानव में ये गुण अधिकतम विकसित रूप में विद्यमान होंगे। उदाहरणार्थ, वह एक ही साथ नेपोलियन के समान वीर तथा गेटे के समान प्रतिभाशाली होगा। वर्तमान मानव उसके समक्ष उसी प्रकार तुच्छ होगा जिस प्रकार आज एक पशु मनुष्य के समक्ष निकृष्ट या तुच्छ प्रतीत होता है। वर्तमान मानव-जाति ऐसे अतिमानव तक पहुँचने का साधन मात्र है। इस अतिमानव को संसार का उत्कृष्टतम प्राणी मानते हुए नीत्शे कहते हैं कि "अतिमानव ही पृथ्वी की सार्थकता है। अपनी इच्छा को कहने दो कि अतिमानव को ही अनिवार्यतः पृथ्वी की सार्थकता होना है"।[10] इस प्रकार नीत्शे के संपूर्ण दर्शन का केंद्र शक्ति की इच्छा का साकार रूप यह कल्पित अतिमानव ही है। कोपल्स्टन के शब्दों में, "अतिमानव वह सब कुछ है जो रोगी, एकाकी, पीड़ित, उपेक्षित प्रोफेसर डॉक्टर फ्रैड्रिक नीत्शे बनना चाहेगा"।[11]

---

8 वही पुस्तक, पृ. 84।
9 वही पुस्तक, पृ. 85।
10 के. श्लैक्टा (संपादक) 'नीत्शेज वर्क्स' खंड 2, पृ. 280
फ्रैड्रिक ... 'ए हिस्ट्री ऑफ ...' खंड ... भाग 2 पृ. 88

4. ईसाई धर्म और ईश्वरवाद का खंडन

पिछले खंडों में हम देख चुके हैं कि नीत्शे ऐसे सभी मूल्यों तथा सिद्धांतों को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं जो शक्ति की इच्छा की पूर्ति और अतिमानव के आविर्भाव में बाधक हैं। इसी कारण उन्होंने ईसाई धर्म तथा ईश्वरवाद की तीव्र आलोचना की है। अपनी पुस्तक, 'ऐन्टी-क्राइस्ट' में नीत्शे ने ईसाई धर्म के सभी मूल सिद्धांतों और विश्वासों का खंडन किया है। उनका कथन है कि ईसाई धर्म दया, त्याग, सेवा, सहिष्णुता, परोपकार, न्याय, समानता आदि उन मूल्यों को ही प्रोत्साहित करता है जो दुर्बल व्यक्तियों के मूल्य हैं और जिनके कारण मनुष्य की शक्ति की इच्छा की पूर्ति में बाधा उपस्थित होती है। यदि शक्तिशाली व्यक्ति इन मूल्यों को स्वीकार कर लें तो वे भी दुर्बलों की भाँति कायर तथा शक्तिहीन हो जाएँगे और उनमें विद्यमान शक्ति की इच्छा समाप्त हो जाएगी जो अतिमानव के प्रादुर्भाव के लिए अनिवार्य है। ईसाई धर्म सभी मनुष्यों की समानता के सिद्धांत का प्रचार करके दुर्बलों को भी शक्तिशाली व्यक्तियों के समान अधिकार देता है और इस प्रकार वह निम्न कोटि की दास-नैतिकता को ही प्रोत्साहित करता है। यह धर्म प्रभु-नैतिकता के विकास में सबसे बड़ी बाधा है, क्योंकि यह उन सभी मूल्यों की निंदा करता है जो इस नैतिकता के मूल्य हैं। इन मूल्यों का विरोध तथा दास-नैतिकता के मूल्यों का समर्थन करके ईसाई धर्म अतिमानव के अस्तित्व की संभावना को ही सदा के लिए समाप्त कर देता है। ऐसी स्थिति में उन सभी व्यक्तियों के लिए इस धर्म का तीव्र विरोध करना आवश्यक है जो शक्तिशाली हैं और जो इस पृथ्वी पर अतिमानव के आविर्भाव तथा विकास के इच्छुक हैं।

ईसाई धर्म के विरुद्ध नीत्शे का एक मुख्य आरोप यह भी है कि यह धर्म मूलतः परलोकोन्मुखी है, अतः यह मनुष्य को इस वास्तविक संसार की चिंता करने के स्थान पर काल्पनिक परलोक की चिंता करने के लिए ही प्रेरित करता है। समस्त भौतिक मूल्यों तथा शारीरिक सुखों का निषेध करके यह धर्म मनुष्य को जीवन के वास्तविक आनंद से वंचित कर देता है। ईसाई धर्म मानव को सुख भोगने तथा शक्ति की इच्छा की पूर्ति के लिए प्रोत्साहित न करके उसे वैरागी, कायर, डरपोक और दुर्बल बनाता है। अपनी इसी मान्यता के कारण नीत्शे यह कहते हैं कि ईसाई धर्म के सिद्धांत केवल निकृष्ट तथा मिथ्या ही नहीं, अपितु मानव-समाज के लिए अत्यंत हानिकारक भी हैं इस धर्म के मूल्य संपूर्ण पाश्चात्य समाज को दुर्बल, अंधविश्वासी तथा पलायनवादी बना रहे हैं। मुख्यतः इसी आधार पर नीत्शे ईसाई धर्म का विरोध करते हैं। इस धर्म के कुछ आधारभूत मूल्यों तथा सिद्धांतों की तीव्र आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि "मूलतः ईसाई धर्म ने ही सभी के समान अधिकारों के सिद्धांत का विष सब से अधिक फैलाया है। . ईसाई धर्म ने सम्मान की भावना तथा एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच में पाई जाने वाली दूरी की भावना के विरुद्ध आमरण युद्ध छेड़ दिया है। आज किसी व्यक्ति में स्वामियों या मालिकों के विशेषाधिकारों तथा स्वयं अपने और अपने साथियों के सम्मान के लिए साहस शेष नहीं रह गया है। साहस की इस कमी के कारण हमारी राजनीति रुग्ण हो गई है। . ईसाई धर्म के मूल में रुग्ण व्यक्तियों की वह कटुता है जो सभी स्वस्थ व्यक्तियों तथा स्वयं स्वास्थ्य पर आक्रमण करती है। ईसाई धर्म अभी तक मानव-जाति के लिए सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है"।[12] उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि नीत्शे ईसाई धर्म के सभी मूल सिद्धांतों तथा विश्वासों का खंडन करते हैं।

---

12 एम सी बियर्ड्स्ले, संपादक, दि यूरोपियन फिलॉसॉफी फ्रॉम डेकार्ट टु नीत्शे, पृ 863-865

यह सर्वविदित तथ्य है कि ईश्वर सम्बधी विश्वास ईसाई धर्म का आधारभूत विश्वास है, अत नीत्शे इस विश्वास को भी पूर्ण रूप से अस्वीकार करते हैं। अपनी पुस्तक, 'जॉएफुल विज्डम' में वे स्पष्ट कहते हैं कि ईश्वर मर चुका है और उसके अस्तित्व मे विश्वास करना नितांत अनुचित है। ईश्वर विषयक यह विश्वास मानव-समाज के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ है। इस विश्वास ने मनुष्य को जीवन के वास्तविक आनद से वंचित कर दिया है, क्योंकि इसके कारण जीवन और जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण पूर्णत नकारात्मक हो गया है। वह इस ससार मे अपने वर्तमान सुख की चिता करने के स्थान पर काल्पनिक परलोक मे मिथ्या स्वर्ग-सुख की चिता करने लगा है। इसके अतिरिक्त ईश्वर सबधी विश्वास ने मनुष्य की आत्म-निर्भरता और स्वतंत्र चितन-शक्ति को भी समाप्त कर दिया है। वह अपने आपको पूर्णत शक्तिहीन, निकृष्ट और तुच्छ मानकर अपनी सभी आवश्यकताओ के लिए केवल ईश्वर पर ही निर्भर रहने लगा है। इस प्रकार नीत्शे का निश्चित मत है कि ईश्वर विषयक विश्वास मानव-जीवन के लिए अत्यत घातक है। इस विश्वास से मुक्त हो कर ही मनुष्य सुखमय तथा सार्थक जीवन व्यतीत कर सकता है और अपनी रचनात्मक शक्तियो का समुचित उपयोग कर के इस ससार को अधिक सुदर बना सकता है। जब मनुष्य इस मिथ्या विश्वास का परित्याग कर देगा तभी वह अपनी शारीरिक एव बौद्धिक क्षमताओं को भलीभाँति जान पाएगा और इस प्रकार आत्मनिर्भर हो सकेगा। तब उसे काल्पनिक ईश्वर के आदेशो की चिता नहीं होगी और वह निर्भय होकर स्वतत्रतापूर्वक अपने जीवन तथा जगत् की समस्याओ पर विचार कर सकेगा।

इसके अतिरिक्त नीत्शे के मतानुसार शक्तिशाली अतिमानव के आविर्भाव तथा विकास के लिए भी ईश्वर सबधी विश्वास का परित्याग करना अनिवार्य है, क्योंकि यह विश्वास मनुष्य को दुर्बल और परलोकोन्मुखी बना देता है। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने वाला समाज कभी भी अतिमानव को जन्म नही दे सकता। काल्पनिक ईश्वर पर अपनी निर्भरता पूर्णत समाप्त करके ही हम अतिमानव के प्रादुर्भाव मे समर्थ हो सकते हैं। ईश्वर विषयक विश्वास के सबध मे नीत्शे के इन विचारो से यह स्पष्ट है कि वे पूर्णतः निरीश्वरवादी थे। वस्तुत इस निरीश्वरवाद के फलस्वरूप वे अपने भीतर एक विशेष प्रकार की शक्ति का अनुभव करते थे—एक ऐसी शक्ति जो मनुष्य को आत्मनिर्भर बनाती है और जिसके कारण वह किसी अलौकिक सत्ता का आधार लेना अनावश्यक तथा व्यर्थ समझता है। इस प्रकार ईसाई धर्म के खडन के साथ-साथ निरीश्वरवाद भी नीत्शे के दर्शन की प्रमुख विशेषता है।

ईश्वर विषयक विश्वास के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता और अमरता से सबंधित विश्वास को भी नीत्शे पूर्णत अस्वीकार करते हैं। वे इस विश्वास को भी मिथ्या और मानव-समाज के लिए हानिकारक मानते हैं। इसका कारण यह है कि उनके विचार में आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास भी मनुष्य को इस वास्तविक जगत् से विरक्त करके उसे परलोकोन्मुखी बना देता है। इसके अतिरिक्त यह विश्वास सभी मनुष्यो की समानता के सिद्धांत को भी प्रश्रय देता है जो नीत्शे को पूर्णत अमान्य है। ऐसी स्थिति मे इस विश्वास का खडन करना उनके लिए स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। आत्मा की अमरता से सबंधित विश्वास के विरुद्ध अपना मत नीत्शे ने निम्नलिखित उद्धरण मे इस प्रकार स्पष्ट किया है "यह विश्वास कि आत्मा अनश्वर, शाश्वत और अविभाज्य है विज्ञान से निकाल दिया जाना चाहिए। वैयक्तिक अमरता संबंधी झूठ सपूर्ण तर्क तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नष्ट कर देता है।. . सभी व्यक्तियों को समान रूप से अमरता का अधिकार देना अभी तक उत्कृष्ट मानवता की हत्या का सब से बड़ा तथा सर्वाधिक अहितकर

प्रयास रहा है"।[13] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नीत्शे ईश्वर विषयक विश्वास के समान ही आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास को भी मानव-समाज के लिए घातक मानते हैं और इसी कारण वे ईसाई धर्म के इन दोनो आधारभूत विश्वासों का खडन करते हैं।

इस खंड को समाप्त करने से पूर्व यहाँ नीत्शे के एक तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है जिसे वे 'शाश्वत आवर्तन का सिद्धांत' कहते हैं। जैसा कि इस सिद्धात के नाम से ही स्पष्ट है, यह ब्रह्माड मे किसी प्रकार की नवीनता को स्वीकार न करके केवल निरतर आवर्तन के आधार पर उसकी व्याख्या करता है। इस सिद्धात के अनुसार आज जगत् मे जो कुछ हो रहा है वही अनत काल से होता रहा है और भविष्य मे भी अनत काल तक होता रहेगा। हम व्यक्ति, समाज तथा प्रकृति मे जिन छोटी-बडी एव सुखद-दुखद घटनाओं को घटित होते हुए देख रहे हैं ठीक वे ही घटनाएँ अनत काल से घटित होती रही हैं और भविष्य में भी अनंत काल तक निरतर घटित होती रहेगी। इस स्थिति मे किसी प्रकार के परिवर्तन की कोई सभावना नहीं है। यह ब्रह्माड गाडी अथवा यत्र के पहिये के समान है जो निरतर एक ही स्थिति में और एक जैसी गति से चक्कर काटता रहता है। इसमे ऐसा कुछ भी घटित नहीं हो सकता जो नवीन या अभूतपूर्व हो। शाश्वत आवर्तन का यह सिद्धात ब्रह्माड की सभी घटनाओ तथा वस्तुओ पर लागू होता है जिनमें समस्त प्राणी भी सम्मिलित हैं। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान समय मे एक मनुष्य या कोई अन्य प्राणी जो सुख-दु ख भोग रहा है वही सुख-दु ख वह अनंत काल से भोगता आ रहा है और भविष्य मे भी अनत काल तक भोगता रहेगा, उसकी इस स्थित में कभी कोई अतर नहीं आ सकता। ब्रह्माड मे शाश्वत आवर्तन के इस सिद्धांत का प्रतिपादन नीत्शे ने सर्वप्रथम 1881 में किया था जिसे उन्होंने अपने जीवन के लिए शक्ति देने वाली एक प्रबल प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया। यद्यपि यह सिद्धात उनके दुःखपूर्ण जीवन के लिए अत्यत निराशाजनक था, फिर भी उन्होंने इसे अपनी इच्छा-शक्ति की परीक्षा के रूप में स्वीकार किया। इस सिद्धांत को स्वीकार करके वे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि स्वय उनके जीवन में अनत काल तक घोर दु.ख की अनिवार्यता के होते हुए भी वे इस जीवन को मूल्यवान मानते हैं और उसके प्रति उनका दृष्टिकोण नकारात्मक न होकर सकारात्मक ही है। इस प्रकार वे यह मानते थे कि शाश्वत आवर्तन के सिद्धांत को स्वीकार करना उनकी प्रबल आतरिक इच्छा-शक्ति का द्योतक है जो उन्हें अपने जीवन मे निरतर विजयी होने के लिए प्रेरित करती है। यही कारण है कि वे इसे दार्शनिक सिद्धात मात्र न मानकर अपनी आतरिक इच्छा-शक्ति की परीक्षा की कसौटी मानते थे।

शाश्वत आवर्तन के उपर्युक्त सिद्धात का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हुए नीत्शे कहते हैं कि शक्ति के सरक्षण का नियम आवर्तन की माँग करता है। इस ब्रह्मांड में परमाणुओ की सख्या सीमित है जो अनत काल तक विभिन्न वस्तुओं के रूप मे संगठित होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में इन परमाणुओ के सयोग से निर्मित रूप असीम नहीं हो सकते, उनकी सख्या का सीमित होना अनिवार्य है। ब्रह्मांड मे विद्यमान परमाणुओं के विभिन्न सयोगों से निर्मित ये सीमित रूप ही अनत काल तक निरतर चक्कर लगाते रहते हैं और इस प्रक्रिया में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता।[14] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नीत्शे के मतानुसार शाश्वत आवर्तन का यह सिद्धात उनके निरीश्वरवाद की भी पुष्टि करता है। यदि हम यह मान लें कि ब्रह्मांड में वस्तुओं के नवीन रूप निरंतर उत्पन्न होते

13 वही पुस्तक पृ 812 863।

4 के जैस्पर्स नीत्शाज फिलॉसफी खंड 3 पृ 704

रहते हैं तो इन नवीन रूपो के सृजन के लिए हमें ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना पडेगा। शाश्वत आवर्तन का सिद्धात ब्रह्माड में नवीन रूपों के सृजन की सभावना का निषेध करके ईश्वर की आवश्यकता को ही समाप्त कर देता है। इसी प्रकार यह सिद्धात अभौतिक आत्मा तथा परलोक के अस्तित्व का भी निषेध करता है। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि शाश्वत आवर्तन का यह सिद्धांत नीत्शे के अतिमानव सबधी सिद्धांत के विरुद्ध है। परंतु इस सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति युक्तिसंगत प्रतीत नही होती, क्योंकि सैद्धातिक दृष्टि से ब्रह्मांड में शाश्वत आवर्तन के अंतर्गत अतिमानव की आवृत्ति भी बार-बार होती रह सकती है। स्पष्ट है कि शाश्वत आवर्तन का सिद्धात अतिमानव के प्रादुर्भाव और विकास में बाधक सिद्ध नही होता। इस प्रकार नीत्शे के इन दोनों सिद्धातों मे कोई तार्किक विरोध नहीं है।

5. मूल्यांकन

पिछले खंडों मे हमने नैतिकता, धर्म, ईश्वरवाद, आत्मा की अमरता और ब्रह्मांड के स्वरूप से सबंधित नीत्शे के कुछ प्रमुख सिद्धातों की व्याख्या की है। अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उनके ये सिद्धांत कहाँ तक सत्य, युक्तिसगत, उपादेय तथा वांछनीय हैं। सर्वप्रथम नीत्शे के समर्थन मे यह कहा जा सकता है कि नैतिकता और धर्म के विषय में उनकी कुछ मान्यताओं में आंशिक सत्य विद्यमान है। उदाहरणार्थ, उन्होने मनुष्य की बौद्धिक क्षमता तथा उसके साहस, बल, स्वाभिमान, सयम, अनुशासन आदि गुणो को जो महत्त्व दिया है वह अवश्य ही उचित है। ये सभी गुण व्यक्ति और समाज दोनो के समुचित विकास में निश्चय ही बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति उपयुक्त अवसर पर तथा उचित मात्रा मे अपने इन गुणो का प्रयोग करे तो वह इनके द्वारा स्वयं अपनी और समाज की उन्नति कर सकता है। अन्य नैतिक सद्गुणों के साथ-साथ इन गुणों का भी मानव के सर्वांगीण विकास के लिए बहुत महत्त्व है। इस दृष्टि से इन मानवीय गुणो की उपादेयता निर्विवाद है। इन गुणो के अतिरिक्त मनुष्य की शक्ति की इच्छा के सबध मे नीत्शे ने जो कुछ कहा है वह भी अशत अवश्य ही सत्य है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में शक्ति की इच्छा के महत्त्व और समाज पर पड़ने वाले इसके व्यापक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य अपने जीवन मे अनेक कर्म शक्ति की इच्छा से प्रेरित होकर ही करता है और आधुनिक ससार में सभी शक्तिशाली राष्ट्रों की राजनीति का एक आधार यह शक्ति की इच्छा ही है। मानव-जीवन मे शक्ति की इच्छा के इस व्यापक प्रभाव को स्वीकार करते हुए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ऐल्फ्रेड ऐड्लर ने इसे जीवन की सर्वाधिक क्रियान्मिका शक्ति माना है। यह कहना सभवत अनुचित न होगा कि शक्ति की इच्छा से सबंधित ऐड्लर के इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान पर नीत्शे के विचारो का कुछ सीमा तक प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पडा है। इसी प्रकार सर्वप्रथम नीत्शे ने ही मनुष्य की मनोवृत्तियो के उदात्तीकरण का वह विचार प्रस्तुत किया था जिसे बाद में सिगमड फ्रॉयड ने अपने मनोविश्लेषणवाद मे विशेष महत्त्व दिया। स्पष्ट है कि आधुनिक मनोविज्ञान पर नीत्शे के विचारो का कुछ प्रभाव अवश्य पडा है।

इस वैचारिक प्रभाव के अतिरिक्त नीत्शे ने मानव-समाज मे सतत सघर्ष तथा महायुद्धों की जो भविष्यवाणी की थी वह भी वर्तमान शताब्दी में सत्य प्रमाणित हुई है। उन्होंने कहा था कि "इस पृथ्वी पर ऐसे युद्ध होगे जो पहले कभी नही हुए थे"।[15] इससे यह स्पष्ट है कि विश्व की राजनीति के

15 वही पुस्तक खंड 2, पृ. 1153

संबध मे नीत्शे का दृष्टिकोण अपने उन समकालीन विचारको के दृष्टिकोण की अपेक्षा कही अधिक यथार्थवादी था जो उस समय मानव-समाज की प्रगति और विश्व-शांति की भविष्यवाणी कर रहे थे। यह निश्चय ही नीत्शे के यथार्थ युग-बोध का स्पष्ट प्रमाण है। वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध मे यूरोप के कुछ देशों पर उनके दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व नीत्शे का अतिमानव का सिद्धात तथा उनके युद्ध-समर्थक विचार जर्मनी मे बहुत लोकप्रिय थे। हिटलर और उसके कुछ अनुयायी अपने आपको अतिमानव समझकर सपूर्ण विश्व पर शासन करना अपना निर्विवाद अधिकार मानते थे। अपने मत के समर्थन में वे प्राय नीत्शे के विचारो को उद्धृत करते थे। इस प्रकार यह एक कटु सत्य है कि नीत्शे के विचारो ने विश्व की राजनीति को बहुत व्यापक रूप से प्रभावित किया है।

परंतु यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि मानव-समाज पर नीत्शे के दर्शन का यह प्रभाव लाभप्रद तथा रचनात्मक न होकर हानिकारक और ध्वंसात्मक ही रहा है। उनके विचारो ने समाज मे पहले से विद्यमान विघटनकारी शक्तियो तथा अन्याय, अत्याचार, शोषण, निर्दयता आदि बुराइयों को प्रोत्साहित किया है। यदि सभी मनुष्य मूल्यो के मूल्यांतरण से सबंधित उनके सिद्धात के अनुरूप आचरण करें तो इसका अंतिम परिणाम समाज मे ध्वसात्मक सघर्ष के अतिरिक्त और कुछ भी नही होगा। हम देख चुके हैं कि नीत्शे सेवा, सहयोग, सहानुभूति, सहनशीलता, दया, परोपकार, न्याय, उदारता, समानता आदि रचनात्मक मूल्यो को 'दास-नैतिकता के निकृष्ट मूल्य' कह कर उनकी निंदा करते हैं। इन मूल्यो के स्थान पर वे शोषण, अन्याय, अत्याचार, क्रूरता, असहिष्णुता, असमानता आदि ध्वसात्मक मूल्यो की स्थापना करना चाहते हैं जिन्हे वे 'प्रभु-नैतिकता के उत्कृष्ट मूल्य' कहते हैं। परंतु नीत्शे का यह मूल्यो के मूल्यातरण का सिद्धात न तो व्यावहारिक दृष्टि से वाछनीय है और न सैद्धातिक दृष्टि से युक्तिसगत। व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धात के विरुद्ध मूल आपत्ति यह है कि यह सिद्धात मनुष्यो मे पारस्परिक संघर्ष तथा घृणा को जन्म देता है जिनके फलस्वरूप मानव-समाज का विनाश अनिवार्य है। नीत्शे प्रभु-नैतिकता के जिन मूल्यो की स्थापना करना चाहते हैं उनके परिणामस्वरूप संपूर्ण मानव-समाज दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो जाएगा जिनमे परस्पर निरतर सघर्ष चलता रहेगा। ये दोनो वर्ग पारस्परिक शत्रुता के कारण एक-दूसरे के विनाश के लिए अधिकाधिक प्रयास करते रहेगे। स्पष्ट है कि ऐसे समाज में पारस्परिक सहयोग, सहायता और विश्वास के लिए कोई स्थान नही होगा। शक्तिशाली व्यक्ति साधारण मनुष्यो पर अत्याचार करते रहेगे और अपने ऊपर होने वाले इस अत्याचार के कारण साधारण मनुष्य भी शक्तिशाली व्यक्तियो को समाप्त करने का निरतर प्रयत्न करते रहेगे। यह समझना कठिन नही है कि अन्याय, अत्याचार, शोषण, असमानता, पारस्परिक भय, अविश्वास तथा घृणा पर आधारित ऐसा समाज अपना अस्तित्व अधिक समय तक नही बनाए रख सकता, उसका शीघ्र ही विघटित और नष्ट हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति मे उस अतिमानव के प्रादुर्भाव की कोई सभावना ही नही रह जाती जिसकी नीत्शे कल्पना करते हैं और जिसे वे विकास का अंतिम ध्येय मानते हैं। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके मूल्यो के मूल्यातरण के सिद्धात को व्यावहारिक दृष्टि से कार्यान्वित करना न तो सभव है और न वाछनीय।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि नीत्शे का उक्त सिद्धात केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही आपत्तिजनक नही है, अपितु तार्किक दृष्टि से भी इसका समर्थन करना सभव प्रतीत नही होता। इसका कारण यह है कि नीत्शे ने मानव-स्वभाव का जो विश्लेषण किया है वह नितात एकांगी और दोषपूर्ण है। वे बिना किसी तर्क अथवा प्रमाण के यह मान लेते हैं कि मनुष्य की

एकमात्र मूल अभिप्रेरणा शक्ति की इच्छा है और वह सभी कर्म केवल इसी अभिप्रेरणा से प्रेरित होकर करता है। उसके जीवन मे दूसरो के प्रति नैसर्गिक स्नेह, सहानुभूति, सहयोग तथा विश्वास के लिए कोई स्थान नही है। यदि वह अन्य व्यक्तियो के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करता है और उनके प्रति सहानुभूति रखता है तो वह केवल भय तथा दुर्बलता के कारण ही ऐसा करता है। परंतु मानव-स्वभाव के संबध मे नीत्शे का यह दृष्टिकोण केवल एकागी ही नही, अपितु अयुक्तिसगत तथा अयथार्थवादी भी है जिसके लिए वे कोई तर्क या प्रमाण प्रस्तुत नही करते। यह सत्य है कि मनुष्य मे दूसरो का शोषण करने और उनपर शासन करने की प्रवृत्ति विद्यमान है जो उसकी शक्ति की इच्छा का ही परिणाम है। परंतु इसके साथ ही यह भी एक सर्वविदित तथ्य है कि दुखी प्राणियो के प्रति सहानुभूति अथवा दया मनुष्य के स्वभाव का अनिवार्य अग है जिसे स्वीकार किए बिना उसके स्वभाव की ठीक-ठीक व्याख्या नही की जा सकती। निर्दोष व्यक्तियो तथा अन्य प्राणियो को कष्ट भोगते देखकर इस नैसर्गिक सहानुभूति के कारण वह भी दुखी होता है और उनके दु ख का निराकरण करने के लिए यथासभव प्रयास करता है। विभिन्न मनुष्यो मे इस सहानुभूति की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है, किंतु यह कहना बहुत कठिन है कि कोई मनुष्य पूर्णत सहानुभूतिरहित हो सकता है। वस्तुत यह नैसर्गिक सहानुभूति ही मनुष्य को समस्त प्राणी-जगत् के साथ जोडती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि केवल मनुष्य मे ही नही, पशुओ मे भी यह सहानुभूति पाई जाती है जिससे प्रेरित होकर वे सकट-काल मे अपनी जाति के सदस्यो की सहायता के लिए तत्पर होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सहानुभूति मनुष्य तथा अन्य विकसित प्राणियो के स्वभाव का अभिन्न अंग है, किंतु नीत्शे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं जिसके फलस्वरूप उनका सिद्धात अयुक्तिसगत हो गया है।

सहानुभूति के समान ही दूसरों से स्नेह करने और उनका स्नेह पाने की आकाक्षा तथा उनके साथ सहयोग करने और उनसे मैत्री स्थापित करने की इच्छा भी मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी समुचित तृप्ति के अभाव मे उसका जीवन सुखमय एव सार्थक नही हो सकता। जिस मनुष्य की ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ अतृप्त रह जाती हैं उसका जीवन निराशा, कुठा, अवसाद और सूनेपन से भर जाता है—फिर चाहे भौतिक दृष्टि से वह कितना ही समृद्ध तथा सफल क्यो न हो। स्वय नीत्शे का जीवन इस तथ्य का ज्वलत प्रमाण है। उन्होने अपने दर्शन मे अन्याय, अत्याचार, शोषण, घृणा तथा क्रूरता का जो प्रबल समर्थन किया है उसका मूल आधार कोई तर्क न होकर स्वय उनकी अपनी गहरी निराशा या कुठा ही है जो उनके जीवन मे विद्यमान अवसाद और अकेलेपन से उत्पन्न हुई थी। इसी अवसाद तथा अकेलेपन ने उनके मन मे समाज के प्रति घोर तिरस्कार, घृणा तथा प्रतिरोध को जन्म दिया जिसकी अभिव्यक्ति उनके दर्शन मे हुई है। नारी के प्रति नीत्शे की उपेक्षा तथा घृणा का भी यही मूल कारण है। हम प्रथम खड में बता चुके हैं कि वे आजीवन अविवाहित रहे और उन्हें नारी का प्रणय एव दाम्पत्य-सुख न मिल सका जिसकी गहरी चाह प्रत्येक पुरुष के मन मे सदा बनी रहती है और जिसके बिना वह अपने आपको निताल अकेला तथा अधूरा अनुभव करता है। वस्तुत: नीत्शे स्वय अपने जीवन मे जो न बन सके और न पा सके उसी की कल्पना उन्होने अतिमानव तथा उन व्यक्तियों के जीवन में की है जिन्हे वे 'प्रभु' तथा अभिजात वर्ग के शक्तिशाली व्यक्ति' कहते हैं। ऐसे व्यक्तियो का वास्तविक जगत् मे अस्तित्व नही है और न हो सकता है, ये केवल नीत्शे के अपूर्ण दिवास्वप्नो की सृष्टि मात्र हैं। ऐसे व्यक्तियो के अस्तित्व की कल्पना करके उन्होने वह सब कुछ पाना चाहा है जो वे अपने यथार्थ जीवन में कभी प्राप्त न कर सके इस प्रकार नीत्शे का दर्शन जीवन तथा जगत् की निष्पक्ष तार्किक परीक्षा न

होकर गहरे अवसाद, दु ख, निराशा एवं कुंठा से परिपूर्ण स्वयं उनकी अपनी आत्म-कथा है और यही उसके असतुलित तथा एकागी होने का मूल कारण भी है।

नैतिक मूल्यो, ईसाई धर्म तथा शाश्वत आवर्तन के सिद्धात के सबध में नीत्शे ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनमे भी अनेक गभीर तार्किक असंगतियाँ विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर तो वे किसी प्रकार के वस्तुपरक प्रतिमान को अस्वीकार करते हैं और शाश्वत एव निरपेक्ष मूल्यो का निषेध करते हुए समस्त मूल्यों को केवल सापेक्ष मानते हैं, किंतु दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि प्रभु-नैतिकता के मूल्य दास-नैतिकता के मूल्यो की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक उत्कृष्ट हैं। उनकी इन दोनो मान्यताओं मे तार्किक असगति स्पष्टतः देखी जा सकती है, क्योंकि यदि निरपेक्ष मूल्यों की कोई संभावना ही नही है तो सभी मनुष्यों के लिए कुछ मूल्यों को उत्कृष्ट और कुछ अन्य मूल्यो को निकृष्ट नही माना जा सकता। परतु नीत्शे इन दोनों विरोधी विचारो को एक ही साथ स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार ईसाई धर्म के विरुद्ध नीत्शे ने जो आरोप लगाए हैं वे भी वस्तुत. तर्क पर आधारित न होकर उसके प्रति उनकी घृणा पर ही आधारित हैं। इस धर्म का खडन करने के लिए उन्होने इसके विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठाई हैं वे पूर्णत युक्तिसंगत प्रतीत नही होती। यह सत्य है कि ईसाई धर्म ईश्वर तथा स्वर्ग-नरकके अस्तित्व मे विश्वास करता है और इसके कुछ अनुयाइयो ने समस्त सासारिक सुखो के त्याग पर आधारित कठोर संन्यासवाद का भी समर्थन किया है। इस दृष्टि से नीत्शे का यह आरोप कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होता है कि यह धर्म मनुष्य को सासारिक सुखों से विरक्त करके उसे परलोकोन्मुखी बना देता है। परतु हमें इस तथ्य की उपेक्षा नही करनी चाहिए कि व्यावहारिक दृष्टि से ईसाई धर्म मे सन्यासवाद को कोई विशेष महत्त्व नही दिया गया है। विश्व के अनेक देशों मे इस धर्म के प्रचारको ने शोषित और निर्धन लोगो की सुख-समृद्धि के लिए जो महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य किया है वह इस बात का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त सभी मनुष्यो में पारस्परिक स्नेह, सेवा, सहानुभूति, सहिष्णुता, समानता, मैत्री, करुणा आदि उच्चतम नैतिक मूल्यों का प्रचार करके मानव की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति मे भी ईसाई धर्म ने बहुत सराहनीय योगदान किया है। हम देख चुके हैं कि इस धर्म द्वारा इन्ही मूल्यो का समर्थन करने के कारण नीत्शे इसकी निंदा करते हैं। परतु वास्तव मे उनकी इस निदा का कोई तार्किक आधार नही है। इसके विपरीत वे स्वय अपने मन में विद्यमान भय तथा घृणा के फलस्वरूप ही ईसाई धर्म के उपर्युक्त रचनात्मक मूल्यो को निकृष्ट मानकर उसका खडन करते हैं। इसी भय और घृणा के कारण वे इस तथ्य को स्वीकार ही नही करते कि स्नेह, सहानुभूति, मैत्री, करुणा आदि मनोवृत्तियाँ मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। परंतु मनोविज्ञान के आधार पर तर्कसगत रूप से नीत्शे के इस दृष्टिकोण का समर्थन करना संभव नहीं है। इस प्रकार उन्होने ईसाई धर्म की जो तीव्र आलोचना की है वह एकागी तथा निराधार ही प्रतीत होती है। यही बात उनके शाश्वत आवर्तन के सिद्धात के विषय मे भी कही जा सकती है। इस सिद्धात को तार्किक आधार पर सत्य प्रमाणित करना संभव प्रतीत नही होता। वस्तुत अपने इस सिद्धात के समर्थन मे नीत्शे ने कोई ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नही किया है जिसे युक्तिसगत और पूर्णतः विश्वसनीय माना जा सके। इसी कारण उनका यह सिद्धात पूर्ण रूप से काल्पनिक ही प्रतीत होता है जिसके आधार पर ब्रह्मांड के उद्गम और स्वरूप की व्याख्या नही की जा सकती। इसके अतिरिक्त उक्त सिद्धात को सत्य मान लेने पर हमे विश्व मे पूर्ण नियतत्ववाद को अनिवार्यत स्वीकार करना पडेगा जिसके फलस्वरूप मानव-प्रयास, कर्त्तव्य उत्तरदायित्व, संकल्प-स्वातत्र्य आदि समस्त नैतिक अवधारणाएँ पूर्णत निरर्थक हो जाएँगी। ऐसी

स्थिति में दास-नैतिकता के मूल्यों के स्थान पर प्रभु-नैतिकता के मूल्यों की स्थापना के लिए स्वयं नीत्शे के उस सिद्धांत का भी कोई अर्थ और महत्त्व नहीं रह जाएगा जिसे वे 'मूल्यों के मूल्यांतरण का सिद्धांत' कहते हैं। इस प्रकार मानव-स्वभाव, नैतिकता, धर्म तथा ब्रह्मांड के विषय में नीत्शे ने जो कुछ कहा है उसे पूर्णतः सत्य और तर्कसंगत नहीं माना जा सकता।

9

महात्मा गाँधी

गाँधी जी शास्त्रीय अर्थ मे दार्शनिक थे या नही इस विवाद मे न पडते हुए हम यह कह सकते हैं कि उन्होने मानव-जीवन, समाज-व्यवहार, नैतिकता, राजनीति, आर्थिक व्यवस्था, शिक्षा-प्रणाली, ईश्वर, आत्मा आदि महत्त्वपूर्ण विषयो पर अपने विचार व्यक्त किए हैं जिनका निष्पक्ष मूल्याकन बहुत आवश्यक है। गाँधी जी के विचारो पर उनके धर्मपरायण परिवार, उपनिषदो, भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, योगदर्शन, भक्ति-साहित्य तथा कुछ ईश्वरोपासक व्यक्तियो का विशेष प्रभाव पडा है। इनके अतिरिक्त ईसा के उपदेशो, थ्योरो, रस्किन तथा टालस्टाय के धार्मिक ग्रथो ने भी उनके विचारो को विशेष रूप से प्रभावित किया है। इस प्रकार भारतीय तथा पाश्चात्य धार्मिक विचार-भित्ति पर आधारित होने के कारण उनका जीवन-दर्शन, मूलत अध्यात्मवादी है जिसमे ईश्वरोपासना, सत्य, अहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, साधनो की शुद्धता, नैतिक एव धार्मिक मूल्यो को ही महत्त्व दिया गया है। यहाँ हम उनके नैतिक तथा सामाजिक दर्शन से सबधित कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षो पर बहुत सक्षेप में विचार करेगे।

सर्वप्रथम ईश्वर, आत्मा तथा जगत् सबधी गाँधी जी की तत्त्वमीमासात्मक मान्यताओ का सक्षिप्त उल्लेख कर देना आवश्यक है, क्योंकि ये मान्यताएँ ही उनके नैतिक एव सामाजिक दर्शन का मूल आधार हैं। ईश्वर, आत्मा तथा जगत् के विषय मे गाँधी जी के विचारो पर उपनिषदों और शकराचार्य के अद्वैत वेदात का प्रभाव स्पष्ट है। वे ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्मवाद तथा पुनर्जन्म के सिद्धात को पूर्णत स्वीकार करते हैं। श्रद्धा अथवा आस्था को वे इन मान्यताओ का मुख्य आधार मानते हैं और इस विषय मे तर्कबुद्धि को गौण स्थान देते हैं। यद्यपि उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए लगभग सभी परपरागत युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं,[1] फिर भी इस विषय में उनका निष्कर्ष यही है कि ''बुद्धि ईश्वर को जानने मे असमर्थ है। वह बुद्धि की पहुँच के बाहर है। श्रद्धा इस प्रसग में आवश्यक है''।[2] यह कहना बहुत कठिन है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय मे गाँधी जी का निश्चित मत क्या है, क्योंकि वे उसे निर्वैयक्तिक, निर्गुण तथा निराकार भी मानते हैं,[3] और व्यक्तित्वपूर्ण, सगुण तथा साकार भी।[4] ईश्वर के विषय मे गाँधी जी के ये विचार वस्तुत एक भक्त के विचार हैं, तर्कबुद्धि तथा आत्मसगति के आधार पर व्यवस्थित चितन करने वाले दार्शनिक के नही। यही बात आत्मा और जगत् सबंधी उनकी अन्य तत्त्वमीमासात्मक मान्यताओ के विषय मे भी कही जा सकती है।

गाँधी जी का सपूर्ण नैतिक एव सामाजिक दर्शन उन एकादश व्रतो पर आधारित है जिनका

---

1 महात्मा गाँधी, 'हिंदू धर्म', सपादक भारतन कुमारप्पा, पृ 43, 63, 64, 65

2 वही पुस्तक, पृ 63.

3 महात्मा गाँधी, 'प्रार्थना-प्रवचन', भाग 1, पृ 131

4 'यंग इंडिया' 3 मार्च 925

प्रतिपादन उन्होने साबरमती आश्रम मे 1916 मे किया था। ये एकादश व्रत निम्नलिखित हैं — अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सर्वधर्मसभाव, अस्पृश्यतानिवारण, शारीरिक श्रम स्वदेशी, अभय तथा अस्वाद। इनमे से प्रथम पॉच व्रत गॉधी जी ने योगदर्शन से लिए हैं जिन्हे इस दर्शन मे 'यम' कहा गया है। अस्वाद और अभय की भी प्राचीन भारतीय ग्रथो मे चर्चा की गई है, क्योकि ये प्रथम पॉच व्रतो के पूरक हैं। शेष चार व्रतो का प्रतिपादन गॉधी जी ने भारत की तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियो को ध्यान मे रख कर किया था। हम इन एकादश व्रतो मे से कुछ प्रमुख व्रतो के विषय मे ही गाँधी जी के मत पर संक्षेप मे विचार करेगे।

गॉधी जी के दर्शन मे अहिसा और सत्य का विशेष महत्त्व है, क्योकि उनका सत्याग्रह का सिद्धात मूलत इन्ही दोनों व्रतो पर आधारित है। अहिसा को व्यापक अर्थ मे ग्रहण करते हुए उन्होने कहा है कि किसी प्राणी को मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना और सभी प्राणियो के प्रति दया तथा सहानुभूति रखते हुए सदैव उनके कल्याण के लिए प्रयास करना ही अहिसा है। किसी व्यक्ति का कोई कर्म अहिसात्मक है अथवा नही इसका निर्णय उस कर्म के मूल मे निहित व्यक्ति के प्रयोजन के आधार पर ही किया जा सकता है। यदि यह कर्म स्वार्थ, क्रोध, घृणा द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिशोध अथवा किसी अन्य दुर्भावना मे प्रेरित होकर किया गया है तो यह हिसात्मक है। इसके विपरीत, यदि इस कर्म का मूल प्रयोजन किसी प्राणी का हित अथवा सामाजिक कल्याण है तो निश्चय ही यह कर्म अहिसात्मक है—फिर चाहे इसके परिणाम कुछ भी हो। अहिसा की इसी प्रयोजनमूलक परिभाषा को स्वीकार करते हुए गॉधी जी ने कुछ विशेष परिस्थितियो मे ऐसे प्राणी का जीवन समाप्त करना उचित एव विशुद्ध अहिसा माना है जो असह्य कष्टदायक असाध्य रोग से पीड़ित है और जिसे इस असह्य कष्ट से मुक्त कराने का अन्य कोई उपाय नही है।[5] परतु उनके मतानुसार उस प्राणी के जीवन का अंत उसी के कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित हो कर किया जाना चाहिए, अन्य किसी प्रयोजन से प्रेरित होकर नहीं। इसी प्रकार गॉधी जी ने सामाजिक हित को ध्यान मे रखते हुए ऐसे पागल कुत्तो, हिसक पशुओ, हत्यारो तथा विशाक्त कीटाणुओ को नष्ट करना अहिंसा के अनुरूप ही माना है जिनके कारण समाज को हानि पहुँच रही हो अथवा हानि पहुँचने की आशंका हो।

अहिसा की इस प्रयोजनमूलक व्याख्या से यह स्पष्ट है कि इसके अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति सदैव दूसरो के कल्याण की इच्छा से प्रेरित होकर कार्य करता है। गॉधी जी का मत है कि इस व्यापक अर्थ मे अहिसा के अनुरूप आचरण करने के लिए मनुष्य मे नैतिक एव आध्यात्मिक बल का होना बहुत आवश्यक है। कोई भी कायर अथवा नैतिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति अहिसा के महा व्रत का पालन नही कर सकता। इसी कारण गॉधी जी ने कायरता की अपेक्षा हिसा को ही अधिक श्रेयस्कर माना है।[6] जब तक मनुष्य अपने भीतर स्वय कष्ट सहन करने की शक्ति उत्पन्न नही करता तब तक वह अहिसा के व्रत का पालन नहीं कर सकता। गॉधी जी की यही मान्यता उनके अहिसात्मक सत्याग्रह का मूल आधार है जिसके अनुसार सत्याग्रही अपने विरोधी को कष्ट न देकर स्वय कष्ट सहन करता है। विदेशी शासन के विरुद्ध उनका सपूर्ण आदोलन इसी अहिंसात्मक सत्याग्रह पर आधारित था और इसी सत्याग्रह को उन्होंने विश्व की राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान के रूप में स्वीकार किया। सत्याग्रह के रूप मे अहिसा का यह व्यापक प्रयोग मानव-समाज को उनकी बहुत महत्त्वपूर्ण देन है।

---

5 'हिदू धर्म' पृ 203 217 219

6 वही पुस्तक पृ 199 'यग इंडिया' 3 पृ 222, 223

अहिंसा की भाँति सत्य का भी गाँधी जी ने बहुत व्यापक अर्थ स्वीकार किया है नैतिक आचरण की दृष्टि से सत्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि किसी तथ्य को जिस रूप मे जाना अथवा अनुभव किया गया है उसे ठीक उसी रूप मे प्रस्तुत करना ही सत्य के अनुसार आचरण करना है। दूसरो से छलपूर्ण व्यवहार करना उनसे कोई तथ्य छिपाना अथवा उसे परिवर्तित रूप मे उनके समक्ष रखना सत्य का स्पष्ट उल्लघन है। गाँधी जी किसी भी स्थिति मे सत्य का यह उल्लघन उचित नही मानते। सत्य को अपवादरहित नैतिक नियम मानते हुए वे कहते हैं कि सभी परिस्थितियो मे सदैव इसके अनुरूप आचरण करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है।[7] सत्य के विषय मे गाँधी जी के इस कठोर दृष्टिकोण का समर्थन करना बहुत कठिन है, क्योंकि कुछ विशेष परिस्थितियो मे अन्य सभी नैतिक नियमो की भाँति सत्य का उल्लघन भी वाछनीय अथवा आवश्यक हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी जीवन-रक्षा, किसी अन्य प्राणी के हित अथवा सामाजिक कल्याण के लिए सत्य का उल्लघन करता है तो नैतिक दृष्टि से उसके आचरण को अनुचित नही माना जा सकता। इसका कारण यह है कि सत्य अथवा अन्य कोई भी नैतिक नियम स्वत साध्य न हो कर सामूहिक रूप मे मनुष्य के कल्याण का साधन है। परतु स्वार्थसिद्धि के लिए सत्य अथवा किसी भी अन्य नैतिक नियम का उल्लघन करना निश्चय ही अनुचित है। यदि गाँधी जी अहिंसा की भाँति सत्य की भी प्रयोजनमूलक व्याख्या करते तो इस सबध मे उनका दृष्टिकोण अधिक वाछनीय तथा संतुलित होता।

अस्तेय तथा अपरिग्रह का भी व्यापक अर्थ बताते हुए गाँधी जी ने इन दोनों को अहिंसा और सत्य के पूरक व्रतो के रूप मे स्वीकार किया है। उनका कथन है कि शारीरिक, मानसिक तथा वैचारिक इन तीनों मे से किसी भी प्रकार की चोरी न करना अस्तेय है। किसी वस्तु के स्वामी की आज्ञा लिए बिना उसे ग्रहण करना 'शारीरिक चोरी' है। दूसरो की कोई वस्तु प्राप्त करने के लिए ललचाते रहना अथवा उसे चुराने की इच्छा करना 'मानसिक चोरी' है। किसी अन्य व्यक्ति के विचारों को स्वय अपने विचार कहकर उनका प्रचार करना 'वैचारिक चोरी' है। गाँधी जी के अनुसार अस्तेय के व्रत का पालन करने के लिए इन सभी प्रकार की चोरियो से सदा दूर रहना बहुत आवश्यक है। सत्य की भाँति अस्तेय को भी वे अपवादरहित नियम ही मानते हैं। परतु मेरे विचार मे व्यक्ति की जीवन-रक्षा अथवा सामाजिक कल्याण के लिये कुछ विशेष परिस्थितियो मे सत्य के समान ही अस्तेय का उल्लंघन भी वाछनीय या आवश्यक हो सकता है, अत इस व्रत को भी अपवादरहित नियम मानना उचित प्रतीत नही होता।

अस्तेय की भाँति अपरिग्रह की भी व्यापक परिभाषा करते हुए गाँधी जी ने कहा है कि अपने भविष्य के लिए कभी भी किसी प्रकार का सचय न करना और उसकी इच्छा भी न करना अपरिग्रह है। इस व्रत का पालन करने वाले व्यक्ति को धन, भोजन, वस्त्र आदि किसी वस्तु का कभी भी सग्रह नही करना चाहिए और अपने भविष्य की चिता से मुक्त होकर अपनी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति ईश्वर की इच्छा पर ही छोड देनी चाहिए।[8] गाँधी जी के मतानुसार यह व्रत हमे अपनी आवश्यकताओ को अधिकाधिक सीमित करने तथा स्वेच्छया निर्धनता स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है, क्योकि भौतिक सुख-समृद्धि आध्यात्मिक उन्नति मे बाधक सिद्ध होती है।[9] परतु इस व्यापक अर्थ मे अपरिग्रह के अनुसार आचरण करना न तो व्यावहारिक दृष्टि से सभव प्रतीत होता है और न नैतिक दृष्टि से उचित एव वाछनीय। वर्तमान जटिल सामाजिक तथा आर्थिक

7 हिंदू धर्म', पृ. 248
8 वही पुस्तक, पृ 254-255.
9 'हरिजन' 10 दिसम्बर 1938 पृ 371

व्यवस्था में प्रत्येक साधारण व्यक्ति के लिए कुछ न कुछ सचय अनिवार्य है, क्योंकि वह अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति ईश्वर की इच्छा पर नही छोड सकता। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियो द्वारा स्वेच्छया निर्धनता स्वीकार करने का विचार राष्ट्र तथा समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। परतु अपरिग्रह के अनुसार यथासम्भव आचरण करते हुए हमे अपनी आवश्यकताओ की अनावश्यक वृद्धि को अवश्य नियंत्रित करना चाहिए, वर्तमान युग मे अपरिग्रह की यही सार्थकता है।

अन्य व्रतों की भाँति ब्रह्मचर्य का भी बहुत व्यापक अर्थ बताते हुए गाँधी जी ने कहा है कि ब्रह्मचर्य जननेंद्रिय-संयम तक ही सीमित न होकर ''मनसा, वाचा, कर्मणा, सभी समयो मे तथा सभी स्थानो पर समस्त इंद्रियो का पूर्ण सयम अथवा नियत्रण है''।[10] जो व्यक्ति अन्य इंद्रियो को वासनात्मक विषयो मे लिप्त रहने दे कर केवल जननेंद्रिय को सयमित करता है वह ब्रह्मचर्य का पालन कभी नही कर सकता। इस व्रत का पालन करने के लिये गाँधी जी ने ईश्वरोपासना, धर्मग्रथो का अध्ययन तथा सदैव सद्कर्मो मे व्यस्त रहना भी आवश्यक माना है। अन्य व्रतो की भाँति ब्रह्मचर्य को भी वे सभी व्यक्तियो के लिए आवश्यक मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि विवाहित स्त्री-पुरुषो को केवल सतानोत्पत्ति के लिए ही सभोग करना चाहिए और सतान की इच्छा न होने अथवा उसके पूर्ण हो जाने पर उन्हे दाम्पत्य प्रेम का परित्याग करके परस्पर भाई-बहन जैसे पवित्र संबध रखते हुए दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।[11] विवाहित व्यक्तियो के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि सत्य तथा अहिसा के अनुसार आचरण करने मे संभोग बाधक सिद्ध होता है।[12] सतानोत्पत्ति को सभोग का एकमात्र उद्देश्य मानने के कारण वे सतत्ति-निग्रह के लिए कृत्रिम साधनो का पूर्णतः निषेध करते हैं।[13]

दाम्पत्य प्रेम तथा कामसुख के विषय मे गाँधी जी के उपर्युक्त धार्मिक दृष्टिकोण का समर्थन करना बहुत कठिन है। ब्रह्मचर्य के सबध मे उनके विचारो से यह स्पष्ट है कि वे दाम्पत्य प्रेम को अपवित्र तथा नैतिक दृष्टि से निकृष्ट मानते हैं, क्योंकि इसमे पति-पत्नी द्वारा कामसुख की प्राप्ति के औचित्य को स्वीकार किया गया है। पति-पत्नी को भाई-बहन बन जाने का उन्होंने जो उपदेश दिया है उससे दाम्पत्य प्रेम के प्रति उनका यह दृष्टिकोण पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है। परंतु गाँधी जी का यह दृष्टिकोण व्यावहारिक दृष्टि से ही नही अपितु आदर्श की दृष्टि से भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वास्तव में दाम्पत्य प्रेम उतना ही पवित्र और श्रेयस्कर है जितना भाई-बहन का प्रेम अथवा भगवान से भक्त का प्रेम। धर्म और मोक्ष के साथ काम को भी पुरुषार्थ मानकर भारतीय ऋषियों ने स्पष्टत: इसी तथ्य को स्वीकार किया है। मनुष्य मे कामप्रवृत्ति की प्रबलता तथा मानव-जीवन के लिए इसकी उपयोगिता को ध्यान मे रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि सामान्य व्यक्तियो के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा ब्रह्मचर्य का पालन करना न तो व्यावहारिक दृष्टि से सभव है और न नैतिक दृष्टि मे वाछनीय। ऐसी स्थिति मे सतति-निग्रह के लिए कृत्रिम साधनो का निषेध करना अनुचित एवं अव्यावहारिक ही प्रतीत होता है। वस्तुत: वर्तमान युग मे ब्रह्मचर्य की केवल इतनी ही सार्थकता प्रतीत होती है कि मनुष्य सामाजिक तथा नैतिक मर्यादाओ मे रहते हुए सयमपूर्वक कामसुख प्राप्त करे और अतिशय कामुकता से दूर रहे।

---

10 'हिंदू धर्म', पृ 137
11. महात्मा गाँधी, 'ब्रह्मचर्य', भाग 1, पृ 6
12 वही पुस्तक, भाग 1, पृ 5-6
13 वही पुस्तक, भाग 1, पृ 10-11-12-14-17

उपर्युक्त पाँच व्रतो के अतिरिक्त सर्वधर्मसभाव तथा अस्पृश्यता-निवारण का सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है, अत अब हम इन्ही दो व्रतो के विषय मे गॉधी जी के मत पर सक्षेप मे विचार करेगे। सर्वधर्मसभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि कभी भी किसी धर्म की निदा न करना और अपने धर्म के समान ही अन्य सभी धर्मो को श्रेष्ठ समझना सर्वधर्मसभाव है। यह व्रत विश्व के समस्त धर्मो को समान रूप से उत्कृष्ट मानते हुए किसी भी व्यक्ति अथवा समुदाय द्वारा धर्म-परिवर्तन के प्रयास का पूर्णत निषेध करता है। सभी धर्मो को एक ही उद्यान के भिन्न-भिन्न पुष्पों तथा एक ही महा वृक्ष की विभिन्न शाखाओ से तुलना करते हुए गॉधी जी ने उन्हे समान रूप से सत्य एव उत्कृष्ट माना है।[14] स्पष्ट है कि इस व्रत का पालन करने के लिए मनुष्य मे उदारता और धार्मिक सहिष्णुता का होना बहुत आवश्यक है। विश्व मे आज भी धर्म के नाम पर बहुत सघर्ष हो रहा है जो मनुष्य की धर्माधता का ही दुष्परिणाम है। विभिन्न धर्मो के अनुयायी ही नही अपितु एक ही धर्म के भिन्न-भिन्न सप्रदायो के अनुयायी भी एक दूसरे की नृशस हत्याएँ कर रहे हैं। ऐसी स्थिति मे गॉधी जी के सर्वधर्मसभाव की सार्थकता वर्तमान युग मे स्वत स्पष्ट है।

व्रत के रूप मे अस्पृश्यता-निवारण का प्रतिपादन गॉधी जी ने भारतीय समाज मे अछूत समझे जाने वाले करोडो व्यक्तियो की आर्थिक एव सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए किया था। उनका दृढ विश्वास था कि अस्पृश्यता हिदू धर्म का अग न होकर उसके लिए एक कलक अथवा अभिशाप है जिसका पूर्ण निराकरण भारतीय समाज की उन्नति के लिए बहुत आवश्यक है। परतु उनके मतानुसार अस्पृश्यता का निराकरण बलपूर्वक तथा हिसात्मक उपायो द्वारा नही अपितु शातिपूर्ण उपायो द्वारा सवर्ण हिदुओ का हृदय-परिवर्तन करके ही किया जाना चाहिए। इसके लिए उन्होने अतर्जातीय भोज, अतर्जातीय विवाह तथा मदिरो में हरिजनो के प्रवेश को आवश्यक माना है जिन के द्वारा सभी वर्णो के व्यक्तियो मे परस्पर सपर्क स्थापित होता है जो अस्पृश्यता को समाप्त करने मे बहुत सहायक हो सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अस्पृश्यता को हिदू धर्म का कलक मानते हुए भी गॉधी जी प्राचीन हिदू वर्णव्यवस्था के प्रबल समर्थक हैं और इसे वे हिदू धर्म का अनिवार्य अग मानते हैं। उन्होने स्पष्ट कहा कि वर्णव्यवस्था का विरोध करने वाला व्यक्ति अपने आपको हिदू कहलाने का अधिकारी नही है।[15] भगवद्गीता के विपरीत गॉधी जी प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के आधार पर ही उसके वर्ण को निर्धारित करना आवश्यक मानते है, उसके गुणो तथा कर्मो के आधार पर नही।[16] वर्णधर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि जीविकोपार्जन के लिए अनिवार्यत अपने पैत्रिक व्यवसाय को स्वीकार करना ही वर्णधर्म है जो मानव-निर्मित नियम न हो कर अपरिवर्तनीय वशानुगत प्राकृतिक नियम है।[17] उनका विचार है कि ब्राह्मण के समान ही शूद्र को भी ज्ञान प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है, कितु जीविकोपार्जन के लिए उसे इस ज्ञान का उपयोग नही करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करके वह अपने धर्म से पतित होता है, जीविकोपार्जन के लिए उसे अपने पैत्रिक व्यवसाय का ही अनुसरण करना चाहिए।[18]

यदि वर्णव्यवस्था के विषय मे गॉधी जी के उपर्युक्त विचारो को स्वीकार करके उन्ही के

14 'हिदू धर्म', पृ 261
15 'हरिजन' 18 जुलाई, 1936
16 'हिदू धर्म' पृ 36? 387
17 वही पुस्तक पृ 362 365
18 वही पुस्तक पृ 366 67 387 388

अनुसार आचरण किया जाए तो हिंदू-समाज मे न तो अस्पृश्यता का निराकरण हो सकता है और न हरिजनो की आर्थिक एव सामाजिक उन्नति ही हो सकती है। वर्णव्यवस्था का अनिवार्य अंश न होते हुए भी अस्पृश्यता मूलत उसी का दुष्परिणाम है। इस व्यवस्था के साथ ऊँच-नीच की जो भावना सबद्ध हो गई है उसी के फलस्वरूप हिंदू-समाज मे अस्पृश्यता का जन्म हुआ है और उसी के कारण वह आज भी विद्यमान है। ऐसी स्थिति मे वर्णव्यवस्था को बनाए रखते हुए अस्पृश्यता का निराकरण सभव प्रतीत नही होता। यदि हरिजन जीविकोपार्जन के लिए अपने ज्ञान का उपयोग नही कर सकते और इसके लिए वे अपने पैत्रिक व्यवसायो का अनुसरण करने के लिए बाध्य है तो उनकी आर्थिक उन्नति सभव नही है जिसके बिना वे समाज मे उच्च स्तर तथा प्रतिष्ठा कभी प्राप्त नहीं कर सकते। परतु गाँधी जी हरिजनो के लिए पैत्रिक व्यवसायो को अनिवार्य मानते हुए स्पष्ट कहते है कि ''यदि मैं मेहतर हूँ तो मेरा बेटा मेहतर क्यो न हो? मेरा तात्पर्य यह है कि उसका जन्म मेहतर के रूप मे हुआ है उसे मेहतर का कार्य करके ही जीविकोपार्जन करना चाहिए, इसके पश्चात् वह जो चाहे कर सकता है।''[19] यह समझना कठिन नही है कि हरिजनो के प्रति गाँधी जी का यह परम्परागत दृष्टिकोण न तो व्यावहारिक है और न वाछनीय। किसी विशेष कुल मे जन्म लेने के कारण किसी व्यक्ति को कोई विशेष व्यवसाय स्वीकार करने के लिए बाध्य करना उसके प्रति अन्याय है। यह हर्ष का विषय है कि हरिजनों को पूर्ण व्यावसायिक स्वतत्रता देकर भारत सरकार ने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है। वस्तुत आधुनिक वैज्ञानिक युग मे प्राचीन हिंदू वर्णव्यवस्था अपनी सार्थकता खो चुकी है, अत इसे पुनर्जीवित करने का प्रयास अव्यावहारिक तथा अवाछनीय है।

उपर्युक्त सपूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि गाँधी जी के नैतिक एव सामाजिक दर्शन मे कुछ कठिनाइयाँ है जिनका मुख्य कारण उनका परपरागत धार्मिक दृष्टिकोण है। परतु इन सब कठिनाइयो के होते हुए भी व्यक्ति और समाज के लिए उनके दर्शन की उपादेयता को अस्वीकार नही किया जा सकता। यदि सभी व्यक्ति उनके नैतिक दर्शन के अनुसार यथासभव निष्ठापूर्वक आचरण करे तो मानव-समाज से हिसा, सघर्ष, छल-कपट, निर्दयता, अन्याय, शोषण, अतिशय कामुकता, धर्माधता आदि बुराइयो का पर्याप्त सीमा तक निराकरण हो सकता है। आधुनिक युग मे गाँधी जी के दर्शन की यही सार्थकता एव उपादेयता है।

---

19 वही पुस्तक पृ 388

10

मानवेन्द्रनाथ राय

वर्तमान शताब्दी के भारतीय दार्शनिकों में क्रांतिकारी विचारक तथा मानवतावाद के प्रमुख समर्थक मानवेन्द्रनाथ राय (1887-1954) का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म पश्चिमी बंगाल के एक छोटे-से गाँव मे ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उनके पिता धर्मपरायण व्यक्ति थे और धर्मप्रचार द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। राय का बाल्यकालीन नाम 'नरेन्द्र भट्टाचार्य' था जिसे बाद मे बदलकर उन्होने 'मानवेन्द्रनाथ राय' कर दिया और इसी नाम से उन्होंने दर्शन तथा राजनीति के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की। यद्यपि उनका पालन-पोषण धर्मपरायण परिवार में हुआ था, फिर भी बाल्यकाल से ही धर्म में उनकी आस्था नही थी। चौदह वर्ष की अल्पायु में ही वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए होने वाले क्रांतिकारी आंदोलन मे सम्मिलित हो गए थे। 1905 में बंगाल विभाजन के विरुद्ध हुए आंदोलन मे उन्होने सक्रिय भाग लिया था। वे सशस्त्र संघर्ष द्वारा भारत को विदेशी शासन से स्वतंत्र कराना चाहते थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक वर्षों तक जर्मनी, रूस, चीन, अमरीका, मेक्सिको आदि देशो की यात्रा की। इन देशों मे वे अनेक महान् विचारकों तथा साम्यवादी नेताओं के संपर्क में आए जिनके क्रांतिकारी विचारों का उनके दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। राय के दर्शन में भौतिकवाद, निरीश्वरवाद, व्यक्ति की स्वतंत्रता, लोकतंत्र, अंतर्राष्ट्रीयता और मानवतावाद का विशेष महत्त्व है। यहाँ हम उनके दर्शन के कुछ प्रमुख पक्षों पर संक्षेप मे विचार करेंगे।

1. भौतिक वस्तुवाद : अधिकतर भारतीय दार्शनिकों के विपरीत राय पूर्णतः भौतिकवादी तथा निरीश्वरवादी दार्शनिक थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि संपूर्ण जगत की व्याख्या भौतिकवाद के आधार पर ही की जा सकती है, इसके लिए ईश्वर-जैसी किसी इंद्रियातीत शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिक घटनाओं के समुचित निरीक्षण तथा सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा ही हम उनके वास्तविक स्वरूप और कारणो को समझ सकते हैं। विश्व का मूल तत्त्व भौतिक द्रव्य अथवा पुद्गल है और सभी वस्तुएँ इसी पुद्गल के विभिन्न रूपांतरण हैं जो निश्चित प्राकृतिक नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं। जगत् के मूल आधार इस पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की अंतिम सत्ता नहीं है।[1] अपने दर्शन को परंपरागत भौतिकवाद से पृथक करने के लिए राय उसे 'भौतिकवाद' के स्थान पर 'भौतिक वस्तुवाद' की संज्ञा देते हैं। वे मानवीय प्रत्यक्ष को ही संपूर्ण ज्ञान का मूल आधार मानते हैं। इस संबंध में उनका स्पष्ट कथन है कि "मनुष्य द्वारा जिस वस्तु का प्रत्यक्ष संभव है वास्तव में उसी का अस्तित्व है और मानव के लिए जिस वस्तु का प्रत्यक्ष संभव नही है उसका अस्तित्व भी नही है"।[2]

---

1. मानवेन्द्रनाथ राय 'मैटीरियलिज्म' द्वितीय संस्करण 1951, पृ. 5.
2. वही पुस्तक, पृ. 57.

अपनी इसी भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर राय ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते है। उनका विचार है कि केवल आस्था पर आधारित तथाकथित इन्द्रियातीत सत्ताओ को मानदण्ड बनाकर हम विश्व की उत्पत्ति और उसके विकास की समुचित व्याख्या कभी नही कर सकते, अत ऐसी कल्पित सत्ताओ का परित्याग करना बहुत आवश्यक है। सपूर्ण ब्रह्माण्ड भौतिक परमाणुओ के सघात का परिणाम है जिसका कोई रचयिता नही है। वैज्ञानिक विचारधारा विश्व के रचयिता के रूप मे सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर की प्राक्कल्पना का समर्थन नही करती। इसी प्रकार शरीर से पृथक तथा स्वतत्र आत्मा की प्राक्कल्पना भी निराधार है क्योंकि प्राणी की मृत्यु के पश्चात् उसका कुछ भी शेष नही रह जाता। जिसे 'आत्मा' कहा जाता है वह वास्तव मे प्राणी की चेतना है जो भौतिक परमाणुओ के सघात से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार राय ईश्वर के अस्तित्व के साथ-साथ आत्मा की सत्ता तथा अमरता का भी खण्डन करते है और इसी कारण उन्होने पुनर्जन्म के सिद्धात को भी अस्वीकार किया है। वे पुनर्जन्म के सिद्धात को प्रशासक वर्ग के समर्थक पुरोहितो की चातुर्यपूर्ण कल्पना मानते हैं जो समाज मे उनकी उच्च स्थिति को बनाए रखने के लिए ही की गई है। उनका विचार है कि पुनर्जन्म का सिद्धात समाज मे नियतिवाद को जन्म देता है जो मनुष्य को निष्क्रिय तथा पौरुषहीन बना देता है।[3]

भौतिकवाद की सुदीर्घ परपरा का उल्लेख करते हुए राय कहते है कि भौतिकवादी विचारधारा उतनी ही प्राचीन है जितना स्वय मानवीय चितन। भारतीय तथा यूनानी विचारक बहुत प्राचीन काल से इस विचारधारा का समर्थन करते रहे हैं। हमारे वेदो तथा उपनिषदों मे भी भौतिकवाद के मूल तत्त्व विद्यमान हैं। अपने इसी मत की पुष्टि के लिए राय 'स्वसवेद' उपनिषद (सूत्र 2) से निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करते हैं, ''कोई अवतार नहीं होता, न ईश्वर है, न स्वर्ग और न नरक, समस्त पारंपरिक धर्मशास्त्र का साहित्य दम्भी मूर्खो की कृति है''।[4] इसी प्रकार ऐपिक्यूरस, हिराक्लिटस, ल्यूक्रेशियस आदि अनेक पाचीन यूनानी दार्शनिक भी भौतिकवाद का ही प्रबल समर्थन करते रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि भौतिकवाद बहुत प्राचीन विचारधारा है। राय का कथन है कि वर्तमान युग मे मनुष्य की महान वैज्ञानिक प्रगति भी इसी विचारधारा की पुष्टि करती है। उन्होंने भौतिकवाद के विरुद्ध अध्यात्मवादी दार्शनिको के आरोपो का दृढ़तापूर्वक खडन किया है। उनका मत है कि भौतिकवादी दर्शन 'खाओ, पियो और मौज करो' का दर्शन नही है जैसा कि इसके विरोधी इसका उपहास करते हुए प्राय. कहा करते हैं। यह सत्य है कि भौतिकवाद तथाकथित पारलौकिक जीवन के काल्पनिक सुख के लिए वर्तमान जीवन के वास्तविक सुख के परित्याग का समर्थन नहीं करता, किंतु इसका यह अर्थ नही है कि वह मनुष्य को आत्मकेंद्रित तथा स्वार्थी हो जाने के लिए प्रेरित करता है। वस्तुत भौतिकवादी दर्शन मनुष्य के सद्गुणयुक्त शुभाचरण मे कोई बाधा नहीं डालता, अत राय के मतानुसार इस दर्शन के विरुद्ध अध्यात्मवादियों के आरोप निराधार हैं।

2. ज्ञान-मीमांसा : अपनी उपर्युक्त भौतिकवादी विचारधारा के अनुरूप ही राय ने ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया की व्याख्या की है। वे विज्ञानवाद तथा प्रत्ययवाद का खण्डन करते हुए केवल यथार्थवाद के आधार पर ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। उनका विचार है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही सपूर्ण मानवीय ज्ञान का आदिस्रोत है। हम अपने अनुभव द्वारा ही भौतिक जगत् का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, आप्तवाक्य हमे असंदिग्ध ज्ञान कभी प्रदान नही कर

3 राय इण्डियाज मैसेज पृ 4 5
4 पृ 77

सकते। इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा हम वस्तुओ को उसी रूप मे जानते हैं जिस रूप मे व हैं। कांट के विपरीत राय का मत है कि 'वास्तविक जगत् तथा 'आभास जगत्' मे कोई भेद नही है, हम अपने अनुभव द्वारा जिस जगत् को जानते हैं वही वास्तविक जगत् है''।[5] इसी प्रकार वे बर्कले के इस मत का भी खण्डन करते हैं कि भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व हमारे प्रत्ययो पर ही निर्भर है। राय का कथन है कि हम प्रत्ययो को नही, अपितु प्रत्यक्षत बाहृय वस्तुओ को ही जानते हैं। बाहृय वस्तुओ का हमारे मन से पृथक और स्वतंत्र अस्तित्व है, अत ज्ञानमीमासा की दृष्टि मे बर्कले का यह मत दोषपूर्ण है कि अनत भौतिक जगत् का अस्तित्व हमारे मानसिक जगत् पर ही निर्भर है।[6] राय के मतानुसार बाहृय वस्तुओ के अस्तित्व की व्याख्या के लिए ईश्वर की सत्ता का आधार लेना अनावश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राय भौतिकवाद, अनुभववाद तथा यथार्थवाद के प्रबल समर्थक हैं। परंतु, जहाँ तक हमे ज्ञात है, उन्होंने इन तीनों दार्शनिक सिद्धांतो की अनेक बहुचर्चित कठिनाइयो का निराकरण करने के लिए कोई सतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नही किया। उदाहरणार्थ राय तथा अन्य भौतिकवादियो की इस मान्यता का समर्थन करना कठिन है कि चेतना की उत्पत्ति जड पुद्गल से ही हुई है। यह सत्य है कि अध्यात्मवादी भी चेतना की उत्पत्ति की संतोषजनक व्याख्या नही कर पाते, किंतु इससे चेतना की उत्पत्ति के विषय मे भौतिकवादियो के मत की सत्यता सिद्ध नहीं होती। इसके अतिरिक्त भौतिकवादियो की यह मान्यता भी उचित प्रतीत नही होती कि ब्रह्माण्ड का अंतिम तत्त्व पुद्गल ही है। वर्तमान युग मे स्वय वैज्ञानिक भी शक्ति अथवा ऊर्जा को ही अंतिम तत्त्व मानते हैं, पुद्गल को नहीं। इसी प्रकार अनुभववाद तथा यथार्थवाद भी ज्ञान-प्रक्रिया की संतोषप्रद व्याख्या नही कर पाते। इसमे सदेह नही कि इन्द्रिय अनुभव ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार है, किंतु इसका यह अर्थ नही कि ज्ञान-प्रक्रिया मे बुद्धि का कोई योगदान नही है। हम प्रत्यक्षो द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान तब तक प्राप्त नही कर सकते जब तक ये प्रत्यक्ष सुसगठित न हो और इन्हें सुसगठित करना बुद्धि का ही कार्य है, इन्द्रिय अनुभव का नही। इसी कारण कांट ने ज्ञान के लिए इन्द्रिय अनुभव के साथ-साथ बुद्धि के योगदान को भी अनिवार्य माना है। ज्ञान-प्रक्रिया के संबध मे यथार्थवाद भी कोई सतोषप्रद सिद्धात नही है। अधिकतर समकालीन दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक राय और कुछ अन्य यथार्थवादियो की इस मान्यता को स्वीकार नही करते कि हम वस्तुओ को प्रत्यक्षतः जानते हैं और वे ठीक वैसी ही हैं जैसी हम उन्हे जानते हैं। इन दार्शनिको तथा मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि हम केवल इन्द्रिय-सवेदनो का अनुभव करते हैं जो बाहृय वस्तुओं से सबंधित हमारे ज्ञान के आधारभूत तत्त्व हैं। इन इन्द्रिय-सवेदनों के बिना हम किसी बाहृय वस्तु को प्रत्यक्षत नही जान सकते। इन इन्द्रिय-सवेदनो तथा बाहृय वस्तुओ के सबध का स्वरूप और कारण क्या है इस प्रश्न का कोई निश्चित एव सर्वमान्य उत्तर देना बहुत कठिन है। राय की इस मान्यता का औचित्य भी संदिग्ध ही प्रतीत होता है कि हम सदा बाहृय वस्तुओ को ठीक उसी रूप मे जानते हैं जैसी वे वास्तव मे हैं। हम इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि बाहृय जगत् सबधी हमारे ज्ञान पर हमारी मनोदशाओ तथा कुछ विशेष भौतिक परिस्थितियो का भी पर्याप्त प्रभाव पडता है। ऐसी स्थिति मे निश्चित रूप से यह कहना बहुत कठिन है कि बाहृय वस्तुएँ ठीक वैसी ही हैं जैसी हम उन्हे विभिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से जानते हैं। इसके अतिरिक्त यदि राय के इस मत को स्वीकार कर लिया जाए कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है तो हमारे ज्ञान की परिधि भी बहुत

---

5 वही पुस्तक, पृ 291

6 वही पुस्तक पृ 204 205

सीमित हो जाएगी। इसी कारण ज्ञान के लिए इन्द्रियप्रत्यक्ष के साथ-साथ शब्द तथा अनुमान को भी बहुत आवश्यक माना गया है। भौतिकवाद, अनुभववाद तथा यथार्थवाद की उपर्युक्त कठिनाइयो से यह स्पष्ट है कि ये तीनो दार्शनिक सिद्धात पूर्णत सतोषप्रद नही है।

3. **नैतिकता और धर्म** . रायने अपने भौतिकवादी दर्शन के अनुरूप ही नैतिकता और धर्म के विषय मे विचार किया है। वे व्यक्ति तथा समाज के लिए नैतिक नियमो के महत्त्व को पूर्णत स्वीकार करते है, किन्तु उनका मत है कि नैतिकता का स्रोत ईश्वर अथवा अन्य कोई इन्द्रियातीत सत्ता नही है। इसी प्रकार सामाजिक भय अथवा कोई अन्य बाहरी दबाव भी वास्तविक नैतिकता का आधार नही हो सकता। सच्ची नैतिकता अत प्रेरित ही होती है और बौद्धिक प्राणी होने के कारण मनुष्य किसी तथाकथित दैवी शक्ति का आधार लिए बिना स्वय अपने जीवन मे ऐसी नैतिकता का विकास कर सकता है।[7] राय मार्क्सवादियो के इस मत को स्वीकार नही करते कि सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्ति के लिए सत्य, ईमानदारी, निष्ठा आदि सद्गुणो का परित्याग किया जा सकता है। इस सबध मे वे स्पष्ट कहते है कि "मैं इस विचार के साथ समझौता नही कर सकता कि क्रातिकारी सद्गुणो की सूची मे सत्य, ईमानदारी तथा निष्ठा जैसे गुणो का कोई स्थान नही है"।[8] राय के मतानुसार मनुष्य की स्वतत्रता सर्वोच्च मूल्य है और यह स्वतत्रता ही समस्त मूल्यो का स्रोत है। स्वतत्रता के पश्चात ज्ञान तथा सत्य का स्थान है और ये दोनो भी मनुष्य के नैतिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। असत्य, छल, कपट आदि अनैतिक उपायो द्वारा स्वतत्रता प्राप्त नही की जा सकती।[9]

राय का कथन है कि मानव-स्वभाव के सबध मे प्राय दो भ्रात धारणाएँ प्रचलित है—प्रथम धारणा यह है कि मनुष्य स्वभावत स्वार्थी है और दूसरी धारणा यह है कि वह ईश्वर अथवा किसी अन्य अलौकिक शक्ति मे अवश्य विश्वास करता है। इन दोनो भ्रान्त धारणाओ अथवा इनमे से किसी एक धारणा के आधार पर मनुष्य के नैतिक जीवन की जो व्याख्या की जाती है वह भ्रामक ही होगी। राय यह मानते हैं कि मनुष्य न तो स्वभावत स्वार्थी है और न ईश्वरभक्त, अत वे स्वार्थवाद अथवा ईश्वरवाद पर आधारित नैतिकता की व्याख्या को अस्वीकार करते है। उनका विचार है कि नैतिकता का आधार मनुष्य की तर्कबुद्धि तथा अत प्रेरणा ही है, कोई बाह्य शक्ति नही। राय का यह नैतिक दर्शन वर्तमान वैज्ञानिक युग के अनुरूप तथा युक्तिसगत ही प्रतीत होता है।

हम पहले ही यह बता चुके हैं कि राय ईश्वर और आत्मा की सत्ता तथा पुनर्जन्म के सिद्धात का अस्वीकार करते है। ऐसी स्थिति मे यह समझना कठिन नही है कि उनके भौतिकवादी दर्शन मे परपरागत धर्म के लिए कोई स्थान नही है। एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे उन्होने यह अवश्य स्वीकार किया है कि प्राचीन काल से ही मानव-समाज पर धर्म का बहुत व्यापक प्रभाव रहा है। राय के मतानुसार यह एक दु खद तथ्य है कि मनुष्य अपने सामाजिक सबधो की अपेक्षा ईश्वर के साथ अपने सबध के विषय मे तथा अपने वर्तमान जीवन की अपेक्षा मृत्यु के पश्चात् अपने पारलौकिक जीवन के विषय मे ही अधिक चिंतित रहा है।[10] अधिकतर धार्मिक मान्यताएँ तथा सिद्धात केवल आस्था पर ही आधारित हैं जिनके विषय में तर्क करना अनुचित माना जाता है, अत धर्म के फलस्वरूप मनुष्य का स्वतत्र बौद्धिक चिंतन प्राय कुण्ठित हो जाता है। धर्म के नाम पर

7 मानवेन्द्रनाथ राय 'न्यू ह्यूमैनिज्म', पृ 84, 87

8 मानवेन्द्रनाथ राय, न्यू ओरियन्टेशन पृ 122

9 मानवेन्द्रनाथ राय रीज़न, रोमैंटिसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन खण्ड [illegible]

0 वही पुस्तक पृ 0

धर्मगुरुओं ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए अशिक्षित तथा निर्धन जनता का बहुत शोषण किया है। जनसाधारण में धार्मिक भावनाओं को उभार कर वे सामाजिक प्रतिष्ठा, यश, धन, सम्मान आदि सब कुछ प्राप्त करते रहे हैं।[11] राय का कथन है कि धर्म के नाम पर जनता का यह शोषण समाप्त करना बहुत आवश्यक है। यह तभी संभव है जब हम धार्मिक मान्यताओं तथा सिद्धांतों को केवल आस्था के आधार पर स्वीकार न करके आधुनिक विज्ञान की सहायता से उपलब्ध मानव-जीवन और विश्वसंबंधी नवीनतम ज्ञान के आधार पर विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा उनकी निष्पक्ष परीक्षा करें। राय का यह विशेष आग्रह है कि प्रत्येक सिद्धांत अथवा मान्यता की व्याख्या की जाए, किसी भी विश्वास को स्वीकार करने के लिए हमारे पास विश्वसनीय तथा पर्याप्त प्रमाण हों और सभी मान्यताओं एवं सिद्धांतों की सत्यता के विषय में मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि द्वारा ही स्वयं निर्णय करे।[12] इस तार्किक कसौटी द्वारा धर्म की परीक्षा करने के पश्चात् वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रत्येक धर्म—चाहे वह ईश्वरोन्मुख हो अथवा ईश्वररहित—मानवतावाद के विरुद्ध है। केवल मनुष्य को उत्कृष्टतम मानने के कारण मानवतावाद इस मान्यता को स्वीकार नहीं कर सकता कि मनुष्य की अपेक्षा भी कोई अधिक श्रेष्ठ अथवा ऊँचा है। तथाकथित आध्यात्मिक जीवन के लिए वर्तमान जीवन की उपेक्षा करना और धार्मिक सान्त्वना के नाम पर दुःख सहना अथवा किसी को दुःख देना सबसे बड़ी मूर्खता है। ऐसा धार्मिक दृष्टिकोण सभी प्रकार की प्रगति के विरुद्ध है।[13] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राय ने मानव-जीवन में परंपरागत धर्म की उपादेयता का निषेध किया है। विश्व के विभिन्न भागों में प्राचीन काल से वर्तमान युग तक धर्म युद्धों के रक्तरंजित दुःखद इतिहास को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि धर्म ने मुख्यतः मानव-समाज को विभाजित करने वाली शक्ति के रूप में कार्य किया है और धर्म के नाम पर मनुष्य द्वारा मनुष्य का बहुत शोषण हुआ है तथा आज भी हो रहा है, अतः धर्म के प्रति राय का उपर्युक्त निषेधात्मक दृष्टिकोण पर्याप्त सीमा तक उचित एवं युक्तिसंगत है।

4. **व्यक्तिगत स्वतंत्रता** : राय मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को विशेष महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनके विचार में इस स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति वास्तव में सुखी नहीं हो सकता। उनके राजनीतिक दर्शन का मूल आधार मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता ही है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता से उनका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के कार्यों तथा विचाराभिव्यक्ति पर राज्य एवं समाज द्वारा अनुचित तथा अनावश्यक प्रतिबंध न लगाए जाएँ और व्यक्ति को समाज की उन्नति का साधन-मात्र न मानकर उसके विशेष महत्त्व को स्वीकार किया जाए। इस संबंध में राय का मार्क्सवादियों से तीव्र मतभेद है, क्योंकि मार्क्सवाद में मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं है। अपनी युवावस्था में वे मार्क्सवाद से बहुत प्रभावित हुए थे, किंतु बाद में उनके विचारों में परिवर्तन हुआ और वे इस विचारधारा को एकांगी तथा दोषपूर्ण मानने लगे। रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों में मार्क्सवाद पर आधारित जिस शासन-प्रणाली का विकास हुआ है उसे राय मानव-समाज के लिए उपादेय नहीं मानते, क्योंकि इसमें व्यक्ति को राज्य की प्रगति का साधन-मात्र माना जाता है और इस प्रकार उसकी महत्ता एवं स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं किया जाता। साम्यवादियों के विपरीत, राय के सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन का केंद्र व्यक्ति है जिसकी स्वतंत्रता के लिए वे सदैव उन अधिनायकवादी शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे जो मनुष्य को उसकी व्यक्तिगत

---

11 मानवेन्द्रनाथ राय, 'साइंटिफिक पॉलिटिक्स', पृ. 302.

12 मानवेन्द्रनाथ राय, 'फ्रेग्मेंट्स ऑफ प्रिजनर्स डायरी', पृ. 63-64

13 'न्यू ओरियंटेशन', पृ. 30, 35

स्वतन्त्रता से वंचित करती हैं। उनका विचार है कि स्वतन्त्रताकांक्षी सभी व्यक्तियों को इन शक्तियों के विरुद्ध संगठित रूप से निरंतर संघर्ष करना होगा, अन्यथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती।[14]

परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि राय व्यक्ति की स्वतन्त्रता को असीमित न मानकर सामाजिक हित द्वारा मर्यादित ही मानते हैं। समाज में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता के साथ-साथ दूसरों की स्वतन्त्रता का भी सम्मान करना होगा, अत किसी भी व्यक्ति को मनमाने ढंग से व्यवहार करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। ऐसी असीमित स्वतन्त्रता वास्तव में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का निषेध करती है।[15] राय यह मानते हैं कि सामाजिक हित के लिए राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर उचित प्रतिबंध लगाने का अधिकार है, किन्तु ये प्रतिबंध उसी सीमा तक लगाए जाने चाहिए जिस सीमा तक ये दूसरों की स्वतन्त्रता और सामाजिक हित के लिए अनिवार्य हों। सामाजिक हित के नाम पर अधिनायकवादियों द्वारा व्यक्ति को उसके समस्त अधिकारों से वंचित कर देना अनुचित तथा निंदनीय है। विश्व के विभिन्न भागों में बढ़ती हुई अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विषय में राय का यह दृष्टिकोण उचित एवं वांछनीय है।

5. **अंतर्राष्ट्रीयतावाद और नवमानवतावाद** : राय मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीयतावाद के भी प्रबल समर्थक हैं। उनका विचार है कि वर्तमान युग में मानव-समाज के समक्ष सबसे बड़ी समस्या विभिन्न देशों के नागरिकों में संकुचित राष्ट्रीयता की तीव्र भावना है जो उन्हें संपूर्ण मानव-जाति के कल्याण के लिए सोचने तथा प्रयास करने से रोकती है। प्रत्येक देश के नेता दूसरे देशों के हित की चिंता किए बिना केवल अपने देश की प्रगति के लिए ही प्रयत्न करते हैं, फलत मानव-समाज भिन्न-भिन्न टुकड़ों में विभक्त हो गया है जो प्राय एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करते हैं। आज विश्व में जो संघर्ष, निर्धनता बेरोजगारी तथा पारस्परिक अविश्वास है उसका मुख्य कारण यह संकुचित राष्ट्रीयता की भावना है। राय का मत है कि जब तक मानव-जाति इस संकुचित राष्ट्रवाद से मुक्त नहीं होती तब तक इन समस्याओं का समाधान संभव नहीं है। विश्व में एकता और शांति तभी स्थापित हो सकती है जब हम केवल अपने देश के हित की दृष्टि से ही नहीं, अपितु संपूर्ण मानव-जाति के कल्याण की दृष्टि से भी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर विचार करें। राय यह मानते हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में संकुचित राष्ट्रवाद के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार आचरण करना अतत मानव-जाति के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।[16] यही कारण है कि वे मानव-समाज में अंतर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास को विशेष महत्त्व देते हैं।

अंत में यहाँ 'नवमानवतावाद' के विषय में भी राय के विचारों का उल्लेख कर देना आवश्यक है जो उनके दर्शन की प्रमुख विशेषता है। वर्तमान शताब्दी के मानवतावादी दार्शनिकों में राय का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके संपूर्ण चिंतन का केंद्र मनुष्य ही है और उसी की समस्याओं पर विचार करना तथा उनका वैज्ञानिक ढंग से समाधान खोजना उनके दर्शन का मूल उद्देश्य है। राय ने अपने नवमानवतावादी दर्शन को 'नवमानवतावाद' अथवा 'वैज्ञानिक मानवतावाद' की संज्ञा दी

---

14 मानवेन्द्रनाथ राय, 'लॉस्ट बैटल ऑफ फ्रीडम' पृ 23

15 मानवेन्द्रनाथ राय, पावर्टी ऑर प्लेन्टी पृ 13

16 राय मैमॉयर्स प 56

है, क्योंकि वह मनुष्य के उद्भव तथा विकास के संबंध में विज्ञान द्वारा उपलब्ध नवीन ज्ञान पर आधारित है। वे अपने नवमानवतावाद को बहुत व्यापक तथा व्यावहारिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके संबंध में उनका कथन है कि "नवमानवतावाद कोई अमूर्त दर्शन नहीं है, न ही वह केवल समाज-दर्शन अथवा राजनीतिक या आर्थिक सिद्धांत है। इसके सिद्धांतों का संबंध मानव-जीवन के सभी पक्षों तथा मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व से है"।[17]

राय के इस विज्ञानसम्मत नवमानवतावाद में ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। उनका विचार है कि जब तक मनुष्य परंपरागत धार्मिक बंधनों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाता तब तक वह मानवतावाद के महान् आदर्शों के अनुसार आचरण नहीं कर सकता। मनुष्य के लिए यह समझ लेना बहुत आवश्यक है कि वह स्वयं ही अपने सुख दुःख के लिए उत्तरदायी है और वही अपने भाग्य का निर्माता है इसमें कोई दैवी शक्ति उसकी सहायता नहीं कर सकती। मानव-जीवन तथा इस संसार की समस्याओं से अपना ध्यान हटाकर उसे ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति पर केंद्रित करना और इन समस्याओं के समाधान के लिए उसकी सहायता की आशा करना अनुचित एवं अवांछनीय है। इस संसार में मनुष्य के जीवन की कहानी उसके शरीर के साथ ही समाप्त हो जाती है, अतः मोक्ष की परंपरागत अवधारणा मिथ्या एवं भ्रामक है।[18] राय के मतानुसार हमें कल्पित पारलौकिक जीवन की चिंता किए बिना इसी संसार में मनुष्य की वर्तमान समस्याओं के समाधान के लिए वैज्ञानिक ढंग से प्रयास करना चाहिए। अतः इसी में संपूर्ण मानव-जाति का कल्याण निहित है और मनुष्य के लिए यह व्यावहारिक मानवतावादी दर्शन ही वास्तव में सार्थक हो सकता है।

राय 'पॉलिटिक्स पावर ऐण्ड पार्टीज' पृ 40

८ राय इन मैन्स ओन इमेज पृ 18 9

भाग 2
नैतिक दर्शन

11

अधि-नीतिशास्त्र क्या है?

1. अधि-नीतिशास्त्र की परिभाषा

हम अपने दैनिक जीवन मे प्राय ऐसे कथनो का प्रयोग करते है जिन्हे 'नैतिक कथन' अथवा 'नैतिक निर्णय' कहा जाता है। उदाहरणार्थ हम कहते हैं कि "सत्य बोलना 'उचित' है," "चोरी करना 'अनुचित' है," "वह बहुत 'अच्छा' मनुष्य है", "उस व्यक्ति का चरित्र बहुत 'उत्कृष्ट' है", "निर्दोष प्राणी को कष्ट पहुँचा कर तुमने बहुत 'बुरा' कर्म किया है", "ससार मे सुख ही एकमात्र 'शुभ' और दु ख ही एकमात्र 'अशुभ' है", "अपने माता-पिता की सेवा करना मेरा 'कर्त्तव्य' है", 'उसे अपने गुरु का निरादर नही करना 'चाहिए' था', इत्यादि। उपर्युक्त कथनो तथा इसी प्रकार के अन्य सभी कथनो को हम 'नैतिक कथन' या 'नैतिक निर्णय' कहते है जिनका स्पष्टीकरण और विश्लेषण करना अधि-नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

नैतिक कथनो अथवा निर्णयो के सबध मे मुख्यत तीन प्रकार के प्रश्न उठाए जा सकते है। सवप्रथम प्रश्न यह है कि इन नैतिक कथनो का 'अर्थ' क्या है—अर्थात् जब हम इनका प्रयोग करते हैं तो हम इनके द्वारा क्या कहना चाहते है। इसी प्रश्न को हम इस प्रकार भी प्रस्तुत कर सकते है कि जब हम विभिन्न प्रसगो तथा परिस्थितियो मे 'शुभ', 'अशुभ', 'उचित', 'अनुचित', 'कर्त्तव्य', आदि नैतिक शब्दो अथवा प्रत्ययो का प्रयोग करते हैं तो हम इनका क्या अर्थ समझते हैं और ये निर्नैतिक शब्दो से किस अर्थ मे भिन्न होते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रश्न का सबध नैतिक शब्दो की परिभाषा तथा भूमिका से है। नैतिक कथनो अथवा निर्णयो के सबध मे दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इनका 'स्वरूप' क्या है—अर्थात् क्या ये कथन तथ्यात्मक कथनों की भाँति वर्णनात्मक या सज्ञानात्मक होते हैं, अथवा क्या ये सवेगात्मक कथनों के समान मुख्यत अवर्णनात्मक या असज्ञानात्मक है? यदि नैतिक कथन तथ्यात्मक तथा संवेगात्मक कथनो से भिन्न हैं तो वह कौन-सा तत्त्व है जो इन नैतिक कथनो को अन्य दोनो प्रकार के कथनो से पृथक करता है? नैतिक कथनो या निर्णयो से सबधित तीसरा प्रमुख प्रश्न यह है कि क्या तर्कों द्वारा इन निर्णयो को उचित सिद्ध किया जा सकता है। यदि नैतिक निर्णयो का प्रमाणीकरण सभव है तो हम इनकी पुष्टि के लिए किस प्रकार के तर्क प्रस्तुत कर सकते है? क्या इन निर्णयो को उचित सिद्ध करने के लिए उसी प्रकार के तर्क दिए जा सकते है जिस प्रकार के तर्को द्वारा तथ्यात्मक निर्णयो को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जाता है?

उपर्युक्त सभी प्रश्नो का सबध नैतिक दर्शन की उस नवीनतम विधा से है जिसे 'अधि-नीतिशास्त्र' 'आलोचनात्मक नीतिशास्त्र' अथवा 'विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र' की सज्ञा

दी जाती है और जिसका उदय तथा विकास वर्तमान शताब्दी मे ही हुआ है। इन प्रश्नों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधि-नीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य नैतिक शब्दों अथवा प्रत्ययो के अर्थ का विश्लेषण करके नैतिक निर्णयो के स्वरूप को स्पष्ट करना तथा उनके प्रमाणीकरण की विधियो का विवेचन करना है। हम अपने दैनिक जीवन मे जिन नैतिक कथनो का प्रयोग करते हैं अधि-नीतिशास्त्र उनका स्पष्टीकरण तथा तार्किक विश्लेषण करता है। इस प्रकार हम यह कहते हैं कि अधि-नीतिशास्त्र नैतिक दर्शन की वह विधा है जो नैतिक भाषा के सभी पक्षो का व्यवस्थित रूप से अध्ययन, स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नैतिक भाषा का विश्लेषण करते समय अधि-नीतिशास्त्री यथासभव तटस्थ रहता है-- अर्थात् वह किसी विशेष मानकीय नैतिक सिद्धात का समर्थन या खंडन नही करता। वह तटस्थ प्रेक्षक तथा आलोचक के रूप मे नैतिक भाषा की मूल विशेषताओ को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से अधि-नीतिशास्त्री की तुलना ऐसे वैज्ञानिक के साथ की जा सकती है जिसका उद्देश्य किसी समस्या के कारणों का तटस्थतापूर्वक और निष्पक्ष रूप से स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करना ही होता है। अधि-नैतिक सिद्धातो की इसी तटस्थता का उल्लेख करते हुए सवेगवाद के प्रमुख प्रणेता ए०जे० एयर कहते है कि "दार्शनिक सिद्धातो के रूप मे सभी नैतिक सिद्धात -- अत:प्रज्ञावाद, प्रकृतिवाद, वस्तुनिष्ठवाद, सवेगवाद तथा अन्य सिद्धात--वास्तविक आचरण के सबंध मे तटस्थ हैं"।[1] इसी प्रकार सवेगवाद के एक अन्य मुख्य समर्थक सी०एल० स्टीवेन्सन ने भी मानवीय आचरण की दृष्टि से अधि-नीतिशास्त्र को पूर्णत तटस्थ माना है। अधि-नीतिशास्त्र के विषय मे उनका कथन है कि "इससे किसी व्यक्ति को यह जानने की आशा नही करनी चाहिए कि कौन-सा आचरण उचित है और कौन-सा अनुचित। विश्लेषणात्मक अध्ययन का उद्देश्य सदैव अप्रत्यक्ष होता है-- फिर चाहे वह विज्ञान का हो अथवा नीतिशास्त्र का। यह दूसरो को इस योग्य बनाने की आशा करता है कि वे समय और शक्ति नष्ट किए बिना अधिक स्पष्टता से जाँच करने का कार्य कर सके"।[2] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अधि-नीतिशास्त्री आचरण की दृष्टि से अधि-नीतिशास्त्र को तटस्थ मानते हैं। इस प्रकार सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अधि-नीतिशास्त्र नैतिक भाषा के सभी पक्षों के स्पष्टीकरण एव तार्किक विश्लेषण का शास्त्र है जो उन सभी प्रश्नो का व्यवस्थित रूप से उत्तर देने का प्रयास करता है जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, इसी कारण इसे 'विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र' की सज्ञा भी दी जाती है।

2. अधि-नीतिशास्त्र और मानकीय नीतिशास्त्र

अधि-नीतिशास्त्र के स्वरूप को भलीभाँति समझने के लिए मानकीय नीतिशास्त्र के साथ उसकी तुलना करना वांछनीय होगा। हम देख चुके हैं कि व्यावहारिक जीवन मे मनुष्य का मार्गदर्शन करना अधि-नीतिशास्त्र का उद्देश्य नही है, अत यह मानवीय आचरण के लिए किसी मानकीय सिद्धात का प्रतिपादन नही करता। वास्तव में यह कार्य मानकीय नीतिशास्त्र का ही है। मानकीय नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि मनुष्य के लिए स्वत शुभ क्या है, उसके कौन-से कर्म उचित हैं और कौन-से अनुचित, अपने प्रति और दूसरों के प्रति उसका कर्त्तव्य क्या है, शुभ-अशुभ

1 ए०जे० एयर, फिलॉसॉफिकल एसेज, पृ 246

2 सी०एल० स्टीवेन्सन, 'ऐथिक्स एण्ड लैंग्वेज, पृ 1

तथा उचित-अनुचित कर्मों अथवा कर्त्तव्य का निर्धारण किन नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जा सकता है, इत्यादि। मानव-जीवन के लिए परम शुभ तथा कर्त्तव्य के संबंध में सामान्य एवं सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना और समुचित तर्कों द्वारा इन सिद्धान्तों को युक्तिसंगत सिद्ध करना मानकीय नीतिशास्त्र का उद्देश्य है। इन सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों द्वारा मानकीय नीतिशास्त्र व्यावहारिक जीवन में मनुष्य का मार्गदर्शन करता है। उदाहरणार्थ सुखवाद एक मानकीय नैतिक सिद्धान्त है जो हमें बताता है कि सुख ही मनुष्य के लिए परम शुभ है अतः सुख के आधार पर ही उसके कर्मों के औचित्य तथा कर्त्तव्य का निर्णय किया जा सकता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मानकीय नीतिशास्त्र की समस्याएँ अधि-नीतिशास्त्र की समस्याओं से भिन्न हैं।

मानकीय नीतिशास्त्र तथा अधि-नीतिशास्त्र के अंतर को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। मानकीय नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि हमारे लिए शुभ क्या है और हमें क्या करना चाहिए जब कि अधि-नीतिशास्त्र 'अमुक वस्तु हमारे लिए शुभ है' तथा 'अमुक कर्म करना हमारा कर्त्तव्य है' इन नैतिक निर्णयों के अर्थ एवं स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करता है। मानकीय नीतिशास्त्र मनुष्य का मार्गदर्शन करने के लिए प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्तों के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करता है, जब कि अधि-नीतिशास्त्र इन तर्कों के स्वरूप तथा इनकी विधियों पर विचार करता है और इन तर्कों की प्रामाणिकता की निष्पक्ष रूप से परीक्षा करता है। इस प्रकार उपर्युक्त अंतर से नैतिक दर्शन की इन दोनों विधाओं का भिन्न स्वरूप तथा क्षेत्र भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अधि-नीतिशास्त्र वास्तव में मानकीय नीतिशास्त्र का पूरक है। हम देख चुके हैं कि अधि-नीतिशास्त्र उन नैतिक निर्णयों के अर्थ और स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करता है जो हम मानकीय नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार अपने व्यावहारिक जीवन में करते हैं। इसी प्रकार अधि-नीतिशास्त्र उन तर्कों के स्वरूप को स्पष्ट करता है जो मानकीय नीतिशास्त्र अपने नैतिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करता है। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि अधि-नीतिशास्त्र वास्तव में मानकीय नीतिशास्त्र का सहायक अथवा पूरक है। मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयों तथा तर्कों के अर्थ और स्वरूप को समझने के लिए अधि-नीतिशास्त्र का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इस दृष्टि से मानकीय नीतिशास्त्र के पूरक के रूप में अधि-नीतिशास्त्र का विशेष महत्त्व है।

परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि केवल अधि-नीतिशास्त्र को ही संपूर्ण नैतिक दर्शन मान लेना अनुचित एवं एकांगी दृष्टिकोण है जिसका कुछ समकालीन दार्शनिकों ने समर्थन किया है। उदाहरणार्थ ए०जे० एयर अधि-नीतिशास्त्र को ही नैतिक दर्शन मानते हैं, मानकीय नीतिशास्त्र को नहीं। पी०एच० नावलस्मिथ की पुस्तक 'एथिक्स' के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि "नीतिज्ञ तथा नैतिक दार्शनिक के कार्य में अंतर है जिसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। नीतिज्ञ नैतिक नियमों का प्रतिपादन करता है अथवा उनका पालन करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करता है, परन्तु नैतिक दार्शनिक का मुख्य कार्य नैतिक निर्णय देना नहीं, अपितु उनके स्वरूप का विश्लेषण करना है"।[3] अपने इसी मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए एयर ने अपनी पुस्तक 'फिलॉसॉफिकल एसेज' में लिखा है कि "नैतिक दर्शन के लिए प्रश्न यह नहीं है कि कोई विशेष कर्म उचित है या अनुचित, अपितु प्रश्न यह है कि किसी कर्म को उचित अथवा अनुचित कहने का अर्थ क्या है"।[4] इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि एयर के अनुसार अधि-नीतिशास्त्र ही

---

3 ए०जे० एयर, पी०एच० नॉवलस्मिथ की पुस्तक 'एथिक्स', पृ 1

4 ए०जे० एयर 'फिलॉसॉफिकल एसेज' पृ 235

वास्तव मे संपूर्ण नैतिक दर्शन है। कुछ अन्य दार्शनिको ने भी उनके इस मत का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ नीतिशास्त्र की परिभाषा करते हुए अपनी पुस्तक 'दि लैंग्वेज ऑफ मॉरल्स' की प्रस्तावना मे आर०एम० हेयर कहते हैं कि ''नीतिशास्त्र नैतिक भाषा का तार्किक अध्ययन है।

परतु मेरे विचार मे अधि-नीतिशास्त्र के सबंध मे इन दार्शनिको का उपर्युक्त दृष्टिकोण एकागी होने के कारण अनुचित एव अमान्य है। हम देख चुके हैं कि अधि-नीतिशास्त्र का कार्य मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयो के स्वरूप का विश्लेषण करना है जिससे उन्हे भलीभाँति समझा जा सके। इसका अर्थ यह है कि अधि-नीतिशास्त्र वास्तव मे मानकीय नीतिशास्त्र को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। मानकीय नीतिशास्त्र के निर्णयो तथा सिद्धातों के अभाव मे अधि-नीतिशास्त्र की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती, अत इस दृष्टि से वह अपने अस्तित्व और अपनी सार्थकता के लिए अतत मानकीय नीतिशास्त्र पर ही निर्भर है। ऐसी स्थिति मे अधि-नीतिशास्त्र को ही अपने आप मे साध्य तथा सपूर्ण नैतिक दर्शन मान लेना हमारी बहुत बडी भूल होगी। जो दार्शनिक ऐसा मानते हैं वे स्पष्टत तथ्यो की उपेक्षा करते हैं। वस्तुत अधि-नीतिशास्त्र स्वत साध्य तथा सपूर्ण नैतिक दर्शन न होकर नैतिक दर्शन की एक बहुत महत्त्वपूर्ण विधा है जिसकी सहायता से हम नैतिक भाषा के अर्थ और स्वरूप को भलीभाँति समझ सकते हैं। मानकीय नीतिशास्त्र की समस्याओ के समुचित एव संतोषप्रद समाधान मे अधि-नीतिशास्त्र निश्चय ही हमारी बहुत सहायता कर सकता है। अत इस दृष्टि से— मानकीय नीति-शास्त्र के पूरक अथवा सहायक के रूप मे— अधि-नीतिशास्त्र का हमारे लिए अत्यधिक महत्त्व है।

3 अधि-नीतिशास्त्र की मूल समस्याएँ

अधि-नीतिशास्त्र की परिभाषा तथा मानकीय नीतिशास्त्र के साथ उसके सबध पर विचार करने के पश्चात अब अधि-नीतिशास्त्र की कुछ मूल समस्याओ का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। प्रथम खड के आरभ मे नैतिक निर्णयों से सबंधित जिन तीन प्रश्नो की चर्चा की गई है उन्हे ही अधि-नीतिशास्त्र की मूल समस्याएँ माना जाता है। नैतिक शब्दो अथवा निर्णयो का अर्थ, इन निर्णयो का स्वरूप तथा प्रमाणीकरण— ये तीन समस्याएँ अधि-नीतिशास्त्र की मूल समस्याएँ हैं। अब क्रमश अधि-नीतिशास्त्र की इन तीनो मूल समस्याओ पर विचार किया जाएगा।

(1) हम देख चुके हैं कि अधि-नीतिशास्त्र का उद्देश्य नैतिक भाषा का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम नैतिक शब्दो या प्रत्ययो के अर्थ अथवा उनकी परिभाषा पर विचार किया जाता है। हम अपने दैनिक जीवन मे 'शुभ', 'उचित', 'कर्त्तव्य', आदि जिन नैतिक शब्दो का प्रयोग करते हैं वे हमे सामान्यत बहुत ही सरल प्रतीत होते हैं। साधारण व्यक्ति प्राय यह दावा करता है कि वह इन शब्दो का अर्थ भलीभाँति जानता है। परतु दार्शनिक दृष्टि से इन नैतिक शब्दो का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इनका कोई स्पष्ट, निश्चित और सर्वमान्य अर्थ बताना लगभग असंभव है। अनेक महान दार्शनिक दीर्घ काल से 'शुभ', 'उचित', 'कर्त्तव्य', आदि नैतिक शब्दो के अर्थ पर गभीरतापूर्वक विचार करते रहे हैं, किंतु फिर भी वे अभी तक इनमे से किसी शब्द की कोई निश्चित एव सर्वमान्य परिभाषा नहीं दे सके। इसका कारण यह है कि विभिन्न प्रसगो तथा म इन शब्दों का अर्थ भिन्न भिन्न हो सकता है ऐसी स्थिति में

दार्शनिक दृष्टि से यह कहना अत्यंत कठिन है कि इनका ठीक-ठीक और निश्चित अर्थ क्या है। अधि-नीतिशास्त्र के अंतर्गत इस समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धांतों के अनुरूप इन नैतिक शब्दों तथा इनसे संबद्ध अन्य नैतिक शब्दों की परिभाषा दी है और हमारे व्यावहारिक जीवन में इनके महत्त्व को स्पष्ट किया है। इन दार्शनिकों ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि विभिन्न प्रसंगों तथा परिस्थितियों में इन शब्दों के नैतिक और निर्नैतिक उपयोग में क्या अंतर होता है। उदाहरणार्थ हम 'अच्छा' शब्द का प्रयोग मनुष्य तथा उसके चरित्र के लिए भी करते हैं और भौतिक वस्तुओं के लिए भी। हम कहते हैं कि "वह अच्छा मनुष्य है" अथवा "उस व्यक्ति का चरित्र बहुत 'अच्छा' है।" परंतु हम यह भी कहते हैं कि "वह 'अच्छा' घर है" अथवा "यह 'अच्छा' सेब है"। प्रथम दो कथनों में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में तथा अंतिम दो कथनों में इस शब्द का प्रयोग निर्नैतिक अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार अन्य अनेक नैतिक शब्दों का प्रयोग भी नैतिक तथा निर्नैतिक दोनों अर्थों में किया जाता है। अधि-नीतिशास्त्र ही हमें यह बताता है कि इन शब्दों के उक्त दोनों अर्थों में क्या आधारभूत अंतर है और इस अंतर का कारण क्या है। इस प्रकार नैतिक शब्दों के अर्थ अथवा उनकी परिभाषा से संबंधित समस्या अधि-नीतिशास्त्र की बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है।

अधि-नीतिशास्त्र की दूसरी समस्या का संबंध नैतिक कथनों अथवा निर्णयों के स्वरूप से है। क्या नैतिक निर्णय वैज्ञानिक कथनों की भाँति तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक होते हैं? अथवा क्या ये निर्णय हमारी भावनाओं को व्यक्त करने तथा अन्य व्यक्तियों में इन भावनाओं को जागृत करने वाले संवेगात्मक कथन मात्र हैं? अथवा क्या ये नैतिक निर्णय आदेशात्मक या परामर्शात्मक वाक्य हैं? अथवा क्या ये निर्णय केवल हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं को अभिव्यक्त करने वाले व्यक्तिनिष्ठ कथन हैं? इन सभी प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों पर अधि-नीतिशास्त्र की उपर्युक्त दूसरी समस्या के अंतर्गत विचार किया जाता है। यह स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का संबंध नैतिक निर्णयों के स्वरूप तथा उद्देश्य से है। इन निर्णयों के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अधि-नीतिशास्त्री हमें यह बताता है कि हमारे व्यावहारिक जीवन में इनका वास्तविक उपयोग अथवा कार्य क्या है और हम इनका प्रयोग किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करते हैं। नैतिक निर्णयों के स्वरूप तथा उद्देश्य के विषय में दार्शनिकों में तीव्र मतभेद है। कुछ दार्शनिक इन निर्णयों को तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक कथन मानते हैं और कुछ अन्य दार्शनिक इन्हें संवेगात्मक, आदेशात्मक अथवा परामर्शात्मक कथन। इस प्रकार नैतिक निर्णयों के अर्थ के साथ-साथ उनके स्वरूप पर भी अधि-नीतिशास्त्र के अंतर्गत विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

अधि-नीतिशास्त्र की तीसरी महत्त्वपूर्ण समस्या नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण से संबंधित है। इस समस्या के अंतर्गत जिन प्रश्नों पर विचार किया जाता है उनमें से कुछ मुख्य प्रश्न इस प्रकार हैं: क्या हम अपने नैतिक निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिए कुछ युक्तियाँ अथवा तर्क दे सकते हैं? दूसरे शब्दों में, क्या हमारे नैतिक निर्णय बुद्धिसंगत अथवा तर्कसंगत होते हैं? यदि हम इन निर्णयों को उचित सिद्ध करने के लिए तर्क दे सकते हैं तो इन तर्कों का स्वरूप क्या है? क्या ये उसी प्रकार के तर्क हैं जिस प्रकार के तर्क हम अपने निर्णयों की पुष्टि के लिए देते हैं? यदि ये तर्क भिन्न प्रकार के हैं तो वे कौन से

तत्त्व हैं जो इन तर्कों को तथ्यात्मक निर्णयो के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों से पृथक करतेहैं? क्या निगमनात्मक तथा आगमनात्मक तर्को द्वारा नैतिक निर्णयो का प्रमाणीकरण संभव है? यदि नही तो इन निर्णयो को उचित सिद्ध करने के लिए किस प्रकार के विशेष तर्क दिए जा सकते हैं? अधि-नीतिशास्त्र इन सभी प्रश्नो तथा ऐसे ही अन्य अनेक प्रश्नो का संतोषप्रद उत्तर देने का प्रयास करना है। नैतिक निर्णयों के प्रमाणीकरण की इस समस्या को दार्शनिक विशेष महत्त्व देते हैं, क्योंकि प्रमाणीकरण के अभाव मे इन निर्णयो को तर्कसगत या बौद्धिक नही माना जा सकता। अन्य दो समस्याओ की भाँति अधि-नीतिशास्त्र की इस समस्या का समाधान भी विभिन्न दार्शनिको ने अपने-अपने सिद्धातों के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से करने का प्रयास किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि केवल अध्ययन की दृष्टि से ही अधि-नीतिशास्त्र की उपर्युक्त तीनो समस्याओ का पृथक-पृथक विवेचन किया गया है, वास्तव मे ये तीनों समस्याएँ अलग-अलग न होकर परस्पर घनिष्ठ रूप से सबद्ध हैं। इसका कारण यह है कि नैतिक निर्णयो का अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण ये तीनो पक्ष एक-दूसरे से पृथक न होकर अन्योन्याश्रित हैं। इनमे से किसी एक समस्या के समाधान के विषय मे किसी दार्शनिक के विचार जान लेने के पश्चात हम यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि वह अन्य दो समस्याओ का समाधान किस प्रकार करेगा। उदाहरणार्थ यदि कोइ दार्शनिक यह कहता है कि 'शुभ' का अर्थ 'सुखद' है तो 'शुभ' संबधी नैतिक निर्णय के स्वरूप के विषय मे हम उसके मत को भलीभाँति जान सकते हैं— वह यही कहेगा कि 'शुभ' सबंधी नैतिक निर्णय 'सुखद' सबधी मनोवैज्ञानिक निर्णय से भिन्न नही है। ऐसा दार्शनिक नैतिक निर्णयो को वस्तुत तथ्यात्मक निर्णय ही मानेगा और इन निर्णयो की पुष्टि के लिए उसी प्रकार के तर्क देगा जिस प्रकार के तर्क तथ्यात्मक निर्णयो के समर्थन मे दिए जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई दार्शनिक नैतिक निर्णयो के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहता है कि ये निर्णय पूर्णत. सवेगात्मक होते हैं तो हम यह जान सकते हैं कि वह इन निर्णयो में प्रयुक्त शब्दो का क्या अर्थ स्वीकार करेगा— वह यही कहेगा कि इन नैतिक शब्दो का अर्थ सवेगात्मक शब्दो के अर्थ से भिन्न नही है। नैतिक शब्दो के अर्थ के विषय मे उसका यही मत होगा कि सवेगात्मक शब्दो की भाँति ये शब्द भी केवल हमारी भावनाओ को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं। ऐसा दार्शनिक नैतिक निर्णयो को उचित सिद्ध करने के लिए तथ्यात्मक निर्णयो के समर्थन मे दिए जाने वाले तर्को से पूर्णत भिन्न प्रकार के तर्क देगा। यदि कोई दार्शनिक यह कहता है कि "उचित कर्म वह है जो अधिकतम शुभ को उत्पन्न करता है" और "शुभ का अर्थ सुख है" तो हम यह भलीभाँति जान सकते हैं कि वह "अमुक कर्म उचित है" इस नैतिक निर्णय के प्रमाणीकरण के लिए किस प्रकार का तर्क प्रस्तुत करेगा। वह यही सिद्ध करने का प्रयास करेगा कि वह विशेष कर्म उन सभी कर्मों की अपेक्षा अधिक सुख उत्पन्न कर सकता है जो उस परिस्थिति मे कर्त्ता के लिए सभव हैं। इन उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि अधि-नीतिशास्त्र की उपर्युक्त तीनो समस्याएँ एक-दूसरे से पूर्णत सबद्ध हैं, अत इन सभी समस्याओ के समाधान के लिए किसी एक विशेष अधि-नैतिक सिद्धात का आधार लेना अनिवार्य हो जाता है। उपर्युक्त समस्याओ से हम अधि-नीतिशास्त्र के स्वरूप, क्षेत्र तथा उद्देश्य को भलीभाँति समझ सकते हैं।

4. अधि-नीतिशास्त्र का उदय और विकास

जैसा कि इस लेख के प्रथम खड में सकेत किया गया है नैतिक दर्शन की एक व्यवस्थित एव

स्वतत्र विधा के रूप मे अधि-नीतिशास्त्र का उदय तथा विकास वर्तमान शताब्दी में ही हुआ है। परतु नैतिक भाषा के विश्लेषण से सबंधित अधि-नीतिशास्त्र की मूल समस्या का पूर्वाभास हमें दो महान अनुभववादी अँग्रेज दार्शनिको जॉर्ज बर्कले तथा डेविड ह्यूम की कृतियो मे प्राप्त होता है। इन दोनों दार्शनिकों ने अपनी अनुभववादी विचारधारा के अनुरूप नैतिक भाषा के प्रयोजन का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ 1710 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ए ट्रिटाइज कन्सरनिग दि प्रिन्सिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' की प्रस्तावना मे भाषा के उद्देश्यो की चर्चा करते हुए बर्कले ने कहा है कि अपने विचारो को व्यक्त करना तथा दूसरों तक पहुँचाना, अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त करना और अन्य व्यक्तियों मे इन भावनाओं को जागृत करना, दूसरो को कोई कार्य करने अथवा न करने के लिए प्रेरित करना आदि भाषा के मुख्य उद्देश्य हैं। भाषा के इन उद्देश्यो से यह स्पष्ट है कि इनमे से प्रथम उद्देश्य सज्ञानात्मक है और अन्य दो उद्देश्य सवेगात्मक तथा परामर्शात्मक हैं। 'शुभ' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए बर्कले ने स्वय नैतिक भाषा के सवेगात्मक उद्देश्य का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि 'शुभ' शब्द का प्रयोग किसी वस्तु के विषय में अपनी भावनाओ को व्यक्त करने तथा अन्य व्यक्तियों मे इन भावनाओ को उत्पन्न करने के लिए किया जा सकता है। नैतिक भाषा से सबंधित बर्कले के इन विचारो मे एक प्रमुख अधि-नैतिक सिद्धात सवेगवाद का पूर्वाभास स्पष्टत प्राप्त होता है। इसी प्रकार डैविड ह्यूम ने 1739-40 में प्रकाशित अपनी सुविख्यात कृति 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' के दूसरे और तीसरे भाग मे सवेगो, नैतिकता तथा नैतिक निर्णयो के विषय में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे दो मुख्य अधि-नैतिक सिद्धातो— व्यक्तिनिष्ठवाद और सवेगवाद—का मूलत समर्थन करते हैं। उनकी उपर्युक्त कृति मे इन दोनों अधि-नैतिक सिद्धातो की आधारभूत मान्यताओ का स्पष्ट और विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। इन दोनो सिद्धातों के प्रमुख समर्थको पर ह्यूम के नैतिकता विषयक विचारों का पर्याप्त प्रभाव पडा है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अधि-नीतिशास्त्र का उद्गम अठारहवीं शताब्दी के दो महान अनुभववादी दार्शनिकों बर्कले और ह्यूम के विचारो मे खोजा जा सकता है, अत: यह कहना शायद अनुचित न होगा कि अधि-नीतिशास्त्र का मूल स्रोत अनभववादी विचारधारा मे ही निहित है।

परतु वर्तमान शताब्दी से पूर्व नैतिक दर्शन की स्वतत्र विधा के रूप में अधि-नीतिशास्त्र का उदय नही हो सका, क्योंकि तब तक दार्शनिकों ने नैतिक भाषा के अर्थ और स्वरूप के विश्लेषण की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया। इस शताब्दी में अधि-नीतिशास्त्र के उद्गम का श्रेय जी०ई० मूर को दिया जा सकता है। 1903 मे प्रकाशित अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्सिपिया ऐथिका' मे सर्वप्रथम उन्होने ही 'शुभ', 'उचित', 'कर्त्तव्य' आदि नैतिक शब्दो के अर्थ के विषय मे प्रश्न उठाकर नैतिक दर्शन मे एक नवीन युग का सूत्रपात किया। मूर से पूर्व नीतिशास्त्री ''हमारा कर्त्तव्य क्या है'', ''हमारे कौन-से कर्म उचित या अनुचित हैं'', ''कौन-सी वस्तुएँ हमारे लिए शुभ अथवा अशुभ हैं'' आदि मानकीय नीतिशास्त्र सबधी प्रश्नो पर ही प्राय विचार किया करते थे। परंतु इन प्रश्नो के साथ-साथ मूर ने सर्वप्रथम अधि-नीतिशास्त्र सबधी यह प्रश्न भी उठाया कि 'शुभ', 'अशुभ' आदि नैतिक शब्दो का अर्थ क्या है— अर्थात् हम इनकी परिभाषा किस प्रकार कर सकते हैं। इतना ही नही, उन्होने इस प्रश्न को नीतिशास्त्र का मूल प्रश्न माना और यह कहा कि इसकी ओर हमे विशेष ध्यान देना चाहिए। नीतिशास्त्र के सबध मे उपर्युक्त प्रश्न के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि ''यह हमारा प्रथम प्रश्न है— शुभ क्या है और अशुभ क्या है? इस प्रश्न (अथवा इन प्रश्नो) के विवेचन को मैं 'नीतिशास्त्र' की सज्ञा देता हूँ, क्योंकि इस विज्ञान में उक्त प्रश्न पर अवश्य विचार किया जाना चाहिए   हम केवल यही नहीं पूछना चाहते कि कौन-सी

वस्तु अथवा वस्तुएँ शुभ हैं, अपितु हम यह भी पूछना चाहते हैं कि 'शुभ' की परिभाषा कैसे दी जा सकती है। इस प्रश्न का संबंध केवल नीतिशास्त्र से है। यह वह प्रश्न है जिसकी ओर विशेष रूप से सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह प्रश्न— 'शुभ' की परिभाषा कैसे दी जा सकती है— सपूर्ण नीतिशास्त्र का सर्वाधिक मौलिक प्रश्न है।[5] नैतिक शब्दो के अर्थ के विषय मे मूर के उपर्युक्त विचारो से यह स्पष्ट है कि वे इन शब्दो के अर्थ और स्वरूप के विश्लेषण से सबंधित अधि-नीतिशास्त्र की समस्या को नैतिक दर्शन के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या मानते हैं। ऐसी स्थिति मे यह कहना शायद अनुचित न होगा कि उनके इन्ही विचारों के फलस्वरूप वर्तमान शताब्दी मे अधि-नीतिशास्त्र का उदय हुआ। मूर के इन विचारो से मूल प्रेरणा ग्रहण करते हुए इस शताब्दी के बहुत-से परवर्ती दार्शनिको ने अधि-नीतिशास्त्र के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आज भी अधि-नीतिशात्र की मूल समस्याओ का विवेचन करने वाले दार्शनिको के लिए मूर के उपर्युक्त विचारो का बहुत महत्त्व है। इस प्रकार मूर को अधि-नीतिशास्त्र का जनक अथवा प्रणेता माना जा सकता है।

नैतिक शब्दो की परिभाषा से सबंधित मूर के उपर्युक्त विचारो के अतिरिक्त वर्तमान शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक मे तार्किक प्रत्यक्षवाद तथा भाषा-विश्लेषण विषयक विचारधारा के उदय के फलस्वरूप भी अधि-नीतिशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ है। समकालीन दर्शन के अध्येयता इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हैं कि इन दोनों विचारधाराओ के कारण पाश्चात्य दर्शन मे महान क्रांति हुई है जिसका दर्शन की लगभग सभी विधाओ पर बहुत व्यापक प्रभाव पडा है। इस शताब्दी के प्रथम दशक तक यह माना जाता था कि जीवन, जगत्, ईश्वर, आत्मा, धर्म, नैतिकता, सत्य, ज्ञान, सौंदर्य आदि से सबंधित समस्याओ पर विचार करना और उनके समाधान के लिए प्रयास करना ही दर्शन का मुख्य कार्य है। परतु प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात दर्शन विषयक इस परपरागत विचारधारा के स्थान पर पाश्चात्य दर्शन मे एक नवीन विचारधारा का उदय हुआ जिसे 'विश्लेषणवादी विचारधारा' अथवा 'विश्लेषणात्मक दर्शन' की सज्ञा दी जाती है। तार्किक प्रत्यक्षवाद तथा भाषा-विश्लेषणवाद इस विश्लेषणात्मक दर्शन के दो प्रमुख भाग अथवा पक्ष हैं। इन दोनो का उद्देश्य विज्ञान तथा दर्शन की विभिन्न विधाओ की भाषा के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसका विश्लेषण करना ही है, किंतु इन दोनो की विश्लेषण विधि एक-दूसरे से भिन्न है।

तार्किक प्रत्यक्षवाद का मूल सिद्धांत सत्यापन का सिद्धात है जिसके अनुसार केवल उसी कथन को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक माना जा सकता है जिसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कम-से-कम सिद्धांतत इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापित करना सभव हो। जिस कथन को इस प्रकार सत्यापित नही किया जा सकता वह सज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थक नही है— अर्थात् वह हमें किन्ही तथ्यों का बोध नही कराता। वर्तमान शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक मे यूरोप तथा अमरीका मे इस तार्किक प्रत्यक्षवाद का बहुत व्यापक प्रभाव था और मारिट्ज श्लिक, रुडोल्फ कार्नेप, ए०जे० एयर आदि अनेक दार्शनिक इसी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। लुडविग विटगिन्स्टाइन ने 1921 मे जर्मन भाषा मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ट्रैक्टैटस-लॉजिका-फिलॉसाफिकस' में भाषा के अर्थ से सबंधित जो विचार व्यक्त किए थे उन्हीं से प्रभावित तथा प्रेरित होकर इन दार्शनिको ने तार्किक प्रत्यक्षवाद का प्रतिपादन किया था। इस दृष्टि से विटगिन्स्टाइन की उक्त पुस्तक को इस विचारधारा का प्रेरणास्रोत माना जा सकता है। इसी तार्किक प्रत्यक्षवाद के सत्यापन-सिद्धात के

5 जी ई मूर, 'प्रिन्सिपिया एथिका' प २ ५

परिणामस्वरूप अधि-नीतिशास्त्र मे एक महत्त्वपूर्ण अधि-नैतिक सिद्धात संवेगवाद का उदय और विकास हुआ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अपने सत्यापन-सिद्धात के आधार पर ही तार्किक प्रत्यक्षवादियो ने तत्त्वमीमासा, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा सौंदर्यशास्त्र के कथनो को सज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक माना था, क्योकि उनके अनुसार दर्शन की इन सभी विधाओ के कथनों को इद्रिजन्य अनुभव द्वारा सत्यापित करना सभव नही है। परन्तु परवर्ती विश्लेषणवादी दार्शनिकों ने तार्किक प्रत्यक्षवादियो की इस मान्यता को स्वीकार नही किया। इन दार्शनिको के अनुसार किसी कथन का अर्थ उसके सत्यापन द्वारा नही, अपितु भाषा मे उसके 'उपयोग' द्वारा ही निश्चित किया जा सकता है। किसी भी कथन के विषय में हमे यह नही पूछना चाहिए कि उसका क्या अर्थ है, अपितु हमें यह पूछना चाहिए कि भाषा मे उसका 'उपयोग' क्या है। कोई कथन वास्तव मे सार्थक है अथवा नही यह जानने के लिए हमे भाषा मे उसके 'उपयोग' पर ही ध्यान देना चाहिए, इद्रियजन्य अनुभव द्वारा उसके सत्यापन पर नही। इस प्रकार इन परवर्ती भाषा-विश्लेषणवादी दार्शनिको के अनुसार प्रत्येक कथन की सार्थकता अतत उसके 'उपयोग' मे ही निहित रहती है, अत: इन दार्शनिको के सिद्धात को उपयोग-सिद्धात' की सज्ञा दी गई है। जॉन विज्डम, गिल्बर्ट रॉयल, डी०जेड० फिलिप्स आदि अनेक दार्शनिको ने सत्यापन-सिद्धान के स्थान पर इसी उपयोग-सिद्धात का समर्थन किया है। यहाँ विशेष रूप से इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि तार्किक प्रत्यक्षवाद क सत्यापन-सिद्धात की भाँति इस उपयोग-सिद्धात का उदय भी विटगिन्स्टाइन के भाषा-विश्लेषण सबधी विचारो के फलस्वरूप ही हुआ। भाषा के अर्थ के विषय में विटगिन्स्टाइन ने अपनी प्रथम पुस्तक 'ट्रैक्टैटस लॉजिको-फिलॉसॉफिकस' मे जो विचार व्यक्त किए थे कालान्तर मे अपने उन विचारो को उन्होने स्वय ही अस्वीकार कर दिया। अपनी इस पुस्तक मे उन्होने सत्यापन-सिद्धात को ही भाषा की सार्थकता का आधार माना था। परन्तु अपनी दूसरी पुस्तक ''फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' मे इस सिद्धात को अस्वीकार करते हुए उन्होने विभिन्न प्रकार के कथनो के अर्थ-निरूपण के लिए 'उपयोग-सिद्धात' का प्रतिपादन किया। विटगिन्स्टाइन ने अपनी यह दूसरी पुस्तक 1949 मे ही पूरी कर ली थी, किंतु इसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात् 1953 मे ही हो सका। भाषा के अर्थ-निरूपण के विषय मे परवर्ती विश्लेषणवादी दार्शनिको के विचारो पर इस पुस्तक का बहुत व्यापक प्रभाव पडा। इसी पुस्तक से प्रभावित होकर ये दार्शनिक केवल उपयोग-सिद्धात के आधार पर दर्शन की सभी विधाओ के कथनो की सार्थकता का निर्णय करने लगे। इस दृष्टि से हम विटगिन्स्टाइन को ही उपयोग-सिद्धांत का प्रवर्तक मान सकते हैं जिसका समकालीन विश्लेषणवादी दर्शन मे आज भी बहुत महत्त्व है।

दर्शन की अन्य विधाओ की भाँति अधि-नीतिशास्त्र पर भी इस उपयोग-सिद्धात का पर्याप्त प्रभाव पडा है। पी०एच० नावलस्मिथ, जी०जे० वार्नॉक आदि अनेक दार्शनिको ने इसी सिद्धात से प्रभावित होकर नैतिक शब्दों के अर्थ की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि भाषा के अर्थ-निरूपण के विषय मे विटगिन्स्टाइन के विचारो का अधि-नीतिशास्त्र के विकास मे बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। विटगिन्स्टाइन के अतिरिक्त कार्नैप, एयर स्टीवेन्सन, हेयर, नॉवलस्मिथ, टूलमिन आदि अनेक दार्शनिको ने नैतिक भाषा क सबध मे अपने विचारो द्वारा इस नवीन विधा के विकास मे पर्याप्त योगदान किया है। इस समय अँग्रेजी भाषा मे अधि-नीतिशास्त्र पर विपुल साहित्य विद्यमान है और आज भी बहुत-से दार्शनिक इसके विभिन्न पक्षो पर लेख तथा पुस्तकें लिख रहे हैं अधि क्रि विभिन्न आ

के सम्बन्ध में ये दार्शनिक अब भी परस्पर विचार-विमर्श कर रहे हैं, अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नैतिक दर्शन की इस विधा का निरन्तर विकास हो रहा है। नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण की व्याख्या करने के लिए इन दार्शनिकों ने गत साठ वर्षों में विभिन्न अधि-नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यद्यपि अधि-नीतिशास्त्र अपेक्षाकृत एक नवीन विधा है जिसका उदय वर्तमान शताब्दी में ही हुआ है, फिर भी गत छह दशकों में इसका बहुत अधिक विकास हो चुका है और इसी कारण आज इसे नैतिक दर्शन की एक स्वतन्त्र तथा बहुत महत्त्वपूर्ण विधा माना जाता है।

12

व्यक्तिनिष्ठवाद – बरट्रैंड रसल

1. मूर का प्रभाव

वर्तमान शताब्दी के प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिकों में बहुमुखी प्रतिभासंपन्न बरट्रैंड रसल का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी मुख्य विशेषता यह है कि वे केवल सिद्धांतवादी दार्शनिक ही नहीं, महान क्रांतिकारी विचारक भी हैं जो प्रचलित प्राचीन परंपराओं तथा मान्यताओं को तब तक स्वीकार नहीं करते जब तक वे मानव-कल्याण के साधन के रूप में निष्पक्ष तर्क की कसौटी पर सही प्रमाणित नहीं हो जातीं। रसल के अध्ययन की व्यापकता और आधुनिक वैज्ञानिक युग की जटिल समस्याओं को भलीभाँति समझने की उनकी क्षमता इस बात से स्पष्टतः सिद्ध हो जाती है कि उन्होंने केवल तत्त्वमीमांसा संबंधी विषयों पर ही पुस्तकें नहीं लिखीं, अपितु सामाजिक राजनीतिक, वैज्ञानिक, आर्थिक एवं नैतिक समस्याओं पर भी अनेक लेखों और पुस्तकों के माध्यम से अपने क्रांतिकारी—किंतु तर्कसंगत—विचार व्यक्त किए हैं। स्पष्ट है कि उनके दर्शन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, अतः एक लेख अथवा पुस्तक में उनके संपूर्ण दर्शन की समीक्षा करना लगभग असंभव है। प्रस्तुत लेख में उनके केवल नीतिशास्त्र संबंधी विचारों का आलोचनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

यहाँ प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नैतिक दर्शन के संबंध में रसल के विचार पूर्णतया निश्चित तथा स्थिर कभी नहीं रहे। नैतिक निर्णयों के स्वरूप, आधार तथा प्रामाणिकता के विषय में समय-समय पर उनके विचारों में आमूल परिवर्तन होता रहा है और वे विभिन्न ही नहीं प्रत्युत परस्पर विरोधी नैतिक सिद्धांतों का भी विविध समयों में समर्थन करते रहे हैं। उदाहरणार्थ इस शताब्दी के प्रथम दशक में वे जी० ई० मूर के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए थे और तब उन्होंने मूर द्वारा प्रतिपादित नैतिक अंतःप्रज्ञावाद का पूर्ण रूप में समर्थन किया था। यही नहीं, तब मूर के प्रभाव में आकर उन्होंने उस व्यक्तिनिष्ठवाद का भी खंडन किया था जिसे बाद में उन्होंने पूर्णतया स्वीकार कर लिया। 1910 में नैतिक दर्शन पर लिखित रसल के प्रथम निबंध 'ऐलिमैंट्स ऑफ ऐथिक्स' का अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय वे इस क्षेत्र में पूर्ण रूप से मूर के अनुयायी थे। तब वे भी मूर की भाँति यह मानते थे कि 'शुभ' नामक नैतिक प्रत्यय की ठीक-ठीक परिभाषा नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह सरल या अमिश्रित, अविश्लेष्य तथा अद्वितीय प्रत्यय है। वे मूर के इस मत का भी समर्थन करते थे कि 'शुभ' शब्द एक विशेष गुण की ओर संकेत करता है जो उस वस्तु में विद्यमान होता है जिसे शुभ कहा जाता है। मूर की उक्त मान्यता को पूर्णतः स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "जब हम किसी वस्तु को अन्य वस्तु के साधन के रूप में शुभ न मान कर अपने आप में शुभ मानते हैं तो हम उस वस्तु में एक ऐसे गुण करते

हैं जो हमारी अपनी तथा दूसरों की मान्यताओं एवं इच्छाओं पर निर्भर न होकर उनसे पूर्णतः स्वतंत्र होता है' ।[1] उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि प्रारंभ में रसल नैतिक दर्शन के क्षेत्र में मूर के दृढ़ समर्थक एवं अनुयायी थे, अतः तब वे व्यक्तिनिष्ठवाद को अनुचित सिद्धांत मानकर वस्तुनिष्ठवाद में विश्वास करते थे।

परन्तु शीघ्र ही रसल के उक्त विचारों में आमूल परिवर्तन हो गया और उन्होंने मूर की उन्हीं मान्यताओं का खंडन करना आरंभ कर दिया जिनका वे अभी तक समर्थन कर रहे थे। कुछ ही समय में उन्होंने अपने आप को मूर के प्रभाव से मुक्त कर लिया और फलतः वस्तुनिष्ठवाद के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठवाद को ही उचित सिद्धांत मानने लगे। अब उन्हें मूर की आधारभूत नैतिक मान्यताएँ ही अनुचित प्रतीत होने लगीं, अतः उन्होंने इन सभी मान्यताओं को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। मूर के विपरीत वे अब यह विश्वास करने लगे कि 'शुभ' की ठीक-ठीक परिभाषा दी जा सकती है और नैतिक दर्शन में वस्तुनिष्ठता लगभग असंभव है। अपने विचारों में इस आमूल परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए रसल ने स्वयं कहा है कि 'ऐलिमैंट्स ऑफ ऐथिक्स' नामक निबंध मूर की पुस्तक 'प्रिन्सिपिया ऐथिका' से प्रभावित होकर लिखा गया था। परन्तु इस निबंध के प्रकाशन के पश्चात् शीघ्र ही मैं उक्त पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धांत की कुछ महत्त्वपूर्ण मान्यताओं से असहमत होने लगा। अब मैं यह नहीं मानता कि 'शुभ' की परिभाषा नहीं दी जा सकती, और मेरा यह भी विश्वास है कि 'शुभ' नामक नैतिक प्रत्यय में तार्किक दृष्टि से किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता नहीं है''।[2] यह उद्धरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि प्रारंभ में कुछ समय तक मूर द्वारा अत्यधिक प्रभावित रहने हुए भी बाद में रसल ने उनकी समस्त आधारभूत नैतिक मान्यताओं का लगभग पूर्णतः अस्वीकार कर दिया।

2. व्यक्तिनिष्ठवाद

मूर के प्रभाव से मुक्त होने के उपरांत रसल पूर्ण रूप से व्यक्तिनिष्ठवाद का समर्थन करने लगे। अपनी अनेक पुस्तकों में उन्होंने इस सिद्धांत के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए हैं। इन पुस्तकों में 'व्हट आई बिलीव', 'पावर', 'रिलिजन ऐंड साइन्स', 'ह्यूमन सोसाइटी इन ऐथिक्स ऐंड पॉलिटिक्स' उल्लेखनीय हैं। इन सभी तथा अन्य कई पुस्तकों में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नैतिक-निर्णयों के संबंध में व्यक्तिनिष्ठवाद ही उचित एवं तर्कसंगत सिद्धांत है। इतना ही नहीं, वे संवेगवाद का भी समर्थन करते रहे हैं। अपनी पुस्तक 'रिलिजन ऐंड साइन्स' में उन्होंने एक संपूर्ण अध्याय इस संवेगवाद के समर्थन में लिखा है। इसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम कुछ समय तक कार्नेप तथा एयर की भाँति रसल भी संवेगवाद में दृढ़तापूर्वक विश्वास करते रहे हैं। इसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि नैतिक निर्णय व्यक्तिगत संवेगों एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र हैं अतः इन निर्णयों को सत्य अथवा असत्य नहीं माना जा सकता। इनके संबंध में मतभेद वैसा ही व्यक्तिगत होता है जैसा किसी वस्तु के स्वाद के विषय में हुआ करता है। अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए रसल ने लिखा है कि ' मूल्यों से संबंधित प्रश्न ज्ञान की परिधि से बिल्कुल बाहर है। अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु मूल्यवान है तो हम अपने संवेगों को ही व्यक्त करते हैं, किसी ऐसे तथ्य को नहीं जो हमारी व्यक्तिगत भावनाओं के भिन्न होने पर भी सत्य होता। ... जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि अमुक वस्तु अपने आप में शुभ है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह कोई तथ्यात्मक बात कह रहा है। ... किन्तु मेरा विश्वास है कि ऐसा समझना हमारी

1 सेलर्स और हास्पर्स, 'रीडिंग्ज इन ऐथिकल थ्योरी', पृ. 6
2 वही पुस्तक, पृ. 1

भूल है। मैं समझता हूँ उस व्यक्ति के कथन का वास्तविक अभिप्राय यह है कि सभी उस वस्तु को पाने के इच्छुक हों।. नीतिशास्त्र मे ऐसे तथ्यात्मक वाक्य नही होते जो सत्य अथवा मिथ्या हों उसमे केवल हमारी सामान्य इच्छाओ की अभिव्यक्ति होती है''।[3] उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कार्नैप तथा एयर की भाँति रसल भी संवेगवाद का समर्थन करते रहे हैं।

परंतु यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि रसल उक्त सिद्धात को भी अधिक समय तक स्वीकार नही कर सके। 1954 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ह्यूमन सोसाइटी इन ऐथिक्स ऐंड पॉलिटिक्स' मे उन्होने संवेगवाद का खडन किया है। इस सिद्धात के विपरीत उन्होने यह स्वीकार किया है कि नैतिक निर्णय हमारी भावनाओ की अभिव्यक्ति मात्र नही हैं और उनमे संबंधित मतभेद स्वाद संबधी मतभेद से भिन्न है। एक उदाहरण द्वारा अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि मेरे लिए यह मानना असह्य है कि जब मैं कहता हूँ 'निर्दयता अशुभ है' तो मैं केवल यही कहता हूँ कि मैं स्वय निर्दयता को पसद नही करता, अथवा मैं इसी प्रकार की कोई व्यक्तिगत बात ही कहता हूँ ।[4] यह बिल्कुल स्पष्ट है कि रसल का उक्त वक्तव्य संवेगवाद के विरूद्ध है। ऐसी स्थिति मे टी० ई० हिल द्वारा अपनी पुस्तक 'कन्टेम्प्रेरी ऐथिकल थ्योरीज' मे रसल को कार्नैप तथा एयर की भाँति संवेगवादी कहना अधिक उचित प्रतीत नही होता। मेरे विचार मे वास्तविक स्थिति यह है कि उनका नैतिक सिद्धात संवेगवाद के निकट होते हुए भी उससे कुछ सीमा तक भिन्न है।

संवेगवाद से रसल के नैतिक सिद्धात की भिन्नता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि अपनी परवर्ती रचनाओ मे उन्होने नैतिक शब्दो की परिभाषा के लिए संवेगो एव भावनाओ की अपेक्षा इच्छाओ को अधिक महत्त्व दिया है। उनका मत है कि हमारी इच्छाएँ ही नैतिक कर्म का मूल आधार हैं। इनके अभाव मे शुभ-अशुभ का नैतिक भेद निरर्थक हो जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि हमारा संपूर्ण नैतिक आचरण हमारी कतिपय इच्छाओ द्वारा ही शासित होता है, अत इन इच्छाओ के बिना नैतिकता की कल्पना नहीं की जा सकती। रसल ने स्पष्ट कहा है कि इच्छा के आधार पर ही 'शुभ' तथा अन्य नैतिक शब्दो की परिभाषा की जा सकती है। इच्छाओ को संपूर्ण नैतिक आचरण का मूल आधार बताते हुए वे कहते हैं कि ''इच्छाओं को प्रभावित करने के कारण ही नैतिक प्रत्ययों का महत्त्व है, क्योकि संपूर्ण मानवीय व्यवहार की प्रेरक शक्ति इच्छा ही है मानवीय इच्छा से पृथक कोई नैतिक मानदंड नही हो सकता''।[5] अपने इसी मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है '' यदि हम मे इच्छाएँ न होती तो हम शुभ-अशुभ के विरोध के संबध मे कभी सोच ही नहीं सकते थे। . यदि हम अपने प्रति बिल्कुल उदासीन होते तो हम शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित तथा प्रशंसनीय और निंदनीय के द्वैत मे विश्वास न करते और हमे अपने आप को केवल भाग्य के भरोसे पर छोड देने मे कोई कठिनाई न होती। इच्छारहित निर्जीव विश्व मे कुछ भी शुभ या अशुभ नही होता। मैं यह मानता हूँ कि जब कोई घटना अथवा वस्तु हमारी इच्छा को तृप्त करती है तो वह शुभ है। यह कहना अधिक ठीक होगा कि 'शुभ' का अर्थ ही इच्छा की तृप्ति है''।[6] इन उद्धरणो के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रसल मूलत व्यक्तिनिष्ठवाद मे विश्वास करते है।

इसी सिद्धात के अनुसार रसल ने 'शुभ' की भाँति 'कर्तव्य' की व्याख्या भी मानवीय इच्छा के

---

3 'रिलिजन एंड साइन्स' पृ 230 235 237

4 'ह्यूमन सोसाइटी इन ऐथिक्स एंड पालिटिक्स' पृ 11

5 'व्हाट आइ बिलीव', पृ 30

6. 'ह्यूमन सोसाइटी इन ऐथिक्स एंड पॉलिटिक्स', पृ 55

आधार पर ही की है। वे धार्मिक व्यक्तियों का यह मत स्वीकार नहीं करते कि जो ईश्वरादेश है वही हमारा कर्त्तव्य है। उनके मतानुसार कर्त्तव्य का विचार ईश्वरादेश से बिल्कुल स्वतंत्र है। यदि ईश्वर की सत्ता को मान भी लिया जाए तो भी हम यही कह सकते हैं कि हम ईश्वर के आदेश को इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम उसे उचित मानते हैं, इसलिए नही कि वह ईश्वर का आदेश है। इसका अर्थ यह है कि हमारा कर्तव्य किसी भी रूप मे ईश्वरादेश द्वारा निर्धारित नही होता।[7] मेरे विचार में रसल का यह मत उचित एवं तर्कसगत है, क्योंकि हमारे कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय तथाकथित ईश्वरादेश—जो कुछ धार्मिक व्यक्तियो की निराधार कल्पित धारणा मात्र है—के आधार पर नही किया जा सकता।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या मनुष्य की अतश्चेतना उसके कर्तव्य को निर्धारित कर सकती है। रसल ने इस प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक ही दिया है। उनका कथन है कि समय और स्थान के साथ-साथ मनुष्यों की अतश्चेतना के आदेशों में भी परिवर्तन होता रहता है और एक ही समय में भी विभिन्न व्यक्तियों की अतश्चेतना अलग-अलग तथा कभी-कभी बिल्कुल विपरीत आदेश देती है। यह निर्णय करना असभव है कि किस व्यक्ति की अतश्चेतना का आदेश उचित अथवा अनुचित है। ऐसी स्थिति में कर्तव्य का निर्धारण करने के लिए अतश्चेतना को विश्वसनीय पथप्रदर्शक नही माना जा सकता।[8] मुझे रसल का यह मत भी उचित तथा युक्तिसगत प्रतीत होता है, क्योंकि अतश्चेतना केवल व्यक्तिगत भावना होने के कारण मानवीय कर्तव्य का निर्धारण करने में असमर्थ है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि हमारे कर्तव्य कैसे निर्धारित होते हैं—अर्थात हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमें किन्हीं विशेष परिस्थितियो में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। वस्तुत यह प्रश्न नीतिशास्त्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। परतु, जहाँ तक मुझे मालूम है, रसल इस प्रश्न का कोई सतोषजनक उत्तर नही दे सके। 'शुभ' की भाँति 'कर्तव्य' को भी केवल इच्छा पर आधारित मानते हुए वे कहते हैं कि हमारी इच्छाएँ ही हमारे कर्तव्यो को निर्धारित करती हैं। जब तक किसी कर्म को करने के लिए हमारी इच्छा न हो तब तक हम उसे नहीं कर सकते, अतः इच्छा ही हमारे कर्तव्य का निर्धारण करती है। इस प्रकार इच्छा के आधार पर कर्तव्य की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "मैं किन्ही भी परिस्थितियों मे तब तक उचित कर्म नहीं करूँगा जब तक उसे करने के लिए मेरी इच्छा न हो, अत. मुख्य समस्या मेरी इच्छाओ को प्रभावित करने की है।. . नैतिक दर्शन के निर्माण का प्रयास करते हुए जब हम यह प्रश्न उठाते हैं कि किस प्रकार के कर्म निष्पक्ष तथा निर्वैयक्तिक दृष्टि से उचित हैं तो हम अपनी इच्छाओं द्वारा अवश्य प्रभावित होते हैं—चाहे हमें इसका ज्ञान हो या न हो"।[9] स्पष्ट है कि रसल 'शुभ', 'कर्तव्य' आदि नैतिक शब्दों की व्याख्या मुख्यतः इच्छा के आधार पर ही करते हैं।

3. मूल्यांकन

परंतु नैतिक निर्णयों की व्याख्या के सबध में रसल के उक्त व्यक्तिनिष्ठवाद को पूर्णतया सत्य एव संतोषजनक मानना बहुत कठिन है। इसमें सदेह नहीं कि मनुष्य के अधिकतर कर्म उसकी इच्छा द्वारा ही शासित तथा प्रेरित होते हैं, अत. इच्छा के अभाव में मानवीय आचरण की कल्पना करना लगभग असभव है। परतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि 'शुभ' एव 'कर्तव्य' संबंधी हमारे

7 वही पुस्तक, पृ. 73
8 वही पुस्तक, पृ. 75
9 वही पुस्तक पृ 57 85

समस्त नैतिक निर्णय केवल हमारी इच्छाओं द्वारा ही शासित होते हैं और इच्छाएँ ही उनका [illegible] आधार है। क्या यह मानव-जीवन का सत्य नहीं है कि हम कई बार किसी व्यक्ति अथवा कर्म को पसद न करते हुए भी शुभ मानते है और कभी-कभी बहुत कष्ट तथा हानि उठाकर भी अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने कर्तव्य का पालन करते हैं? जहाँ तक मुझे मालूम है रसल ने इस प्रश्न का कोई सतोषजनक उत्तर नहीं दिया। मेरा अपना विचार यह है कि वे नैतिक आचरण के सबध मे इच्छा को आवश्यकता से कहीं अधिक महत्त्व देते है, अत उनके नैतिक सिद्धात के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं।

उदाहरणार्थ रसल के उक्त व्यक्तिनिष्ठवादी सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि अतश्चेतना की भाँति इच्छा भी नैतिकता का निर्वैयक्तिक मानदड कभी नही बन सकती क्योंकि विभिन्न समयो मे अथवा एक ही समय मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की अलग-अलग इच्छाएँ हो सकती हैं और होती हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी मनुष्यो मे विद्यमान होते हुए भी इच्छा मूलत अतश्चेतना के समान व्यक्तिगत मनोवृत्ति है। इसके विपरीत नैतिकता किसी व्यक्ति अथवा समुदाय विशेष की रुचियो, भावनाओ एव इच्छाओ द्वारा शासित नही होती, अत इस अर्थ मे वह निर्वैयक्तिक है। ऐसी स्थिति मे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि केवल इच्छा के आधार पर नैतिक शब्दो अथवा निर्णयो की ठीक-ठीक व्याख्या नही की जा सकती।

इसके अतिरिक्त रसल के सिद्धात के विरुद्ध यह तर्क भी दिया जा सकता है कि जब स्वय इच्छा शुभ या अशुभ होती है तो वह नैतिकता का मानदड कैसे मानी जा सकती है। रसल ने स्वय इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मनुष्य की सभी इच्छाएँ शुभ नही होती। कुछ इच्छाएँ—यथा, दूसरो को अनावश्यक और अकारण दु ख पहुँचा कर सुख पाने की इच्छा—नितात अशुभ होती है। उनका कथन है कि दूसरो के कल्याण मे सहायक सभी इच्छाएँ शुभ और इसमें बाधक सभी इच्छाएँ अशुभ हैं।[10] ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि जब इच्छाएँ शुभ या अशुभ होती हैं तो केवल इच्छा के आधार पर शुभ-अशुभ की परिभाषा कैसे की जा सकती है। रसल ने स्वय स्वीकार किया है कि उनके नैतिक सिद्धात के विरुद्ध उक्त आपत्ति उठाई जा सकती है, कितु, जहाँ तक मैं जानता हूँ, उन्होंने इस आपत्ति का कोई सतोषजनक उत्तर नही दिया। वस्तुत उनके नैतिक सिद्धांत मे उक्त कठिनाई का मूल कारण यह है कि वे नैतिक शब्दों अथवा निर्णयो की व्याख्या करते हुए इच्छा को आवश्यकता से कही अधिक महत्त्व देते हैं। यह सत्य है कि इच्छा के अभाव में शुभ-अशुभ तथा उचित-अनुचित की कल्पना नही की जा सकती, क्योंकि किसी ऐसी वस्तु को शुभ या अशुभ कहना निरर्थक है जिसका किसी सजीव प्राणी पर कोई प्रभाव नही पडता। परतु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि नैतिकता पूर्णत हमारी इच्छाओं पर ही निर्भर है तर्कसंगत प्रतीत नही होता। यदि मानव-जीवन मे नैतिकता का कोई महत्त्व है तो हमे नैतिक निर्णयो को मनुष्य की व्यक्तिगत भावनाओ, रुचियो और इच्छाओ से अलग रखना पडेगा, किंतु रसल का नैतिक सिद्धात इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करता है। उनके सिद्धात के आधार पर मनुष्य के सकुचित वैयक्तिक सवेगो और नैतिक निर्णयो मे भेद करना अत्यत कठिन है, क्योंकि उनके मतानुसार जो हमारी इच्छाओं को तृप्त करता है वह शुभ और जो उनकी तृप्ति मे बाधक है वह अशुभ है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रसल का सिद्धात नैतिक निर्णयो के आधार और स्वरूप की ठीक-ठीक व्याख्या नही कर पाता।

नैतिक निर्णयो के स्वरूप की भाँति उनकी प्रामाणिकता के सबध मे भी रसल के विचार पूर्णत उचित प्रतीत नही होते। नैतिक निर्णयो को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करने के लिए दिए जाने

10 वही पुस्तक पृ 59

वाले तर्कों के स्वरूप के विषय मे वे मूलत संवेगवाद के समर्थक स्टीवैन्सन से सहमत प्रतीत होते हैं। वे स्टीवैन्सन तथा अन्य सवेगवादियो के इस मत को पूर्णत स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णयो के पक्ष या विपक्ष में वैसे तर्क नही दिए जा सकते जैसे तथ्यात्मक निर्णयो के पक्ष अथवा विपक्ष मे दिए जाते हैं। उनके विचार मे इसका कारण यह है कि तथ्यात्मक निर्णयो के विपरीत नैतिक निर्णय भावनाओ, सवेगो अथवा अभिवृत्तियों पर ही आधारित होते हैं। इसी कारण उन्हे सत्य या मिथ्या प्रमाणित करने के लिए केवल ऐसे ही तर्क दिए जा सकते हैं जो हमारे सवेगो पर प्रभाव डालते हैं। दूसरे शब्दो में रसल स्टीवैन्सन के इस मत को स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णयो के सबध मे दिए जाने वाले तर्कों का मुख्य उद्देश्य उनकी सत्यता अथवा असत्यता प्रमाणित करना नही अपितु अन्य व्यक्तियो की अभिवृत्तियो में परिवर्तन करना ही है।[11] परतु इस मत की सत्यता सदेहास्पद ही प्रतीत होती है, क्योंकि जब हम किसी नैतिक निर्णय के पक्ष या विपक्ष मे तर्क देते हैं तो हम उस निर्णय को ही सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं, दूसरो की अभिवृत्तियो में परिवर्तन करने का नही। यह समझना कठिन नहीं है कि अन्य व्यक्तियो की अभिवृत्तियों मे परिवर्तन होने से कोई निर्णय सत्य या मिथ्या प्रमाणित नही हो जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सवेगवादियो तथा रसल ने नैतिक निर्णयो से सबंधित तर्कों का जो उद्देश्य बताया है उसे पूर्णत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुत नैतिक निर्णयो के स्वरूप, आधार तथा प्रामाणिकता के सबध मे रसल के विचारो मे सुनिश्चितता एव सगति का अभाव दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो वे नैतिक निर्णयो को हमारी इच्छाओ, भावनाओ अथवा सवेगो पर आधारित मानते हैं और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि कुछ मानवीय गुण या अवगुण अपने आप मे शुभ अथवा अशुभ होते हैं—अर्थात उनका शुभ या अशुभ होना हमारी इच्छाओं द्वारा निर्धारित नही होता। उदाहरणार्थ रसल के मतानुसार ईमानदारी, उदारता, सहिष्णुता, करुणा, साहस, दूसरो के सुख के लिए निस्स्वार्थ प्रयास आदि नैतिक गुण अपने आप मे शुभ हैं। इसके विपरीत अनुदारता, निर्दयता, असहिष्णुता, स्वार्थपरायणता अपने सुख के लिए किसी को दु ख पहुँचाने की चेष्टा आदि दुर्गुण अपने आप में अशुभ हैं। दूसरे शब्दो मे रसल यह मानते हैं कि उक्त सभी सद्गुणो तथा दुर्गुणों का शुभ और अशुभ होना हमारी इच्छाओ पर निर्भर नही है। परतु उनका यह मत उचित एवं मान्य होते हुए भी उनके अपने व्यक्तिनिष्ठवादी नैतिक सिद्धात के विरुद्ध है। यदि उनका व्यक्तिनिष्ठवाद सत्य है—अर्थात यदि किसी वस्तु का शुभ या अशुभ होना केवल हमारी इच्छाओं पर निर्भर है तो उपर्युक्त सद्गुण तथ दुर्गुण अपने आप मे शुभ और अशुभ नही माने जा सकते। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, रसल अपने नैतिक सिद्धात मे इस असगति का निराकरण नही कर सके।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वय रसल ने अपने नैतिक सिद्धात मे उक्त असगति को स्वीकार किया है, कितु वे इस असगति को अनिवार्य मानते हैं। इस सबध मे उनका कथन है कि "मुझ पर असगति का आरोप शायद ठीक ही लगाया जाता है, क्योंकि यद्यपि मैं परम नैतिक मूल्यो को व्यक्तिनिष्ठ मानता हूँ, फिर भी मैं नैतिक प्रश्नो के सबध मे अपने दृढ विचार रखता हूँ। यदि मेरे सिद्धात में असगति है तो मैं छल-कपट के बिना उससे मुक्त नही हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी सभव है कि एक सुसगत सिद्धात की अपेक्षा असगत सिद्धात में कम झूठ हो"।[12] इस उद्धरण से अपने प्रति तथा पाठको के प्रति रसल की ईमानदारी तो अवश्य परिलक्षित होती है, किंतु साथ ही

11 पी ए शिलप, 'फिलॉसॉफी ऑफ बरट्रैन्ड रसल', पृ 719, 720
12 वही पुस्तक पृ 720

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने नैतिक सिद्धांत को पूर्णतः सम्बद्ध एवं सुसंगत बनाने मे अधिक सफल नही हो सके।

वास्तव मे रसल स्वय अपने नैतिक सिद्धान से पूर्णतया सतुष्ट नहीं है। वे नैतिक निर्णयो के स्वरूप आधार तथा प्रामाणिकता के विषय में कोई भी निश्चित एव दृढ मत नही बना सके। यही कारण है कि वे इस सबध मे बार-बार अपने विचारो मे परिवर्तन करते रहे है। परतु फिर भी वे कोई ऐसा मत स्थिर नही कर सके जो स्वयं उन्ही को पूर्ण रूप से सतोषजनक प्रतीत होता हो। इस तथ्य का स्वीकार करते हुए वे स्वय कहते हैं कि ''मै नीतिशास्त्र के संबध म अपने किसी भी मत से पूर्णतया सतुष्ट नही हूँ। यही कारण है कि मैंने इस विषय पर और अधिक लिखना ही बद कर दिया है ।'' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रसल के आलोचक ही नही, वे स्वय भी अपने नैतिक सिद्धान को पूर्णत सत्य और सतोषप्रद नही मानते। ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि नीतिशास्त्र के दार्शनिक पक्ष के सबध मे रसल अधिक मौलिक योगदान नही कर सके। हॉ मानव-जीवन की व्यावहारिक नैतिक समस्याओ के सबध मे उनका तर्कनिष्ठ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण निश्चय ही मान्य एव प्रशसनीय है। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि अधि-नीतिशास्त्र की अपेक्षा व्यावहारिक नीतिशास्त्र मे रसल का योगदान कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

---

13 'ह्यूमन सोसाइटी इन ऐथिक्स एंड पॉलिटिक्स' पृ 1

13

अंत: प्रज्ञावाद — प्रिचर्ड और रॉस

1. अंत: प्रज्ञावाद का स्वरूप

वर्तमान शताब्दी मे विकसित अधिनीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य नैतिक निर्णयो के अर्थ, स्वरूप तथा प्रमाणीकरण का ठीक-ठीक विश्लेषण करना ही माना जाता है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए आधुनिक नीतिशास्त्रज्ञो ने दो भिन्न सिद्धांतो का प्रतिपादन किया है जिन्हे वर्णनात्मक सिद्धांत और अवर्णनात्मक सिद्धात की सज्ञा दी जाती है। प्रथम सिद्धात के समर्थको के मतानुसार नैतिक निर्णय कुछ विशेष तथ्यो का वर्णन मात्र करते हैं, अत वे मूलत तथ्यात्मक निर्णयो के समान ही होते हैं। इसके विपरीत द्वितीय सिद्धात के प्रणेताओं का विचार है कि मुख्यत हमारी भावनाओ अथवा अभिवृत्तियो को अभिव्यक्त करने के कारण नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो से मूलत भिन्न होते हैं। वर्णनात्मक सिद्धात के दो प्रमुख भेद हैं—एक प्रकृतिवाद और दूसरा अत प्रज्ञावाद। प्रकृतिवादियो के अनुसार नैतिक निर्णय कुछ अनुभवमूलक प्राकृतिक गुणो का वर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ यह शुभ या उचित है इस नैतिक निर्णय का अर्थ है 'यह सुखद अथवा रुचिकर है'। इस प्रकार प्रकृतिवादी नैतिक निर्णयो को मनोवैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्रीय निर्णयो से मूलत भिन्न नही मानते। सभी विकासवादी, सुखवादी तथा उपयोगितावादी विचारक किसी-न-किसी रूप मे इसी सिद्धात का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत अत प्रज्ञावादियों का मत है कि नैतिक निर्णय प्राकृतिक गुणो का वर्णन नहीं करते, अत उनकी व्याख्या किसी प्रकार के प्राकृतिक निर्णयो के आधार पर नही की जा सकती। प्रकृतिवादियो के मत का खडन करते हुए अत.प्रज्ञावादी नैतिक निर्णयो को 'अनुपम' अथवा 'अद्वितीय' मानते हैं। उनका विचार है कि ये निर्णय कुछ ऐसे निर्प्राकृतिक गुणो अथवा सबधो की ओर सकेत करते हैं जिनका ज्ञान हमे केवल अत प्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी कारण इन विचारकों के सिद्धात को ''निर्प्रकृतिवाद' अथवा 'अत प्रज्ञावाद' की सज्ञा दी गई है।

वैसे तो पाश्चात्य नैतिक दर्शन मे अत प्रज्ञावाद का उदय सत्रहवी तथा अट्ठारहवी शताब्दी मे ही हो चुका था। उस समय रैल्फ कडवर्थ, सैम्युअल क्लार्क, रिचर्ड प्राइस आदि अनेक दार्शनिको ने इसी सिद्धात के आधार पर नैतिक निर्णयों के स्वरूप की व्याख्या की थी। इन सभी दार्शनिको का यह विचार था कि हमें अपनी विशेष शक्ति अंत प्रज्ञा द्वारा ही शुभ-अशुभ तथा उचित-अनुचित का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। अनुभव एव तर्क का आधार लिए बिना ही हम अपनी अत प्रज्ञा द्वारा अपरोक्षत यह जान लेते हैं कि किस परिस्थिति मे हमे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। हम आगे देखेगे कि अत प्रज्ञावाद की इस आधारभूत मान्यता को आधुनिक युग के अत प्रज्ञावादी भी किसी-न-किसी रूप मे अवश्य स्वीकार करते हैं। परतु इसके साथ ही आधुनिक

अत प्रज्ञावाद मे एक ऐसी नई मान्यता का भी उद्गम हुआ है जो प्राचीन अत प्रज्ञावाद मे उपलब्ध नही होती। यह मान्यता है निर्प्राकृतिक गुणो अथवा सबधो की प्राक्कल्पना जिसके आधार पर आधुनिक अत.प्रज्ञावादी नैतिक निर्णयो के स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। आधुनिक अत प्रज्ञावादियो मे जी० ई० मूर, एच० ए० प्रिचर्ड, सी० डी० ब्रॉड, डबल्यू० डी० रॉस, ई० एफ० कैरिट आदि दार्शनिको के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी दार्शनिको का विचार है कि शुभ, उचित आदि नैतिक प्रत्यय एक विशेष निर्प्राकृतिक गुण अथवा सबध की ओर सकेत करते हैं जिसका बोध हमें अत प्रज्ञा द्वारा होता है। यह निर्प्राकृतिक गुण या सबध ही नैतिक प्रत्ययो को अन्य सभी प्रत्ययो से पृथक करता है। वस्तुत इसी मान्यता के आधार पर आधुनिक अत प्रज्ञावादी नैतिक निर्णयो को अन्य सभी प्रकार के निर्णयो से भिन्न और अद्वितीय मानते हैं। इस प्रकार अत प्रज्ञा द्वारा एक विशेष निर्प्राकृतिक गुण या सबध के बोध की प्राक्कल्पना आधुनिक अत प्रज्ञावाद की प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है जो उसे प्राचीन अत प्रज्ञावाद से कुछ सीमा तक पृथक करती है। वर्तमान शताब्दी मे बहुत-से दार्शनिको ने इस नवीन अत प्रज्ञावाद का समर्थन किया है जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण दार्शनिको के नामो का उल्लेख हम ऊपर कर चुके है। इस सक्षिप्त लेख मे इन सभी आधुनिक अत प्रज्ञावादियो के मत का विवेचन करना सभव नही है अत यहाँ हम केवल दो प्रमुख अत.प्रज्ञावादियो—एच०ए० प्रिचर्ड तथा डबल्यू०डी० रॉस— के विचारो का ही उल्लेख करेंगे।

2. एच० ए० प्रिचर्ड

प्रकृतिवादियो के विपरीत अधिकतर अत प्रज्ञावादी परिणामनिरपेक्ष नैतिकता को ही कर्मों के औचित्य अथवा कर्तव्य के निर्णय का आधार मानते है। उनका मत है कि किसी कर्म का औचित्य अथवा अनौचित्य उससे उत्पन्न परिणामो पर आधारित न होकर स्वय उसी कर्म मे निहित रहता है। कर्मो एव नियमो के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय करते समय उनके वास्तविक अथवा सभावित परिणामो पर ध्यान देना अनावश्यक तथा अनुचित है। किसी विशेष परिस्थिति मे हमारे लिए कौन-सा कर्म उचित या अनुचित है इसका अपरोक्ष ज्ञान हमें अपनी अत प्रज्ञा द्वारा ही हो जाता है, अत इसके लिए हमे उस कर्म के परिणामो पर विचार करने की आवश्यकता नही है। स्पष्ट है कि अधिकतर अत प्रज्ञावादियो द्वारा मान्य यह परिणामनिरपेक्ष नैतिक सिद्धात विकासवाद सुखवाद, स्वार्थवाद, उपयोगितावाद आदि उन सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है जो परिणामो के आधार पर ही कर्मो तथा नियमो के औचित्य एव अनौचित्य का निर्णय करते है। एच० ए० प्रिचर्ड और डबल्यू० डी० रॉस दोनो ही इसी परिणामनिरपेक्षवाद के दृढ समर्थक है।

प्रिचर्ड का एक महत्त्वपूर्ण लेख, 'इज मॉरल फिलॉसॉफी रेस्ट ऑन ए मिस्टेक?'—अर्थात 'क्या नैतिक दर्शन भूल पर आधारित है?', 1912 मे 'माइन्ड' नामक पत्रिका मे प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात उन्होने नैतिक दर्शन की समस्याओ पर अन्य लेख भी लिखे जो 1949 मे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित उनकी कृति 'मॉरल ऑब्लिगेशन' मे सकलित हैं। जैसा कि 'माइन्ड' मे प्रकाशित प्रिचर्ड के उपर्युक्त लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इस लेख मे उन्होने यह प्रश्न उठाया है कि क्या वास्तव मे सपूर्ण नैतिक दर्शन किसी भूल पर आधारित है। अपने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते है कि सचमुच एक बहुत बडी भूल को अभी तक नैतिक दर्शन का मूल आधार माना जाता रहा है। यह भूल है कर्तव्य-पालन के लिए किन्ही प्रमाणो अथवा कारणो की खोज करना। प्राचीन काल से ही यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि हमे अपने कर्तव्य का पालन क्यो करना चाहिए—अर्थात कर्तव्य-पालन को अनिवार्य सिद्ध करने के लिए हम कौन-से तर्क अथवा

कारण प्रस्तुत कर सकते हैं। बहुत-से दार्शनिक इस प्रश्न को महत्त्वपूर्ण मानकर अपने-अपने ढंग से इसका उत्तर देने का प्रयत्न करते रहे हैं। परंतु प्रिचर्ड के मतानुसार कर्तव्य-पालन के संबंध में उपर्युक्त प्रश्न नितांत अनुचित एवं अनावश्यक है क्योंकि कर्तव्य-पालन के लिए कोई भी तर्क अथवा कारण प्रस्तुत करना न तो संभव है और न आवश्यक। जो दार्शनिक कर्तव्य-पालन के लिए तर्क अथवा कारण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं वे यह मान लेते हैं कि कर्तव्य-पालन किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है। प्रिचर्ड का कथन है कि कर्तव्य-पालन को उचित एवं आवश्यक सिद्ध करने के लिए इन दार्शनिकों ने मुख्यत: दो तर्क या कारण प्रस्तुत किए हैं। इस संबंध में इन दार्शनिकों का पहला तर्क यह है कि अपने कर्तव्य का पालन करना स्वयं व्यक्ति के लिए लाभप्रद है—अर्थात ऐसा करने से अंतत: स्वयं उसे सुख प्राप्त होता है। कर्तव्य-पालन के विषय में इन दार्शनिकों का दूसरा तर्क यह है कि इसके फलस्वरूप अंततः शुभ की उत्पत्ति होती है। एक ही वाक्य में इन दोनों तर्कों को स्पष्ट करते हुए प्रिचर्ड ने कहा है कि "व्यक्ति के अपने सुख अथवा कर्म से उत्पन्न होने वाले शुभ को ही कर्तव्य का कारण बनाया गया है"।[1] प्रिचर्ड के विचार में प्लैटो, हचिसन, पैले, मिल आदि दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से स्वयं व्यक्ति के सुख को ही कर्तव्य-पालन का आवश्यक और अंतिम आधार माना है।[2] स्पष्ट है कि ये सभी दार्शनिक कर्तव्य-पालन को अंततः व्यक्ति के सुख का साधन मात्र मानते हैं।

परंतु प्रिचर्ड का निश्चित मत है कि कर्तव्य-पालन के संबंध में उपर्युक्त दोनों तर्क अनुचित एवं भ्रामक हैं, क्योंकि इनमें कर्तव्य को किसी अन्य प्रयोजन का साधन मात्र मान लिया गया है। वस्तुत: प्रिचर्ड कर्तव्य-पालन को सुख, विकास, समाज-हित आदि किसी भी उद्देश्य का साधन न मानकर स्वतः साध्य ही मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने इस प्रश्न को अनुचित और अनावश्यक माना है कि हमें अपने कर्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। इस प्रश्न को उठाने वाला व्यक्ति यह मान लेता है कि कर्तव्य-पालन स्वतः साध्य न होकर किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है। प्रिचर्ड का विचार है कि हमें अपने कर्तव्य का पालन केवल इसलिए करना चाहिए कि वह हमारा कर्तव्य है, उसके लिए कोई अन्य तर्क खोजना अथवा कारण पूछना अनावश्यक और अनुचित है। किसी कर्म को करने के लिए हमारा यह ज्ञान ही पर्याप्त कारण है कि वह हमारा कर्तव्य है, इसके अतिरिक्त उसे करने के लिए कोई अन्य कारण खोजना न तो वांछनीय है और न आवश्यक। स्पष्ट है कि प्रिचर्ड के मतानुसार किसी कर्म को कर्तव्य के रूप में करते समय उसके वास्तविक अथवा संभावित परिणामों का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि उस कर्म के परिणाम हमारे कर्तव्य को निर्धारित नहीं करते। हम अपनी अंत:प्रज्ञा द्वारा ही अपरोक्षत: यह जान सकते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति में हमारा कर्तव्य क्या है। हमारा यह कर्तव्य-बोध किन्हीं तर्कों अथवा कारणों पर आधारित न होकर गणित के सत्यों के ज्ञान की भाँति ही स्वतः सिद्ध तथा नितांत अपरोक्ष ही होता है।[3] कुछ कारण हमें कर्तव्य-पालन के लिए प्रेरित कर सकते हैं, किंतु वे हमारे कर्तव्य-पालन का आधार नहीं हो सकते।

प्रिचर्ड यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि किसी भी परिस्थिति में कर्तव्य का भलीभाँति पालन करने के लिए प्रासंगिक तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि वे तथ्य हमें कर्तव्य-पालन के लिए सजग

---

1 एच ए. प्रिचर्ड, 'डज मॉरल फिलॉसॉफी रैस्ट ऑन ए मिस्टेक', कैनथ पहल और मार्विन शिलर द्वारा संपादित 'रीडिंग्ज इन कन्टैम्प्ररी ऐथिकल थ्योरी' में संकलित, पृ. 403

2 वही पुस्तक पृ. 403

3 वही पुस्तक पृ. 408

ओर प्रेरित कर सकते है। इस दृष्टि से कर्म के परिणामो तथा व्यक्तियो के पारस्परिक सबंधो का पर्याप्त महत्त्व है। कर्तव्य-पालन के विषय मे दो उदाहरणो द्वारा अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए प्रिचर्ड ने कहा है कि "हम कोई कहानी सुनाने के अनौचित्य को तब तक अनुभव नही कर सकते जब तक हमे यह ज्ञान न हो जाए कि इससे हम किसी श्रोता के मन को आघात पहुँचाएँगे। इसी प्रकार जब तक हमें यह याद न आ जाए कि 'क' ने हमारा उपकार किया है तब तक हम उसे उपहार देने के कर्तव्य की बाध्यता का अनुभव नही कर सकते"।[4] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कर्तव्य-पालन के विषय मे प्रिचर्ड विशेष परिणामो तथा सबंधो की उपेक्षा नही करते। वस्तुत कर्तव्य-निर्धारण मे व्यक्तियो के कुछ पारस्परिक सबधो को तो उन्होने विशेष महत्त्व दिया है। इस विषय मे उनका कथन है कि "विभिन्न कर्तव्यो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के सबंध निहित रहते हैं। कुछ कर्तव्य हमारे अपने अथवा दूसरों के भूतकालीन कार्यों द्वारा ही निर्धारित होते हैं। उपकार के प्रतिदान का कर्तव्य भूतकाल मे हमारे प्रति किसी व्यक्ति द्वारा किए गए उपकार पर आधारित है। बिल को अदा करने का कर्तव्य भूतकाल मे किए गए हमारे उस वादे पर आधारित है जिसमें हम ने कहा है कि किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर हम उसका मूल्य चुकाएँगे। किसी अन्य व्यक्ति के मन को आघात न पहुँचाने के कर्तव्य का आधार वह सबध है जो मनुष्य होने के नाते हम दोनो मे अनिवार्यत विद्यमान है"।[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रिचर्ड किन्ही विशेष परिस्थितियो मे कर्तव्य-निर्धारण की दृष्टि से व्यक्तियो के पारस्परिक सबधो को बहुत महत्त्व देते हैं। परतु वे यह मानते हैं कि किसी कर्म के वास्तविक या सभावित परिणामो के आधार पर इस बात का निर्णय नही किया जा सकता कि वह कर्म हमारा कर्तव्य है अथवा नही। उनके विचार मे किसी कर्म के परिणामो के आधार पर उसे कर्तव्य के रूप मे प्रमाणित करने का सपूर्ण प्रयास अनावश्यक और व्यर्थ है। इसी कारण उनके अंत.प्रज्ञात्मक सिद्धात को 'परिणामनिरपेक्षवाद' की सज्ञा दी गई है।

प्रिचर्ड के कर्तव्य सबधी उपर्युक्त सिद्धात के विरुद्ध दो मुख्य आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं जिनकी ओर उन्होंने स्वय भी सकेत किया है। प्रथम आपत्ति यह है कि यदि सभी व्यक्तियो को अत प्रज्ञा द्वारा अपने कर्तव्यो का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है और यदि इस अर्थ मे कर्तव्य स्वत सिद्ध हैं तो इन कर्तव्यो के सबध मे तीव्र मतभेद की व्याख्या कैसे की जा सकती है। यदि एक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि अमुक कर्म उसका कर्तव्य है और दूसरा व्यक्ति उसके ठीक विपरीत कर्म को उस व्यक्ति का कर्तव्य मानता है तो ऐसी स्थिति मे इन दोनो के कर्तव्य सबधी इस मतभेद को समाप्त करने का क्या उपाय है? इस आपत्ति का उत्तर देते हुए प्रिचर्ड ने कहा है कि विभिन्न व्यक्तियो मे कर्तव्य सबधी यह मतभेद उनके नैतिक विकास के भिन्न स्तर के कारण ही है। कुछ व्यक्तियो के नैतिक विकास का स्तर अन्य व्यक्तियो के नैतिक विकास के स्तर की अपेक्षा निम्न कोटि का होता है, अत वे अपने कर्तव्य को भलीभाँति नही समझ पाते। परन्तु उपर्युक्त आपत्ति के सबध मे प्रिचर्ड का यह उत्तर पूर्णत सतोषजनक प्रतीत नही होता। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि वास्तव मे कर्तव्य स्वत सिद्ध हैं और सभी मनुष्यों को अत प्रज्ञा द्वारा ही उनका स्पष्ट एव अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है तो कर्तव्य-बोध की दृष्टि से विभिन्न व्यक्तियो के नैतिक विकास के स्तर मे अतर नहीं होना चाहिए। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रिचर्ड ने इस कठिनाई का कोई सतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं किया। उनके कर्तव्य सबधी सिद्धात के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इसके आधार पर कर्तव्यों में होने वाले सघर्ष की सतोषप्रद व्याख्या नही की जा सकती। हम कई

4 वही पुस्तक, पृ 405
5 वही पुस्तक, पृ 408

बार ऐसी स्थिति का सामना करना पडता है जब हमारे कर्तव्यो मे सघर्ष होता है और हमे दो विरोधी कर्तव्यो मे से किसी एक का पालन करने के लिए बाध्य होना पडता है। अब प्रश्न यह है कि यदि हमारे कर्तव्य स्वतःसिद्ध हैं जैसा कि प्रिचर्ड मानते हैं तो उनमे यह सघर्ष क्यो होता है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि कर्तव्यो मे होने वाले इस सघर्ष का निराकरण कैसे किया जा सकता है। प्रिचर्ड ने इन दोनो प्रश्नो का कोई सतोषजनक उत्तर नही दिया। वे गणित के नियमो की भाँति ही कर्तव्यो को स्वत सिद्ध मानते हैं, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि गणित के दो नियमो मे कभी सघर्ष नही होता जब कि कई बार हमारे दो कर्तव्यो मे सघर्ष होता है और उनमें से हम किसी एक कर्तव्य का ही पालन कर सकते हैं। वस्तुत जब हमारे समक्ष ऐसी स्थिति आती है तो हम प्राय परिणामो के आधार पर ही यह निर्णय करते हैं कि हम किस कर्तव्य का पालन करे और किसका न करे। ऐसी स्थिति मे हम सामान्यत उसी कर्तव्य का पालन करते हैं जिससे अधिकतम शुभ परिणाम उत्पन्न होने की आशा होती है। परतु इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए प्रिचर्ड कहते हैं कि परिणामो के आधार पर कर्तव्य का निर्धारण नही किया जा सकता। इस प्रकार वे अपने कर्तव्य सबधी सिद्धात के विरुद्ध उपर्युक्त दोनो आपत्तियो का कोई सतोषजनक उत्तर नहीं दे पाए।

3. डबल्यु०डी० रॉस

प्रिचर्ड की भाँति डबल्यु०डी० रॉस ने भी अत प्रज्ञावाद के आधार पर ही 'उचित', 'कर्तव्य' 'शुभ' आदि नैतिक प्रत्ययों की व्याख्या की है और वे भी कर्मों के औचित्य को उनके वास्तविक अथवा सभावित परिणामो पर आधारित न मानकर परिणामनिरपेक्ष ही मानते हैं। उन्होने अपनी दो प्रमुख पुस्तको—'दि राइट ऐंड दि गुड' तथा 'फाउडेशन्स ऑफ ऐथिक्स'—मे नैतिक दर्शन सबधी महत्त्वपूर्ण समस्याओ पर अपने विचार प्रस्तुत किए है। ये पुस्तके क्रमश 1930 तथा 1939 मे प्रकाशित हुई थी। जैसा कि प्रथम पुस्तक के शीर्षक मे ही स्पष्ट है, इसमे रॉस ने 'उचित' और 'शुभ' इन दो नैतिक प्रत्ययो की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वे 'उचित' तथा 'शुभ' दोनो को समान रूप मे अपरिभाष्य मानते हैं, अत उन्होने जी० ई० मूर के इस मत का खडन किया है कि 'उचित' की परिभाषा 'शुभ' के आधार पर की जा सकती है। उनका विचार है कि जिस तर्क के आधार पर मूर ने 'शुभ' को अपरिभाष्य सिद्ध किया है उसी तर्क के आधार पर 'उचित' को भी अपरिभाष्य मानना आवश्यक है। जिस प्रकार 'सुखद', 'रुचिकर', 'विकसित', 'उपयोगी' आदि किसी भी प्रत्यय के आधार पर 'शुभ' को परिभाषित नही किया जा सकता ठीक उसी प्रकार अधिकतम शुभ की उत्पत्ति के आधार पर उचित की भी परिभाषा नही की जा सकती है। शुभ के समान ही 'उचित को भी अपरिभाष्य मानते हुए वे कहते हैं कि मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उचित का वही अर्थ नही होता जो नैतिक दृष्टि से शुभ का होता है। और इस तथ्य की परीक्षा हम एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करके कर सकते हैं। यदि इन दोनो का अर्थ एक ही होता तो 'वह नैतिक दृष्टि से अच्छा मनुष्य है' के स्थान पर हम यह कह सकते थे कि वह 'उचित मनुष्य' है। परतु ऐसा कहना भाषा की दृष्टि से अशुद्ध ही नही अपितु निरर्थक भी है। इससे स्पष्ट है कि 'उचित' और 'नैतिक दृष्टि मे शुभ' इन दोनो का अर्थ भिन्न है। 'उचित' और 'अनुचित' का प्रयोग कर्म के लिए किया जाता है जब कि 'नैतिक दृष्टि से शुभ तथा अशुभ' का प्रयोग उस प्रयोजन के लिए किया जाता है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है।[6] इस प्रकार रॉस मनुष्य के कर्मों के सदर्भ में ही 'उचित' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त मानते हैं। 'वह कर्म उचित है' इस वाक्य का अर्थ उनके मतानुसार यही है कि 'वह कर्म हमे करना चाहिए' अथवा 'वह कर्म करना हमारा नैतिक

---

6 डब्ल्यू डी रॉस दि राइट एंड दि गुड पृ 3 7

कर्तव्य है'।[7] सक्षेप मे रॉस का यह निश्चित मत है कि 'उचित' एव 'शुभ' ये दोनों ही अपरिभाष्य हैं और हमे अपनी अत-प्रज्ञा द्वारा ही इन दोनों का अपरोक्ष ज्ञान होता है, अत इनमे से किसी एक को दूसरे के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास व्यर्थ एव अनुचित है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, कर्तव्य-निर्धारण की दृष्टि से प्रिचर्ड की भाँति रॉस भी परिणामनिरपेक्षवाद को ही स्वीकार करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि कर्मों का औचित्य अथवा अनौचित्य उनके परिणामो पर निर्भर न होकर स्वयं उन्ही मे निहित रहता है और हमारे मूल कर्तव्यो को परिणामो के आधार पर निर्धारित नही किया जा सकता। जब हम किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित कहते हैं तो हमारा यह निर्णय उस कर्म से उत्पन्न वास्तविक अथवा सभावित परिणामो पर आधारित नही होता। हम केवल यही देखते हैं कि वह कर्म विशेष परिस्थिति—जिसमे वह किया गया है—के अनुरूप है अथवा नही। अपने कर्तव्यो की पूर्ति करते समय हम उनके परिणामो पर ध्यान नही देते, हम उन्हें अपना कर्तव्य समझकर उनका पालन करते हैं, किसी अन्य कारण से प्रेरित होकर नही। एक उदाहरण द्वारा अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए रॉस ने लिखा है कि "जब एक साधारण मनुष्य यह कहता है कि वादे को पूरा करना उचित है तो वह इस कर्म के सपूर्ण परिणामो के विषय मे जरा भी नही सोचता, वह न तो उन्हे जानता है और न जानने की चिता ही करता है। . . . जब एक सामान्य व्यक्ति केवल इसलिए अपना वादा पूरा करता है कि उसे ऐसा करना चाहिए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह इसके सपूर्ण परिणामो अथवा सर्वोत्तम परिणामो के विचार मे प्रेरित होकर ऐसा नही करता। इसके लिए जो कारण उसे प्रेरित करता है वह केवल यही है कि उसने वादा किया है—इसके अतिरिक्त वह और कुछ नही सोचता। वह अपने कर्म को इसलिए उचित नही कहता कि सब मिलाकर उसके सर्वोत्तम परिणाम निकलेगे"।[8] इस उद्धरण से कर्तव्य-निर्धारण के संबंध में रॉस का परिणामनिरपेक्षवाद पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। वस्तुत: इसी सिद्धात के आधार पर उन्होने मनुष्य के सभी मूल कर्तव्यो की व्याख्या की है, अतः इस दृष्टि से उनका मत प्रिचर्ड के मत से भिन्न नही है।

परतु हमारे कर्तव्यो के विषय में—रॉस के विचार प्रिचर्ड के विचारों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सतोषजनक प्रतीत होते हैं। वे हमारे सभी कर्तव्यों को स्वत:सिद्ध नहीं मानते जैसा कि प्रिचर्ड का मत है। उनके विचार में कुछ थोडे-से कर्तव्य ही ऐसे हैं जो स्वत:सिद्ध हैं और सामान्य परिस्थितियो में जिनका पालन करना सभी मनुष्यो के लिए आवश्यक है। इन कर्तव्यो को रॉस ने मूल कर्तव्य की सज्ञा दी है। उनका कथन है कि हमे अपनी अत-प्रज्ञा द्वारा ही इन मूल कर्तव्यो का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, अत ये स्वत सिद्ध हैं— अर्थात इनकी अनिवार्यता को प्रमाणित करने के लिए किसी प्रकार के तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। निम्नलिखित कर्तव्यों को रॉस ने मनुष्य के मूल कर्तव्यो के रूप में स्वीकार किया है अपना वचन पूरा करना, सत्य बोलना, यदि हमारे अनुचित आचरण के कारण किसी को हानि पहुँची है तो उसकी क्षतिपूर्ति करना, सेवा अथवा सहायता प्राप्त करने पर कृतज्ञता का अनुभव करना, सुख तथा उसके साधनों के वितरण के सबध मे दूसरों के साथ न्याय करना, दूसरो के सुख तथा कल्याण के लिए यथासभव प्रयत्न करना, अपने भीतर सद्गुणों के विकास द्वारा आत्मोन्नति के लिए प्रयास करना, दूसरों को किसी प्रकार की क्षति अथवा हानि न पहुँचाना।[9] सामान्य परिस्थितियों मे परिणामो पर विचार किए बिना इन सभी मूल

---

7 वही पुस्तक, पृ 3
8 वही पुस्तक, पृ 9, 17
9 वही पुस्तक पृ 21

कर्तव्यों का पालन करना रॉस प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक मानते हैं, किंतु उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मूल कर्तव्यों की यह सूची पूर्ण और अंतिम नहीं है—इसमें संशोधन एवं परिवर्तन किया जा सकता है। वस्तुतः साधारण परिस्थितियों में मनुष्य मात्र के लिए इन मूल कर्तव्यों की अनिवार्यता के संबंध में रॉस का मत उचित ही प्रतीत होता है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शताब्दियों पूर्व गौतम बुद्ध ने जिस अष्टांगिक मार्ग का और पतंजलि ने जिन पाँच मूल नियमों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य—का प्रतिपादन किया था उनमें रॉस के सभी उपर्युक्त मूल कर्तव्यों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से मनुष्य के मूल कर्तव्यों के विषय में उनके इस मत को नवीन और मौलिक नहीं कहा जा सकता। फिर भी रॉस ने मानव के मूल कर्तव्यों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है सामान्य परिस्थितियों में उसकी सत्यता असंदिग्ध प्रतीत होती है। परंतु कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रिचर्ड के सिद्धांत की भाँति रॉस का उपर्युक्त कर्तव्य संबंधी सिद्धांत भी हमारा ठीक-ठीक मार्गदर्शन नहीं कर पाता। कई बार दो मूल कर्तव्यों में संघर्ष होता है और ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिए यह निर्णय करना अत्यंत कठिन हो जाता है कि वह उन दो कर्तव्यों में से किसका पालन करे। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रिचर्ड की भाँति रॉस ने भी मनुष्य की इस कर्तव्य संबंधी कठिनाई का कोई निश्चित और संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः जिन सिद्धांतों—अंतःप्रज्ञावाद तथा परिणामनिरपेक्षवाद—में प्रिचर्ड और रॉस विश्वास करते हैं उनके आधार पर इस समस्या का समुचित समाधान संभव प्रतीत नहीं होता।

रॉस के कर्तव्य संबंधी सिद्धांत की उपर्युक्त कठिनाई का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि प्रिचर्ड की भाँति वे भी कर्तव्य-निर्धारण के लिए परिणामों को अप्रासंगिक तथा अनावश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार परिणामों पर विचार किए बिना ही मनुष्य को सभी मूल कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, क्योंकि कर्मों का औचित्य अथवा अनौचित्य उनके परिणामों पर निर्भर न होकर स्वयं कर्मों में ही निहित रहता है। कर्तव्य-पालन के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए रॉस ने लिखा है कि "कुछ विशेष परिणामों को ध्यान में रखकर कर्म करना हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारे कर्म—कम से कम विशेष कर्तव्यों का पालन करने के लिए किए गए हमारे कर्म— इसलिए उचित नहीं हैं कि उनके फलस्वरूप कुछ परिणाम उत्पन्न होंगे जैसा कि उपयोगितावादियों का मत है। . हमें एक विशेष प्रकार के कर्म के आंतरिक औचित्य को स्वीकार करना पड़ेगा जो उसके परिणामों पर आधारित न होकर उसके स्वरूप में ही निहित रहता है"।[10] इस प्रकार स्पष्ट है कि रॉस सुखवाद, उपयोगितावाद आदि सभी परिणामसापेक्ष सिद्धांतों का खंडन करते हैं। उनका यह परिणामनिरपेक्षवाद इस मान्यता पर आधारित है कि औचित्य एक ऐसा निर्प्राकृतिक गुण है जो उचित कर्मों में निहित रहता है और जिसका हमें अपरोक्ष रूप से अंतःप्रज्ञा द्वारा ज्ञान हो जाता है। परंतु निर्प्राकृतिक गुण होते हुए भी यह औचित्य उचित कर्म के कुछ विशेष प्राकृतिक गुणों पर ही निर्भर रहता है। रॉस की यह मान्यता कुछ अस्पष्ट और असंतोषजनक ही प्रतीत होती है। सर्वप्रथम उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि औचित्य उचित कर्म के किन प्राकृतिक गुणों पर निर्भर रहता है और क्यों। इसके अतिरिक्त उनकी उपर्युक्त मान्यता के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि यदि कर्तव्य-चेतना से प्रेरित कर्म ही उचित हैं जैसा कि वे मानते हैं तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन कर्मों का औचित्य कर्तव्य-चेतना पर ही निर्भर है और यह कर्तव्य-चेतना कर्मों में निहित न होकर उन्हें करने वाले व्यक्तियों में ही निहित रहती है। इस प्रकार अंततः कर्मों के औचित्य का आधार मनुष्य की कर्तव्य-चेतना ही है, स्वयं कर्मों का स्वरूप नहीं जैसा कि रॉस का मत है।

वही पुस्तक पृ. 46 4

'औचित्य' की भाँति 'शुभत्व' को भी रॉस वस्तुगत निर्प्राकृतिक गुण मानते हैं जो शुभ वस्तुओ के कुछ प्राकृतिक गुणो के फलस्वरूप उनमे विद्यमान रहता है। इसी कारण वे उन सभी सिद्धातो को अस्वीकार करते हैं जो शुभ को अतत मनुष्य की इच्छाओ, भावनाओं अथवा रुचियो पर ही आधारित मानते है। रॉस का निश्चित मत है कि कर्मो या वस्तुओ का शुभ होना किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओ, रुचियों तथा इच्छाओ पर निर्भर नही होता, यदि कोई वस्तु शुभ है तो वह शुभ ही रहेगी—चाहे उसके सबध में हमारी इच्छाएँ या भावनाएँ कुछ भी हों। दूसरे शब्दो मे शुभत्व पूर्णत वस्तुनिष्ट गुण है जो मनुष्य की भावनाओ या इच्छाओ के साथ परिवर्तित नही होता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रॉस नैतिक दृष्टि से 'स्वत. शुभ' को ही महत्त्व देते हैं, परतः शुभ को नहीं। इसका कारण यह है कि साधन मात्र होने के कारण परत शुभ परिवर्तित होता रहता है जब कि स्वत शुभ सदैव अपरिवर्तित रहता है। अपने आप मे शुभ होने के कारण स्वतः शुभ किसी अन्य वस्तु के शुभत्व पर निर्भर नही रहता। रॉस ने स्वत. शुभ के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है "स्वत शुभ वह है जो परिणामो पर निर्भर नहीं रहता—अर्थात उसके परिणाम चाहे कुछ भी हों, वह सदा शुभ ही रहता है।. जो वस्तु स्वत शुभ है वह सदा शुभ ही बनी रहेगी—चाहे अन्य वस्तुएँ रहें या न रहे। . यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो सिद्धात शुभत्व को शुभ वस्तु और किसी अन्य वस्तु मे सबध मात्र मानता है वह किसी वस्तु को स्वतः शुभ नहीं मान सकता, क्योंकि किसी वस्तु को स्वत शुभ कहने का अर्थ यही है कि अन्य कुछ भी शेष न रहने पर वह वस्तु शुभ ही बनी रहेगी"।[11] वस्तुत. रॉस यह मानते हैं कि यदि कोई वस्तु स्वतः शुभ है तो समय और स्थान के परिवर्तन के फलस्वरूप उसके शुभत्व मे कोई परिवर्तन नही होता। औचित्य की भाँति स्वत शुभत्व भी निप्राकृतिक गुण है जो शुभ वस्तु के कुछ प्राकृतिक गुणो पर ही निर्भर रहता है और जिसका ज्ञान हमें अपरोक्षत अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है। स्वतः शुभत्व के विषय में रॉस के इस मत के विरुद्ध भी वही आपत्ति उठाई जा सकती है जो औचित्य के सबध मे उनके मत के विरुद्ध उठाई गई है—अर्थात वे यह स्पष्ट नहीं करते कि शुभत्व शुभ वस्तु के कौन-से प्राकृतिक गुणों पर निर्भर रहता है और क्यो।

प्रस्तुत खड को समाप्त करनेसे पूर्व इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि रॉस के मतानुसार कौन-सी वस्तुएँ स्वत. शुभ हैं। मूल कर्तव्यो की भाँति स्वतः शुभ वस्तुओं के सबंध मे भी उनका मत बहुत स्पष्ट और निश्चित है। उनके विचार मे सद्गुण, ज्ञान, न्याय तथा सुख ये चारो वस्तुएँ निश्चय ही स्वत शुभ हैं। सद्गुण के अंतर्गत उन्होंने कुछ विशेष सदिच्छाओ को सम्मिलित किया है। उदाहरणार्थ कर्तव्य-पालन की इच्छा, दूसरों को सुख प्रदान करने की इच्छा तथा दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा ऐसी सदिच्छाएँ हैं। इन इच्छाओ अथवा सद्वृत्तियों को रॉस ने स्वत शुभ माना है। इन सदिच्छाओ के अतिरिक्त ज्ञान को भी रॉस स्वत शुभ मानते हैं, सद्गुण और ज्ञान के साथ-साथ उन्होंने न्याय को भी स्वतः शुभ के रूप में स्वीकार किया है। व्यक्ति के सद्गुणो तथा दुर्गुणो के अनुपात मे उसे क्रमशः समुचित सुख और दुःख प्रदान करना ही उनके विचार में 'न्याय' है।[12] सद्गुण, ज्ञान और न्याय की भाँति सुख को भी वे स्वतः शुभ ही मानते हैं। परतु वे सुखवादियों के इस मत का खंडन करते हैं कि सुख सदैव अपने आप मे शुभ और दुःख सदैव अपने आप मे अशुभ होता है। इस मत के विरुद्ध उनका कथन है कि व्यक्ति के ऐसे सुख को स्वत. शुभ नही माना जा सकता जिसका वह अधिकारी नही है। यही नहीं, यदि कोई व्यक्ति

---

11 वही पुस्तक पृ 68 5

12 वही पुस्तक पृ 138.

दुर्गुणयुक्त है तो उसे प्राप्त होने वाला दु ख उनके मतानुसार शुभ है। सुख को सदैव स्वतः शुभ मानने के विरुद्ध रॉस ने यह भी कहा है कि कुछ परिस्थितियों में प्राप्त सुख अपने आप में अशुभ होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति अश्लील अथवा निर्दयतापूर्ण कर्मों द्वारा सुख प्राप्त करता है तो उसके सुख को अपने आप मे अशुभ ही माना जाएगा। सक्षेप मे रॉस का विचार है कि न तो सुख सदैव स्वत शुभ होता है और न दु ख सदैव अपने आप मे अशुभ। परन्तु यहाँ उनके विचारों मे कुछ स्वतोव्याघात दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो वे यह मानते हैं कि जो वस्तु स्वत शुभ है वह सदैव स्वत: शुभ रहती है—समय, स्थान और परिस्थितियो के फलस्वरूप उसके शुभत्व मे कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता। दूसरी ओर वे सुख को स्वत शुभ मानते हुए भी उसे सदैव अपने आप मे शुभ नही मानते। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, रॉस ने अपने विचारो मे इस स्वतोव्याघात का कोई समाधान प्रस्तुत नही किया। वस्तुत यदि सुख सदैव और सभी परिस्थितियो मे शुभ नही है जैसा कि रॉस मानते हैं तो उसे स्वत शुभ मानना युक्तिसंगत प्रतीत नही होता। परंतु अपने विचारो मे आत्मसंगति की ओर समुचित ध्यान दिए बिना सुख को स्वत शुभ वस्तुओं मे सम्मिलित करते हुए वे कहते हैं कि "चार वस्तुएँ स्वतः शुभ प्रतीत होती हैं—सद्गुण, सुख, सद्गुणयुक्त व्यक्तियों को सुख की प्राप्ति और ज्ञान।... मैं किसी ऐसी वस्तु को खोजने मे असमर्थ हूँ जो स्वत: शुभ हो किंतु इनमें से कोई भी न हो अथवा जिसमें इन स्वत शुभ वस्तुओ मे से दो या अधिक सम्मिलित न हों"।[13] स्पष्ट है कि रॉस स्वतः शुभ वस्तुओं की सूची में सुख को भी समाविष्ट करते हैं, किंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, ऐसा करना उनके विचारो मे स्वतोव्याघात उत्पन्न करता है।

वस्तुत: सुख को स्वत: शुभ मानते हुए भी रॉस उसे अन्य स्वतः शुभ वस्तुओं की अपेक्षा निम्न कोटि का और कम मूल्यवान मानते हैं। सद्गुण और ज्ञान के साथ सुख की तुलना करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है :— "मैं समझता हूँ कि मूल्य की दृष्टि से सुख सद्गुण तथा ज्ञान की अपेक्षा निश्चय ही निम्न कोटि का अथवा निकृष्ट है।... सुख तथा सद्गुण के संबंध में मुझे यह अधिक सत्य प्रतीत होता है कि सुख चाहे कितना ही अधिक हो, वह थोड़े-से सद्गुण के समकक्ष भी नहीं हो सकता, वस्तुतः मूल्य की दृष्टि से सुख की अपेक्षा सद्गुण का कहीं अधिक उच्च स्थान है"।[14] अपने इस मत के समर्थन में रॉस ने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनका प्रथम तर्क यह है कि यद्यपि बहुत-से पशुओं के जीवन में दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक होती है और इसके विपरीत बहुत-से मनुष्यों को सुख की अपेक्षा दुःख ही प्राप्त होता है, फिर भी सामान्यतः मानव-जीवन को पशु के जीवन की अपेक्षा अधिक मूल्यवान समझा जाता है। इस संदर्भ में उन्होंने मिल की इस प्रसिद्ध उक्ति को भी उद्धृत किया है कि "संतुष्ट शूकर की अपेक्षा असंतुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है। सद्गुण की अपेक्षा सुख को निकृष्ट मानने के लिए रॉस का दूसरा तर्क यह है कि अपने लिए सुख प्राप्त करना सामान्यतः व्यक्ति का कर्तव्य नहीं माना जाता जब कि अपने भीतर सद्गुणों का विकास करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य समझा जाता है। इससे निश्चय ही यह प्रमाणित होता है कि सुख की अपेक्षा सद्गुण कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यदि किसी व्यक्ति में सद्गुण की कमी है तो फिर चाहे वह कितना ही सुख प्राप्त कर ले, उसके आधार पर वह अपनी इस क्षति की पूर्ति नहीं कर सकता। सद्गुण की अपेक्षा सुख को निकृष्ट सिद्ध करने के लिए रॉस ने तीसरा तर्क यह दिया है कि कुछ कर्मों—यथा, निर्दयता—से प्राप्त सुख अपने आप में अशुभ होता है जबकि सद्गुण सदैव स्वतः

13 वही पुस्तक, पृ 140.
14. वही पुस्तक, पृ. 149, 150.

शुभ ही रहता है। इन सब तर्को के आधार पर उन्होने यह निष्कर्ष निकाला है कि सद्गुण की अपेक्षा सुख कम मूल्यवान है और सुख की उत्पत्ति तथा प्राप्ति तभी तक शुभ मानी जा सकती है जब तक वह सद्गुण के विकास मे बाधक सिद्ध न हो। इसी प्रकार रॉस ने ज्ञान की अपेक्षा भी सद्गुण को मूल्य की दृष्टि से कही अधिक उच्च स्थान दिया है। स्वकर्तव्य-पालन की इच्छा को सद्गुण का सर्वोत्तम रूप मानते हुए वे कहते हैं कि अपने कर्तव्य का त्याग और चरित्र का पतन करके ज्ञान की असीमित वृद्धि भी नैतिक दृष्टि से अनुचित है।[15] सक्षेप मे सद्गुण—विशेषत कर्तव्यनिष्ठा—को ही रॉस सर्वोतम स्वत शुभ वस्तु मानते हैं।

4. मूल्यांकन

सभवत यह कहना अनुचित न होगा कि अत प्रज्ञावाद में आशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। इस सिद्धात के प्रणेताओ का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि प्राकृतिक अथवा अनुभवात्मक प्रत्ययों के आधार पर नैतिक प्रत्ययो की ठीक-ठीक परिभाषा नही की जा सकती और नैतिक निर्णय भावनाओ की अभिव्यक्तियो तथा आदेशो से भिन्न होते हैं। किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित या शुभ कहना उसे सुखद कहने अथवा उसके विषय मे अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त करने से निश्चय ही भिन्न है। इसी प्रकार अत प्रज्ञावादियो की इस मान्यता को भी कुछ सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है कि कर्मों का औचित्य उनके परिणामो पर निर्भर नही होता। हम कुछ विशेष परिस्थितियो मे परिणामो पर विचार किए बिना भी कुछ कर्मो को उचित या अनुचित कहते हैं। उदाहरणार्थ हम यह मानते हैं कि निर्दोष व्यक्ति को मृत्यु दड देना नैतिक दृष्टि से अनुचित है—फिर चाहे इससे किसी व्यक्ति अथवा समुदाय का कितना ही हित क्यो न हो। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति ऋण चुकाते समय अथवा अपने वचन का पालन करते समय प्राय इन कर्मों के परिणामो पर ध्यान नही देता। इस दृष्टि से अत प्रज्ञावादियो के परिणामनिरपेक्षवाद को अशत उचित माना जा सकता है। अत मे अत प्रज्ञावादियो की इस मान्यता का भी समर्थन किया जा सकता है कि नैतिक प्रत्यय प्राकृतिक गुणो का बोध नही कराते, क्योकि वे इन गुणों का बोध कराने वाले अनुभवात्मक प्रत्ययों से भिन्न होते हैं।

परतु अत प्रज्ञावाद के उपर्युक्त आंशिक सत्यो को स्वीकार करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि वास्तव मे यह कोई सतोषप्रद सिद्धात नही है। हम पिछले दो खडो मे देख चुके हैं कि प्रिचर्ड और रॉस के अत प्रज्ञात्मक सिद्धात के विरुद्ध ऐसी अनेक आपत्तियाँ हैं जिनका वे सतोषजनक उत्तर नही दे पाए। इन आपत्तियो के अतिरिक्त उनके सिद्धांत के विरुद्ध अन्य बहुत-सी आपत्तियाँ भी उठाई जा सकती हैं जिनमे से कुछ निम्नलिखित हैं —

(1) अत:प्रज्ञावादियो की आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक प्रत्यय कुछ विशेष निर्प्राकृतिक गुणो का बोध कराते हैं और इसी कारण वे अनुपमेय अथवा अद्वितीय हैं। उनकी यह मान्यता इस सिद्धात पर आधारित है कि प्रत्येक विशेषण अनिवार्यत. किसी गुण का बोध कराता है। परतु आधुनिक भाषाशास्त्री इस सिद्धात को स्वीकार नही करते। उनका मत है कि सभी विशेषण गुणबोधक नहीं होते, कुछ विशेषण वक्ता की भावनाओ अथवा अभिवृत्तियो को अभिव्यक्त करते हैं और श्रोता मे इन्ही भावनाओ या अभिवृत्तियो को जागृत करते हैं। उदाहरणार्थ उत्तम, प्रशसनीय, दुष्ट, घृणास्पद आदि विशेषण लाल, सफेद, लबा, चौडा आदि विशेषणो की भाँति गुणबोधक नही है। इस नवीन सिद्धात के आधार पर अधिकतर समकालीन दार्शनिक यह

---

15 वही पुस्तक पृ 5

मानते हैं कि शुभ, उचित, उत्कृष्ट, निकृष्ट आदि नैतिक प्रत्ययो का संबंध मनुष्य की भावनाओ अथवा अभिवृत्तियो से है, अत: वे न तो प्राकृतिक गुणों का बोध कराते हैं और न निर्प्राकृतिक गुणो का। ऐसी स्थिति मे नैतिक प्रत्ययों के अर्थ और स्वरूप के विषय में अत:प्रज्ञावादियों का मत भी उतना ही अनुचित एवं अमान्य है जितना प्रकृतिवादियो का। इसके अतिरिक्त अत:प्रज्ञावादी निर्प्राकृतिक गुणों के स्वरूप को भी स्पष्ट नही कर पाए। उनका कथन है कि ये गुण अनुभवनिरपेक्ष तथा देश-कालातीत हैं, अत हमे केवल अत:प्रज्ञा द्वारा ही इनका अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है। परतु उनकी इस परिभाषा से निर्प्राकृतिक गुणो का स्वरूप स्पष्ट नही होता। जब एक साधारण व्यक्ति किसी कर्म को शुभ या उचित कहता है तो यह मानना बहुत कठिन है कि उसे अत प्रज्ञा द्वारा उस कर्म के किसी विशेष निर्प्राकृतिक गुण का ज्ञान होता है। वस्तुत हमारा सामान्य अनुभव ऐसे रहस्यमय तथाकथित निर्प्राकृतिक गुणो के अस्तित्व की पुष्टि नहीं करता। इस प्रकार अत प्रज्ञावादियों ने निर्प्राकृतिक गुणो की जो कल्पना की है वह निराधार ही प्रतीत होती है।

(2) अत प्रज्ञावादियों की दूसरी आधारभूत मान्यता यह है कि प्रत्येक मनुष्य मे एक विशेष शक्ति – अर्थात् अत. प्रज्ञा – अवश्य विद्यमान रहती है जो उसे कर्मों के औचित्य तथा अनौचित्य का ज्ञान कराती है। परतु उनकी यह मान्यता भी उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नही होती। सर्वप्रथम यह कहना बहुत कठिन है कि 'अंत: प्रज्ञा' का वास्तविक अर्थ और स्वरूप क्या है। फिर यदि इस कठिनाई को छोड भी दिया जाए तो भी यह प्रमाणित करना असभव प्रतीत होता है कि प्रत्येक मनुष्य में यह अंत प्रज्ञा विद्यमान रहती है। यदि इन दोनों कठिनाइयों पर ध्यान न देते हुए हम यह मान लें कि सभी मनुष्यों में अंत:प्रज्ञा विद्यमान रहती है तो फिर यह प्रश्न उठता है कि विभिन्न व्यक्तियों मे कर्मों के औचित्य के विषय में तीव्र मतभेद क्यों होता है और इस मतभेद का निराकरण कैसे किया जा सकता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अत:प्रज्ञावादी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई सतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। यदि एक व्यक्ति की अंत:प्रज्ञा किसी कर्म को उचित बताती है और दूसरे व्यक्ति की अत:प्रज्ञा उसी कर्म को अनुचित बताती है तो हमारे पास यह जानने का कोई वैज्ञानिक उपाय नही है कि उन दोनों में से किसकी अत प्रज्ञा वास्तव में मान्य है और क्यो। स्पष्ट है कि यह कठिनाई अत:प्रज्ञावादियो के सिद्धात को अंतत: व्यक्तिनिष्ठवाद में ही परिणत कर देती है जिसका वे स्वय दृढतापूर्वक खडन करते रहे हैं।

(3) कर्मों के औचित्य तथा कर्तव्यों को परिणामों पर आधारित न मानने के कारण अत:प्रज्ञावादी इस प्रश्न को अनुचित एव निरर्थक मानते हैं कि हमे अपने कर्तव्यो का पालन क्यो करना चाहिए। परतु उनके इस मत का पूर्णत: समर्थन करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि हमारे कर्मों के औचित्य और कर्तव्यों का उनके परिणामो से अनिवार्य सबंध है। हम केवल उन्ही कर्मों को कर्तव्यों के रूप मे स्वीकार करते हैं जो अतत: व्यक्ति अथवा समाज के लिए हितकर हैं – अर्थात् जिनके परिणाम व्यक्ति या समाज के लिए अतत शुभ होते हैं। ऐसे किसी कर्म को कर्तव्य नहीं माना जा सकता जिससे किसी का हित नहीं होता। स्पष्ट है कि हमारे सभी कर्तव्य अतत व्यक्ति और समाज के कल्याण पर ही आधारित हैं, अत: यह प्रश्न निरर्थक नही है कि हमे अपने कर्तव्यों का पालन क्यो करना चाहिए।

(4) प्रकृतिवाद का खंडन करते हुए भी स्वय अंत.प्रज्ञावादी भी प्रकृतिवादियों के समान ही नैतिक निर्णयो को पूर्णत: तथ्यात्मक मानते हैं। इस दृष्टि से इन दोनों सिद्धांतों मे अंतर केवल इतना ही है कि प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक निर्णय प्राकृतिक गुणों का बोध कराते हैं और अत

के अनुसार निर्प्राकृतिक गुणो का। परतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, गुणबोधक न होने के कारण नैतिक निर्णय वास्तव में तथ्यात्मक निर्णयों से भिन्न होते हैं। किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित कहते समय हम उसके प्रति पूर्णत तटस्थ अथवा उदासीन नही रहते, हम उसके सबध मे अपनी भावनाओं तथा अभिवृत्तियों को अवश्य अभिव्यक्त करते हैं। परंतु प्रकृतिवादियो की भाँति अंत प्रज्ञावादी भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार नही करते।

उपर्युक्त सभी आपत्तियों के कारण अत प्रज्ञावाद को पूर्णतया सतोषप्रद सिद्धात नही माना जा सकता।

14
संवेगवाद – सी० एल० स्टीवैन्सन

1. संवेगवाद का उदय और विकास

यह सत्य है कि आधुनिक नैतिक दर्शन में संवेगवाद का उदय एवं विकास वर्तमान शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशक में हुआ, किंतु इस नैतिक सिद्धांत की कतिपय आधारभूत मान्यताएँ जॉर्ज बर्कले, फ्रांसिस हचिसन तथा डेविड ह्यूम की कुछ कृतियों में विद्यमान हैं। यद्यपि ये तीनों दार्शनिक 'संवेगवाद' के आधुनिक अर्थ में इस सिद्धांत के समर्थक नहीं थे, फिर भी उन्होंने भाषा के उद्देश्यों तथा नैतिक शब्दों के अर्थ के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें संवेगवाद के कुछ मूल तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ 1710 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'ए ट्रिटाइज कन्सर्निंग दि प्रिन्सिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' की प्रस्तावना में बर्कले ने भाषा के चार उद्देश्यों का उल्लेख किया है – (1) विचारों अथवा तथ्यों को सूचित करना, (2) भावनाओं या संवेगों को उद्दीप्त करना, (3) किसी को कोई कार्य करने के लिए प्रेरित करना अथवा उसे रोकना, और (4) किसी के मन में कोई विशेष अभिवृत्ति उत्पन्न करना। स्पष्ट है कि इनमें से भाषा का प्रथम उद्देश्य वर्णनात्मक तथा शेष तीनों उद्देश्य संवेगात्मक अथवा आदेशात्मक हैं। भाषा के इन तीनों संवेगात्मक उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए बर्कले ने स्वयं लिखा है कि 'खतरा', 'शुभ' आदि शब्दों का प्रयोग भावनाओं और संवेगों को अभिव्यक्त अथवा उद्दीप्त करने के लिए किया जा सकता है। बर्कले के इन विचारों में संवेगवाद की आधारभूत मान्यता स्पष्टत. परिलक्षित होती है।

इसी प्रकार हचिसन तथा ह्यूम के व्यक्तिनिष्ठ नैतिक सिद्धांतों में भी संवेगवाद के मूल तत्त्व खोजे जा सकते हैं। ह्यूम ने तो स्पष्ट कहा है कि जब हम 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम किसी वस्तु के विषय में कोई तथ्यात्मक सूचना न देकर केवल अपनी भावनाओं को ही अभिव्यक्त करते हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' के द्वितीय और तृतीय खंडों में ऐसे कितने ही उदाहरण मिल जाएँगे जिनमें संवेगवाद की आधारभूत मान्यताओं का समर्थन किया गया है। इसी कारण रूडॉल्फ कार्नैप, ए० जे० एयर, सी० एल० स्टीवैन्सन आदि संवेगवादियों ने ह्यूम के नैतिक दर्शन को अपना प्रमुख प्रेरणा-स्रोत मानते हुए उनके व्यक्तिनिष्ठवाद को अपने सिद्धांत का मूल आधार स्वीकार किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि संवेगवाद बहुत प्राचीन सिद्धांत नहीं है, फिर भी इसका उद्गम अट्ठारहवीं शताब्दी के ब्रिटिश अनुभववादी दर्शन में खोजा जा सकता है।

परंतु आधुनिक नैतिक दर्शन में संवेगवाद का हमें जो रूप उपलब्ध होता है वह तर्कीय प्रत्यक्षवाद का अनिवार्य परिणाम है। तर्कीय प्रत्यक्षवादी विज्ञान के दृढ़ समर्थक तथा पूर्णरूपेण

अनुभववादी होने के कारण ऐसे किसी तत्त्व की सत्ता स्वीकार नही करते थे जिसका अनुभव द्वारा सत्यापन सभव न हो। फलत वे केवल दो प्रकार के वाक्यो को ही सार्थक मानते थे — एक तो वे जो पुनरावृत्यात्मक अथवा विश्लेषणात्मक हैं — अर्थात् जिनका विधेय उद्देश्य के सबध मे किसी नए तथ्य की सूचना नही देता। दूसरे प्रकार के सार्थक वाक्य वे हैं जिनका अनुभव द्वारा सत्यापन सभव है — अर्थात् जिन्हे सामान्य अनुभव के आधार पर सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है। परतु नैतिक निर्णयो को सार्थक वाक्यो के इन दो वर्गों मे से किसी मे भी नही रखा जा सकता, क्योंकि वे न तो पूर्णतया विश्लेषणात्मक हैं और न उनका तथ्यात्मक वाक्यो की भाँति अनुभव द्वारा सत्यापन ही सभव है। ऐसी स्थिति मे इन निर्णयों की व्याख्या तर्कीय प्रत्यक्षवादियो के लिए एक जटिल समस्या बन गई थी। इसी समस्या का समाधान करने के लिए उन्होने उस सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसे 'सवेगवाद' कहा जाता है। इस सिद्धात के अनुसार नैतिक निर्णय विश्लेषणात्मक और तथ्यात्मक वाक्यो से बिल्कुल भिन्न हैं, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य निर्णीत वस्तु — कर्म आचरण, व्यक्ति आदि — के सबध मे किसी तथ्य का वर्णन करना नही अपितु वक्ता की भावनाओ को अभिव्यक्त करना तथा श्रोता मे उन्ही भावनाओ को उद्दीप्त करना है। दूसरे शब्दो मे इस सिद्धात के अनुसार नैतिक निर्णयो के दो मुख्य कार्य हैं — वक्ता के कुछ विशेष सवेगो की अभिव्यक्ति तथा श्रोता मे उन्ही सवेगो की उत्पत्ति। इसी कारण उक्त सिद्धात को 'सवेगवाद' की सज्ञा दी गई है।

रूडॉल्फ कार्नैप ने 1935 मे प्रकाशित अपनी लघु पुस्तिका 'लॉजिकल सिन्टेक्स' मे तथा ए० जे० एयर ने 1936 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लैंगवेज, ट्रूथ ऐंड लॉजिक' मे सर्वप्रथम सवेगवाद का प्रतिपादन किया। परतु इस सिद्धात की विषद व्याख्या तथा इसके पूर्ण विकास का श्रेय अमरीकी दार्शनिक सी० एल० स्टीवैन्सन को ही प्राप्त है। उन्होंने सर्वप्रथम 1936-37 मे 'माइन्ड' नामक पत्रिका मे कुछ लेख लिखे जिनका सवेगवाद के इतिहास मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन लेखो मे 'दि इमोटिव मीनिंग ऑफ़ ऐथिकल टर्म्स', 'पर्सुएसिव डेफिनिशन्स' तथा 'दि नेचर ऑफ ऐथिकल डिसेग्रीमैंट' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लेखो के अतिरिक्त स्टीवैन्सन ने 1944 मे प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऐथिक्स ऐंड लैंगवेज' मे सवेगवाद के बहुत-से महत्त्वपूर्ण पक्षों की विस्तृत व्याख्या की है। वस्तुत यहाँ मुख्यत इसी पुस्तक के आधार पर नीतिशास्त्र के सबंध मे स्टीवैन्सन के विचारो को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन एवं विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से स्टीवैन्सन के सवेगात्मक सिद्धात को मुख्य रूप से चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है — (1) नैतिक असहमति का स्वरूप, (2) नैतिक शब्दो का अर्थ, (3) नैतिक निर्णयो का स्वरूप और उद्देश्य, (4) नैतिक निर्णयो की प्रामाणिकता। यहाँ क्रमश अधि-नीतिशास्त्र की इन चारो महत्त्वपूर्ण समस्याओं के सबध मे स्टीवैन्सन के विचारो का आलोचनात्मक दृष्टि से मूल्याकन करने का प्रयास किया जाएगा।

2 नैतिक असहमति का स्वरूप

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, 1936-37 मे स्टीवैन्सन ने 'माइन्ड' नामक पत्रिका मे नैतिक असहमति के स्वरूप पर एक लेख लिखा था। इसके पश्चात् अपनी पुस्तक 'ऐथिक्स ऐंड लैंगवेज' के प्रथम अध्याय मे उन्होंने पुन इसी समस्या पर सविस्तार विचार किया। इससे स्पष्ट है कि वे नीतिशास्त्र की इस समस्या को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वस्तुत यह उचित ही है, क्योंकि

हमें कई बार अपने दैनिक जीवन मे नैतिक असहमति की समस्या का सामना करना पड़ता है। इस नैतिक असहमति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्टीवैन्सन ने कहा है कि जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु – आचरण, उद्देश्य, कर्म, मनुष्य आदि – के संबध में विरोधी नैतिक निर्णय देते हैं – अर्थात् जब एक उसे शुभ या उचित और दूसरा अशुभ अथवा अनुचित कहता है तो इस विरोध को 'नैतिक असहमति' की संज्ञा दी जा सकती है। उनके मतानुसार यह नैतिक असहमति दो प्रकार की हो सकती है – विश्वास सबंधी असहमति और अभिवृत्ति संबंधी असहमति। विश्वास सबधी असहमति एक ही वस्तु के सबध मे दो व्यक्तियों के विरोधी विश्वासो पर आधारित होती है और अभिवृत्ति सबधी असहमति एक ही वस्तु के प्रति दो व्यक्तियो की विरोधी अभिवृत्तियो के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इन दोनो प्रकार की असहमतियो में अतर स्पष्ट करते हुए स्टीवैन्सन ने लिखा है कि "प्रथम प्रकार की असहमति का सबध तथ्यो का ठीक-ठीक वर्णन करने तथा उनकी व्याख्या करने से है जबकि दूसरी प्रकार की असहमति तथ्यो को पसद करने अथवा न करने से सबंधित है"।[1] संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि विश्वास सबधी असहमति मुख्यत तथ्यो के विरोध पर आधारित होने के कारण तथ्यात्मक और अभिवृत्ति सबधी असहमति मुख्यत इच्छाओं या भावनाओ के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने के कारण भावनात्मक होती है।

स्टीवैन्सन ने उक्त दोनो प्रकार की असहमतियो के भेद को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं – उनका कथन है कि जब दो चिकित्सक किसी रोग के कारणो के सबंध मे अथवा दो मित्र भूतकाल मे घटित किसी घटना की तिथि के विषय मे विभिन्न या विरोधी मत व्यक्त करते हैं तो उनकी इस असहमति को विश्वास सबधी असहमति कहा जा सकता है, क्योकि यह मुख्यत एक ही वस्तु के सबध में विरोधी विश्वासो के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। इसके विपरीत भोजन के इच्छुक दो मित्रो मे से जब एक मित्र सगीतप्रेमी होने के कारण ऐसे भोजनालय मे जाना चाहता है जहाँ सगीत सुना जा सकता है और दूसरा मित्र सगीत पसद न करने के कारण उस भोजनालय मे जाना चाहता है जहाँ शात वातावरण है तो इन दोनो मित्रों की इस असहमति को अभिवृत्ति सबधी असहमति कहा जाएगा, क्योंकि यह मुख्यत उनकी विरोधी इच्छाओ अथवा रुचियो पर आधारित है। इस प्रकार स्टीवैन्सन के अनुसार विश्वास सबधी असहमति का आधार दो विरोधी तथ्य होते है जिनमे से एक ही सत्य हो सकता है, जब कि अभिवृत्ति सबधी असहमति का आधार दो विरोधी रुचियाँ अथवा इच्छाएँ होती हैं जिनमे से एक समय पर केवल एक ही पूरी हो सकती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नैतिक विवाद मे कौन-सी असहमति विद्यमान रहती है। इसके उत्तर मे स्टीवैन्सन का कथन है कि प्राय सभी नैतिक विवादो मे दोनो प्रकार की असहमतियाँ निहित रहती हैं, किंतु कभी विश्वास सबधी असहमति अधिक प्रबल होती है और कभी अभिवृत्ति सबधी असहमति। इसका कारण यह है कि विश्वासों तथा अभिवृत्तियो मे परस्पर अत्यत घनिष्ठ सबध है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि कभी विश्वासो के कारण अभिवृत्तियो का और कभी अभिवृत्तियो के फलस्वरूप विश्वासो का जन्म होता है। ऐसी स्थिति मे दोनो प्रकार की असहमतियो मे भी बहुत घनिष्ठ सबध होना स्वाभाविक ही है। इसी कारण स्टीवैन्सन का मत है कि दैनिक जीवन में उपस्थित होने वाले नैतिक विवादो का निर्णय करते समय दोनों मे से किसी असहमति की उपेक्षा नही की जानी चाहिए।

---

1 ऐथिक्स एड लैंगवेज पृ 5, 6

परंतु यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि नीतिशास्त्र में दोनो असहमतियों को अनिवार्य मानते हुए भी स्टीवैन्सन विश्वास सबधी असहमति की अपेक्षा अभिवृत्ति सबंधी असहमति को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका विचार है कि अधिकतर नीतिशास्त्रियो ने विश्वास सबधी असहमति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और अभिवृत्ति सबधी असहमति की उपेक्षा की है। इस स्थिति को अनुचित बताते हुए उन्होंने कहा है कि अधिकतर नैतिक विवादो मे अभिवृत्ति सबधी असहमति का वास्तव मे अधिक महत्त्व होता है। इस असहमति के अधिक महत्त्व के कारणो को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है "यह समझना सरल है कि अभिवृत्ति सबधी असहमति का विवाद में प्रमुख स्थान है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि अभिवृत्ति सबधी असहमति यह निश्चित करती है कि विवाद के सबध मे कौन-से विश्वास प्रासंगिक हैं। दूसरा कारण यह है कि जब अभिवृत्ति सबधी असहमति का अत हो जाता है तो कुछ सीमा तक विश्वास सबधी असहमति के रहते हुए भी नैतिक विवाद समाप्त हो जाता है"।[2] वस्तुत सवेगवादी होने के कारण स्टीवैन्सन अभिवृत्ति सबंधी असहमति को ही नैतिक विवाद की मुख्य विशेषता मानते हैं।

नैतिक असहमति की परिसमाप्ति के विषय मे, स्टीवैन्सन का विचार है कि विश्वास सबधी असहमति को बौद्धिक उपायो या विधियो द्वारा समाप्त किया जा सकता है कितु अभिवृत्ति सबधी असहमति को नही। इसका कारण यह है कि विश्वास सबधी असहमति का आधार कुछ विरोधी तथ्य होते हैं जिनके सबध में बौद्धिक तर्क दिए जा सकते हैं, परन्तु अभिवृत्ति सबंधी असहमति विरोधी रुचियो अथवा इच्छाओ पर आधारित होती है जिनके विषय मे बौद्धिक तर्क देना सभव नही है। ऐसी स्थिति मे अभिवृत्ति सबधी असहमति का अत करने के लिए निर्बौद्धिक उपायों अथवा प्रेरक विधियो का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। ये वे विधियाँ या उपाय हैं जो मनुष्य की बुद्धि को नही अपितु उसकी भावनाओ या संवेगो को प्रभावित करते हैं। जब हम कोई बौद्धिक तर्क न देकर केवल भावनापूर्ण शब्दो अथवा सवेगयुक्त चेष्टाओ द्वारा किसी व्यक्ति को प्रभावित करके उसे कोई विशेष कार्य करने या न करने के लिए प्रेरित करते हैं तो हम प्रेरक विधियो अथवा निर्बौद्धिक उपायो का ही प्रयोग करते हैं। स्टीवैन्सन के मतानुसार इन उपायों द्वारा दो व्यक्तियो की विरोधी अभिवृत्तियो मे से किसी एक अथवा दोनों की अभिवृत्तियों मे परिवर्तन करके अभिवृत्ति सबधी असहमति को समाप्त किया जा सकता है। समाजसुधारक, राजनीतिज्ञ, नीतिशास्त्रज्ञ, धर्मप्रचारक आदि मुख्यत इन्ही उपायो का प्रयोग करते हैं। स्टीवैन्सन नीतिशास्त्र के लिए भी इन निर्बौद्धिक उपायो को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं, अत उन्होने उन दार्शनिको की आलोचना की है जो इन उपायो की उपेक्षा करके बौद्धिक उपायों को ही महत्त्व देते हैं। सक्षेप मे स्टीवैन्सन के मतानुसार विश्वास सबधी असहमति को समाप्त करने के लिए बौद्धिक उपायो तथा अभिवृत्ति सबधी असहमति का अंत करने के लिए मुख्यत- निर्बौद्धिक उपायो अथवा प्रेरक विधियो का प्रयोग करना आवश्यक है, अत नीतिशास्त्र के लिए इन दोनो प्रकार के उपायो का बहुत महत्त्व है।

इसमे सदेह नही कि नैतिक असहमति को नीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय मानकर और इसकी विस्तृत व्याख्या करके स्टीवैन्सन ने कार्नेप तथा एयर द्वारा प्रतिपादित सवेगवाद मे कुछ सुधार अवश्य किया है, क्योंकि इन दोनो दार्शनिको ने अपने सवेगवादी सिद्धात मे नैतिक असहमति के स्वरूप पर विचार नही किया। परतु इस विषय पर स्टीवैन्सन के विचार अस्पष्टताओ तथा कठिनाइयो से पूर्णतया मुक्त प्रतीत नही होते। उदाहरणार्थ उन्होने कही भी 'अभिवृत्ति' शब्द

---

2. [illegible] [illegible]

की ठीक ठीक परिभाषा नहीं दी जिससे संपूर्ण विषय कुछ अस्पष्ट रह गया है नैतिक असहमति के स्वरूप पर अपने लेख मे उन्होने कहा है कि 'अभिवृत्ति' किसी वस्तु के पक्ष या विपक्ष मे होने की मनोवृत्ति है, अत नैतिक अनुमोदन तथा नैतिक अननुमोदन प्यार और घृणा की भाँति विशेष अभिवृत्तियाँ है।[3] परन्तु अपनी पुस्तक मे इसी विषय पर विचार करते हुए उन्होने 'अभिवृत्ति' को उद्देश्य अभिलाषा आवश्यकता, पसंद, इच्छा आदि के समान बताया है।[4] ऐसी स्थिति मे यह समझना कठिन है कि स्टीवैन्सन के अनुसार 'अभिवृत्ति' शब्द का ठीक-ठीक अर्थ क्या है और नैतिक 'अभिवृत्तियो' तथा अन्य भावनाओ मे क्या अन्तर है। उन्होने इस प्रश्न का भी कोई सतोषजनक उत्तर नही दिया कि क्या नैतिक अभिवृत्तियाँ सवेगो तथा भावनाओ की भाँति नितात निर्बौद्धिक है। वस्तुत स्टीवैन्सन के नैतिक सिद्धात मे इस सपूर्ण विषय के और अधिक स्पष्टीकरण तथा व्याख्या की आवश्यकता है।

3. नैतिक शब्दों का अर्थ

वस्तुत स्टीवैन्सन ने नीतिशास्त्र मे अभिवृत्ति संबधी असहमति को अधिक महत्त्व इसलिए दिया है कि वे नैतिक शब्दो को मुख्यत सवेगात्मक मानते है। उनके मतानुसार 'शुभ', 'अशुभ' 'उचित' 'अनुचित', आदि नैतिक शब्द मुख्यत सवेगात्मक होने के कारण हमारी अभिवृत्तियो को प्रभावित करते हैं, हमारे विश्वासों को नही, अत इनका अभिवृत्ति सबधी असहमति से अधिक घनिष्ठ सबध है। स्टीवैन्सन द्वारा नैतिक शब्दों को 'सवेगात्मक' कहने का अभिप्राय यह है कि हम इन शब्दो का प्रयोग मुख्यत अपनी कुछ विशेष भावनाओं को व्यक्त करने और दूसरो में उन्ही भावनाओ को उत्पन्न करने के लिए ही करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम हत्या को 'अनुचित' कहते हैं तो हम 'अनुचित' शब्द द्वारा इस कर्म के प्रति अपना अननुमोदन व्यक्त करते हैं और दूसरों के मन मे भी इस कर्म के प्रति वैसा ही अननुमोदन उत्पन्न करना चाहते हैं। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि परोपकार अथवा निराश्रितों की सहायता 'उचित' है तो हम 'उचित' शब्द द्वारा इस कर्म के प्रति अपना अनुमोदन प्रकट करते है और साथ ही यह भी चाहते हैं कि अन्य व्यक्ति भी इस कर्म के प्रति ऐसा ही अनुमोदन अनुभव करे। स्पष्ट है कि स्टीवैन्सन के मतानुसार प्रत्येक नैतिक शब्द के दो मुख्य कार्य हैं — वक्ता की किसी विशेष भावना को अभिव्यक्त करना और श्रोता मे उसी भावना को उत्पन्न करना। इसी अर्थ में प्रत्येक नैतिक शब्द मुख्यत सवेगात्मक है। सक्षेप मे स्टीवैन्सन के सवेगवादी सिद्धात के अनुसार नैतिक शब्दो का संवेगात्मक अर्थ यह है कि वे मुख्यत किसी कर्म अथवा व्यक्ति के प्रति हमारे अनुमोदन या अननुमोदन की भावना व्यक्त करते हैं और दूसरो मे भी उसके प्रति वैसी ही भावना जागृत करते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नैतिक शब्द सवेगात्मक अर्थ क्यो और कैसे ग्रहण कर लेते हैं। इसके उत्तर मे स्टीवैन्सन का कथन है कि "बार-बार संवेगात्मक परिस्थितियो मे प्रयुक्त होने के कारण ही वे प्रबल सवेगात्मक अर्थ प्राप्त कर लेते हैं"।[5] इसका अभिप्राय यह है कि तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक शब्दों का प्रयोग करते समय हम प्राय तटस्थ या भावनारहित होते हैं, किन्तु जब हम नैतिक शब्दो का प्रयोग करते हैं तो हमारे मन मे कोई भावना अवश्य होती है जिसे हम इन शब्दो के माध्यम से प्रकट करते हैं। यही कारण है कि नैतिक शब्दो के साथ अनिवार्यत सवेगात्मक अर्थ संबद्ध हो जाता है। इस 'सवेगात्मक अर्थ' की परिभाषा करते हुए स्टीवैन्सन ने लिखा है कि

3 वही पुस्तक, पृ 530
4 'ऐथिक्स एंड लैंग्वेज, पृ 2
5 'फ़ाइटर्ज ऑन एथिक्स' पृ 534

सवेगात्मक अर्थ किसी शब्द की वह शक्ति है जिसे वह शब्द भावनात्मक परिस्थितियो मे बार-बार प्रयुक्त होने के कारण प्राप्त करता है और जिसके द्वारा वह अभिवृत्तियो का वर्णन करने के स्थान पर उन्हे प्रत्यक्षत अभिव्यक्त अथवा जागृत करता है''।[6] कुछ शब्दो के उदाहरणो द्वारा स्टीवेन्सन का यह कथन अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यह सर्वविदित है कि हमारे समाज मे निम्न कोटि का श्रम करने वाले व्यक्तियो को 'अछूत' या 'चडाल' कहा जाता है। ये दोनो शब्द सवेगात्मक हैं, क्योंकि इनके द्वारा उन व्यक्तियो के वर्ण अथवा जाति का ही वर्णन नहीं होता, अपितु उनके प्रति तथाकथित उच्च वर्ण के व्यक्तियो की घृणा, तिरस्कार, अपमान आदि भावनाए भी व्यक्त होती हैं। इसी प्रकार 'विवाह', 'घर', 'सतान' आदि शब्द मुख्यत सवेगात्मक है क्योकि इनके साथ हमारे प्रणय, स्नेह और वात्सल्य की भावनाएँ सबद्ध हैं। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कुछ शब्द क्यो और कैसे सवेगात्मक अर्थ प्राप्त कर लेते है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि स्टीवैन्सन नैतिक शब्दो को पूर्णतया सवेगात्मक नही मानते। उनके विचार मे ये शब्द मुख्यत सवेगात्मक है, किंतु इनके साथ वर्णनात्मक अर्थ भी अवश्य सबद्ध होता है, यह वर्णनात्मक अर्थ शब्द की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह किसी वस्तु से सबद्ध तथ्यो का वर्णन करता है अथवा उनकी सूचना देता है। स्टीवैन्सन के अनुसार प्रत्येक नैतिक शब्द मे यह वर्णनात्मक अर्थ अवश्य विद्यमान रहता है, किन्तु उसका स्थान सवेगात्मक अर्थ की अपेक्षा गौण होता है। जब हम किसी वस्तु को शुभ या अशुभ कहते हैं तो हम उसके प्रति अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ उसमे निहित कुछ विशेषताओ अथवा गुणों की ओर भी संकेत करते हैं जिनके कारण उसे शुभ या अशुभ कहा जाता है। हमारे नैतिक निर्णय मे वस्तु के इस गुणसूचक अर्थ को ही 'वर्णनात्मक अर्थ' की सज्ञा दी जाती है। स्टीवैन्सन के विचार मे यह वर्णनात्मक अर्थ प्राय सवेगात्मक अर्थ का आधार होता है, क्योकि निर्णीत वस्तु के कुछ गुणो के आधार पर ही उसकी प्रशसा या निदा की जा सकती है। इस मत को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि 'वर्णनात्मक अर्थ उस वस्तु का वर्णन करता है अथवा उसकी सूचना देता है जिसकी सवेगात्मक अर्थ मे प्रशसा या निदा की जाती है''।[7] उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्टीवैन्सन के मतानुसार सवेगात्मक तथा वर्णनात्मक अर्थ मे बहुत घनिष्ठ सबध है, अत प्रत्येक नैतिक शब्द मे ये दोनो विद्यमान रहते हैं। परतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्णनात्मक अर्थ के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वे इसकी अपेक्षा सवेगात्मक अर्थ को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उनके विचार मे इस सवेगात्मक अर्थ के कारण ही हम किसी शब्द को ''नैतिक' कह सकते हैं। इस प्रकार स्टीवैन्सन का विश्वास है कि नैतिक शब्दो का संवेगात्मक अर्थ ही उनका वह विशेष गुण है जो उन्हे अन्य सभी प्रकार के शब्दो से पृथक करता है।

परन्तु नैतिक शब्दो के अर्थ के सबध मे स्टीवैन्सन के उक्त मत को पूर्णत स्वीकार करना बहुत कठिन है। यह ठीक है कि नैतिक असहमति के स्वरूप की भाँति नैतिक शब्दो के अर्थ की व्याख्या मे भी उन्होने कार्नैप और एयर के प्रारभिक सवेगवादी सिद्धात मे पर्याप्त सुधार किया है। इन दोनो दार्शनिको ने नैतिक शब्दो के अर्थ को स्पष्ट करते हुए केवल उनके सवेगात्मक अर्थ को ही महत्त्व दिया था। इन शब्दो के वर्णनात्मक अर्थ का उन्होने अपने नैतिक सिद्धात मे कहीं उल्लेख नहीं किया। ऐसी स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि स्टीवैन्सन ने नैतिक शब्दो के वर्णनात्मक अर्थ को भी महत्त्व देकर प्रारभिक सवेगवादी सिद्धात की एक बहुत बडी कमी को पूरा किया है। परन्तु

6 ऐथिक्स एड लैग्वज पृ 33
7 वही पुस्तक पृ

संवेगवाद मे उनके इस योगदान को स्वीकार करते हुए भी उनके द्वारा की गई नैतिक शब्दो की व्याख्या को पूर्णरूपेण उचित नहीं माना जा सकता। मेरे विचार मे उनकी इस व्याख्या के विरुद्ध यह आपत्ति उठाना पूर्णतया न्यायसंगत होगा कि उन्होंने नैतिक शब्दो के संवेगात्मक अर्थ को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। यह सत्य है कि कुछ परिस्थितियों मे नैतिक शब्द वक्ता की भावनाओ की अभिव्यक्ति और श्रोता में इन भावनाओं का उद्दीपन करते हैं, किन्तु उनके इस संवेगात्मक पक्ष को उनकी एकमात्र ऐसी विशेषता मानना जो उन्हें अन्य सभी प्रकार के शब्दों से पृथक करती है, उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि संवेगात्मक अर्थ केवल नैतिक शब्दो का ही विशेष गुण नही है, अपितु अन्य बहुत-से शब्दो — जिन्हे नैतिक नही माना जाता — का भी संवेगात्मक अर्थ होता है। उदाहरणार्थ विज्ञापन, प्रचार साहित्य, राजनीतिक आंदोलन आदि मे अनेक ऐसे शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो अत्यधिक संवेगात्मक होते हैं किन्तु जिन्हे नैतिक शब्द नहीं माना जाता। ऐसी स्थिति मे संवेगात्मक अर्थ को नैतिक शब्दो का अनिवार्य अथवा एकमात्र विशेष गुण कैसे माना जा सकता है?

वस्तुत यह संदेहास्पद है कि स्वयं स्टीवैन्सन प्रत्येक संवेगात्मक शब्द को "नैतिक शब्द" की संज्ञा देना उचित समझेगे। इसका कारण यह है कि यदि संवेगात्मकता ही "नैतिक शब्दो" की एकमात्र अनिवार्य विशेषता है तो नैतिक निर्णयों तथा विज्ञापन और प्रचार के वाक्यों मे कोई अंतर नही रह जाता। यह कहना कठिन है कि स्टीवैन्सन इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए कहाँ तक उद्यत होगे, किन्तु इतना स्पष्ट है कि संवेगात्मक अर्थ को नैतिक शब्दो का एकमात्र अनिवार्य विशेष गुण मानकर उन्होने इन शब्दो तथा अन्य अनेक प्रकार के संवेगात्मक शब्दो के मौलिक भेद की उपेक्षा की है। यह निश्चय ही उनके नैतिक सिद्धात की एक बहुत बडी कमी है।

4. नैतिक निर्णयों का स्वरूप और उद्देश्य

स्टीवैन्सन द्वारा नैतिक शब्दो के संवेगात्मक अर्थ को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने का प्रमुख कारण यह है कि वे सभी नैतिक निर्णयों को मुख्यत संवेगात्मक अथवा प्रेरक मानते हैं। उनका विचार है कि इन निर्णयो का मुख्य उद्देश्य निर्णीत वस्तु से सबद्ध किन्ही तथ्यों का वर्णन करना नही अपितु उसके प्रति दूसरो के मन मे कुछ विशेष अभिवृत्तियाँ उत्पन्न करना अथवा पहले से विद्यमान उनकी अभिवृत्तियो मे संशोधन या परिवर्तन करना ही है। इसी कारण इन निर्णयो का संबंध मुख्यत विश्वास संबंधी असहमति मे न होकर अभिवृत्ति संबंधी असहमति से ही होता है। स्टीवैन्सन के मतानुसार सभी नैतिक निर्णयो में परोक्ष रूप से आज्ञात्मक तत्त्व अनिवार्यत विद्यमान रहता है और इसी तत्त्व द्वारा वे दूसरो की अभिवृत्तियो को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार ये निर्णय वक्ता की भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ-साथ श्रोता की अभिवृत्तियो में भी परिवर्तन करने का प्रयास करते हैं। इसी आधार पर इन निर्णयो का विश्लेषण करते हुए उन्होने लिखा है कि "आज्ञात्मक एवं नैतिक दोनो प्रकार के वाक्यो का प्रयोग लोगो के उद्देश्यो तथा आचरण का वर्णन करने के लिए कम और उन्हें प्रोत्साहित करने तथा उनमे परिवर्तन करने के लिए अधिक किया जाता है। इसी कारण ये दोनो विज्ञान संबंधी वाक्यों से भिन्न होते हैं"।[8]

नैतिक निर्णय के स्वरूप की व्याख्या करते हुए स्टीवैन्सन कहते हैं कि इसमे दो तत्त्व अवश्य

8 वही पुस्तक, पृ 21

होते हैं — एक वर्णनात्मक और दूसरा सवेगात्मक। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए उन्होने निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं 'यह कर्म अनुचित है' का अर्थ यह है कि (1) 'मैं इस कर्म का अननुमोदन करता हूँ', (2) 'आप भी ऐसा ही करे'। इसी प्रकार 'यह वस्तु शुभ है' का अर्थ यह है कि (1) मैं इसका अनुमोदन करता हूँ, (2) 'आप भी ऐसा ही करे'। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय के दो भाग हैं। स्टीवैन्सन का कथन है कि इनमे से प्रथम भाग वर्णनात्मक है, क्योंकि इसमे वक्ता अपनी अभिवृत्ति का वर्णन करता है। द्वितीय भाग आज्ञात्मक है, क्योंकि इसका उद्देश्य श्रोता की अभिवृत्ति मे संशोधन अथवा परिवर्तन करना है। इस प्रकार स्टीवैन्सन के मतानुसार सभी नैतिक निर्णयो मे वर्णनात्मक और आज्ञात्मक ये दोनो तत्त्व अवश्य सम्मिलित होते हैं। इनमे से आज्ञात्मक तत्त्व को वे पूर्णत सवेगात्मक मानते हैं और यही उनके विचार मे नैतिक निर्णयो का मुख्य तत्त्व है, क्योंकि इसी तत्त्व द्वारा ये निर्णय दूसरो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन से सबधित अपने प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

इस प्रसग मे मनुष्य के अपने व्यक्तिगत कर्तव्य-निर्धारण की समस्या के विषय मे भी स्टीवैन्सन के विचारो का उल्लेख करना आवश्यक है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि कई बार हमे दूसरो के कर्तव्य के सबध मे नही, प्रत्युत स्वय अपने कर्तव्य के सबध मे नैतिक निर्णय करना पडता है — अर्थात् हमे यह निश्चय करना पडता है कि किसी विशेष परिस्थिति मे हमे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। परतु यह निर्णय करना सदैव सरल नही होता, क्योंकि कई बार हमे दो आवश्यक प्रतीत होने वाले कर्तव्यो मे से किसी एक का चुनाव करना पडता है जो बहुत कठिन होता है। ऐसी स्थिति मे मानसिक सघर्ष से मुक्त होने के लिए हमे शीघ्र ही कोई निर्णय करना पडता है। स्टीवैन्सन का कथन है कि केवल बौद्धिक विधियो अथवा उपायो द्वारा यह निर्णय नही किया जा सकता। इसके लिए हमे आत्मोपदेश जैसे प्रेरक उपायो का भी प्रयोग करना पडता है अर्थात् हमे अपने आपको यह समझाना पडता है कि किन्ही दो कर्तव्यों मे से एक आवश्यक और दूसरा अनावश्यक है। इस प्रकार स्टीवैन्सन का विश्वास है कि व्यक्तिगत कर्तव्य के सबध मे नैतिक निर्णय दो कर्तव्यो मे से किसी एक की पूर्ति के लिए अपने आप को प्रेरित करके किया जा सकता है।

नैतिक निर्णयो के स्वरूप तथा उद्देश्य के सबध मे स्टीवैन्सन का उक्त सिद्धांत कार्नैप और एयर के प्रारंभिक सवेगवादी सिद्धात की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हुए भी मूलत उससे बहुत भिन्न नही है। कार्नैप और एयर की भाँति स्टीवैन्सन ने भी इन निर्णयो को मुख्यत सवेगात्मक माना है और इनके दो प्रमुख उद्देश्य बताए है — वक्ता की भावनाओ की अभिव्यक्ति तथा श्रोता की अभिवृत्तियो में परिवर्तन। परतु उनके इस सिद्धात मे अनेक न्यूनताएँ एव कठिनाइयाँ हैं जिनका यहाँ सक्षेप मे उल्लेख करना आवश्यक है। स्टीवैन्सन का यह कथन निश्चय ही उचित एव मान्य है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो की भाँति वर्णनात्मक नही होते। परतु उनके इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि सभी नैतिक निर्णय मूलत सवेगात्मक होते हैं और उनका मुख्य उद्देश्य वक्ता के सवेगो की अभिव्यक्ति तथा श्रोता की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन करना ही होता है। यह सत्य है कि इन निर्णयो मे कुछ सीमा तक वक्ता की अभिवृत्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं, किन्तु इनका मुख्य विषय वह वस्तु है जिसके सबध मे वह निर्णय देता है। उदाहरणार्थ जब हम किसी व्यक्ति को अच्छा या बुरा अथवा उसके आचरण को उचित या अनुचित कहते हैं तो हमारा मुख्य उद्देश्य उस व्यक्ति अथवा उसके आचरण का मूल्याकन करना ही होता है, अपने सवेगो की अभिव्यक्ति अथवा उसकी अभिवृत्तियों मे परिवर्तन करना नही। यदि हमे यह ज्ञात हो कि किसी व्यक्ति के आचरण को अनुचित कहने से उसकी अभिवृत्तियो मे कोई परिवर्तन नही होगा तो भी हम उसके

आचरण का अनुचित ही कहेगे, क्योकि उसकी अभिवृत्तियो का अपरिवर्तित रहना किसी भी स्थिति मे उसके आचरण को उचित सिद्ध नही करता। यह सर्वविदित तथ्य है कि द्वितीय विश्व-युद्ध मे निर्दोष यहूदियो के प्रति हिटलर की नृशसता को लाखो लोगो ने निदनीय और अनुचित कहा यद्यपि वे यह भली भाति जानते थे कि उनके इस निर्णय से यहूदियो के सबध मे हिटलर के विचारो मे कोई परिवर्तन नही होगा। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि दूसरो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन नैतिक निर्णय का अनिवार्य उद्देश्य नही है, अत इस सबध मे स्टीवैन्सन के मत को पूर्णत सत्य एव उचित नही माना जा सकता।

स्टीवैन्सन ने नैतिक निर्णयो के स्वरूप का जो विश्लेषण किया है उससे स्पष्ट है कि वे इन निर्णयो को वस्तुनिष्ठ न मानकर मूलत व्यक्तिनिष्ठ ही मानते है। इसका कारण यह है कि यदि कोई निर्णय निर्णीत वस्तु के सबध मे कुछ न कह कर केवल निर्णयकर्ता की भावनाओ की अभिव्यक्ति और दूसरो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन का प्रयत्न करता है – जैसा कि स्टीवैन्सन का मत है – तो उस निर्णय को व्यक्तिनिष्ठ ही माना जाएगा, वस्तुनिष्ठ नही। वैसे तो स्टीवैन्सन ने प्रत्येक नैतिक निर्णय मे वर्णनात्मक तत्त्व का होना आवश्यक माना है, किन्तु वास्तव मे यह तत्त्व वर्णनात्मक न होकर सवेगात्मक ही है क्योकि यह निर्णयकर्ता की अपनी अभिवृत्तियो का वर्णन – जिसे 'अभिव्यक्ति' कहना अधिक उचित होगा – करता है, निर्णीत वस्तु की विशेषताओ का नही। नैतिक निर्णय के दूसरे तत्त्व को तो वे स्वय भी सवेगात्मक ही मानते है। ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि स्टीवैन्सन नैतिक निर्णयो को पूर्णत व्यक्तिनिष्ठ मानते है और उनमे किसी प्रकार की वस्तुनिष्ठता स्वीकार नही करते।

परन्तु नैतिक निर्णयो के सबध मे स्टीवैन्सन की उक्त मान्यता दोषपूर्ण एव मिथ्या प्रतीत होती है। यदि यह मान भी लिया जाए कि नैतिक निर्णयो मे निर्णयकर्ता की अभिवृत्तियो की अभिव्यक्ति होती है तो भी यह निश्चित है कि इन निर्णयो का मुख्य उद्देश्य निर्णीत वस्तु का मूल्याकन करना ही होता है, निर्णयकर्ता के सवेगो को व्यक्त करना अथवा दूसरो मे ये सवेग जागृत करना नही। यह स्पष्ट है कि निर्णीत वस्तु का मूल्याकन उसकी अपनी विशेषताओ के आधार पर ही सभव है, अत नैतिक निर्णय मे वस्तु की इन विशेषताओ की उपेक्षा नही की जा सकती। परन्तु नैतिक निर्णयो के स्वरूप और उद्देश्य का विश्लेषण करते समय स्टीवैन्सन ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर उचित ध्यान नही दिया। इसके अतिरिक्त सवेगात्मक तत्त्व की आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर उन्होने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की भी उपेक्षा की है कि भावनात्मक वाक्य के विपरीत प्रत्येक नैतिक निर्णय मे सार्वजनीनता होती है – अर्थात् वह किसी व्यक्ति विशेष के लिए नही अपितु समान परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियो के लिए सत्य होता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कतिपय गुणो अथवा विशेषताओ के आधार पर निर्णीत वस्तु का मूल्याकन करने तथा सार्वजनीन होने के कारण नैतिक निर्णय वास्तव मे व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूलत वस्तुनिष्ठ ही होते है, अत स्टीवैन्सन ने इनके स्वरूप और उद्देश्य का जो सवेगात्मक विश्लेषण किया है उसे पूर्णतया उचित एव सतोषजनक नही माना जा सकता।

इसी प्रकार मनुष्य के अपने व्यक्तिगत आचरण के सबध मे नैतिक निर्णय की समस्या पर भी स्टीवैन्सन के मत की सत्यता सदेहास्पद ही प्रतीत होती है। जब हम यह निर्णय करने का प्रयत्न करते है कि हमें अमुक कर्म करना चाहिए या नही तो सर्वप्रथम हम उस कर्म के कुछ गुणो अथवा सभावित परिणामो के आधार पर उसके उचित अथवा अनुचित होने का निर्णय करते हैं। यह निर्णय कर लेने के पश्चात् ही हम अपने आप को यह विश्वास दिलाते हैं कि हमारे लिए वह कर्म

करना नैतिक दृष्टि से वाछनीय है अथवा नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्तिगत आचरण के विषय में नैतिक निर्णय करने के लिए आत्मोपदेश तथा आत्मप्रेरणा जैसी प्रेरक विधियों का उतना अधिक महत्त्व नही है जितना स्टीवैन्सन मानते है। वास्तव मे इस प्रकार का निर्णय करते समय हमारे समक्ष मुख्य समस्या अपने आपको कोई कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित करना नही अपितु उस कर्म के नैतिक औचित्य अथवा अनौचित्य के विषय मे ठीक-ठीक निर्णय करना ही होती है। परतु स्टीवैन्सन ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है और इस सबध मे आत्मप्रेरणा एव आत्मोपदेश जैसे प्रेरक उपायों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि वे मनुष्य के व्यक्तिगत कर्तव्य के सबध मे भी नैतिक निर्णय की समस्या का पूर्णतया सतोषजनक समाधान प्रस्तुत नही कर सके।

वास्तव मे स्टीवैन्सन के सिद्धात की मुख्य कठिनाई यह है कि वे नैतिक निर्णयो के सवेगात्मक पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होने नैतिक निर्णयो का जो विश्लेषण किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत इच्छाओ, रुचियो और भावनाओ की अभिव्यक्ति करने वाले व्यक्तिनिष्ठ वाक्यो तथा इन निर्णयो मे कोई मौलिक अतर नही है। उनके विचार में पूर्णत व्यक्तिनिष्ठ वाक्य तथा नैतिक निर्णय दोनो ही सवेगो को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं। दोनो मे अतर केवल यही है कि व्यक्तिनिष्ठ वाक्यो मे सवेगो की तीव्रता कम और नैतिक निर्णयो मे अधिक होती है। अन्य अभिवृत्तियो से नैतिक अभिवृत्तियो का अतर स्पष्ट करते हुए स्टीवैन्सन ने कहा है कि जब कोई व्यक्ति किसी कर्म या आचरण को केवल व्यक्तिगत रूप मे अच्छा या बुरा समझता है तो वह सामान्य प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता का ही अनुभव करता है, किन्तु जब वह उसे नैतिक दृष्टि से स्वीकार या अस्वीकार करता है तो वह अत्यधिक आनदित अथवा दुखी होता है।[9]

परतु नैतिक अभिवृत्तियो के विषय मे स्टीवैन्सन का यह मत निश्चय ही दोषपूर्ण और आपत्तिजनक है, क्योकि केवल तीव्रता के आधार पर ही नैतिक अनुमोदन अथवा अननुमोदन को व्यक्तिगत रुचि या अरुचि से पृथक नही किया जा सकता। सत्य तो यह है कि व्यक्तिगत भावनाएँ विचारयुक्त निष्पक्ष नैतिक निर्णयो की अपेक्षा कही अधिक तीव्र होती हैं। वस्तुत व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होने के कारण पूर्णरूपेण व्यक्तिनिष्ठ होती है जब कि नैतिक अनुमोदन या अननुमोदन इस अर्थ मे वस्तुनिष्ठ होता है कि वह निष्पक्ष होने के कारण समान परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियो पर समान रूप मे लागू होता है। मेरे विचार मे यही इन दोनो मे मौलिक अतर है और इसी के कारण व्यक्तिनिष्ठ वाक्यो के विपरीत नैतिक निर्णय निष्पक्ष वस्तुनिष्ठ तथा सार्वजनीन माने जाते हैं। परन्तु, जहाँ तक मैं जानता हूँ स्टीवैन्सन ने व्यक्तिनिष्ठ वाक्यो तथा नैतिक निर्णयो के उक्त मौलिक अतर की कोई सतोषप्रद व्याख्या नही की।

5 नैतिक निर्णयों की प्रामाणिकता

जहाँ तक मैं स्टीवैन्सन के विचारो को समझ सका हूँ, मुझे उनके सिद्धात के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकालना उचित और युक्तिसगत ही प्रतीत होता है कि वे नैतिक निर्णयो को सवेगात्मक तथा आज्ञात्मक वाक्यो से मूलत भिन्न नही मानते। यही कारण है कि उन्होंने इन निर्णयो की प्रामाणिकता की समस्या की तुलना आज्ञात्मक वाक्यो की प्रामाणिकता की समस्या से की है। उनके ------ आज्ञाओ तथा नैतिक निर्णयो को इस दृष्टि से समान माना जा सकता है कि इन दोनो मे

9 वही प 90

तथ्यात्मक वाक्यो की भाँति तर्कीय विधि से प्रामाणिक सिद्ध करना सभव नही है। इन दोनो का उद्देश्य अन्य व्यक्तियो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन करना है, अत ये व्यक्ति इस परिवर्तन के कारण पूछ सकते हैं जिसके उत्तर में ऐसे तर्क प्रस्तुत करना आवश्यक है जिनसे इन व्यक्तियो को यह विश्वास हो सके कि उनकी अभिवृत्तियो मे उक्त परिवर्तन द्वारा उनकी इच्छाएँ अधिक सतोषजनक ढग से तृप्त हो सकेगी। दूसरो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन के कारण स्पष्ट करने वाले इन्हीं तर्कों को स्टीवैन्सन ने 'समर्थक तर्क' की सज्ञा दी है।[10]

स्टीवैन्सन के मतानुसार नैतिक निर्णयो के समर्थन मे जो तर्क दिए जाते हैं उनका उद्देश्य इन निर्णयो को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करना नही अपितु दूसरो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन करना ही होता है। ये 'समर्थक तर्क' दूसरो के विश्वासो को प्रभावित करके परोक्ष रूप से उनकी अभिवृत्तियो मे परिवर्तन करते हैं। नैतिक निर्णयो से सबंधित तर्को के स्वरूप के विषय मे अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए स्टीवैन्सन ने लिखा है कि "किसी तथ्य के सबध मे किसी भी वक्ता द्वारा कथित ऐसा कोई भी वाक्य, जिसके फलस्वरूप उसके मतानुसार दूसरो की अभिवृत्तियो म परिवर्तन सभव है, नैतिक निर्णय के पक्ष या विपक्ष मे तर्क के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। यह तर्क वास्तव मे उस निर्णय का समर्थन करेगा या विरोध, यह इस बात पर निर्भर है कि श्रोता इसमे विश्वास करता है या नही, और यदि वह विश्वास करता है तो यह वस्तुत उसकी अभिवृत्तियो मे परिवर्तन कर सकता है अथवा नही"।[11] इस उद्धरण से पूर्णत स्पष्ट है कि दूसरो की अभिवृत्तियो को प्रभावित करने वाले किसी भी तथ्य को स्टीवैन्सन के अनुसार नैतिक निर्णय के पक्ष अथवा विपक्ष मे 'तर्क' माना जा सकता है।

परतु नैतिक निर्णयो की प्रामाणिकता के सबंध मे स्टीवैन्सन का उपर्युक्त मत उचित तथा युक्तिसगत प्रतीत नही होता। इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि इसमे नैतिक निर्णयो की वास्तविक प्रामाणिकता की ओर ध्यान नही दिया गया। जब हम इस समस्या पर विचार करते हैं कि अमुक नैतिक निर्णय सत्य अथवा युक्तिसगत है या नही, तो हमारे समक्ष प्रश्न यह नही होता कि वह दूसरो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन कर सकता है या नही, हमारे समक्ष मूल प्रश्न यह होता हैं कि किन तथ्यो के आधार पर उस निर्णय को उचित या अनुचित माना जा सकता है। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते है कि नैतिक दृष्टि से महात्मा गाँधी के कर्म उचित और हिटलर के अनुचित थे तो हमारा मुख्य उद्देश्य इन दोनो के कर्मों से सबधित कुछ तथ्यो के आधार पर उनके प्रति अपने निर्णय को प्रामाणिक अथवा सत्य सिद्ध करना ही होता है, उनके प्रति दूसरो की अभिवृत्तियो मे परिवर्तन करना नही। यह ठीक है कि हमारे उक्त निर्णय के फलस्वरूप गाँधी तथा हिटलर के प्रति दूसरो की अभिवृत्तियों में परिवर्तन सभव है और हमारे मन मे ऐसा परिवर्तन करने की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हमारा प्रमुख उद्देश्य उनके संबध मे अपने निर्णय को ही सत्य प्रामाणित करना है — चाहे इसमे उनके प्रति दूसरो की अभिवृत्तियो मे कोई परिवर्तन हो या न हो। परतु स्टीवैन्सन ने अपने सिद्धात मे नैतिक निर्णयो की प्रामाणिकता के इस मूल उद्देश्य की उपेक्षा की है।

इसके अतिरिक्त स्टीवैन्सन ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर भी ध्यान नही दिया कि कोई नैतिक निर्णय दूसरो की अभिवृत्तियो को प्रभावित करने मे सफल होकर भी पक्षपातपूर्ण होने के कारण मिथ्या अथवा अनुचित हो सकता है। इसके विपरीत कोई नैतिक निर्णय दूसरो की अभिवृत्तियो को

---

0 वही पुस्तक पृ 27

वही पुस्तक पृ 4

प्रभावित करने मे नितात असफल होते हुए भी निष्पक्ष एव सार्वजनीन होने के कारण उचित अथवा न्यायसगत हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अन्य व्यक्तियो की अभिवृत्तियो को प्रभावित करना कोई ऐसी कसौटी नही है जिसके आधार पर किसी नैतिक निर्णय को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जा सके। परतु यदि नैतिक निर्णयो की प्रामाणिकता के विषय मे स्टीवैन्सन का मत स्वीकार कर लिया जाए तो दूसरो की अभिवृत्तियो पर प्रभाव डालने वाले प्रत्येक तथ्य को इन निर्णयो के समर्थन मे उचित तर्क मानना पडेगा। ऐसी स्थिति मे विज्ञापन सबंधी और प्रचारात्मक वाक्यो तथा नैतिक निर्णयो मे क्या अतर रह जाएगा यह समझना बहुत कठिन है। इस दृष्टि से स्टीवैन्सन के विरुद्ध कुछ आलोचको का यह आरोप उचित ही प्रतीत होता है कि उन्होने नैतिक निर्णयो को ऐसे प्रचारात्मक वाक्यो की श्रेणी मे सम्मिलित कर दिया है जिनका एकमात्र उद्देश्य निहित स्वार्थों के लिए दूसरों की अभिवृत्तियो को प्रभावित करना होता है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि नैतिक निर्णयो के स्वरूप और उद्देश्य की भाँति इनकी प्रामाणिकता के सबध मे भी स्टीवैन्सन का सिद्धात पूर्णतया सत्य एव सतोषप्रद नही है।

परंतु इस लेख को समाप्त करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्टीवैन्सन के नैतिक सिद्धात मे उपर्युक्त सभी कठिनाइयाँ तथा दोष होते हुए भी समकालीन नैतिक दर्शन के इतिहास मे इसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सत्य है कि कार्नेप और एयर ने नैतिक दर्शन मे सवेगवाद का प्रतिपादन किया था किंतु सर्वप्रथम स्टीवैन्सन ने ही इस सिद्धांत को अधिक व्यापक एव सुसगठित रूप मे प्रस्तुत किया। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, उन्होने इन दोनो दार्शनिको के प्रारंभिक सवेगवाद मे अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन किए हैं और इस प्रकार उक्त सिद्धात को अधिक सतोषजनक बनाने का प्रयास किया है जिसमे उन्हें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। वस्तुत सवेगवाद से सबधित स्टीवैन्सन के लेखो तथा उनकी पुस्तक 'ऐथिक्स ऐंड लैंगवेज' का गभीरतापूर्वक अध्ययन किए बिना इस सिद्धात के सभी पक्षो को भलीभाँति समझना बहुत कठिन है, अत. यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस सिद्धात के इतिहास मे उनके विचारों का विशेष महत्त्व है।

15

परामर्शवाद – हेयर और नॉवेलस्मिथ

1 मानकीय नीतिशास्त्र और अधि-नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र की मुख्य दो विधाएँ मानी जाती है – मानकीय नीतिशास्त्र तथा अधि-नीतिशास्त्र अथवा विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र। मानकीय नीतिशास्त्र के अतर्गत मुख्यत निम्नलिखित तीन प्रश्नो पर विचार किया जाता है (1) मानव-जीवन के लिए अतिम शुभ क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? (2) कौन-सा कर्म उचित है और हमारा कर्तव्य क्या है? (3) हमारे कर्मो के औचित्य तथा कर्तव्य का मूल आधार क्या है?

अधि-नीतिशास्त्र अथवा विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र का सबध मुख्यत नैतिक निर्णयो के स्वरूप के स्पष्टीकरण तथा उनके प्रमाणीकरण की विधियो के निर्धारण मे है। वह मानव-जीवन के ध्येय तथा मनुष्य के कर्तव्य पर विचार नही करता, अपितु नैतिक प्रत्ययो अथवा शब्दो के अर्थ का सूक्ष्म विश्लेषण करता है और यह निश्चित करने का प्रयास करता है कि नैतिक निर्णयो को उचित सिद्ध करने के लिए किस प्रकार के कारण अथवा तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। 1903 मे जी०ई० मूर की पुस्तक 'प्रिन्सिपिया ऐथिका' के प्रकाशन के पश्चात् इस विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ है। इसके अनेक समर्थको का कथन है कि मानव-जीवन का मार्गदर्शन करने के लिए मूल सिद्धातो का प्रतिपादन करने से पूर्व नीतिशास्त्रज्ञों को नैतिक प्रत्ययो अथवा शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ तथा नैतिक निर्णयो का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करना चाहिए और यह बताना चाहिए कि इन निर्णयो को कैसे प्रमाणित किया जा सकता है। आज भी अनेक दार्शनिक इन्ही प्रश्नो पर सविस्तार और गभीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं। इस प्रकार समकालीन नैतिक दर्शन मे अधि-नीतिशास्त्र या विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र को पर्याप्त महत्त्व दिया जा रहा है।

अधि-नीतिशास्त्र के सिद्धातो को मुख्य दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है – वर्णनात्मक सिद्धात तथा अवर्णनात्मक सिद्धात। वर्णनात्मक सिद्धातों के अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों की भाँति किसी विषय-वस्तु अथवा गुण का वर्णन करते हैं, अत इन दोनो प्रकार के निर्णयो म मौलिक अतर नही है। परतु अवर्णनात्मक सिद्धात नैतिक निर्णयो के सबध मे इस मान्यता को स्वीकार नही करते। इन सिद्धातो के अनुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो से बहुत भिन्न होते हैं क्योकि वे किसी तथ्य का वर्णन मात्र न करके निर्णयकर्ता की भावनाओ को अभिव्यक्त करते हैं, अन्य व्यक्तियो मे इन भावनाओ को उत्पन्न करते हैं अथवा दूसरो को कुछ करने या न करने का परामर्श देते हैं। स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयो के स्वरूप तथा प्रमाणीकरण के सबध मे इन दोनो प्रकार के सिद्धातों क म हैं प्रकृतिवाद अत तथा को

वर्णनात्मक सिद्धांत और संवेगवाद तथा परामर्शवाद को अवर्णनात्मक सिद्धांत माना जाता है। यहाँ संक्षेप में परामर्शवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाएगा।

2. आर.एम. हेयर

परामर्शवाद के मुख्य प्रवर्तक आर०एम० हेयर माने जाते हैं। उनके अतिरिक्त पी०एच० नॉवेल्स्मिथ ने भी मूलतः इसी सिद्धांत का समर्थन किया है। ये दोनों दार्शनिक संवेगवादियों के इस मत को स्वीकार करते हैं कि नैतिक निर्णय वर्णनात्मक तथ्य संबंधी निर्णयों से भिन्न होते हैं। परंतु ये दोनों दार्शनिक नैतिक निर्णयों को भावनाओं अथवा संवेगों की अभिव्यक्तियाँ मात्र नहीं मानते जैसा कि संवेगवादियों का मत है। इन दार्शनिकों के मतानुसार नैतिक निर्णयों का उद्देश्य भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना नहीं, अपितु कर्मों के संबंध में स्वयं निर्णयकर्ता अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करना है। दूसरे शब्दों में, ये निर्णय किसी को कुछ करने या न करने का परामर्श देते हैं। इसी कारण उक्त सिद्धांत को परामर्शवाद की संज्ञा दी गई है।

हेयर ने अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों 'दि लेंग्वेज ऑफ मॉरल्स' तथा 'फ्रीडम ऐंड रीजन' में परामर्शवाद का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि समस्त नैतिक निर्णय मुख्यतः परामर्शात्मक होते हैं — अर्थात् वे आचरण के लिए स्वयं निर्णयकर्ता अथवा दूसरों का मार्गदर्शन करते हैं। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए हेयर कहते हैं कि "नैतिकता संबंधी भाषा एक प्रकार की परामर्शात्मक भाषा है और यही तथ्य नीतिशास्त्र के अध्ययन को महत्त्व प्रदान करता है क्योंकि 'मुझे क्या करना चाहिए,' यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे हम बहुत समय तक टाल नहीं सकते।"[1] इस प्रकार हेयर के अनुसार नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक जीवन में मनुष्य का मार्गदर्शन करना ही है। जब हम कहते हैं कि अमुक कर्म उचित है तो इसका अभिप्राय यही होता है कि हमें तथा अन्य व्यक्तियों को वह कर्म करना चाहिए। इसके विपरीत जब हम किसी कर्म को अनुचित कहते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि हमें तथा दूसरों को वह कर्म नहीं करना चाहिए। हेयर का विचार है कि उन नैतिक निर्णयों के संबंध में भी यही कहा जा सकता है जिनमें 'शुभ' तथा 'अशुभ' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी कारण वे सभी नैतिक शब्दों को मुख्यतः परामर्शात्मक शब्द ही मानते हैं। उनके मतानुसार यह परामर्शात्मकता ही नैतिक शब्दों को वर्णनात्मक शब्दों से पृथक करती है जिनका उद्देश्य केवल कुछ तथ्यों का वर्णन करना ही होता है। इस प्रकार हेयर नैतिक शब्दों अथवा निर्णयों को संवेगात्मक न मानकर मुख्यतः परामर्शात्मक ही मानते हैं।

यद्यपि हेयर नैतिक निर्णयों को भावनाओं अथवा संवेगों की अभिव्यक्तियाँ मात्र नहीं मानते और यह भी स्वीकार नहीं करते कि इन निर्णयों का मुख्य उद्देश्य अन्य व्यक्तियों की अभिवृत्तियों को प्रभावित या परिवर्तित करना ही होता है, फिर भी उनका मत है कि सभी नैतिक निर्णयों में आदेशात्मक तत्त्व अनिवार्यतः निहित रहता है। प्रत्येक नैतिक निर्णय में परोक्ष रूप से कोई-न-कोई आदेश अवश्य विद्यमान रहता है जिसके द्वारा यह निर्णय स्वयं हमारा अथवा दूसरों का मार्गदर्शन करता है। नैतिक निर्णयों में निहित यह आदेशात्मक तत्त्व ही उन्हें तथ्यात्मक निर्णयों से पृथक करता है जिनका उद्देश्य मार्गदर्शन करना नहीं, अपितु कोई सूचना देना ही होता

1. आर.एम. हेयर, 'दि लैंग्वेज ऑफ मॉरल्स', पृ. 1

है। प्रकृतिवादियो तथा अंत: प्रज्ञावादियो के विरुद्ध हेयर का कथन है कि नैतिक निर्णयो को तथ्यात्मक वाक्य मानना मार्गदर्शन सबधी उनके मुख्य उद्देश्य की पूर्णतया उपेक्षा करना है। इसी आधार पर सवेगवादियो की भाँति हेयर ने भी प्रकृतिवाद तथा अंत प्रज्ञावाद का खडन किया है। उनका मत है कि ये दोनो सिद्धात नैतिक निर्णयों को मूलत तथ्यात्मक मानकर उन्हे परामर्श अथवा मार्गदर्शन सबधी अनिवार्य तत्त्व से पूर्णत वचित कर देते हैं। इस प्रकार हेयर के मतानुसार आदेशात्मक तत्त्व के अभाव मे किसी निर्णय को वस्तुत 'नैतिक निर्णय' नही माना जा सकता। जब हम कोई नैतिक निर्णय स्वीकार कर लेते हैं तो हमे उसमे निहित आदेशात्मक तत्त्व को भी अनिवार्यत स्वीकार करना पडता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति यह मान लेता है कि अमुक कर्म करना उसका कर्तव्य है तो वह इस निर्णय मे निहित इस आदेश को स्वीकार करता है कि वह उस कर्म को अवश्य करे। वह तर्कसंगत रूप से इस नैतिक निर्णय को स्वीकार करते हुए उसमे निहित आदेश को अस्वीकार नही कर सकता।[2] संक्षेप मे हेयर का मत है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय के साथ आदेशात्मक तत्त्व अनिवार्यत: सबद्ध रहता है।

परतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हेयर नैतिक निर्णयो को आदेश मात्र नहीं मानते। उनका मत है कि यद्यपि नैतिक निर्णयो मे आदेशात्मक तत्त्व अनिवार्यत. विद्यमान रहता है फिर भी ये निर्णय आदेशो से बहुत भिन्न होते है। हेयर यह मानते हैं कि प्रत्येक नैतिक निर्णय में परामर्शात्मकता के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व भी अवश्य विद्यमान रहता है जो उसे आदेश से पृथक करता है। इस तत्त्व को उन्होने 'सार्वजनीनता का नियम' कहा है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक नैतिक निर्णय अनिवार्यत: सार्वजनीन होता है -- अर्थात् वह समान परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियो पर समान रूप से लागू होता है। यदि कोई व्यक्ति कुछ विशेष परिस्थितियो मे एक नैतिक निर्णय स्वीकार करता है तो उसे समान परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियो -- जिनमे वह स्वय भी सम्मिलित है -- के लिए उस निर्णय को स्वीकार करना होगा। यदि वह कोई स्पष्ट और प्रासंगिक कारण बताए बिना समान परिस्थितियो में एक ही नैतिक निर्णय को कभी स्वीकार और कभी अस्वीकार करता है तो उसे 'तार्किक असगति' का दोषी माना जाएगा। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति स्वय अपने लिए किसी कर्म को उचित मानता है और समान परिस्थितियो मे उसी कर्म को दूसरो के लिए अनुचित बताता है तो वह उक्त सार्वजनीनता के नियम का स्पष्टत: उल्लघन करता है, ऐसी स्थिति मे उसके निर्णय को 'नैतिक निर्णय' नहीं माना जा सकता। हेयर का मत है कि तथ्यात्मक निर्णयो की भाँति नैतिक निर्णय भी अनिवार्यत: सार्वजनीन होते हैं -- अर्थात वे समान परिस्थितियो मे सभी व्यक्तियो पर समान रूप से लागू होते हैं। जिस प्रकार हम दो पूर्णतया समान वस्तुओं में से एक को लाल और दूसरी को हरी नहीं कह सकते उसी प्रकार हम दो पूर्णतया समान कर्मों मे से एक को उचित तथा दूसरे को अनुचित नहीं मान सकते। यदि हम दो पूर्णतया समान कर्मों के संबध में विरोधी निर्णय देते हैं तो हमारे निर्णय तार्किक असगति तथा स्वतोव्याघात के दोष से मुक्त नही हो सकते। इस प्रकार हेयर के विचार में सार्वजनीनता तथ्यात्मक निर्णयो की भाँति नैतिक निर्णयो का भी अनिवार्य तत्त्व है और यही तत्त्व इन निर्णयो को आदेशों से पृथक करता है। साधारण आदेशो मे इस सार्वजनीनता के तत्त्व का होना अनिवार्य नहीं है। उदाहरणार्थ यदि मैं किसी व्यक्ति को यह आदेश देता हूँ कि "तुम मेरे कमरे से तुरत निकल जाओ" तो मेरे लिए यह अनिवार्य नहीं है कि मैं समान परिस्थितियों मे सभी व्यक्तियो को यही आदेश दूँ, यदि मैं किसी व्यक्ति को पसद करता हूँ तो पूर्णतया समान परिस्थितियों में भी उसे यही आदेश न देने के लिए मैं स्वतन्त्र हूँ। परत, जैसा कि ऊपर बताया गया

2. वही पुस्तक, पृ 171.

है नैतिक निर्णय के संबंध में किसी व्यक्ति को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। जब कोई व्यक्ति आदेश के स्थान पर नैतिक निर्णय देता है तो वह तार्किक दृष्टि से यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है कि समान परिस्थितियों में उसका यह निर्णय अन्य सभी व्यक्तियों के साथ-साथ स्वयं उस पर भी लागू होता है और अन्य व्यक्ति भी वही निर्णय दे सकते हैं। इस प्रकार हेयर के मतानुसार सार्वजनीनता के इस तत्त्व के कारण नैतिक निर्णय साधारण आदेशों से केवल भिन्न ही नहीं, अपितु अधिक व्यापक भी होते हैं, अतः इन निर्णयों को आदेश मात्र मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

हेयर का कथन है कि सार्वजनीनता के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व भी नैतिक निर्णयों को आदेशों से पृथक करता है और यह तत्त्व है उचित तर्कों द्वारा इन निर्णयों के समर्थन की आवश्यकता। जब कोई व्यक्ति किसी को कुछ करने या न करने का आदेश देता है तो उसके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह अपने इस आदेश के लिए पर्याप्त कारण प्रस्तुत करे, वह यह भी कह सकता है कि अपने आदेश के लिए कारण बताना वह आवश्यक नहीं समझता। इसका अभिप्राय यह है कि आदेश उस व्यक्ति की अपनी वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर हो सकता है जो आदेश देता है; परन्तु नैतिक निर्णय के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। हम देख चुके हैं कि हेयर के मतानुसार नैतिक निर्णय सार्वजनीन होते हैं और उनका मुख्य उद्देश्य मार्गदर्शन करना है। ऐसी स्थिति में उचित तर्कों अथवा कारणों द्वारा इन निर्णयों का समर्थन करना अनिवार्य हो जाता है। यदि मैं किसी से यह कहता हूँ कि अमुक कर्म करना उसका कर्तव्य है तो वह मुझ से यह कह सकता है कि मैं अपने इस निर्णय को सत्य प्रमाणित करने के लिए उचित तर्क अथवा पर्याप्त कारण प्रस्तुत करूँ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हेयर स्टीवैन्सन के इस मत को स्वीकार नहीं करते कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों का उद्देश्य दूसरों की अभिवृत्तियों को प्रभावित अथवा परिवर्तित करना ही होता है। स्टीवैन्सन के विपरीत वे यह मानते हैं कि ये तर्क वास्तव में स्वयं नैतिक निर्णय को सत्य प्रमाणित करने के लिए ही प्रस्तुत किए जाते हैं, किसी की अभिवृत्तियों को प्रभावित या परिवर्तित करने के लिए नहीं। इसका अर्थ यह है कि जब हम किसी कर्म को शुभ अथवा उचित कहते हैं तो हम उसी कर्म के कुछ विशेष गुणों या परिणामों के आधार पर उसके संबंध में अपने उक्त निर्णय को उचित प्रमाणित कर सकते हैं। संवेगवादियों के विपरीत हेयर का मत है कि किसी कर्म के कुछ विशेष गुण ही उसे शुभ अथवा उचित बनाते हैं, उसके संबंध में हमारी भावनाएं उसे शुभ या उचित नहीं बनातीं। इसी कारण हेयर यह मानते हैं कि नैतिक निर्णयों के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों का उद्देश्य स्वयं इन निर्णयों को सत्य प्रमाणित करना है, दूसरों को प्रभावित करना नहीं। इसके अतिरिक्त किसी नैतिक निर्णय को उचित सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि निर्णयकर्ता सार्वजनीनता के नियम के अनुसार इस निर्णय को समान परिस्थितियों में स्वयं अपने ऊपर तथा अन्य व्यक्तियों पर समान रूप से लागू करने के लिए उद्यत हो। हेयर का स्पष्ट कथन है कि यदि हम किसी निर्णय को सार्वजनीन नहीं बना सकते तो उसे वास्तव में उचित एवं नैतिक निर्णय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयों के स्वरूप की भाँति उनके प्रमाणीकरण के संबंध में भी हेयर का मत संवेगवादियों के मत से बहुत भिन्न है।

यद्यपि हेयर परामर्शात्मक अर्थ को नैतिक निर्णयों का मुख्य अर्थ मानते हैं, फिर भी वे यह स्वीकार करते हैं कि इन निर्णयों का वर्णनात्मक अर्थ भी होता है। यह वर्णनात्मक अर्थ निर्णीत कर्म की कुछ विशेषताओं के गुणों की ओर संकेत करता है जब हम किसी कर्म को शुभ कहते हैं तो हमारा यह निर्णय उस कर्म के कुछ ऐसे गुणों की ओर संकेत करता है जो उस

शुभ बनाते है — अर्थात जिनके कारण हम उसे शुभ मानते है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि अमुक कर्म उचित या अनुचित है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि उस कर्म के परिणाम तथा उस के मूल मे निहित कर्ता का प्रयोजन उसे उचित अथवा अनुचित बनाते हैं। हेयर के विचार मे यही नैतिक निर्णयो का वर्णनात्मक अर्थ है जो उनमे अनिवार्यत विद्यमान रहता है। यह वर्णनात्मक अर्थ नैतिक निर्णयो को संवेगात्मक वाक्यों से पृथक करता है और उन्हे सार्वजनीन तथा वस्तुनिष्ठ बनाता है। हेयर का मत है कि नैतिक निर्णयो का वर्णनात्मक अर्थ प्रसगानुसार परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि विभिन्न कर्मों के भिन्न-भिन्न गुणों के कारण ही हम उन्हे शुभ या अशुभ कहते हैं। इसके विपरीत नैतिक निर्णयो का परामर्शात्मक अर्थ सदैव अपरिवर्तनशील तथा सभी प्रसगों मे समान रहता है — अर्थात् ये निर्णय किसी-न-किसी रूप में स्वयं निर्णयकर्ता का अथवा दूसरो का मार्गदर्शन अवश्य करते हैं। इसी कारण हेयर इन निर्णयो के वर्णनात्मक अर्थ को गौण तथा परामर्शात्मक अर्थ को मुख्य मानते हैं। परंतु उनका विचार है कि वर्णनात्मक अर्थ के अभाव मे किसी निर्णय को वास्तव में नैतिक निर्णय नही माना जा सकता, क्योंकि इसके बिना कोई भी निर्णय सार्वजनीन नही हो सकता। इस प्रकार हेयर वर्णनात्मक अर्थ को गौण मानते हुए भी नैतिक निर्णयों के लिए उसे परामर्शात्मक अर्थ की भाँति अनिवार्य मानते हैं। और उसके विशेष महत्त्व को स्वीकार करते हैं। नैतिक निर्णयो की सार्वजनीनता के साथ वर्णनात्मक अर्थ को अनिवार्यत. सबद्ध मानते हुए वे कहते है कि "तर्कसगत रूप से यह मानना असंभव है कि नैतिक निर्णय वर्णनात्मक हैं किंतु वे सार्वजनीन नही हैं। जो दार्शनिक सार्वजनीनता को अस्वीकार करता है वह यह मानने के लिए बाध्य है कि नैतिक निर्णयो का वर्णनात्मक अर्थ नही होता"।[3] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि हेयर सार्वजनीनता की भाँति वर्णनात्मक अर्थ को भी नैतिक निर्णयो के लिए अनिवार्य मानते हैं।

नैतिक निर्णयो के स्वरूप तथा प्रमाणीकरण के सबध मे हेयर के उपर्युक्त विचारो से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे प्रकृतिवाद और अत प्रज्ञावाद की भाँति संवेगवाद को भी अस्वीकार करते है। संवेगवादियो के विपरीत उनका मत है कि नैतिक निर्णयो का उद्देश्य भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करना नही है। इसके अतिरिक्त हेयर संवेगवादियों के इस मत को भी स्वीकार नही करते कि नैतिक निर्णयो को प्रमाणित करने के लिए बौद्धिक तर्क प्रस्तुत नही किए जा सकते। इन निर्णयो को सार्वजनीन मानकर उन्होने ऐसे तर्कों के औचित्य एव महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार किया है। हम देख चुके है कि हेयर के मतानुसार नैतिक निर्णय सार्वजनीन होने के साथ-साथ निर्णीत कर्म के गुणो की ओर भी सकेत करते हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि उन की यह मान्यता संवेगवाद के विरुद्ध है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णयो को मुख्यत: अवर्णनात्मक मानते हुए भी हेयर संवेगवाद का खंडन करते है।

3 पी०एच० नॉवेलस्मिथ

हम पहले ही यह बता चुके हैं कि नैतिक निर्णयो के स्वरूप तथा प्रमाणीकरण के सबध में नॉवेलस्मिथ का मत हेयर के मत से मूलत भिन्न नही है। हेयर की भाँति वे भी प्रकृतिवाद तथा अत.प्रज्ञावाद को अस्वीकार करते हुए नैतिक निर्णयो को मुख्यत: अवर्णनात्मक मानते हैं। उनका भी यही विचार है कि नैतिक निर्णयो का मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक जीवन में मनुष्य का मार्गदर्शन करना है। नैतिक निर्णयों के इसी उद्देश्य के संबध मे अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए

3 आर.एम हेयर 'फ्रीडम ऐन्ड रीजन' पृ 17

नॉवेल-स्मिथ ने लिखा है कि "जिन महत्त्वपूर्ण क्रियाओं के लिए नैतिक भाषा का प्रयोग किया जाता है वे हैं — चुनना तथा चुनने के लिए दूसरों को परामर्श देना"।[4] वस्तुत नॉवेल-स्मिथ यह मानते हैं कि नीतिशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है जिसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को यह बताना है कि उसे क्या करना चाहिए। हम देख चुके है कि हेयर भी मूलतः इसी मत को स्वीकार करते हैं। इन दोनों दार्शनिकों के सिद्धात मे अतर यह है कि हेयर नैतिक निर्णयो के उद्देश्य को परामर्श सबधी क्रिया तक ही सीमित मानते है जब कि नॉवेल-स्मिथ का विचार है कि इन निर्णयो का प्रयोग परामर्श देने के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी क्रियाओं के लिए भी किया जाता है। इसी कारण नॉवेल-स्मिथ नैतिक भाषा को केवल 'परामर्शात्मक भाषा' ही नही मानते जैसा कि हेयर ने माना है। नॉवेल-स्मिथ का कथन है कि नैतिक निर्णयो का प्रयोग केवल परामर्श देने के लिए ही नही, अपितु अन्य बहुत से कार्यों के लिए भी किया जाता है, अत इन निर्णयो का उद्देश्य बहुत व्यापक है। नैतिक निर्णयो के इस व्यापक उद्देश्य की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "नीतिशास्त्रज्ञो द्वारा विशेष रूप से जिन मूल्यात्मक शब्दो का प्रयोग किया जाता है वे बहुत-से विभिन्न कार्य करते हैं। इन शब्दो का प्रयोग व्यक्तिगत रुचियो तथा प्राथमिकताओ को अभिव्यक्त करने, निर्णयो को स्पष्ट करने, आलोचना तथा मूल्याकन करने, परामर्श देने, भर्त्सना करने तथा चेतावनी देने, किसी कार्य के लिए प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित करने, प्रशसा करने, नियमो की ओर ध्यान आकृष्ट करने तथा ऐसे ही अन्य अनेक उद्देश्यो के लिए किया जाता है। . किसी अवसर पर कोई व्यक्ति एक नैतिक शब्द का प्रयोग किस अर्थ मे कर रहा है यह उस प्रसग को भली भाँति समझने से ही जाना जा सकता है जिसमे इस शब्द का प्रयोग किया गया है"।[5] उपर्युक्त उद्धरण से नैतिक निर्णयो के व्यापक उद्देश्य के विषय मे नॉवेल-स्मिथ का मत पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नॉवेल-स्मिथ के विचार मे नैतिक निर्णयो के उपर्युक्त सभी कार्य मूलत अवर्णनात्मक ही है — अर्थात ये निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो की भाँति कुछ तथ्यो का वर्णन मात्र नही करते। वस्तुत नॉवेल-स्मिथ हेयर के इस विचार से पूर्णतया सहमत है कि नैतिक शब्द मुख्यत वर्णनात्मक नही होते, अत उन्हे तथ्यात्मक शब्दो के समान गुणबोधक नही माना जा सकता। वे इस मान्यता का खडन करते है कि सभी विशेषण अनिवार्यत गुणबोधक ही होते हैं। उनका कथन है कि सभी विशेषणो का कार्य वस्तुओ के गुणो का बोध कराना नही होता, कुछ विशेषणो का प्रयोग ऐसे अनेक अवर्णनात्मक उद्देश्यो के लिए किया जाता है जिनका उल्लेख नैतिक निर्णयो के अर्थ की व्यापकता के प्रसग मे ऊपर किया गया है। स्पष्ट है कि मूलत अवर्णनात्मक होने के कारण ये विशेषण गुणबोधक नही हो सकते। नॉवेल-स्मिथ के मतानुसार 'शुभ', 'उचित' आदि नैतिक विशेषण वास्तव मे ऐसे ही विशेषण है। परतु वे यह नहीं मानते कि नैतिक शब्द पूर्णतया सवेगात्मक होते है और उनका वर्णनात्मक अर्थ नही होता। हेयर की भाँति नॉवेल-स्मिथ भी यह स्वीकार करते है कि नैतिक निर्णयो का वर्णनात्मक अर्थ अवश्य होता है जो प्रसगानुसार परिवर्तित होता रहता है। अभिवृत्तियो को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ नैतिक शब्द निर्णीत कर्म के कुछ ऐसे गुणो की ओर सकेत करते है जिनके आधार पर इस कर्म का मूल्याकन किया जाता है। कर्म के ये गुण ही वे कारण हैं जिनके आधार पर उससे सबधित नैतिक निर्णय को सत्य प्रमाणित किया जाता है। एक उदाहरण द्वारा नैतिक शब्दो के विषय मे अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए नॉवेल-स्मिथ ने लिखा है कि "किसी वस्तु को शुभ कहना उसके पक्ष मे मत

4 पी ऐच नॉवेल-स्मिथ, 'ऐथिक्स', पृ 11
5 वही पुस्तक पृ 87

देना है। परन्तु इस निर्णय का अर्थ यह भी है कि उक्त वस्तु के पक्ष में मत देने के लिए मेरे पास कारण भी है''।[6] इस प्रकार नैतिक निर्णयों के वर्णनात्मक अर्थ और प्रमाणीकरण के संबंध में नॉवेल-स्मिथ का मत हेयर के मत से बहुत भिन्न नहीं है। वे भी हेयर की भाँति नैतिक निर्णयों में सार्वजनीनता के तत्त्व का होना अनिवार्य मानते हैं, और सार्वजनीनता के नियम का वही अर्थ स्वीकार करते हैं जो हेयर ने किया है। इन सभी तथ्यों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नैतिक निर्णयों के स्वरूप और प्रमाणीकरण के संबंध में हेयर तथा नॉवेल-स्मिथ के विचारों में पर्याप्त समानता है।

4. मूल्यांकन

अब संक्षेप में परामर्शवाद के गुण-दोषों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह सिद्धांत प्रकृतिवाद, व्यक्तिनिष्ठवाद, अंत प्रज्ञावाद तथा संवेगवाद की अपेक्षा अधिक संतोषजनक प्रतीत होता है। जो आपत्तियाँ इन सिद्धांतों के विरुद्ध उठाई जाती हैं, वे संभवतः परामर्शवाद के विरुद्ध नहीं उठाई जा सकती। हम देख चुके हैं कि यह सिद्धांत नैतिक निर्णयों को न तो तथ्यात्मक निर्णयों की भाँति पूर्णतया वर्णनात्मक मानता है और न ही वैयक्तिक निर्णयों की भाँति पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ। इसी प्रकार यह सिद्धांत इन निर्णयों को भावनाओं अथवा संवेगों की अभिव्यक्तियाँ मात्र भी नहीं मानता जैसा कि संवेगवादियों का मत है। नैतिक निर्णयों के परामर्शात्मक अर्थ को मुख्य मानते हुए भी यह सिद्धांत उनके वर्णनात्मक अर्थ के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करता। इस सिद्धांत के समर्थकों की यह मान्यता निश्चय ही उचित है कि तथ्यात्मक निर्णयों की भाँति नैतिक निर्णय भी सार्वजनीन होते हैं और इसी सार्वजनीनता के आधार पर हम इन निर्णयों को प्रमाणित कर सकते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह सार्वजनीनता नैतिक निर्णयों को आदेशों तथा संवेगात्मक वाक्यों से पृथक करती है। परामर्शवादियों का यह मत भी कुछ सीमा तक उचित प्रतीत होता है कि नैतिक निर्णय मनुष्य का मार्गदर्शन करते हैं। अधिकतर कर्तव्य संबंधी नैतिक निर्णयों का उद्देश्य निश्चय ही आचरण के विषय में मनुष्य का मार्गदर्शन करना होता है। उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परामर्शवाद उन दोषों से मुक्त है जो प्रकृतिवाद, व्यक्तिनिष्ठवाद, अंत प्रज्ञावाद और संवेगवाद में पाए जाते हैं।

परन्तु अनेक दार्शनिकों ने परामर्शवाद के विरुद्ध भी कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। हेयर के विरुद्ध प्रायः यह आपत्ति उठाई जाती है कि वे नैतिक निर्णयों के उद्देश्य को बहुत सीमित कर देते हैं। यदि उनके मत को स्वीकार कर लिया जाए तो इन निर्णयों का एक ही उद्देश्य रह जाता है और वह है कर्मों के संबंध में मनुष्य का मार्गदर्शन करना। परन्तु सभी नैतिक निर्णयों का केवल यही उद्देश्य नहीं होता। यह सत्य है कि अधिकतर कर्तव्य संबंधी नैतिक निर्णय मनुष्य का मार्गदर्शन करते हैं, किंतु सभी नैतिक निर्णय कर्तव्य संबंधी नहीं होते। कुछ नैतिक निर्णय मूल्य संबंधी होते हैं जिनका उद्देश्य मनुष्य का कर्तव्य-निर्धारण नहीं अपितु व्यक्ति अथवा उसके चरित्र का मूल्यांकन करना ही होता है। सभी नैतिक निर्णयों को मुख्यतः परामर्शात्मक मानकर हेयर इन निर्णयों में पाए जाने वाले इस महत्त्वपूर्ण अंतर की उपेक्षा करते हैं। वस्तुतः यह स्वीकार करना बहुत कठिन है कि कर्तव्य संबंधी नैतिक निर्णयों की भाँति मूल्य संबंधी नैतिक निर्णय भी केवल परामर्शात्मक ही होते हैं। उदाहरणार्थ यदि मैं यह कहता हूँ

---

6. वही पुस्तक पृ 140

कि गौतम बुद्ध का चरित्र बहुत उत्कृष्ट था अथवा महात्मा गाँधी बहुत अच्छे मनुष्य थे तो यह मानना बहुत कठिन है कि मैं अपने इन नैतिक निर्णयों द्वारा किसी को कोई परामर्श देता हूँ। मेरे इन निर्णयों का उद्देश्य गौतम बुद्ध के चरित्र तथा महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना ही है, किसी का मार्गदर्शन करना नहीं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के मूल्य संबंधी नैतिक निर्णय केवल परामर्शात्मक नहीं होते जैसा कि हेयर मानते हैं। इन नैतिक निर्णयों का मुख्य उद्देश्य किसी को कोई परामर्श देना न होकर कुछ विशेष गुणों के आधार पर किसी मनुष्य के चरित्र अथवा व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना ही होता है। इसके अतिरिक्त सभी कर्तव्य संबंधी नैतिक निर्णय भी अनिवार्यतः परामर्शात्मक नहीं होते। उदाहरणार्थ यदि मैं यह कहता हूँ कि हिटलर को यहूदियों की हत्या नहीं करनी चाहिए थी तो यह स्वीकार करना बहुत कठिन है कि मैं अपने इस नैतिक निर्णय द्वारा किसी व्यक्ति को कोई परामर्श देता हूँ। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि भूतकालीन कर्तव्य संबंधी नैतिक निर्णयों को भी परामर्शात्मक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार हेयर का यह मत पूर्णतः युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि सभी नैतिक निर्णय मुख्यतः परामर्शात्मक होते हैं और उनका प्रमुख उद्देश्य स्वयं निर्णयकर्ता अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करना ही होता है।

कुछ दार्शनिकों का विचार है कि सार्वजनीनता के नियम द्वारा नैतिक निर्णयों को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। यह नियम हमें केवल यही बताता है कि हमारे नैतिक निर्णयों में आत्मसंगति अवश्य होनी चाहिए। यदि हम किन्हीं परिस्थितियों में एक कर्म को अपने लिए उचित मानते हैं तो हमें समान परिस्थितियों में दूसरों के लिए भी उस कर्म को अवश्य उचित मानना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने से हमारे नैतिक निर्णय में स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाएगा। इस सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई गई है कि इसके आधार पर किसी भी नैतिक निर्णय को उचित सिद्ध किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि उक्त सिद्धांत के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपने नैतिक निर्णय को समान परिस्थितियों में स्वयं अपने पर तथा दूसरों पर लागू करने के लिए उद्यत है तो उसके इस निर्णय को उचित मानना पड़ेगा। उदाहरणार्थ दक्षिणी अफ्रीका में काले मनुष्यों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने वाला गोरा व्यक्ति यह कह सकता है कि यदि उसका रंग काला हो जाए तो उसके साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए। इस गोरे व्यक्ति का नैतिक निर्णय सार्वजनीन है, क्योंकि वह यह मानता है कि समान परिस्थितियों में सभी काले मनुष्यों के साथ क्रूरतापूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिए और वह यह भी मानता है कि यदि स्वयं उसका रंग काला हो तो उसके साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में सार्वजनीनता के नियम के अनुसार उस के इस नैतिक निर्णय को अनुचित सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि सार्वजनीनता के नियम के आधार पर ऐसे प्रत्येक नैतिक निर्णय को उचित मानना अनिवार्य हो जाता है जिसमें आत्मसंगति का अभाव नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति केवल आत्मसंगति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए अपने किसी भी नैतिक निर्णय को उचित सिद्ध कर सकता है।

सार्वजनीनता के नियम के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए हेयर ने कहा है कि कोई भी 'विवेकशील' व्यक्ति ऐसे किसी निर्णय को सार्वजनीन नैतिक निर्णय के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो सकता जो स्वयं उसके अपने हित के विरुद्ध हो। जो व्यक्ति ऐसा करता है उसे हेयर ने 'हठधर्मी' की संज्ञा दी है और यह कहा है कि उसे 'विवेकशील' मनुष्य नहीं माना जा सकता। उनका कथन है कि हम केवल 'विवेकशील' मनुष्य के नैतिक निर्णयों को ही तर्कों द्वारा उचित या अनुचित सिद्ध कर सकते हैं, 'हठधर्मी' के नैतिक निर्णयों को नहीं। इस प्रकार हेयर के

विचार में सार्वजनीनता के नियम के अनुसार प्रत्येक 'विवेकशील' व्यक्ति केवल ऐसे नैतिक निर्णय को ही सार्वजनीन निर्णय के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हो सकता है जो दूसरों के हित के विरुद्ध न हो क्योंकि इसीमें स्वयं उसका अपना हित अथवा कल्याण भी निहित है। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि किसी विशेष स्थिति में पहुँच जाने पर उस के हित के विरुद्ध कार्य करना भी उचित है और यदि इस तर्क के आधार पर वह किसी ऐसे नैतिक निर्णय को सार्वजनीन निर्णय के रूप में स्वीकार करता है जो दूसरों के हित के विरुद्ध है तो या तो वह 'हठधर्मी' है अथवा निश्चित रूप से यह जानता है कि वह स्वयं उस विशेष स्थिति में कभी नहीं पहुँच सकता। सार्वजनीनता के नियम के समर्थन में हेयर का यह तर्क उचित ही प्रतीत होता है

नॉवेल-स्मिथ ने हेयर के परामर्शवाद में संशोधन करके उसकी एक गंभीर कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया है। हम देख चुके हैं कि नैतिक निर्णयों के उद्देश्य के विषय में उनका मत हेयर के मत से कुछ भिन्न है। वे इन निर्णयों के उद्देश्य को परामर्श देने अथवा मार्गदर्शन करने तक ही सीमित नहीं मानते। जैसा कि पहले बताया गया है, उनके विचार में अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नैतिक निर्णय दिए जाते हैं, केवल परामर्श देने या मार्गदर्शन करने के लिए नहीं। नैतिक निर्णयों के उद्देश्य के विषय में नॉवेल-स्मिथ का यह मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इन निर्णयों के स्वरूप की ठीक-ठीक व्याख्या करने के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि परामर्श देने तथा मार्गदर्शन करने के अतिरिक्त कुछ तथ्यों अथवा गुणों के आधार पर निर्णीत कर्म का मूल्यांकन — अर्थात उसकी प्रशंसा या निंदा करना भी कुछ नैतिक निर्णयों का अनिवार्य उद्देश्य होता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नैतिक निर्णयों से संबंधित इस आवश्यक तथ्य को हेयर ने पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया। इस प्रकार नैतिक निर्णयों के स्वरूप के संबंध में नॉवेल-स्मिथ का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और तर्कसंगत प्रतीत होता है।

16

तथ्यात्मक निर्णयों से नैतिक निर्णयों के निगमन की समस्या

1. पृष्ठभूमि

अधिकतर नीतिशास्त्रज्ञ यह मानते हैं कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो अथवा वाक्यो से भिन्न होते हैं। इन दोनो प्रकार के निर्णयो की भिन्नता को इस आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि नैतिक निर्णयो का उद्देश्य मनुष्य के चरित्र अथवा आचरण का मूल्यांकन करना होता है जबकि तथ्यात्मक निर्णय प्राणियों अथवा निर्जीव जगत् से सबंधित कुछ तथ्यो का वर्णन मात्र करते हैं। नीतिशास्त्र मूल्य शास्त्र का ही एक भाग है, अत नैतिक निर्णय अनिवार्यतः मूल्यात्मक होते हैं। इन निर्णयो का मुख्य उद्देश्य किन्हीं तथ्यों का विवरण मात्र देना नही, अपितु उनके आधार पर किसी व्यक्ति अथवा उसके कर्मो का मूल्याकन करना होता है। यही कारण है कि नैतिक निर्णय देते समय कोई भी व्यक्ति निर्णीत वस्तु के विषय मे पूर्णत तटस्थ अथवा उदासीन नही रह सकता। इसके विपरीत, तथ्यात्मक निर्णय देने वाला व्यक्ति निर्णीत वस्तु के संबंध में सामान्यतः तटस्थ ही रहता है, क्योंकि इन निर्णयो का वस्तु के मूल्य-निर्धारण से कोई संबध नही होता। एक उदाहरण द्वारा इन दोनों प्रकार के निर्णयो को भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है। ''सोहन ने मोहन की हत्या की''—यह एक तथ्यात्मक वाक्य है जिसमें सोहन के कर्म के विषय मे सूचना मात्र दी गई है। यह सूचना देने वाला व्यक्ति सोहन के कर्म के विषय मे तटस्थ हो सकता है। परतु यदि वह यह कहता है कि ''मोहन की हत्या करके सोहन ने नितात अनुचित और निदनीय कर्म किया है'' तो यह उसका नैतिक निर्णय है जिसे देते समय वह सोहन के कर्म के प्रति तटस्थ या उदासीन नहीं रह सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मूल्यात्मक होने के कारण नैतिक निर्णय सूचना या विवरण देने वाले तथ्यात्मक निर्णयो से मूलत भिन्न होते हैं।

ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि नैतिक निर्णयों का तथ्यात्मक निर्णयों से कोई सबंध है अथवा नही और यदि सबंध है तो उसका स्वरूप क्या हो सकता है। क्या तथ्यात्मक निर्णयो से नैतिक निर्णयो को तार्किक दृष्टि से निगमित किया जा सकता है? यदि इन दोनो प्रकार के निर्णयो मे निगमन का संबंध नही है तो क्या हम तथ्यात्मक निर्णयो के आधार पर आगमनात्मक रूप से नैतिक निर्णयो को अनुमित कर सकते हैं? क्या नैतिक निर्णयों और तथ्यात्मक निर्णयो मे कोई ऐसा मौलिक अंतर है जिसे किसी उपाय द्वारा कभी पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता? पिछले कुछ वर्षों मे इन सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर समकालीन पाश्चात्य नैतिक दर्शन मे व्यापक और गंभीर विचार-विमर्श हुआ है। बहुत-से दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में नैतिक निर्णयो और तथ्यात्मक निर्णयों के सबंध मे भिन्न-भिन्न ही नही अपितु परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किए हैं। इस लेख का उद्देश्य नैतिक निर्णयो और तथ्यात्मक निर्णयों के संबंध की समस्या पर इन दार्शनिकों के विचारों को भलीभाँति प्रस्तुत करके इनका आलोचनात्मक मूल्याकन करना है। परतु ऐसा करने से पूर्व यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना बहुत आवश्यक है कि सर्वप्रथम यह समस्या अठारहवी

शताब्दी के महान् दार्शनिक डेविड ह्यूम ने उठाई थी। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' मे इस समस्या पर एक अनुच्छेद लिखा है जिसकी समकालीन दार्शनिको ने भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस अनुच्छेद का साराश यह है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक वाक्यो अथवा निर्णयो से मूलत भिन्न है, अत तार्किक दृष्टि से इन निर्णयो को तथ्यात्मक निर्णयो से निगमित नही किया जा सकता।[1] इस अनुच्छेद के सबंध मे कुछ दार्शनिको का मत है कि इसके द्वारा ह्यूम ने नैतिक निर्णयो एव तथ्यात्मक निर्णयो के कभी न समाप्त होने वाले मौलिक अतर को स्पष्ट किया है और यह कहा है कि इस मौलिक भेद के कारण नैतिक निर्णयो का तथ्यात्मक निर्णयो से तार्किक निगमन असभव है। इस प्रकार इन दार्शनिको का मत है कि ह्यूम नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयो से मूलत भिन्न और स्वतत्र मानते हैं। नैतिक निर्णयो मे 'चाहिए' अथवा 'कर्तव्य' का प्रत्यय अनिवार्यत निहित रहता है और यह प्रत्यय हमे केवल तथ्यात्मक निर्णयो से कभी प्राप्त नही हो सकता। इसी कारण नैतिक निर्णयो और तथ्यात्मक निर्णयो मे मौलिक भिन्नता का होना अनिवार्य है। एच० ए० प्रिचर्ड, ए० जे० एयर, सी० एल० स्टीवैन्सन, पी० एच० नॉवलस्मिथ, आर० एम० हेयर, ए० फ्ल्यू, आर० एफ० ऐटकिन्सन आदि दार्शनिको ने इसी मत का समर्थन किया है। परतु कुछ अन्य दार्शनिक ह्यूम के अनुच्छेद के सबध मे इन दार्शनिको की उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार नही करते। उनका विचार है कि ह्यूम वास्तव मे नैतिक निर्णयो को तथ्यात्मक निर्णयो से भिन्न नही मानते थे, अत इन दोनो प्रकार के निर्णयो मे अनिवार्य मौलिक भेद की बात करना अनुचित एव अयुक्तिसगत है। जो दार्शनिक इस मत को स्वीकार करते हैं उनमे ए० मैकिन्टायर, जी० हटर, जॉन सर्ल, फिलिपा फुट, पी० टी० गीच आदि के नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। इन सभी दार्शनिको का विचार है कि नैतिक निर्णय मूलत तथ्यात्मक निर्णयो पर ही आधारित होते हैं, अत इन दोनो प्रकार के निर्णयो मे वस्तुत कोई अनिवार्य मौलिक अतर नही है। इनमे से कुछ दार्शनिक—यथा हटर और मैकिन्टायर—यह मानते हैं कि ह्यूम के मतानुसार नैतिक निर्णयो को तथ्यात्मक निर्णयो से निगमित अथवा अनुमित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ये दार्शनिक नैतिक निर्णयो को तथ्यात्मक निर्णयो से मूलत भिन्न और स्वतत्र नही मानते। इस प्रकार समकालीन दार्शनिको ने नैतिक निर्णयो के सबध मे ह्यूम के अनुच्छेद की दो परस्पर विरोधी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। हम अगले खडो मे यह देखने का प्रयास करेगे कि नैतिक निर्णयो के स्वरूप और तथ्यात्मक निर्णयो से उनके सबध के विषय मे उपर्युक्त दोनो व्याख्याओं मे से कौन-सी व्याख्या अधिक उचित एव युक्तिसगत प्रतीत होती है।

2. पी०टी० गीच

हम पिछले खड मे देख चुके हैं कि एयर, स्टीवैन्सन, हेयर आदि दार्शनिको के मतानुसार नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो से मूलत भिन्न एव स्वतत्र होते हैं, अत उन्हे तथ्यात्मक निर्णयो से निगमित नही किया जा सकता। पी०टी० गीच नैतिक निर्णयो के स्वरूप के विषय मे इस मत को स्वीकार नही करते। उनका निश्चित मत है कि नैतिक निर्णय भी तथ्यात्मक निर्णयो के समान ही वर्णनात्मक होते हैं, अत इन दोनो प्रकार के निर्णयो में कोई मौलिक एव अनिवार्य भिन्नता नही होती। 1956 मे 'ऐनालिसिस' नामक पत्रिका मे प्रकाशित अपने एक लेख 'गुड ऐंड ईविल' मे गीच ने सवेगवादियो तथा परामर्शवादियो की इस आधारभूत मान्यता को अस्वीकार किया है कि अवर्णनात्मक होने के कारण नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो से मूलत भिन्न एव स्वतत्र होते हैं।

1 डेविड ह्यूम 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' खड 3 भाग 1 खड 1 का अंतिम अनुच्छेद

वे अंत प्रज्ञावादियों के इस मत को भी स्वीकार नहीं करते कि निष्प्राकृतिक गुणों अथवा संबंधों का वर्णन करने के कारण नैतिक निर्णय अनुभवमूलक तथ्यात्मक निर्णयों से भिन्न और अद्वितीय होते हैं। गीच का विचार है कि नैतिक निर्णय अंततः तथ्यात्मक निर्णयों पर ही आधारित होते हैं, अतः इन दोनों प्रकार के निर्णयों में कोई अनिवार्य और मूल अंतर नहीं है जैसा कि अंत प्रज्ञावादी संवेगवादी तथा परामर्शवादी मानते हैं। नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों की भाँति वर्णनात्मक मानते हुए गीच कहते हैं कि जब हम किसी वस्तु को शुभ या अशुभ कहते हैं तो हम उसमें पाए जाने वाले कुछ विशेष प्राकृतिक गुणों के आधार पर उसका वर्णन करते हैं। इस दृष्टि से 'शुभ', 'अशुभ' आदि नैतिक शब्दों का मुख्य अर्थ वास्तव में वर्णनात्मक ही है, संवेगात्मक अथवा परामर्शात्मक नहीं। किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कहने से पहले हमारे लिए यह जानना बहुत आवश्यक है कि हम उसका प्रयोग किस कार्य के लिए करते हैं। इस ज्ञान के अभाव में किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कहने का कोई अर्थ नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि "यह चाकू अच्छा है" तो हम पहले से यह जानते हैं कि किन विशेष गुणों के आधार पर किसी चाकू को अच्छा कहा जा सकता है। यदि हमें यह ज्ञान नहीं है कि हम किस उद्देश्य के लिए चाकू का प्रयोग करते हैं और उसके कौन-से विशेष गुण हमारे उद्देश्य में सहायक सिद्ध हो सकते हैं तो इस कथन का वास्तव में कोई अर्थ नहीं हो सकता कि "यह चाकू अच्छा है"। स्पष्ट है कि गीच के विचार में नैतिक शब्दों का मुख्य उद्देश्य निर्णीत वस्तु की प्रशंसा या निंदा करना नहीं अपितु उसके कुछ विशेष प्राकृतिक गुणों के आधार पर उसका वर्णन करना ही है। इस दृष्टि से नैतिक शब्द सूचना मात्र देने वाले तथ्यात्मक शब्दों से भिन्न नहीं हैं, अतः नैतिक निर्णयों और तथ्यात्मक निर्णयों में कोई अनिवार्य एवं मौलिक अंतर नहीं होता। गीच यह स्वीकार करते हैं कि सभी प्रसंगों में 'शुभ' का एक ही वर्णनात्मक अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि हम नितांत विभिन्न गुणों के आधार पर बहुत-सी भिन्न-भिन्न वस्तुओं को 'शुभ' कहते हैं। परंतु उनका कथन है कि इससे 'शुभ' के वर्णनात्मक होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। किसी वस्तु को शुभ बनाने वाले विशेष गुणों के ज्ञान के आधार पर हम प्रत्येक प्रसंग में 'शुभ' शब्द का वर्णनात्मक अर्थ भलीभाँति समझ सकते हैं। गीच यह भी मानते हैं कि सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जो अच्छी है अथवा जिसे वह अच्छी समझता है। इस दृष्टि से 'अच्छी' या 'शुभ' का व्यक्ति की इच्छाओं से बहुत घनिष्ठ संबंध है। परंतु गीच के विचार में इसका अर्थ यह नहीं है कि 'शुभ' 'अशुभ' आदि नैतिक शब्द अनिवार्यतः कर्मप्रेरक अथवा मार्गदर्शक हैं जैसा कि संवेगवादी तथा परामर्शवादी मानते हैं। अनेक बार तथ्यात्मक निर्णय भी मनुष्य को कोई विशेष कर्म करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। एक रोचक उदाहरण द्वारा गीच ने अपने इस मत को स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि यदि किसी व्यक्ति को यह कहा जाए कि "तुम्हारी पैंट में चींटियाँ हैं" तो यह तथ्यात्मक वाक्य सुन कर वह तुरंत सतर्क हो जाएगा और पीड़ा से बचने के लिए कुछ अवश्य करेगा। गीच के मतानुसार इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि तथ्यात्मक वाक्य भी कर्मप्रेरक हो सकते हैं, अतः कर्मों के लिए प्रेरित करना केवल नैतिक निर्णयों की अनिवार्य आधारभूत विशेषता नहीं मानी जा सकती। संक्षेप में अवर्णनात्मक सिद्धांतों का खंडन करते हुए गीच यह मानते हैं कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही वर्णनात्मक होते हैं, अतः इन दोनों प्रकार के निर्णयों में कोई अनिवार्य और मौलिक अंतर नहीं है।

परामर्शवाद के प्रणेता आर०एम० हेयर ने नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में गीच के उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं किया। गीच के लेख के उत्तर में उन्होंने एक लेख लिखा है जिसका **शीर्षक 'गुड ऐंड ईविल' ही है और जो 1957 में 'ऐनालिसिस' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ**

था। अपने इस लेख मे हेयर ने गीच की इस आधारभूत मान्यता का खंडन किया है कि नैतिक निर्णय मुख्यत वर्णनात्मक ही होते हैं। वे इस तथ्य को अस्वीकार नही करते कि नैतिक निर्णयो का वर्णनात्मक अर्थ होता है, किंतु वे इस वर्णनात्मक अर्थ को मुख्य न मानकर गौण ही मानते है। इसका कारण यह है कि इन निर्णयो का वर्णनात्मक अर्थ प्रसगानुसार परिवर्तित होता रहता है। इसके विपरीत नैतिक निर्णयो का मूल्यात्मक अर्थ सभी प्रसगो मे समान रूप से विद्यमान रहता है अत हेयर के मतानुसार यही इन निर्णयो का मुख्य और सामान्य अर्थ है। हम जब बहुत से भिन्न-भिन्न कर्मो को शुभ कहते हैं तो हम उनके विभिन्न गुणो के आधार पर उनके प्रति अपनी प्रशसा व्यक्त करते है। इस प्रकार सभी प्रसगो मे 'शुभ' का मुख्य तथा सामान्य अर्थ प्रशसामूलक ही रहता है। जबकि वस्तुओ के गुणो का बोध कराने वाला उसका वर्णनात्मक अर्थ प्रसगानुसार बदलता रहता है। हेयर का कथन है कि जब 'शुभ' शब्द का प्रयोग ऐसे प्रसगों मे किया जाता है जो नैतिक नही हैं तो गीच के मत को पर्याप्त सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। परतु जब 'शुभ' का प्रयोग नैतिक प्रसगो में किया जाता है तब हेयर के विचार मे गीच का मत उचित प्रतीत नही होता। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए हेयर ने शब्दो को दो वर्गो मे विभाजित किया है। प्रथम वर्ग में वे शब्द आते हैं जो उन वस्तुओं या व्यक्तियो के लिए प्रयुक्त होते हैं जिनका कोइ विशेष उपयोग अथवा कार्य होता है—यथा, चाकू, थर्मामीटर, अध्यापक, चिकित्सक आदि। इन शब्दो को हेयर ने 'कार्यात्मक शब्द' कहा है। दूसरे वर्ग में वे शब्द रखे जा सकते है जो इस अर्थ मे कार्यात्मक नही है—यथा, सूर्यास्त, मनुष्य, कर्म आदि। स्पष्ट है कि इन शब्दो द्वारा किसी वस्तु के उपयोग अथवा व्यक्ति के कार्य का बोध नही होता। इन शब्दो को हेयर ने 'अकार्यात्मक शब्द' की सज्ञा दी है। हेयर का मत है कि जब 'शुभ' शब्द का प्रयोग किसी कार्यात्मक शब्द से पूर्व किया जाता है तो 'शुभ का अर्थ वर्णनात्मक होता है जैसा कि गीच मानते हैं, किंतु ऐसा वाक्य वास्तव मे नैतिक निर्णय नही होता।[2] जिस वाक्य मे हम 'शुभ' शब्द का प्रयोग किसी अकार्यात्मक शब्द से पूव करते हैं उसे ही हेयर के विचार मे नैतिक निर्णय माना जा सकता है और ऐसे वाक्य मे 'शुभ' का अर्थ मुख्यत प्रशसात्मक अथवा मूल्यात्मक ही होता है वर्णनात्मक नही। इसका कारण यह है कि कार्यात्मक शब्दो के विपरीत अकार्यात्मक शब्दो द्वारा हमें किन्ही ऐसे निश्चित गुणो का ज्ञान नही हो पाता जिनके आधार पर हम किसी वस्तु को शुभ कहते हैं। उदाहरणार्थ "यह कर्म शुभ है" इस नैतिक निर्णय मे 'कर्म' शब्द अकार्यात्मक है, क्योकि इस शब्द से हमे यह ज्ञात नही होता कि किन गुणो अथवा विशेषताओ के आधार पर इस कर्म को शुभ कहा गया है। ऐसी स्थिति मे हेयर के मतानुसार 'शुभ' शब्द का अर्थ मुख्यत वर्णनात्मक न होकर प्रशसात्मक ही हो सकता है। इसी आधार पर उन्होने गीच के इस मत को स्वीकार नही किया कि नैतिक निर्णयो के प्रसंग मे भी 'शुभ' का अर्थ मुख्यत वर्णनात्मक ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गीच के विपरीत हेयर नैतिक निर्णयो को केवल वर्णनात्मक न मानकर मुख्यत मूल्यात्मक ही मानते हैं और उनका यह मत उचित एवं युक्तिसगत ही प्रतीत होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि नैतिक निर्णयो का उद्देश्य तथ्यात्मक निर्णयो के उद्देश्य से बहुत भिन्न होता है। तथ्यात्मक निर्णयो के विपरीत नैतिक निर्णयो द्वारा हम निर्णीत वस्तु के गुणों का वर्णन मात्र न करके इन गुणो के आधार पर उसके मूल्य का निर्धारण करते हैं और इस मूल्य-निर्धारण मे हम निर्णीत वस्तु के प्रति पूर्णत तटस्थ नही रह सकते। यही कारण है कि जब हम 'शुभ-अशुभ, 'उचित-अनुचित' आदि शब्दो का प्रयोग नैतिक प्रसगो मे करते हैं तो इन शब्दो

---

2. श्रीमती फिलिपा फुट द्वारा सम्पादित 'थ्योरीज ऑफ एथिक्स' पृ 79

का अर्थ मुख्यत मूल्यात्मक ही होता है, वर्णनात्मक नही जैसा कि गीच मानते हैं। इतना ही नही मेरे विचार मे कार्यात्मक शब्दो मे पूर्व प्रयुक्त होने पर भी 'शुभ' शब्द का मुख्य और सामान्य अर्थ वर्णनात्मक न होकर प्रशंसात्मक ही होता है। इन प्रसंगो में 'शुभ' के अर्थ को मुख्यत वर्णनात्मक मानकर हेयर ने गीच के मत का जो समर्थन किया है वह अनावश्यक ही प्रतीत होता है, क्योंकि प्राय सभी प्रसंगो में 'शुभ' का सामान्य अर्थ वर्णनात्मक न होकर प्रशंसात्मक ही होता है। वस्तुत नैतिक निर्णयो को वर्णनात्मक मान कर गीच ने उनके स्वरूप की जो व्याख्या की है उसे संतोषजनक मानना बहुत कठिन है। अपने लेख मे एक स्थान पर वे स्वयं कहते हैं कि "यदि 'मनुष्य' और 'मानवीय कर्म' को पूर्णत वर्णनात्मक मान लिया जाए तो मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इनमे 'अच्छे-बुरे मनुष्य' तथा 'अच्छे-बुरे मानवीय कर्म' तक संक्रमण करने मे बहुत बडी कठिनाई है"।[3] गीच का कथन है कि इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है, किंतु उन्होंने अपने लेख मे कही भी यह स्पष्ट नही किया कि यह कैसे किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णयो के स्वरूप के विषय में उनके मत को पूर्णतया स्वीकार करना बहुत कठिन है।

3 फिलिपा फुट

नैतिक निर्णयो के स्वरूप के संबंध में श्रीमती फिलिपा फुट भी गीच के दृष्टिकोण का समर्थन करती हैं। उन्होंने अपने अनेक लेखो मे यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि नैतिक निर्णय मूलत तथ्यात्मक निर्णयो पर ही आधारित होते हैं, अत इन दोनो प्रकार के निर्णयो में कोई अनिवार्य और मौलिक भेद नही है। अपने इस मत का प्रतिपादन उन्होंने तीन महत्त्वपूर्ण लेखो मे किया है। उनका पहला लेख 'मॉरल आर्गुमैंट्स' 1958 मे 'माइन्ड' नामक प्रसिद्ध पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। उनके दूसरे लेख का शीर्षक है 'मॉरल बिलीफ्स' जो प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि ऐरिस्टोटेलियन सोसाइटी' के 1958-59 अंक मे प्रकाशित हुआ। उनका तीसरा लेख 'गुडनेस ऐंड चॉइस' 1961 मे इसी पत्रिका के सप्लीमैंट्री वोल्यूम 35' मे प्रकाशित हुआ था। अपने लेख 'मॉरल आर्गुमैंटस' मे श्रीमती फुट ने नैतिक निर्णयो के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों के स्वरूप पर विचार किया है। उनका कथन है कि इन निर्णयो के समर्थन मे दिए जाने वाले तर्क भी उसी प्रकार के होते हैं जिस प्रकार के तर्क तथ्यात्मक निर्णयो के समर्थन में दिए जाते हैं। वे एयर स्टीवैन्सन आदि संवेगवादियो के इस मत को अस्वीकार करती हैं कि नैतिक निर्णयो के समर्थन म दिए जाने वाले तर्कों का उद्देश्य इन निर्णयो को सत्य या मिथ्या प्रमाणित करना नही, अपित श्राताओ के मन मे कुछ विशेष भावनाएँ अथवा अभिवृत्तियाँ उत्पन्न करना ही होता है। उनके विचार मे हम इन तर्को द्वारा नैतिक निर्णयो की प्रामाणिकता स्थापित करने का प्रयास करते हैं, दूसरो मे कुछ विशेष संवेग या अभिवृत्तियाँ उत्पन्न करने का नही। श्रीमती फुट ने हेयर के इस मत को भी अस्वीकार किया है कि अंतिम अथवा मूल नैतिक सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए कोई तर्क प्रस्तुत नही किया जा सकता, क्योंकि अतत ऐसा सिद्धांत व्यक्ति के अपने विवेक पर ही आधारित होता है और इसी कारण यह संभव है कि एक व्यक्ति इसे स्वीकार करे और दूसरा न करे। वस्तुत संवेगवाद तथा परामर्शवाद के विरुद्ध श्रीमती फुट की मुख्य आपत्ति यह है कि इन दोनो अवर्णनात्मक सिद्धांतो के समर्थको के मतानुसार तथ्यात्मक निर्णयो और नैतिक निर्णयों मे कोई तार्किक संबंध नही है- फलत. प्रत्येक व्यक्ति स्वयं यह निर्णय कर सकता है कि किस नैतिक निर्णय

3 वही पृ 70

के साथ कौन-से तथ्य सबंद्ध हैं। श्रीमती फुट का यह निश्चित मत है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय कुछ विशेष तथ्यों पर अनिवार्यत: आधारित होता है, अत: किसी व्यक्ति को इन तथ्यों का चयन अथवा निर्धारण करने की स्वतन्त्रता नही है। अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "कुछ तथ्यो को किसी नैतिक निर्णय के समर्थन मे प्रस्तुत किया जा सकता है और कुछ को नहीं, अत: कोई भी व्यक्ति नैतिक औचित्य तथा अनौचित्य को प्रमाणित करने वाले तथ्यों के विषय मे अपनी इच्छानुसार उसी प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय नहीं कर सकता जिस प्रकार वह मुद्रास्फीति अथवा मस्तिष्क मे विद्यमान फोड़े के सबंध मे ऐसा नहीं कर सकता।... मैं यह कहना चाहती हूँ कि यह भी प्रमाणित नही किया गया है कि तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक आधार-वाक्यो से नैतिक निष्कर्षो को निगमित नही किया जा सकता"।[1] इस प्रकार श्रीमती फुट के विचार में किसी भी व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता प्राप्त नही है कि वह अपनी इच्छानुसार किन्ही तथ्यो को किसी भी नैतिक निर्णय का समर्थन करने के लिए तर्को के रूप मे प्रस्तुत कर सके। वे कहती हैं कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यवहार को 'असभ्य' कहने के लिए हमारे पास उसके व्यवहार से सबद्ध कुछ विशेष तथ्यो का होना आवश्यक है उसी प्रकार किसी नैतिक निर्णय का समर्थन करने के लिए अनिवार्य है कि हम उस निर्णय मे सबंधित कुछ विशेष तथ्यों को ही तर्कों के रूप मे प्रस्तुत करे। सक्षेप में श्रीमती फुट के मतानुसार जिन विशेष तथ्यो को नैतिक निर्णयो का समर्थन करने के लिए तर्कों के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है उनका चयन अथवा निर्धारण करने के लिए कोइ भी व्यक्ति स्वतत्र नही है।

अपने दूसरे लेख 'मॉरल बिलीफस' मे श्रीमती फुट ने विस्तारपूर्वक यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि प्रत्येक नैतिक निर्णय कुछ विशेष तथ्यो के साथ अनिवार्यत: संबद्ध रहता है और इन तथ्यों का सबध अतत: मनुष्य के सुख-दु:ख तथा उसकी इच्छाओ एव आवश्यकताओं से होता है। स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति किसी नैतिक निर्णय से सबद्ध विशेष तथ्यो को अपनी इच्छानुसार अस्वीकार नही कर सकता-अर्थात् वह यह नहीं कह सकता कि उसके लिए दूसरो द्वारा मान्य इन तथ्यों का कोई महत्व नही है। उदाहरणार्थ कोई भी व्यक्ति यह नही कह सकता कि एक घटे मे तीन बार ताली बजाना 'शुभ कर्म' है। इसका कारण यह है कि ताली बजाना सामान्यत: मनुष्य के सुख-दु:ख तथा उसकी आवश्यकताओं एव इच्छाओ से सबधित नहीं है। इसके विपरीत न्याय, साहस, परोपकार आदि जो कर्म मनुष्य के सुख-दु:ख से सबंधित हैं वे ही नैतिक निर्णयो के लिए अनिवार्यत आधारभूत तथ्य हैं। इस प्रकार श्रीमती फुट यह निश्चित रूप से मानती हैं कि प्रत्येक नैतिक निर्णय अतत: मनुष्य क सुख-दु:ख से सबद्ध कुछ विशेष तथ्यों पर ही आधारित रहता है, अत: तथ्यात्मक निर्णयो तथा नैतिक निर्णयो मे कोई अनिवार्य और मौलिक भेद नहीं है। गीच की भाँति उनका भी यही विचार है कि 'शुभ' का अर्थ मुख्यत: वर्णनात्मक ही होता है—अर्थात् किसी वस्तु को शुभ कहना उसके गुणों का वर्णन करना है और यह तभी सभव है जब हम उस वस्तु के कार्य अथवा उपयोग को भलीभाँति जान लें। नैतिक शब्दो को मुख्यत: वर्णनात्मक मानने के कारण श्रीमती फुट भी सवेगवाद तथा परामर्शवाद इन दोनों अवर्णनात्मक सिद्धातो का खडन करती हैं। उनका मत है कि नैतिक निर्णयों का उद्देश्य श्रोताओ मे कुछ विशेष भावनाएँ या अभिवृत्तियाँ उत्पन्न करना अथवा अन्य व्यक्तियों का मार्गदर्शन करना नही है। तथ्यात्मक शब्दो की भाँति नैतिक शब्दो का प्रयोग भी कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सार्थक हो सकता है, सभी परिस्थितियो मे नही। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए श्रीमती फुट ने 'खतरनाक' शब्द से 'शुभ' शब्द की तुलना की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार हम अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु

1. जी वालेस और ए.डी. ऐम वॉकर द्वारा संपादित 'दि डेफिनिशन ऑफ मॉरेलिटी' पृ 177

को 'खतरनाक' नही कह सकते उसी प्रकार हमारे लिए अकारण ही किसी वस्तु को 'शुभ' कहना भी तार्किक दृष्टि से सभव नही है। हम केवल उसी वस्तु को खतरनाक कह सकते हैं जिससे शरीर को भारी क्षति पहुँचने अथवा मृत्यु का भय हो। इसी प्रकार हम केवल उसी कर्म को नैतिक दृष्टि से शुभ कह सकते है जो मनुष्य के हित अथवा कल्याण मे सहायक हो। अपनी इसी मान्यता के आधार पर नैतिक सद्गुणों के स्वरूप की व्याख्या करते हुए श्रीमती फुट ने लिखा है कि "यह निश्चय ही स्पष्ट है कि नैतिक सद्गुण मानवीय हित तथा अहित से सबद्ध होने चाहिए और आप अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु को हितकर या हानिकारक नही कह सकते। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि समुद्र से एक बाल्टी पानी भर लेने के कारण उसे हानि पहुँची है तो उसका यह कथन बहुत विचित्र और अविश्वसनीय होगा"।[5] स्पष्ट है कि श्रीमती फुट के मतानुसार जब तक नैतिक शब्दो को मनुष्य के हित-अहित और उसकी आवश्यकताओ तथा इच्छाओ से सबद्ध नही किया जाता तब तक उनका कोई अर्थ नही हो सकता। इसी कारण वे यह निश्चित रूप से मानती हैं कि नैतिक निर्णय अतत मानवीय सुख-दु ख सबधी तथ्यो पर ही आधारित होते है, अत इन निर्णयो और तथ्यात्मक निर्णयो मे कोई अनिवार्य एव मौलिक अतर नही है।

अपने तीसरे लेख 'गुडनेस ऐड चॉइस' मे श्रीमती फुट ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि जिन कारणो के आधार पर हम किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कहते है क्या उन्हे चुनने के लिए हम स्वतत्र हैं। अपने सिद्धात के अनुरूप उन्होने इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर ही दिया है। उनका कथन है कि किसी व्यक्ति द्वारा किसी वस्तु के चुने जाने और उस वस्तु के अच्छी होने मे कोई अनिवार्य सबध नही है। यह इस बात से स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को चुनता है अथवा चुनने के लिए तैयार होता है तो इसका अर्थ यह नही है कि वह वस्तु वास्तव मे अच्छी है। ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि किसी वस्तु या कर्म का शुभ होना किसी व्यक्ति द्वारा उसके चुने जाने अथवा पसद किए जाने पर निर्भर नही है। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर श्रीमती फुट ने कहा है कि हम स्वय अपनी इच्छानुसार उन कारणो को निर्धारित नही कर सकते जिनके आधार पर हम किसी वस्तु अथवा कर्म को शुभ या अशुभ कहते हैं। ये कारण वास्तव मे पहले से निर्धारित होते हैं और हमे उन्ही के अनुसार प्रत्येक वस्तु या कर्म का मूल्याकन करना पडता है। उदाहरणार्थ हम पूर्वनिर्धारित कारणो के आधार पर ही पिता, मित्र, सतान आदि को अच्छा या बुरा कहते हैं। हम ऐसे किसी व्यक्ति को 'अच्छा पिता' नही कह सकते जो अपने बच्चो के पालन-पोषण के लिए कुछ नही करता और जो उन्हे बलि चढाने के लिए हत्यारो को सौप देता है। इसी प्रकार हम किसी ऐसे व्यक्ति को 'अच्छा मित्र' नही कह सकते जो अपने मित्र के साथ विश्वासघात करता है और उसे धोखा देता है। स्पष्ट है कि श्रीमती फुट के मतानुसार किसी वस्तु, व्यक्ति या कर्म को शुभ कहने के लिए हमे उन कारणो को निर्धारित करने की स्वतत्रता प्राप्त नही है जिनके आधार पर हम उसे शुभ कहते है। अपने इस सिद्धात द्वारा श्रीमती फुट ने उन दार्शनिको के मत का खडन किया है जो किसी वस्तु के शुभ होने तथा किसी व्यक्ति द्वारा उस का चुनाव करने अथवा उसे पसद करने मे अनिवार्य सबध मानते हैं। इस सिद्धात द्वारा उन्होने यह भी प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि नैतिक शब्दो का सार्थक प्रयोग कुछ विशेष परिस्थितियो मे तथा कुछ विशेष तथ्यो के आधार पर ही किया जा सकता है, अतः वास्तव मे नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों से मूलत भिन्न नही होते। इस प्रकार अपने तीनो लेखो मे श्रीमती फुट ने अपनी इसी आधारभूत मान्यता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि नैतिक निर्णय अतत तथ्यात्मक निर्णयो पर ही आधारित होते हैं और इसी

5 श्रीमती फुट द्वारा सपादित थ्योरीज ऑफ ऐथिक्स पृ 92-

कारण इन दोनो प्रकार के निर्णयो मे कोई मौलिक अंतर नही है।

नैतिक निर्णयो के स्वरूप के विषय मे श्रीमती फुट का उपर्युक्त सिद्धात पर्याप्त सीमा तक उचित एव युक्तिसगत प्रतीत होता है। उनका यह मत निश्चय ही उचित है कि नैतिक निर्णय अतत मनुष्य के सुख-दु ख से सबधित कुछ विशेष तथ्यो पर ही आधारित रहते हैं और इन निर्णयो के समर्थन मे ऐसे ही तथ्यो को तर्कों के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार इन तथ्यो का चयन अथवा निर्धारण करने की स्वतत्रता नही है। उनके इस मत को भी स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि तथ्यात्मक शब्दो की भाँति नैतिक शब्दो का प्रयोग भी वक्ता की अपनी स्वतत्र इच्छा पर निर्भर नहीं होता। वास्तव मे नैतिक शब्दों का सार्थक प्रयोग उन विशेष परिस्थितियो पर निर्भर है जो मनुष्य के सुख-दु ख तथा उसकी इच्छाओ और आवश्यकताओ से अनिवार्यत सबद्ध होती है। परन्तु अशत सत्य होते हुए भी श्रीमती फुट का उपर्युक्त सिद्धात नैतिक निर्णयो के स्वरूप की ठीक-ठीक और पूर्णतया सतोषप्रद व्याख्या प्रस्तुत नही करता। उदाहरणार्थ उनके इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो के समान ही वर्णनात्मक होते हैं और इन दोनों प्रकार के निर्णयो मे कोई मौलिक अतर नही है। हम पहले ही बता चुके हैं कि अनिवार्यत मूल्यात्मक होने के कारण नैतिक निर्णय सामान्यत तटस्थ तथ्यात्मक निर्णयो से भिन्न प्रकार के होते हैं। ऐसी स्थिति मे श्रीमती फुट का यह मत उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नही होता कि तथ्यात्मक निर्णयों से नैतिक निर्णयो का तार्किक निगमन सभव है। इस सभावना को पूर्णत अस्वीकार करना बहुत कठिन है कि किसी विशेष कर्म से सबद्ध सभी तथ्यो के विषय मे सहमत होते हुए भी उस कर्म के सबध में दो व्यक्तियो के नैतिक निर्णय भिन्न अथवा विपरीत हो। उदाहरणार्थ द्वितीय विश्व-युद्ध के समय जर्मनी मे हिटलर के समर्थक नाजियो ने लाखो निर्दोष यहूदियों की हत्या की थी। ईसाई तथा अन्य व्यक्ति उनके इस कर्म को नैतिक दृष्टि से अनुचित एव निदनीय मानते थे जबकि नाजी उसे उचित ही नही अपितु अपना आवश्यक कर्त्तव्य भी समझते थे। इस कर्म से सबद्ध तथ्यो से नाज़ी और ईसाई दोनो ही सहमत थे—दोनो यह मानते थे कि मारे जाने वाले व्यक्ति यहूदी हैं, उन्होने कोई अपराध नही किया, मनुष्य होने के नाते वे भी नाजियो के समान ही सुख-दु ख का अनुभव करते हैं, नाजियों की भाँति वे भी जर्मनी के निवासी हैं इत्यादि। इन सब तथ्यो के विषय मे सहमत होते हुए भी यहूदियों की हत्या के सबध मे नाजियो का नैतिक निर्णय ईसाइयो के नैतिक निर्णय से ठीक विपरीत था। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि कभी-कभी किसी विशेष कर्म से सबद्ध तथ्यो के विषय में सहमत होते हुए भी दो व्यक्ति उस कर्म के सबध मे ठीक विपरीत नैतिक निर्णय दे सकते हैं। यदि यह सत्य है तो श्रीमती फुट के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन प्रतीत होता है कि नैतिक निर्णयो एव तथ्यात्मक निर्णयो मे कोई मौलिक अतर नही है और तथ्यात्मक निर्णयो से नैतिक निर्णयों को तार्किक दृष्टि से निगमित किया जा सकता है। वस्तुत इसमे सदेह नही कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो से सबद्ध होते है, किन्तु इन दोनो प्रकार के निर्णयो मे तार्किक निगमन का संबध प्रमाणित करना सभव प्रतीत नहीं होता।

4. जे० आर० सर्ल

नैतिक निर्णयो के स्वरूप के सबध मे जे०आर० सर्ल भी पी०टी० गीच तथा श्रीमती फिलिपा फुट के वर्णनात्मक सिद्धात का पूर्णत समर्थन करते हैं सिद्धातों करते हुए व भी यह मानते हैं कि नैतिक निर्णयों और ... निर्णयों में कोई अनिवार्य तथा मूल भेद नहीं

है। सर्ल ने अपने मत का प्रतिपादन 1964 में 'दि फिलॉसॉफिकल रिव्यू' नामक पत्रिका में प्रकाशित अपने एक प्रसिद्ध लेख ''हाउ टु डिराइव 'आट' फ्राम 'इज' '' में किया है। जैसा कि लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इस लेख द्वारा सर्ल यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि 'चाहिए' अथवा 'कर्तव्य' से सम्बंधित नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से निर्गमित किया जा सकता है जो 'है' से सम्बंधित होने के कारण सदैव तथ्यों का वर्णन मात्र करते हैं। एक उदाहरण द्वारा उन्होंने अपने इस मत को विस्तारपूर्वक स्पष्ट और प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि ''हमें अपने वचन का पालन करना चाहिए'' इस नैतिक निर्णय को हम एक तथ्यात्मक निर्णय से निगमित कर सकते हैं। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए सर्ल ने निम्नलिखित पाँच वाक्यों की सूची प्रस्तुत की है (1) जोन्स ने ये शब्द कहे ''स्मिथ, मैं आपको पाँच डालर देने का वायदा करता हूँ''। (2) जोन्स ने स्मिथ को पाँच डालर देने का वादा किया। (3) स्मिथ को पाँच डालर देने के लिए जोन्स ने अपने आप को कर्तव्यबद्ध किया। (4) स्मिथ को पाँच डालर देने के लिए जोन्स कर्तव्यबद्ध है। (5) जोन्स को स्मिथ को पाँच डालर देने चाहिए।[6] सर्ल का कथन है कि इस सूची का प्रथम वाक्य तथ्यात्मक है क्योंकि इसमें केवल इस तथ्य का वर्णन किया गया है कि जोन्स ने स्मिथ से कुछ शब्द कहे। इस प्रथम तथ्यात्मक वाक्य से दूसरे वाक्य को निर्गमित किया जा सकता है — अर्थात इसके आधार पर हम यह कह सकते है कि ''जोन्स ने स्मिथ को पाँच डालर देने का वादा किया''। दूसरे वाक्य से तीसरे वाक्य का निगमन स्पष्ट और अनिवार्य है क्योंकि वादा करने का अर्थ ही अपने आपको कर्तव्यबद्ध करना है। चौथा वाक्य तीसरे वाक्य की पुनरुक्ति मात्र है, क्योंकि, ''जोन्स ने अपने आप को कर्तव्यबद्ध किया'' और ''जोन्स कर्तव्यबद्ध है'' इन दोनों वाक्यों का अर्थ एक ही है। इसी प्रकार पाँचवाँ वाक्य भी चौथे वाक्य की पुनरुक्ति मात्र है, क्योंकि इसमें ठीक वही बात फिर से कही गई है जो चौथे वाक्य में पहले ही कही जा चुकी है। इस प्रकार वाक्यों की उपर्युक्त सूची द्वारा सर्ल ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि प्रथम तथ्यात्मक वाक्य से अंतिम कर्तव्यमूलक वाक्य का निगमन सम्भव ही नहीं अपितु अनिवार्य है। अतः इससे स्पष्ट है कि 'चाहिए' अथवा 'कर्तव्य' से सम्बद्ध नैतिक निर्णयों को 'है' से सम्बंधित तथ्यात्मक निर्णयों से सफलतापूर्वक निगमित किया जा सकता है।

सर्ल ने अपने उपर्युक्त मत के विरुद्ध कुछ सम्भावित आपत्तियों का उल्लेख करते हुए स्वयं उनका उत्तर दिया है। उनका कथन है कि सम्भवतः कुछ आलोचक उनके मत के विरुद्ध यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सूची के प्रथम वाक्य में मूल्यात्मक तत्त्व निहित हैं, अतः वह वास्तव में पूर्णतः वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक नहीं है, परन्तु सर्ल इस आपत्ति को उचित नहीं मानते। इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा है कि प्रथम वाक्य में कोई मूल्यात्मक तत्त्व निहित नहीं है, यह वाक्य पूर्णतः तथ्यात्मक है, क्योंकि इसमें केवल इस तथ्य का वर्णन किया गया है कि जोन्स ने स्मिथ से कुछ शब्द कहे। एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति से कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ शब्द कहना एक वस्तुगत तथ्य है जिसमें कोई मूल्यात्मक तत्त्व निहित नहीं हो सकता अतः प्रथम वाक्य से दूसरे वाक्य का निगमन वास्तव में 'है' से 'चाहिए' अथवा तथ्य से कर्तव्य के निगमन का स्पष्ट उदाहरण है। सर्ल ने अपने इस मत के विरुद्ध एक अन्य सम्भावित आपत्ति का भी उल्लेख किया है। उनके विचार में कुछ आलोचक यह कह सकते हैं कि 'वचन का पालन करना' एक नैतिक नियम है अतः इस नैतिक नियम पर आधारित होने के कारण प्रथम वाक्य वास्तव में तथ्यात्मक न होकर मूल्यात्मक ही है। प्रथम आपत्ति की भाँति इस आपत्ति को भी सर्ल उचित एवं युक्तिसंगत नहीं

---

6 पहेल और शिलर द्वारा सम्पादित 'रीडिंग्स इन एथिकल थ्योरी' पृ 6.

मानते। इसका खडन करते हुए उन्होंने कहा है कि जोन्स का स्मिथ से यह कहना कि "मैं आपको पाँच डालर देने का वादा करता हूँ" कोई नैतिक नियम नही है, अपितु एक वर्णनात्मक वाक्य है। इस प्रकार सर्ल का यह निश्चित मत है कि उन्होने तथ्यात्मक वाक्य से कर्तव्यमूलक नैतिक निर्णय के निगमन को प्रमाणित कर दिया है।

नैतिक प्रकृतिवाद का खडन करने वाले दार्शनिको के इस मत को भी सर्ल स्वीकार नहीं करते कि सभी शब्दो को 'वर्णनात्मक' और 'मूल्यात्मक' इन्ही दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। उनका कथन है कि सभी वर्णनात्मक शब्द अथवा वाक्य एक जैसे तथ्यो का वर्णन नही करते। कुछ वर्णनात्मक वाक्य ऐसे तथ्यो का वर्णन करते हैं, जो अनिवार्यत: सामाजिक व्यवस्था पर आधारित होते हैं। उदाहरणार्थ विवाह करना,सम्पत्ति रखना, वचन का पालन करना आदि ऐसे तथ्य हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत विवाह-प्रथा, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार तथा वचन-पालन सबधी कर्त्तव्य पर आधारित हैं। ऐसे तथ्यो को सर्ल ने संस्थागत तथ्यों की सज्ञा दी है। कुछ वाक्यो मे इन तथ्यो से भिन्न ऐसे तथ्यो का वर्णन किया जाता है, जो सामाजिक व्यवस्था पर आधारित नही होते। उदाहरणार्थ बालो का काला होना,पेंसिल का लाल होना,कार का 50 मील प्रति घटा चलना आदि तथ्य ऐसे हैं जो किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था पर आधारित नही हैं। ऐसे तथ्यो को सर्ल ने सामान्य तथ्य कहा है। इस वर्गीकरण द्वारा सभवत: सर्ल अपने इस मत की पुष्टि करना चाहते हैं कि कुछ सस्थागत तथ्यो का वर्णन करने वाले तथ्यात्मक निर्णयो से नैतिक निर्णयो को निगमित किया जा सकता है। इसी कारण उन्होने अपने मत का स्पष्टीकरण करने के लिए वचन का पालन करने से सबंधित वाक्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि नैतिक निर्णयो के स्वरूप के विषय मे सर्ल का उपर्युक्त मत कहाँ तक उचित एव युक्तिसगत हैं। हम देख चुके हैं कि उनका मुख्य उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि नैतिक निर्णयो — विशेषत: कर्तव्यमूलक नैतिक निर्णयो — को तथ्यात्मक निर्णयो मे निगमित किया जा सकता है। परतु यह कहना बहुत कठिन है कि वे अपने इस उद्देश्य मे सफल हुए हैं। यदि सर्ल द्वारा प्रस्तुत वाक्यो की सूची मे दिए गए प्रथम वाक्य को पूर्णत: तथ्यात्मक मान लिया जाए जैसा कि वे मानते हैं तो इस वाक्य से दूसरे वाक्य का निगमन सभव प्रतीत नही होता। यदि कोई व्यक्ति मुझे यह बताता है कि जोन्स ने स्मिथ से यह कहा कि "स्मिथ, मैं आपको पाँच डालर देने का वादा करता हूँ," तो उस व्यक्ति के इस कथन से मेरे लिए तार्किक दृष्टि से इस वाक्य को निगमित करना अनिवार्य नही है कि "जोन्स ने स्मिथ को पाँच डालर देने का वादा किया"। मैं उस व्यक्ति के कथन को जोन्स के शब्दो का ऐसा तटस्थ विवरण मात्र मान सकता हूँ जिसका वचन-पालन के कर्त्तव्य से कोई सबध नही है। ऐसी स्थिति मे मेरे लिए उस व्यक्ति के कथन का केवल इतना ही महत्व रह जाता है कि जोन्स ने स्मिथ से कुछ विशेष शब्द कहे। इससे अनिवार्यत: यह निगमित नही होता कि जोन्स ने स्मिथ से कोई वादा किया। यदि प्रथम वाक्य से दूसरे वाक्य को निगमित नही किया जा सकता तो इस वाक्य से अतिम वाक्य — जो नैतिक निर्णय है — का निगमन भी सभव नही है। मुख्यत: इसी आधार पर ऐन्टोनी फल्यू ने सर्ल के मत का खडन किया है। उनका कथन है कि "मैं वादा करता हूँ"। इस वाक्य का दो बिल्कुल भिन्न अर्थों मे प्रयोग किया जा सकता है — (1) किसी अन्य व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत तटस्थ विवरण देने के अर्थ मे और, (2) स्वय कर्तव्यबद्ध होने के अर्थ में। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कहे गए इन शब्दो को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है तो वह केवल तटस्थ विवरण देने के अर्थ मे इस वाक्य का प्रयोग करता है। इसके विपरीत यदि वह स्वयं किसी से यह वाक्य कहता है तो वह इसका प्रयोग कर्तव्यबद्ध होने के अर्थ मे करता है। फल्यू के मतानुसार प्रथम अर्थ मे यह वाक्य तथ्यात्मक निर्णय है और द्वितीय अर्थ मे नैतिक

निर्णय। इस वाक्य के ये दोनो अर्थ बिल्कुल भिन्न हैं, अत जब हम केवल तथ्यात्मक अर्थ मे इस का प्रयोग करते है, तो इससे हम किसी प्रकार के नैतिक निर्णय को निर्गमित नही कर सकते।

सर्ल ने 1969 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक स्पीच ऐक्ट्स ऐन एसे इन फिलॉसॉफी ऑफ लैंग्वेज' मे ऑन डिराइविंग 'ऑट' फ्रॉम, 'इज शीर्षक मे एक अध्याय लिखा है जिसमे उन्होने अपने मत के विरुद्ध उठाइ गई अनेकआपत्तियो का उत्तर देने का प्रयास किया है। इसी अध्याय मे फल्यू की उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए सर्ल ने कहा है कि "मैं वादा करता हूँ" इस वाक्य का कोई तटस्थ तथ्यात्मक अर्थ नही होता, इसका केवल एक ही अर्थ होता है और वह यह है कि "मैं अपने आपको कर्तव्यबद्ध करता हूँ"।[8] अपने इस उत्तर को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार सभी प्रसगों तथा परिस्थितियो मे "त्रिभुज" का अर्थ "तीन कोणो वाला" ही होता है उसी प्रकार वादा करने का अर्थ भी सदैव अपने आपको कर्तव्यबद्ध करना ही होता है"।[9] परतु सर्ल का यह उत्तर पूर्णत सतोषजनक प्रतीत नही होता। इसका कारण यह है कि 'त्रिभुज' का अर्थ सदैव 'तीन कोणो वाला ही होता है और इसका कभी कोई अपवाद नही हो सकता, जबकि कुछ विशेष परिस्थितियो में व्यक्ति वादा करके भी अपने आप को वादा पूरा करने के कर्तव्य से मुक्त मान सकता है। सर्ल ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि 'अन्य स्थितियो के समान रहने पर ही' कोई व्यक्ति वादा करके भी उसे पूरा करने के लिए कर्तव्यबद्ध होता है। इसका अर्थ यही है कि कुछ विशेष परिस्थितियो मे वह अपना वादा पूरा करने के कर्तव्य से मुक्त हो सकता है। ऐसी स्थिति मे 'त्रिभुज के अर्थ के साथ वादा' शब्द के अर्थ की तुलना करना उचित और युक्तिसगत प्रतीत नही होता। इस प्रकार मेरे विचार मे सर्ल अपने मत के विरुद्ध फ्ल्यू की उपर्युक्त आपत्ति का पूर्णतया सतोषप्रद उत्तर नही दे पाए। अत यह कहना बहुत कठिन है कि उन्होंने तथ्यात्मक निर्णयो से नैतिक निर्णयो के निगमन को वास्तव मे प्रमाणित कर दिया है।

5. ए०सी० मैकिन्टायर

नैतिक निर्णयो के स्वरूप और तथ्यात्मक निर्णयो के साथ उनके सबध के विषय मे ए०सी० मैकिन्टायर का मत भी गीच, फुट तथा सर्ल के मत से मूलत भिन्न नही है। 1959 मे 'दि फिलॉसॉफिकल रिव्यू' नामक पत्रिका मे प्रकाशित अपने एक लेख "ह्यूम ऑन 'इज' एड 'ऑट' मे मैकिन्टायर ने सविस्तार यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि कर्तव्यमूलक नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो से निगमित किए जा सकते हैं। एयर, स्टीवैन्सन, नॉवल-स्मिथ, हेयर आदि दार्शनिकों ने 'चाहिए' और 'है' से सबधित ह्यूम के अनुच्छेद की जो व्याख्या की है उसका खडन करते हुए मैकिन्टायर कहते है कि स्वय ह्यूम ने तथ्यात्मक निर्णयो से नैतिक निर्णयो को निगमित किया है। अपने इस मत के समर्थन मे उन्होंने ह्यूम द्वारा की गई 'न्याय की व्याख्या को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है। उनके विचार मे ह्यूम न्याय को केवल इसलिए आवश्यक नैतिक सद्गुण मानते हैं कि इसके द्वारा अतत सभी व्यक्तियो का हित होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि ह्यूम कुछ विशेष तथ्यो से न्याय सबधी कर्तव्य को निगमित करते है। अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए मैकिन्टायर ने लिखा है कि "ह्यूम स्पष्टत यह मानते हैं कि न्याय सबधी नियमो का

---

7 ए फ्ल्यू, "ऑन नॉट डिराइविंग' ऑट 'फ्रॉम इज', डबल्यू डी हडसन द्वारा सम्पादित "दि इज ऑट क्वश्चन पृ 141-142

8 वही पुस्तक, पृ 266-

9 सर्ल ऐंड रिप्लाइज' वही पुस्तक पृ 269

औचित्य इसी तथ्य पर आधारित है कि उनका पालन करने से अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति का हित होता है। हमें इन नियमों का पालन इसलिए करना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे इनका पालन करने से हानि की अपेक्षा अधिक लाभ न होता हो। परन्तु ऐसा करना 'है' से 'चाहिए' का निगमन करना है। यदि ह्यूम, नॉवेल-स्मिथ और प्रायर ने ह्यूम के मत की ठीक व्याख्या की है तो स्वयं ह्यूम ही अपने सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क कर रहे हैं।[10] इस प्रकार मैकिन्टायर यह मानते हैं कि मूलतः तथ्यात्मक निर्णयों पर आधारित होने के कारण नैतिक निर्णय उनसे निगमित किए जा सकते हैं अतः इन दोनों प्रकार के निर्णयों में कोई अनिवार्य और मूल भेद नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि ह्यूम नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से मूलतः भिन्न मानते थे और इन दोनों प्रकार के निर्णयों में अनिवार्य संबंध स्वीकार नहीं करते थे उनके संपूर्ण नैतिक दर्शन की भ्रामक व्याख्या करना है। मैकिन्टायर के विचार से नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों पर पूर्णतः आधारित मानने के कारण ह्यूम नैतिक निर्णयों की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करते थे जैसा कि मूर, स्टीवेन्सन, हेयर आदि दार्शनिक मानते हैं। इस दृष्टि से ह्यूम का मत तथ्यात्मक निर्णयों से नैतिक निर्णयों को अनिवार्यतः स्वतंत्र मानने वाले दार्शनिकों — यथा, कान्ट — के मत से मूलतः भिन्न है। इस प्रकार मूर, स्टीवेन्सन, हेयर, नॉवेल-स्मिथ आदि दार्शनिकों के विपरीत है मैकिन्टायर ह्यूम को नैतिक निर्णयों की स्वतंत्रता का समर्थक नहीं मानते।

वस्तुतः गीच, फुट तथा सर्ल की भाँति मैकिन्टायर का भी यह निश्चित मत है कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों से अनिवार्यतः संबद्ध और उन पर आधारित होते हैं अतः तथ्यात्मक निर्णयों से नैतिक निर्णयों की मौलिक भिन्नता एवं स्वतंत्रता की बात करना निरर्थक है। जो दार्शनिक नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से मूलतः भिन्न एवं स्वतंत्र मानते हैं उनके मत का खंडन करते हुए मैकिन्टायर कहते हैं कि हम सदैव कुछ विशेष तथ्यों को आधार मान कर ही नैतिक निर्णय देते हैं। उन्होंने अपने इस मत को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट और प्रमाणित करने का प्रयास किया है। ''यदि मैं स्मिथ को चाकू मारूँ तो मुझे जेल भेज दिया जाएगा, किन्तु मैं जेल नहीं जाना चाहता अतः मुझे उसको चाकू नहीं मारना चाहिए।'' इस उदाहरण में मैं जो चाहता हूँ उसके आधार पर है से 'चाहिए' का अनुमान किया गया है'।[11] वस्तुतः मैकिन्टायर का दृढ़ विश्वास है कि सुख, दुख, इच्छा, आवश्यकता आदि ऐसे मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं जो तथ्यात्मक निर्णयों तथा नैतिक निर्णयों में अनिवार्यतः सेतु का कार्य करते हैं और जिनके अभाव में हमारे लिए नैतिक निर्णयों का कोई अर्थ नहीं हो सकता।[12] दूसरे शब्दों में, यदि हम अपने जीवन में कुछ विशेष इच्छाओं, आवश्यकताओं, सुख तथा दुख का अनुभव न करते तो हमारे लिए नैतिक निर्णय नितान्त महत्त्वहीन एवं निरर्थक होते। मैकिन्टायर के मतानुसार इससे यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि नैतिक निर्णयों का अंतिम और एकमात्र आधार मानव-स्वभाव संबंधी कुछ तथ्य ही हैं अतः इन निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से मूलतः भिन्न एवं स्वतंत्र मानना उचित तथा युक्तिसंगत नहीं है।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि तथ्यात्मक निर्णयों के साथ नैतिक निर्णयों के संबंध की मैकिन्टायर ने जो व्याख्या की है वह कहाँ तक उचित और संतोषप्रद है। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के साथ कुछ सीमा तक अवश्य संबद्ध रहते हैं। ऐसी स्थिति में नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से पूर्णतः असंबद्ध और

---

10 ए.सी. मैकिन्टायर, ''ह्यूम ऑन 'इज' ऐंड 'ऑट', वी.सी. चैपल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'ह्यूम' में संकलित, पृ. 248.

11 वही पुस्तक, पृ. 256-257

12 वही पुस्तक, पृ. 25[illegible] 58

स्वतन्त्र मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। मैकिन्टायर का यह मत उचित ही है कि नैतिक निर्णयों का सार्थक प्रयोग मानवीय इच्छाओं, आवश्यकताओं तथा सुख-दुःख के संदर्भ में ही किया जा सकता है। मानव स्वभाव संबंधी तथ्यों की उपेक्षा करके नैतिक निर्णय देना निश्चय ही निरर्थक है अतः मैकिन्टायर ने ठीक ही कहा है कि इन निर्णयों को मानवीय इच्छाओं तथा आवश्यकताओं से अलग करके नहीं समझा जा सकता [illegible]। उनके इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि तथ्यात्मक निर्णयों तथा नैतिक निर्णयों में कोई अनिवार्य एवं मौलिक भेद नहीं है, अतः तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से निगमित किया जा सकता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों के साथ अनिवार्यतः संबद्ध होते हुए भी मूल्यतः मूल्यात्मक होने के कारण इन निर्णयों से भिन्न होते हैं। इसी कारण इन दोनों प्रकार के निर्णयों में निगमन के संबंध को स्वीकार करना उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। तथ्यात्मक निर्णयों तथा नैतिक निर्णयों में निगमन के संबंध को प्रमाणित करने के लिए मैकिन्टायर ने जो उदाहरण दिया है उससे वास्तव में इन दोनों प्रकार के निर्णयों में यह संबंध अनिवार्यतः प्रमाणित नहीं होता। 'मुझे स्मिथ को चाकू नहीं मारना चाहिए' यह नैतिक निर्णय इस तथ्यात्मक निर्णय से निगमित नहीं होता कि 'स्मिथ को चाकू मारने के कारण मुझे जेल भेज दिया जाएगा और मैं जेल नहीं जाना चाहता'। यह जानते हुए भी कि स्मिथ को चाकू मारने के कारण मुझे जेल भेज दिया जाएगा और जेल न जाना चाहते हुए भी मैं कुछ अन्य प्रबल कारणों — यथा देश-प्रेम, अपने किसी संबंधी की हत्या का प्रतिशोध, स्मिथ का दुष्ट एवं अत्याचारी होना आदि — से प्रेरित होकर यह निर्णय कर सकता हूँ कि 'मुझे स्मिथ को चाकू अवश्य मारना चाहिए'। इससे स्पष्ट है कि मैकिन्टायर का उदाहरण नैतिक निर्णयों और तथ्यात्मक निर्णयों में निगमन के संबंध को प्रमाणित नहीं करता। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि तथ्यात्मक निर्णयों पर आधारित और उनके साथ संबद्ध होते हुए भी नैतिक निर्णय उनसे भिन्न होते हैं, अतः तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयों का तथ्यात्मक निर्णयों से निगमन संभव नहीं है। इस प्रकार मैकिन्टायर ने तथ्यात्मक निर्णयों के साथ नैतिक निर्णयों के संबंध की जो व्याख्या की है वह पर्याप्त, सन्तोषप्रद तथा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

6 निष्कर्ष

पिछले खंडों में हमने कुछ ऐसे दार्शनिकों के दृष्टिकोण पर विचार किया है जो नैतिक निर्णयों और तथ्यात्मक निर्णयों में निगमनात्मक संबंध स्वीकार करते हैं — अर्थात जो यह मानते हैं कि तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयों को तथ्यात्मक निर्णयों से निगमित किया जा सकता है। यहाँ इस संबंध में जिन दार्शनिकों के मत का विवेचन किया गया है उनके अतिरिक्त जी०जे० वार्नॉक, मैक्स ब्लैक, जी० हन्टर, एम० जीमरमन आदि कुछ अन्य दार्शनिकों ने भी मूलतः इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। परन्तु स्थानाभाव के कारण इस लेख में इन सभी दार्शनिकों के [illegible] पर विचार करना संभव नहीं है। अब हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में नैतिक निर्णयों और तथ्यात्मक निर्णयों में निगमनात्मक संबंध है। सीच, फुट, सर्ल, मैकिन्टायर आदि के मत की कुछ मुख्य कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए हम पहले ही इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दे चुके हैं। परन्तु इस अंतिम खंड में कुछ और अधिक विस्तार से यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि तथ्यात्मक निर्णयों तथा नैतिक निर्णयों में निगमनात्मक संबंध क्यों नहीं स्वीकार किया जा सकता। हम प्रथम खंड में ही यह बता चुके हैं कि [illegible] होने के कारण नैतिक निर्णयों का

स्वरूप कुछ तथ्यों का वर्णन मात्र करने वाले तथ्यात्मक निर्णयो से भिन्न होता है। वस्तुत: उद्देश्य की दृष्टि से इन दोनो प्रकार के निर्णयो मे अनिवार्य मूल भेद स्पष्ट दिखाई देता है जिसके फलस्वरूप तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयो को तथ्यात्मकनिर्णयो से निगमित करना असभव हो जाता है। हम केवल तथ्यात्मक निर्णयो को ही कुछ अन्य तथ्यात्मक निर्णयो से निगमित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ "आगरा उत्तरप्रदेश मे है" और "उत्तर प्रदेश भारत मे है" इन दो तथ्यात्मक निर्णया से यह तथ्यात्मक निर्णय अनिवार्यत निगमित होता है कि "आगरा भारत मे है"। इस निगमन का आधार शब्दार्थ और भाषा सबधी नियम हैं, शब्दों के अर्थ और भाषा सबधी नियमों के अनुसार प्रथम दो तथ्यात्मक निर्णयो से अतिम तथ्यात्मक निर्णय का तार्किक निगमन नितात अनिवार्य है। नैतिक निर्णयो के अनिवार्य मूल्यात्मक स्वरूप को देखते हुए यह समझना कठिन नही है कि इन निर्णयों का तथ्यात्मक निर्णयो से इस प्रकार का तार्किक निगमन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति मे गीच, फुट, सर्ल, मैकिन्टायर आदि दार्शनिको के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि तथ्यात्मक निर्णयो से नैतिक निर्णयों को निगमित किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनो प्रकार के निर्णयो मे कोई अनिवार्य मूल भेद नही है।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ये सभी दार्शनिक नैतिक निर्णयो और तथ्यात्मक निर्णयो से निगमनात्मक सबध क्यो मानते है। सभवत इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन दार्शनिको के मतानुसार तथ्यात्मक निर्णयो के समान ही नैतिक निर्णय भी अनिवार्यत कुछ विशेष तथ्यो द्वारा ही निर्धारित होते है। जिस प्रकार 'पृथ्वी गोल है' यह तथ्यात्मक निर्णय कुछ विशेष तथ्यो पर आधारित है जिनकी कोई भी विचारशील व्यक्ति उपेक्षा नही कर सकता, ठीक उसी प्रकार 'वह कर्म शुभ है' यह नैतिक निर्णय भी अनिवार्यत कुछ विशेष तथ्यों पर ही आधारित है जिनकी उपेक्षा करना किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए सभव नही है। हम तथ्यात्मक निर्णयो से सबद्ध तथ्यो की भाँति नैतिक निर्णयो से सबद्ध तथ्यो का भी स्वय अपनी इच्छानुसार स्वतत्रतापूर्वक चयन नही कर सकते, हमारे लिए इन दोनो प्रकार के निर्णयो से सबधित कुछ विशेष सर्वमान्य तथ्यो को स्वीकार करना अनिवार्य है। हम देख चुके हैं कि मुख्यत इन्ही तर्कों के आधार पर गीच, फुट, सर्ल, मैकिन्टायर आदि दार्शनिकों ने नैतिक निर्णयो को तथ्यात्मक निर्णयो से मूलत भिन्न और स्वतत्र नही माना। परन्तु नैतिक निर्णयों के सबध मे इन दार्शनिको के उपर्युक्त तर्क पूर्णत सतोषप्रद एव विश्वसनीय प्रतीत नही होते। यह सत्य है कि नैतिक निर्णय देते समय कुछ विशेष परिस्थितियो और तथ्यो का ध्यान रखना आवश्यक होता है, क्योकि ये निर्णय मनुष्य के कर्मो तथा प्रयोजनो से अनिवार्यत सबद्ध रहते हैं। इस दृष्टि से नैतिक निर्णयो के लिए तथ्यो के महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। परतु तथ्यात्मक निर्णयो के विपरीत नैतिक निर्णयो के प्रसग मे यह स्पष्ट तथा निश्चित नही है कि किस नैतिक निर्णय के साथ कौन-से तथ्य सबद्ध हैं और कौन-से नही। इसका कारण यह है कि प्रत्येक तथ्यात्मक निर्णय अनिवार्यत कुछ विशेष तथ्यो पर ही आधारित होता है जो मनुष्य की भावनाओ तथा अभिवृत्तियो से सामान्यत. असबद्ध और स्वतत्र होते है, किंतु इसके विपरीत प्रत्येक नैतिक निर्णय का आधार कुछ विशेष मानदड अथवा प्रतिमान होते हैं जो मानवीय भावनाओ तथा अभिवृत्तियो से पूर्णत असबद्ध एव स्वतत्र नही रह सकते। यही कारण है कि किसी समस्या से सबद्ध सभी तथ्यो के विषय मे सहमत होते हुए भी दो व्यक्ति उसके सबध मे भिन्न अथवा विपरीत नैतिक निर्णय दे सकते हैं। हम इस बात को द्वितीय विश्व-युद्ध मे यहूदियो की हत्या के उदाहरण द्वारा पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। एक अन्य उदाहरण द्वारा इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कोई व्यक्ति लबे समय तक चलने वाले असाध्य तथा असह्य पीड़ादायक रोग से ग्रस्त है और औषधि अथवा टीके द्वारा उसके

जीवन का अंत करके उसे इस पीडा से मुक्त कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि क्या चिकित्सक को ऐसा करना चाहिए। इस समस्या से संबद्ध सभी तथ्यो — लंबे समय तक रोग के बने रहने की आशंका, रोग का असाध्य तथा असह्य पीडादायक होना, चिकित्सक की सफलता का निश्चित होना आदि — से पूर्णत सहमत होते हुए भी एक व्यक्ति यह कह सकता है कि चिकित्सक को उसके जीवन का अंत नही करना चाहिए जबकि दूसरा व्यक्ति यह कह सकता है कि चिकित्सक को ऐसा अवश्य करना चाहिए। इन दोनो व्यक्तियों के विपरीत नैतिक निर्णयों का कारण जीवन की पवित्रता के प्रति उनकी भिन्न अभिवृत्तियाँ हैं, प्रथम व्यक्ति किसी भी मूल्य पर जीवन को बनाए रखना वांछनीय मानता है जबकि दूसरा व्यक्ति कुछ विशेष परिस्थितियो — यथा, असाध्य रोग की असह्य पीडा — में जीवन का अंत कर देना अधिक वांछनीय समझता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय केवल तथ्यों द्वारा निर्धारित नही होते जैसा कि गीच, फुट, सर्ल, मैकिन्टायर आदि दार्शनिक मानते हैं।

अभी तक हमने यह स्पष्ट किया है कि तथ्यो के विषय मे सहमत होते हुए भी दो व्यक्ति विभिन्न या विपरीत नैतिक निर्णय दे सकते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न तथ्यों के आधार पर एक ही नैतिक निर्णय दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ हम किसी कर्म को इसलिए शुभ कह सकते हैं कि उसके फलस्वरूप बहुत-से व्यक्तियो को सुख प्राप्त होता है। इसके विपरीत हम किसी कर्म को इसलिए भी शुभ कह सकते हैं कि उसे करके व्यक्ति ने अपने कर्तव्य का पालन किया है — फिर चाहे इससे किसी को सुख प्राप्त हुआ हो या नहीं। इसी प्रकार हम किसी व्यक्ति को उदार, दयालु तथा ईमानदार होने के कारण भी 'अच्छा मनुष्य' कह सकते हैं और निष्पक्ष, न्यायशील एवं कर्तव्यनिष्ठ होने के कारण भी। इस प्रकार 'वह अच्छा मनुष्य है' यह नैतिक निर्णय कुछ निश्चित तथ्यों पर ही आधारित नही है जैसा कि 'पृथ्वी गोल है' यह तथ्यात्मक निर्णय कुछ विशेष निश्चित तथ्यों पर आधारित है। अन्य नैतिक निर्णयों के संबंध मे भी यही कहा जा सकता है। इस संपूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि कुछ तथ्यों पर आधारित होते हुए भी नैतिक निर्णय केवल तथ्यों द्वारा निर्धारित नही होते जैसा कि गीच, फुट, सर्ल, मैकिन्टायर आदि दार्शनिको का मत है।

17

संकल्प-स्वातंत्र्य और नैतिक उत्तरदायित्व की समस्या

1 संकल्प की स्वतन्त्रता का अर्थ

संकल्प की स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए अनिवार्य है क्योंकि इसके अभाव में मनुष्य को उसके कर्मों के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। इस लेख में हम संकल्प-स्वातन्त्र्य तथा नैतिक उत्तरदायित्व से संबंधित कुछ प्रमुख समस्याओं पर विचार करेंगे। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह विषय बहुत जटिल तथा व्यापक है, अतः इससे संबंधित सभी समस्याओं पर इस संक्षिप्त लेख में विचार करना संभव नहीं है। संकल्प-स्वातन्त्र्य तथा नैतिक उत्तरदायित्व से संबंधित जिन मुख्य प्रश्नों पर हम यहाँ विचार करना चाहते हैं वे निम्नलिखित हैं (1) संकल्प की स्वतन्त्रता का ठीक-ठीक अर्थ क्या है? (2) क्या संकल्प-स्वातन्त्र्य और नियतत्ववाद में अनिवार्य विरोध विद्यमान है? (3) क्या संकल्प की स्वतन्त्रता के लिए अनियतत्ववाद को स्वीकार करना आवश्यक है? (4) क्या दैववाद अथवा भाग्यवाद संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिए घातक है? (5) नैतिक उत्तरदायित्व का अर्थ क्या है और कौन-सी परिस्थितियों में तथा किन कर्मों के लिए मनुष्य को नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी माना जा सकता है? इन सभी प्रश्नों से इस विषय की जटिलता एवं व्यापकता का सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है। उपर्युक्त प्रश्नों में हमने जिन तीन सिद्धान्तों — नियतत्ववाद, अनियतत्ववाद, दैववाद अथवा भाग्यवाद — का उल्लेख किया है उनके स्वरूप पर हम अगले खण्डों में विचार करेंगे और यह भी देखेंगे कि इन सिद्धान्तों का मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य एवं नैतिक उत्तरदायित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है। परन्तु इन तीनों सिद्धान्तों के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना बहुत आवश्यक है कि संकल्प-स्वातन्त्र्य का वास्तविक और ठीक-ठीक अर्थ क्या है।

हमारे समस्त कर्त्तव्यमूलक नैतिक निर्णयों का मूल आधार संकल्प की स्वतन्त्रता ही है। जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए, दुखी प्राणियों की सहायता करनी चाहिए, दूसरों को धोखा नहीं देना चाहिए अथवा चोरी नहीं करनी चाहिए तो हम यह मान लेते हैं कि यदि वह चाहे तो वह सत्य बोल सकता है, दुखी प्राणियों की सहायता कर सकता है, दूसरों को धोखा देने अथवा चोरी करने से अपने आप को रोक सकता है। इसका अभिप्राय यही है कि हम सामान्यतः मनुष्य को ऐच्छिक कर्म करने अथवा न करने के लिए स्वतन्त्र मानते हैं। अपनी इच्छानुसार कर्म करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता को ही 'संकल्प-स्वातन्त्र्य' की संज्ञा दी जाती है।

अनेक दार्शनिकों ने इस संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिए कुछ शर्तों को अनिवार्य माना है जिनके अभाव में उनके मतानुसार मनुष्य के संकल्प को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। संकल्प-स्वातन्त्र्य की ये अनिवार्य शर्तें निम्नलिखित हैं

(1) कर्म करने की क्षमता अथवा शक्ति मनुष्य के उसी कर्म के संबंध में हमारा नैतिक निर्णय सार्थक हो सकता है जिसे करने में वह शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से समर्थ हो — अर्थात

यदि वह चाहे तो उस कर्म को कर सके। यदि मनुष्य के लिए शारीरिक अथवा बौद्धिक दृष्टि से कोई कर्म करना नितान्त असम्भव है तो यह स्पष्ट है कि वह उस कर्म को करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है, अतः उस कर्म के विषय में नैतिक निर्णय देना निरर्थक है। एक उदाहरण द्वारा संकल्प-स्वातन्त्र्य की इस शर्त को भलीभाँति समझा जा सकता है। मान लीजिए एक व्यक्ति डूबते हुए बालक को बचाना चाहता है, किन्तु वह चाहते हुए भी तैरना न जानने के कारण ऐसा नहीं कर पाता। स्पष्ट है कि इसके लिए उसे हम दोषी नहीं मान सकते, क्योंकि चाहते हुए भी वह बालक को बचाने में नितान्त असमर्थ है — अर्थात् वह यह कर्म करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि मनुष्य केवल उन्हीं कर्मों को करने के लिए स्वतन्त्र है जिन्हें करने की उसमें शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमता अथवा सामर्थ्य है। वस्तुतः ऐसे कर्मों को करने अथवा न करने के संबंध में ही वह स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय कर सकता है। इसी कारण कर्म करने की सामर्थ्य अथवा क्षमता को संकल्प-स्वातन्त्र्य की प्रथम अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है।

(2) **ज्ञान और उद्देश्य** परन्तु संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिए मनुष्य में कर्म करने की क्षमता होना ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य सोच-समझ कर तथा किसी उद्देश्य से प्रेरित हो कर कर्म करे। मनुष्य को किसी ऐसे कर्म के संबंध में स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता जो उससे अज्ञानवश हो जाता है — अर्थात् जिसे वह स्वयं जानबूझ कर नहीं करता। उदाहरणार्थ यदि क्लेप्टोमेनिया — अज्ञानवश निरुद्देश्य चोरी करने का रोग — से पीड़ित कोई व्यक्ति चोरी करता है तो वह इस कर्म के संबंध में स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह सोच-समझ कर किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह कर्म नहीं करता। इसी प्रकार यदि कोई कार-चालक एक ऐसी बारूदी सुरंग के ऊपर से गुजर जाता है जिसके संबंध में वह पहले से कुछ नहीं जानता और जिसके फट जाने के कारण कार में बैठे यात्रियों की मृत्यु हो जाती है तो उसे इस दुर्घटना के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह कर्म उसने सोच-समझ कर तथा किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं किया। स्पष्ट है कि मनुष्य को केवल उन्हीं कर्मों के लिए स्वतन्त्र और उत्तरदायी माना जा सकता है जिन्हें वह किसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए जान-बूझकर करता है। दूसरे शब्दों में, जो कर्म मनुष्य अज्ञान अथवा किसी बाह्य शक्ति से बाध्य होने के कारण करता है उनके संबंध में वह स्वतन्त्र नहीं है और इसी कारण ऐसे कर्मों के लिए वह उत्तरदायी भी नहीं है।

(3) **विकल्पों की उपस्थिति** संकल्प-स्वातन्त्र्य की उपर्युक्त दोनों शर्तें अनिवार्य होते हुए भी पर्याप्त नहीं हैं। यह संभव है कि इन दोनों शर्तों की पूर्ति हो जाने पर भी मनुष्य वास्तव में कर्म करने के लिए स्वतन्त्र न हो। मान लीजिए एक व्यक्ति में किसी कर्म को करने की क्षमता है और वह इसे जानबूझकर करता है किन्तु यदि उसके समक्ष इस कर्म को करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं है तो उसे इस कर्म के संबंध में स्वतन्त्र तथा इसके लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता क्योंकि वह इस कर्म को करने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता था — अर्थात् वह इसे करने के लिए बाध्य था। उदाहरणार्थ डाकुओं द्वारा अपहृत किए जाने अथवा गंभीर दुर्घटना में अत्यधिक घायल हो जाने के कारण यदि कोई व्यक्ति अपना वचन पूरा नहीं कर पाता तो उसे वचन-भंग के लिए दोषी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस समय वचन पूरा न करने के अतिरिक्त उसके समक्ष अन्य कोई विकल्प ही नहीं था। इसका अभिप्राय यही है कि किसी कर्म को करने के संबंध में मनुष्य को वास्तव में तभी स्वतन्त्र माना जा सकता है जब वह उस कर्म को करने के अतिरिक्त इच्छा होने पर कोई अन्य कर्म भी कर सके। स्टीवेन्सन, नॉवेल-स्मिथ, मूर आदि अनेक दार्शनिकों ने संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिए उपर्युक्त दो शर्तों के अतिरिक्त विकल्प की उपस्थिति में

संबंधित इस शर्त को भी अनिवार्य माना है और इसे विशेष महत्त्व दिया है। संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए इस शर्त की अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए मूर ने लिखा है कि "इस संबंध मे यह निश्चित है कि यदि हमे सकल्प की स्वतत्रता प्राप्त है तो किसी न किसी अर्थ मे यह अवश्य सत्य होना चाहिए कि हम कुछ अवसरो पर वह भी कर सकते थे जो हमने नहीकिया।"[1] इसी मत का समर्थन करते हुए नॉवेल-स्मिथ ने भी कहा है कि "यदि मनुष्य उस कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं कर सकता था जो उसने किया तो अपने उस कर्म के लिए उसे दोषी नहीं माना जा सकता"।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य द्वारा किए जाने वाले एक विशेष कर्म के अतिरिक्त उसके समक्ष किसी अन्य विकल्प की उपस्थिति संकल्प-स्वातन्त्र्य की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य शर्त है। संक्षेप मे सकल्प-स्वातन्त्र्य के लिए उपर्युक्त तीनो शर्तो की पूर्ति होना अनिवार्य है — अर्थात् जब मनुष्य मे किसी विशेष कर्म को करने की क्षमता होती है और वह अपनी इच्छानुसार अन्य अनेक कर्मो मे से उसी कर्म का चुनाव करके सोच-समझकर तथा किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसे करता है तभी यह कहा जा सकता है कि उसे वास्तव मे सकल्प की स्वतत्रता प्राप्त है और ऐसे कर्म के लिए ही उसे नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी माना जा सकता है।

2. नियतत्ववाद, अनियतत्ववाद और दैववाद

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मनुष्य द्वारा स्वतत्रतापूर्वक किया गया कर्मो का चुनाव कुछ विशेष कारणो द्वारा निर्धारित होता है अथवा नही। उक्त प्रश्न को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है जब हम यह कहते है कि एक व्यक्ति ने अमुक कर्म का अपनी इच्छानुसार स्वतत्रतापूर्वक चुनाव किया है तो क्या उसके इस चुनाव के लिए हम कुछ स्पष्ट और निश्चित कारण बता सकते हैं अथवा उसका यह चुनाव बिना किसी कारण के अकस्मात ही हो जाता है? वस्तुत यह प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है, क्योकि इसका उत्तर देने के लिए दार्शनिको ने दो विरोधी सिद्धातो का प्रतिपादन किया है। ये सिद्धात हैं—'नियतत्ववाद' तथा 'अनियतत्ववाद'। प्रथम सिद्धात के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कर्म का कोई कारण अवश्य होता है — फिर चाहे वह कर्म ऐच्छिक हो या अनैच्छिक। इसके विपरीत द्वितीय सिद्धात के समर्थको का मत है कि मनुष्य के कुछ कर्म अकस्मात ही हो जाते हैं — उनका कोई कारण बताना संभव नही है। इस प्रकार नियतत्ववाद को **'कार्य-कारण का सिद्धांत'** तथा अनियतत्ववाद को **'आकस्मिकता का सिद्धात'** कहा जा सकता है। इन दो सिद्धातो के अतिरिक्त मानवीय कर्मों के सबध मे एक अन्य सिद्धात भी है जिसे सामान्यत 'भाग्यवाद' अथवा 'दैववाद' की सज्ञा दी जाती है। इस सिद्धात के अनुसार मनुष्य के सभी अथवा कुछ कर्म ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति द्वारा पहले से ही निश्चित कर दिए जाते हैं, अत वह अधिकतम प्रयास करने पर भी इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता। इस सिद्धात के समर्थको का विचार है कि विश्व मे वह सब अवश्य घटित होता है जिसे ईश्वर ने पहले से ही निश्चित कर दिया है, अत इसमे परिवर्तन करने के लिए मनुष्य का सपूर्ण प्रयास नितात निरर्थक है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह दैववाद नियतत्ववाद से भिन्न सिद्धात है, ऐसी स्थिति मे इन दोनों सिद्धातो को एक ही मान लेना अनुचित और भ्रामक होगा। वास्तव मे नियतत्ववादी दैववाद का उसी प्रकार विरोध करते हैं जिस प्रकार वे अनियतत्ववाद का विरोध करते हैं।

---

1 जी ई. मूर, 'ऐथिक्स', पृ 131.
2 पी एच नॉवेल-स्मिथ 'ऐथिक्स', पृ 231.

मानवीय कर्मों के विषय में उपर्युक्त तीनो सिद्धातों को जान लेने के पश्चात् स्वभावत , यह प्रश्न उठता है कि इनमें से कौन-सा सिद्धात मनुष्य के सकल्प की स्वतत्रता के अनुरूप है और कौन-सा उसके लिए घातक है। यह समझना कठिन नही है कि दैववाद मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य को पूर्णतया समाप्त कर देता है, क्योकि इसके अनुसार मानव के समस्त कर्मो तथा उनके परिणामो को ईश्वर ने पहले से ही निश्चित कर दिया है और अधिकतम प्रयत्न करने पर भी मनुष्य इस पूर्वनिर्धारित स्थिति मे कभी किसी प्रकार का परिवर्तन नही कर सकता। जब दैववादी यह कहता है कि ईश्वर की आज्ञा के बिना इस विश्व मे कुछ भी नही हो सकता तो वह स्पष्टत मनुष्य के संकल्प की स्वतत्रता को पूर्णतया अस्वीकार करता है। इस प्रकार दैववाद अथवा भाग्यवाद मानवीय संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए घातक है, अत मनुष्य को अपने ऐच्छिक कर्मो के सबध में नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी मानने के लिए इस सिद्धात का परित्याग करना अनिवार्य हो जाता है।

दैववाद की भाँति अनियतत्ववाद भी मनुष्य के सकल्प की स्वतत्रता को समाप्त कर देता है। हम देख चुके हैं कि इस सिद्धात के अनुसार मनुष्य के कर्म अकस्मात अथवा अकारण होते हैं, अत उनके विषय मे पहले से कोई अनुमान लगाना या भविष्यवाणी करना असंभव है। हम यह भी नही बता सकते कि भूतकाल में किसी व्यक्ति ने अमुक परिस्थिति में अमुक कर्म क्यो किया और न ही हम यह जान सकते हैं कि वह भविष्य मे उसी परिस्थिति के अतर्गत वही कर्म करेगा अथवा नहीं। वस्तुत अनियतत्ववादी का यह निश्चित मत है कि किसी व्यक्ति के विचारो एव आदर्शों तथा उसकी आदतो, इच्छाओ और रुचियों को भलीभाँति जान लेने के पश्चात् भी हम पहले से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि वह किस परिस्थिति में क्या करेगा। इससे स्पष्ट है कि अनियतत्ववादी कार्य-कारण के मूल सिद्धात को अस्वीकार करते हुए मनुष्य के कर्मों को अप्रत्याशित तथा आकस्मिक मान लेता है। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य के कर्म उसकी रुचियों, आदतो तथा इच्छाओं के परिणाम नहीं हैं और वह स्वय भी यह नही जानता कि किस परिस्थिति मे वह क्या करेगा। यदि मानवीय कर्मों के विषय मे अनियतत्ववादी की यह मान्यता उचित है तो मनुष्य को उसके कर्मो के लिए स्वतत्र तथा उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, अनियतत्ववाद मनुष्य के कर्मों को आकस्मिक तथा अकारण मानकर उसके सकल्प-स्वातंत्र्य और नैतिक उत्तरदायित्व का अत कर देता है। इसी कारण मूर, स्टीवैन्सन, नॉवेल-स्मिथ आदि अनेक दार्शनिकों ने इस सिद्धात का दृढ़तापूर्वक खडन किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि हम मनुष्य के सकल्प-स्वातंत्र्य तथा नैतिक उत्तरदायित्व मे विश्वास करते हैं तो हमें दैववाद की भाँति अनियतत्ववाद का भी परित्याग करना होगा।

मानवीय कर्मों के विषय में दैववाद तथा अनियतत्ववाद को अस्वीकार करने के पश्चात् अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि नियतत्ववाद मनुष्य के सकल्प-स्वातत्र्य एव नैतिक उत्तरदायित्व की रक्षा करता है अथवा नहीं। हम पहले बता चुके हैं कि नियतत्ववाद के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कर्म का कोई कारण अवश्य होता है — उसका कोई भी कर्म केवल आकस्मिक या अकारण नही हो सकता। नियतत्ववादी का दृढ़ विश्वास है कि कार्य-कारण का यह मूल सिद्धांत भौतिक घटनाओ पर ही नहीं, अपितु मनुष्य के समस्त कर्मों पर भी पूर्ण रूप से लागू होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि हमे किसी मनुष्य के व्यक्तित्व और चरित्र का ठीक-ठीक ज्ञान हो — अर्थात् यदि हम उसकी आदतो, रुचियों एव इच्छाओं तथा उसके विचारो, मूल्यो और आदर्शों को भलीभाँति जान ले तो हम पहले से ही पर्याप्त सीमा तक यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह किस परिस्थिति में क्या करेगा। यदि उसके व्यक्तित्व और चरित्र के संबंध में हमारा ज्ञान ठीक है तो उसके कर्मों के विषय मे हमारी भविष्यवाणी पर्याप्त सीमा तक सत्य सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार नियतत्ववादी

का मत है कि यदि अन्य सभी परिस्थितियाँ समान रहें तो हम मनुष्य के स्वभाव तथा चरित्र के दोषरहित ज्ञान के आधार पर उसके कर्मों के विषय में ठीक-ठीक भविष्यवाणी कर सकते हैं। स्पष्ट है कि मानवीय कर्मों के संबंध में नियतत्त्ववादी की मान्यता अनियतत्त्ववादी के मत के ठीक विपरीत है। वस्तुत हमारा व्यावहारिक अनुभव मूलत नियतत्त्ववाद का ही समर्थन करता है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि हम अपने दैनिक जीवन में केवल भौतिक घटनाओं के संबंध में ही नहीं अपितु मनुष्य के समस्त कर्मों के संबंध में भी कार्य-कारण के सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं। हम सामान्यत इस बात को निश्चित समझते हैं कि प्रत्येक घटना तथा कर्म का कोई न कोई कारण अवश्य होता है यदि हम वह कारण नहीं जान पाते तो हम उसका अनुमान लगाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हमारा व्यावहारिक अनुभव अनियतत्त्ववाद के स्थान पर मूलत नियतत्त्ववाद की मान्यता को ही प्रमाणित करता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नियतत्त्ववाद मनुष्य के समस्त कर्मों को कार्य-कारण के सिद्धान्त द्वारा शासित मानते हुए भी उसके संकल्प-स्वातन्त्र्य तथा नैतिक उत्तरदायित्व का निषेध नहीं करता। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि नियतत्त्ववादी दैववादी के इस मत को स्वीकार नहीं करता कि मानव के समस्त कर्म ईश्वर द्वारा पूर्वनिर्धारित हैं और अधिकतम प्रयास करने पर भी वह इनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। नियतत्त्ववादी यह कदापि नहीं कहता कि मनुष्य के प्रयास का उसके कर्मों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह केवल यही कहता है कि किसी व्यक्ति के स्वभाव तथा चरित्र को भलीभाँति जान लेने के पश्चात् हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह वास्तव में प्रयास करेगा या नहीं और यदि करेगा तो कितना तथा किस प्रकार का प्रयास करेगा। इसके अतिरिक्त जब नियतत्त्ववादी यह कहता है कि समस्त मानवीय कर्म कार्य-कारण के सिद्धान्त द्वारा शासित होते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य कुछ विशेष कर्म करने या न करने के लिए बाध्य है। कुछ आलोचकों ने इस आधार पर नियतत्त्ववाद का विरोध किया है कि इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जो कुछ करता है वह उसे करने के लिए बाध्य है। परन्तु नियतत्त्ववाद के विरुद्ध यह आपत्ति उचित प्रतीत नहीं होती। वास्तव में यह सिद्धान्त मनुष्य की स्वतन्त्रता का निषेध न करके केवल यही बताता है कि उसका संपूर्ण आचरण सदैव कार्य-कारण के सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उक्त सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जो कुछ करता है वह उसे करने के लिए विवश अथवा बाध्य है। इसका अर्थ केवल यही है कि मनुष्य का सम्पूर्ण आचरण अतत उसकी अपनी इच्छाओं, रुचियों, आदतों तथा उसके अपने विचारों मूल्यों एव आदर्शों द्वारा ही निर्धारित होता है। नियतत्त्ववाद की इसी आधारभूत मान्यता को स्पष्ट करते हुए नॉवेल-स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि ''यद्यपि मनुष्य के कर्म उसकी रुचियों तथा उसके चरित्र द्वारा पूर्णतया निर्धारित होते हैं फिर भी वे स्वतन्त्र हैं। यह कथन कि मनुष्य के समस्त कर्म उसके स्वभाव तथा चरित्र द्वारा निर्धारित होते हैं इस कथन के समान कदापि नहीं है कि वह भाग्य के हाथों में एक मोहरा अथवा अनिवार्यता के लौहपाश में एक बंदी मात्र है। इसका अर्थ केवल यही है कि जो मनुष्य के स्वभाव तथा चरित्र को भलीभाँति जानता है वह उसके कर्मों के विषय में भविष्यवाणी कर सकता है''।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि नियतत्त्ववाद के अनुसार मनुष्य जो कुछ करता है वह उसे करने के लिए कदापि बाध्य नहीं है— अर्थात् कोई अन्य व्यक्ति अथवा बाह्य परिस्थितियाँ उसे अनिवार्यत कुछ विशेष कर्म करने के लिए विवश नहीं करतीं। इस सिद्धान्त के समर्थक यह स्वीकार करते हैं कि यदि मनुष्य चाहे तो वह उससे भिन्न कर्म भी कर सकता है जो उसने किया है। यह कथन नियतत्त्ववाद के अनुरूप ही है कि

3 पी एच नॉवेल स्मिथ एथिक्स पृ 243-

यदि मनुष्य का स्वभाव तथा चरित्र भिन्न होता तो वह उससे भिन्न कर्म कर सकता था जो उसने किया। इस प्रकार नियतत्ववाद मनुष्य के सकल्प-स्वातंत्र्य के विरुद्ध नहीं है और वह उसके नैतिक उत्तरदायित्व का भी निषेध नहीं करता। यही कारण है कि स्टीवेन्सन, रिचर्ड, ब्रान्ट सर नॉवेल-स्मिथ आदि अनेक दार्शनिकों ने मनुष्य के सकल्प-स्वातंत्र्य तथा नैतिक उत्तरदायित्व के लिए मूलत इसी सिद्धात का समर्थन किया है।

3 नैतिक उत्तरदायित्व

पिछले खडो मे जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर कुछ सीमा तक इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है कि मनुष्य किन परिस्थितियो मे अपने किन कर्मो के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ हम यह सकते है कि कोई व्यक्ति अपने उसी कर्म के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है (1) जिसे करने की उसमे शारीरिक अथवा बौद्धिक क्षमता है, (2) जिसे वह सोच-समझकर तथा किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर अपनी इच्छानुसार करता है — अर्थात् जिसे करने के लिए वह ऐसे बाह्य अथवा आतरिक कारणो द्वारा बाध्य नहीं होता जिन पर उसका कोई नियत्रण नहीं है और (3) जिसके स्थान पर यदि वह चाहे तो कोई अन्य कर्म भी कर सकता है। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व के लिए वे सभी शर्ते अनिवार्य है जिन्हे सकल्प-स्वातंत्र्य के लिए अनिवार्य माना गया है। हम मनुष्य को किसी ऐसे कर्म के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नहीं मान सकते जिसे करने की उसमे शारीरिक या मानसिक शक्ति नहीं है जिसे उसने जान-बूझ कर अपनी इच्छानुसार नहीं किया और जिसके अतिरिक्त वह अन्य कोई कर्म कर ही नहीं सकता था। सक्षेप मे मनुष्य अपने उसी कर्म के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है जिसे वह किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर स्वतत्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार करता है। ऐसे कर्म के लिए ही मनुष्य की नैतिक प्रशसा अथवा निदा की जा सकती है। उसका जो कर्म नैतिक उत्तरदायित्व की उपर्युक्त तीन शर्तो की पूर्ति नहीं करता वह नैतिक प्रशसा तथा निदा से मुक्त होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि नैतिक उत्तरदायित्व का ठीक-ठीक अर्थ क्या है। इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि स्वय अपने प्रति तथा अन्य व्यक्तियो के प्रति अपने नैतिक कर्तव्यो की पूर्ति करना ही 'नैतिक उत्तरदायित्व' है। वस्तुत कर्तव्य के विचार मे ही उत्तरदायित्व का विचार भी निहित रहता है, अत अपने कर्तव्य की पूर्ति करना मनुष्य का उत्तरदायित्व माना जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति से हम यह कहते है कि अपने वचन के अनुसार उसे अपने मित्र की पुस्तक लौटा देनी चाहिए तो हमारे इस कथन का अभिप्राय यही है कि अपने वचन-पूर्ति सबधी कर्तव्य का पालन करने के लिए अपने मित्र की पुस्तक लौटा देना उसका नैतिक उत्तरदायित्व है। इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व को नैतिक कर्तव्य से पृथक नहीं किया जा सकता, क्योकि वह मूलत नैतिक कर्तव्य पर ही आधारित है। यदि कोई कर्म हमारा नैतिक कर्तव्य नहीं है तो उसे करने के लिए हम नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी अथवा बाध्य नहीं है, अत यदि हम वह कर्म न करे तो हमे दोषी नहीं माना जा सकता। हम वही कर्म करने के लिए नैतिक दृष्टि से बाध्य अथवा उत्तरदायी है जो हमारा नैतिक कर्तव्य है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि नैतिक उत्तरदायित्व नैतिक कर्तव्य से अनिवार्यत सबद्ध है, अत. नैतिक कर्तव्य के अभाव मे नैतिक उत्तरदायित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नैतिक उत्तरदायित्व के सबध मे मनुष्य के प्रयास का विशेष महत्त्व है। सामान्यत मनुष्य से यह आशा की जाती है कि वह अपना नैतिक उत्तरदायित्व पूरा करने का प्रयास करे। महत्त्व इस बात का नहीं है कि वह अपना नैतिक उत्तरदायित्व पूरा कर पाता है अथवा नहीं बात यह है कि वह इसके लिए अधिकतम प्रयास करता है या

नही। यदि कोई व्यक्ति यथासभव अधिकतम प्रयत्न करने के बाद भी अपना नैतिक उत्तरदायित्व पूरा करने मे सफल नही हो पाता तो इसके लिए हम उसे दोषी नही मानते। इसका कारण हमारी यह मान्यता है कि मनुष्य केवल अधिकतम प्रयास कर सकता है, इस प्रयास के परिणामो को वह सदैव नियत्रित नही कर सकता। इसी आधार पर नैतिक उत्तरदायित्व के लिए मनुष्य के प्रयास को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

प्रयास के अतिरिक्त मनुष्य की अनभिज्ञता और बाध्यता का भी उसके नैतिक उत्तरदायित्व पर बहुत प्रभाव पडता है। सामान्यत यह माना जाता है कि ऐसे तथ्यो की अनभिज्ञता मनुष्य को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त करती है जिन्हे जानना उसके लिए सभव नही था। यदि कोई व्यक्ति ऐसे अज्ञान के फलस्वरूप कोई कर्म करता है जो उसकी अपनी असावधानी तथा प्रयास की कमी का परिणाम नहीं है तो उसे इस कर्म के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नही माना जा सकता। परतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐसे तथ्यो की अनभिज्ञता मनुष्य को उसके नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नही करती जिन्हे जानना उसका कर्तव्य था और जिन्हे वह प्रयास करने पर जान सकता था। इसी प्रकार नैतिक नियमो से सबधित अनभिज्ञता के कारण भी किसी व्यक्ति को उसके नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नही माना जा सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी प्रकार की अनभिज्ञता मनुष्य को उसके नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नही करती। ऐसी स्थिति मे अनभिज्ञता के आधार पर किसी व्यक्ति के नैतिक उत्तरदायित्व का निर्णय करते समय इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि उस अनभिज्ञता को दूर करना उसका कर्तव्य था या नहीं और यथासभव अधिकतम प्रयास करने पर वह उस अनभिज्ञता से मुक्त हो सकता था अथवा नही।

मनुष्य की अनभिज्ञता की भाँति उसकी विवशता अथवा बाध्यता भी उसके नैतिक उत्तरदायित्व को प्रभावित करती है। सामान्यत यह स्वीकार किया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसे बाहय कारणो से विवश होकर कोई कर्म करता है जिन पर नियत्रण रखना उसके लिए असभव था तो वह उस कर्म के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नही है। इसी प्रकार मनुष्य को उस कर्म के लिए भी नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नही समझा जा सकता जिसे वह ऐसे आतरिक कारणों से बाध्य होकर करता है जिन्हें नियंत्रित करना उसके लिए असभव है। उदाहरणार्थ इसी आधार पर हम क्लैप्टोमेनिया से पीडित व्यक्ति को चोरी करने के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नही मानते। परतु यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि कोई भी पूर्णतया स्वस्थ व्यक्ति केवल इस आधार पर अपने किसी कर्म के लिए नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नही हो सकता कि उसने वह कर्म अपनी किसी तीव्र इच्छा से बाध्य होकर किया है। हम साधारणतया यह मानते हैं कि यदि मनुष्य चाहे और प्रयत्न करे तो वह अपनी इच्छाओं को नियंत्रित कर सकता है, इसी कारण हमारा यह विश्वास है कि केवल इच्छा की तीव्रता उसे अपने नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नही कर सकती। परतु इस बात का ठीक-ठीक निर्णय करना बहुत कठिन है कि किन परिस्थितियो मे कौन-सा व्यक्ति किन इच्छाओ को भलीभाँति नियत्रित कर सकता है। इसी कारण कुछ विशेष परिस्थितियों में मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व का समुचित निर्णय करने की समस्या सदैव बहुत जटिल रही है और इसका कोई स्पष्ट तथा सरल समाधान खोजना संभव प्रतीत नहीं होता। फिर भी इतना निश्चित है कि मनुष्य अपने उन सभी कर्मों के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है जो उसके नैतिक कर्तव्यो से सबधित हैं जिन्हे वह सोच-समझकर स्वतत्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार करता है और ऐसे कर्मों के लिए ही उसे नैतिक प्रशंसा अथवा निंदा का अधिकारी माना जा सकता है।

18

क्या वर्तमान युग में मोक्ष की अवधारणा उपादेय है?

1. मोक्ष की परंपरागत अवधारणा

भारतीय दर्शन में मानव-जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए हैं। इन चार पुरुषार्थों के अतर्गत वे सभी मूल्य सम्मिलित किए जा सकते हैं जो मनुष्य के आनदमय जीवन तथा उसके सामाजिक विकास और उत्थान के लिए अनिवार्य हैं। वर्तमान युग में अर्थ और काम की महत्ता एवं उपादेयता निर्विवाद ही प्रतीत होती है। यही नही, यदि इस युग को अर्थ-काम प्रधान युग कहा जाए तो सभवत अनुचित न होगा। इसी प्रकार 'स्वकर्तव्य-पालन' के अर्थ में धर्म की महत्ता और उपादेयता को भी वर्तमान युग मे व्यक्ति तथा समाज के कल्याण के लिए स्वीकार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। सभवत कोई भी विचारक इस व्यापक अर्थ मे धर्म के महत्त्व का निषेध नही करेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्थ, काम और धर्म ये तीन पुरुषार्थ वर्तमान युग मे भी उतने ही महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय हैं जितने वे उस प्राचीन काल मे थे जब भारतीय मनीषियो ने मानव-जीवन के लिए इनका प्रतिपादन किया था। परतु निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि आधुनिक युग मे मोक्ष की भी उतनी ही सार्थकता एव उपादेयता है जितनी प्राचीन काल मे समझी जाती थी। वस्तुत जिस रूप मे भारतीय दार्शनिको ने मोक्ष का प्रतिपादन किया है उस रूप मे आज मनुष्य के लिए इस पुरुषार्थ की सार्थकता और उपादेयता संदिग्ध ही प्रतीत होती है। हाँ, यदि वर्तमान युग की आवश्यकताओ के अनुरूप मोक्ष की कोई नई व्याख्या की जाए तो सभवत आधुनिक मनुष्य के जीवन के लिए इसकी उपादेयता को कुछ सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। इस लेख का मुख्य उद्देश्य मोक्ष के परंपरागत स्वरूप की प्रमुख कठिनाइयों को स्पष्ट करते हुए किसी ऐसी व्याख्या पर विचार करना है जिसके आधार पर वर्तमान युग के सदर्भ मे मानव-जीवन के लिए इसकी उपादेयता का निर्णय किया जा सके। परतु वर्तमान काल में मोक्ष की उपादेयता के विषय में कुछ कहने से पूर्व इसके परपरागत स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

पूर्णत भौतिकवादी चार्वाक दर्शन को छोड कर सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को ही मानव-जीवन का अतिम ध्येय मानते हैं। अन्य तीन पुरुषार्थ प्राय मोक्ष-प्राप्ति के साधन माने गए हैं। यद्यपि भारतीय दर्शनो मे मोक्ष के स्वरूप तथा मुक्तात्मा की स्थिति के विषय मे मतभेद है, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि अधिकतर भारतीय दार्शनिको ने मोक्ष का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह हमारे अनुभवमूलक लौकिक जीवन का निषेध करता है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनो का मत है कि अविद्या, अविवेक अथवा अज्ञान के कारण ही आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत करके शरीर, इद्रियों तथा सासारिक पदार्थों मे लिप्त हो जाती है और यही उसके बंधन का मूल कारण है। विभिन्न दर्शनो ने 'अविद्या', 'अज्ञान', या 'अविवेक' की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है, किंतु वे सभी अतत इसे ही सासारिक बधनो में आत्मा के लिप्त होने का मूल कारण मानते हैं। इसका अर्थ यही है कि जब तक मनुष्य वास्तविक ज्ञान के

फलस्वरूप अपने शरीर तथा समस्त सांसारिक अनुभवों से पूर्णतः मुक्त न हो तब तक वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। संपूर्ण अनुभवों का आमूल निराकरण करने वाले इसी सिद्धांत के आधार पर अधिकतर भारतीय दर्शनों ने मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या की है। उदाहरणार्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा मीमांसा का मत है कि सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि समस्त अनुभवों का आत्यंतिक विनाश हो जाने के पश्चात् ही आत्मा को वास्तविक मोक्ष प्राप्त हो सकता है और वह सभी प्रकार के दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो जाती है।[1] न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा तो मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा में चैतन्य का भी निषेध करते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार चैतन्य आत्मा का अनिवार्य लक्षण न होकर शरीर एवं इंद्रियों के साथ संपर्क के फलस्वरूप उसमें उत्पन्न होने वाला बाह्य गुण मात्र है। इस संबंध में सांख्य-योग की स्थिति कुछ विचित्र ही प्रतीत होती है। आत्मा को मूलतः चैतन्यस्वरूप मानने के कारण यद्यपि ये दोनों दर्शन मोक्ष-प्राप्ति के उपरांत उसमें चैतन्य का निषेध नहीं करते, फिर भी वे यह मानते हैं कि मुक्तावस्था प्राप्त कर लेने पर आत्मा में किसी प्रकार का अनुभव शेष नहीं रह जाता। परंतु चैतन्य और अनुभवों के पारस्परिक अनिवार्य संबंध को देखते हुए यह समझना कठिन है कि मुक्तावस्था में समस्त अनुभवों से रहित आत्मा चैतन्यस्वरूप किस प्रकार बनी रह सकती है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है, सांख्य-योग इस गंभीर समस्या का कोई संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। ऐसी स्थिति में मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा को चैतन्यस्वरूप मान लेने के कारण सांख्य-योग का मत न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा के मत से अधिक भिन्न प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इन तीनों दर्शनों की भाँति सांख्य और योग भी मुक्तावस्था में आत्मा को समस्त अनुभवों से पूर्णतया शून्य ही मानते हैं। इन सभी दर्शनों का मत है कि अनुभवशून्य होने पर ही आत्मा सभी दुःखों से मुक्त हो सकती है।

शंकर के अद्वैत-वेदांत में मोक्ष का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है वह भी न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, तथा मीमांसा द्वारा प्रस्तुत मोक्ष के स्वरूप के समान ही मूलतः निषेधात्मक ही है। शंकर निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता मानते हैं, अतः उनके मतानुसार आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अविद्या के कारण ही वह सांसारिक बंधनों में आसक्त होकर, अपने आप को ब्रह्म से भिन्न समझ लेती है। इस अविद्या के नष्ट होने पर जब आत्मा ब्रह्म के साथ पूर्णतः एकाकार हो जाती है तभी उसे मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार शंकर के मतानुसार ब्रह्म के साथ आत्मा का पूर्ण तादात्म्य ही उसकी मुक्तावस्था है। यह सत्य है कि सांख्य-योग की भाँति आत्मा को स्वभावतः चैतन्यस्वरूप मानने के कारण वे मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् उसमें चैतन्य का निषेध नहीं करते और सच्चिदानंदस्वरूप ब्रह्म के साथ आत्मा के पूर्ण तादात्म्य के फलस्वरूप उसकी मुक्तावस्था को आनंदमयी अवस्था मानते हैं, किंतु आत्मा मोक्ष की यह स्थिति तभी प्राप्त कर सकती है जब वह शरीर तथा सांसारिक पदार्थों से पृथक होकर समस्त अनुभवों से पूर्णतः मुक्त हो जाए। स्पष्ट है कि मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त सांसारिक अनुभवों के पूर्ण विनाश के संबंध में शंकर का मत न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा के मत से मूलतः भिन्न प्रतीत नहीं होता। उन्होंने मुक्तावस्था में आत्मा की जो आनंदमयी स्थिति मानी है वह वास्तव में ब्रह्म की स्थिति है क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा का तो अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इस प्रकार मुक्तावस्था में शंकर आत्मा के अनुभवों का आत्यंतिक विनाश ही आवश्यक नहीं मानते, अपितु ब्रह्म में उसकी सत्ता का विलीन होना भी अनिवार्य मानते हैं। अतः मोक्ष के विषय में उनके मत को न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के मत की भाँति निषेधात्मक मानना उचित ही प्रतीत होता है। शंकर

1 प्रस्तुत सन्दर्भ में 'मोक्ष' से मेरा तात्पर्य विदेह मुक्ति ही है।

की भाँति रामानुज भी यह मानते है कि मोक्ष-प्राप्ति के फलस्वरूप आत्मा के समस्त अनुभवो का पूर्ण विनाश अनिवार्य है, क्योकि इसके बिना उसका अविद्याजनित अहकार नष्ट नही हो सकता। यद्यपि रामानुज मुक्तावस्था मे ईश्वर के साथ आत्मा का पूर्ण एकीकरण अथवा तादात्म्य स्वीकार नही करते, फिर भी उनका मत है कि वह जन्म-मरण के चक्र से तभी मुक्त हो सकती है जब ईश्वर-कृपा के फलस्वरूप उसके अहकार, समस्त कर्मो तथा अनुभवो का आत्यतिक विनाश हो जाए। इस प्रकार शकर तथा अन्य अधिकतर भारतीय दार्शनिको के समान ही रामानुज भी मुक्तावस्था म आत्मा को अनुभवशून्य ही मानते है अत इस दृष्टि से मोक्ष के सबध मे उनके मत को भी निषेधात्मक ही कहा जा सकता है। यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि जीवन-मुक्ति को स्वीकार करने वाले साख्य-योग तथा अद्वैत-वेदात के मोक्ष सबधी मत को पूर्णत निषेधात्मक नही माना जा सकता। इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि जीवन-मुक्ति मोक्ष की वास्तविक और अतिम अवस्था नही है, वह तो इसका प्रथम सोपान मात्र है। ऐसी स्थिति मे जीवन-मुक्ति को मनुष्य का अतिम ध्येय नही माना जा सकता। जहाँ तक मुझे ज्ञान है, साख्य-योग तथा शकर ने भी इसे मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नही माना। इसका अभिप्राय: यही है कि वे भी विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मोक्ष मानते हैं जिसमे आत्मा शरीर तथा समस्त सासारिक कर्मो और अनुभवो से पूर्णतया मुक्त हो जाती है। इस प्रकार जीवन-मुक्ति को स्वीकार कर लेने के कारण साख्य-योग तथा अद्वैत-वेदात का मोक्ष सबधी मत निषेधात्मकता के आरोप से मुक्त नही हो जाता।

अभी तक हमने मोक्ष के विषय मे उन दर्शनो के मत का उल्लेख किया है जो वेदो को प्रमाण मानते हैं और जिन्हे इसी कारण 'आस्तिक दर्शन' कहा जाता है। इन सभी दर्शनो के मोक्ष सबधी मत का विश्लेषण करके हमने यही निष्कर्ष निकाला है कि इनके द्वारा प्रस्तुत मोक्ष का स्वरूप मूलत निषेधात्मक ही है, क्योकि ये सभी दर्शन मुक्तावस्था मे आत्मा के समस्त कर्मो तथा अनुभवो का आत्यतिक विनाश अनिवार्य मानते है। अब मोक्ष के सबध मे उन दर्शनो के मत पर भी विचार करना आवश्यक है जिन्हे वेदो को प्रमाण न मानने के कारण नास्तिक दर्शन कहा जाता है। ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता मे विश्वास न करने के कारण भौतिकवादी चार्वाक दर्शन तो उस अर्थ मे मोक्ष की अवधारणा का पूर्णतया निषेध करता है जिस अर्थ मे अन्य भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते है, अत यहाँ इस सबध मे उसके मत का उल्लेख करना अनावश्यक है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मोक्ष के विषय मे जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन का मत क्या है और वह इस सबध मे अन्य भारतीय दर्शनो के मत से कहाँ तक भिन्न है। ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करते हुए भी जैन दर्शन आत्मा की अमरता मे विश्वास करता है, अत उसने भी मोक्ष को ही मानव-जीवन का अतिम ध्येय माना है। साख्य और शकर की भाँति जैन दार्शनिक भी आत्मा को स्वभावत चैतन्यस्वरूप ही मानते है। उनका मत है कि अपनी विशुद्ध और मुक्तावस्था मे आत्मा अनत दर्शन, अनत ज्ञान, अनत सामर्थ्य तथा अनत सुख से परिपूर्ण रहती है। परतु कर्मो — जिन्हे जैन दर्शन मे क्षिति, जल आदि के समान ही पौदुगलिक माना गया है — के फलस्वरूप ही आत्मा सासारिक बधनों मे बध जाती है। ये कर्म ही उसके उपर्युक्त चार स्वाभाविक गुणो को पूर्णत आवृत कर लेते है और उसे सासारिक बधनो तथा जन्म-मरण के दु:खमय चक्र मे डाल देते हैं। इसी कारण जैन दार्शनिको का विचार है कि जब तक आत्मा के समस्त कर्मों का पूर्ण विनाश नही हो जाता तब तक उसे मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। जब आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है तो वह अनत दर्शन, अनत ज्ञान, अनत सुख तथा अनंत सामर्थ्य से परिपूर्ण अपनी नैसर्गिक अवस्था को पुन प्राप्त कर लेती है और आत्मा की इसी विशुद्ध चैतन्य-युक्त अवस्था को जैन दर्शन मे 'कैवल्य' अथवा मोक्ष कहा गया है परतु जैन दार्शनिको के मुक्त आत्माओं का सासारिक

मनुष्यो से किसी प्रकार का सपर्क नही रहता और समस्त कर्मो से पूर्णत मुक्त हो जाने के कारण वे नितात निष्क्रिय रहती हैं। ऐसी स्थिति मे स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् पूर्णतः निष्क्रिय आत्मा मे किसी प्रकार का अनुभव कैसे शेष रह सकता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है जैन दार्शनिको ने इस प्रश्न का कोई सतोषजनक समाधान प्रस्तुत नही किया। वस्तुत मुक्तावस्था मे पूर्णत निष्क्रिय आत्मा को अनुभवशून्य ही माना जा सकता है। यदि आत्मा की अनुभवशून्यता सबधी इस व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाए तो मोक्ष के विषय मे जैन दर्शन का मत भी अन्य पूर्ववर्णित भारतीय दर्शनो के मत के समान ही मूलत निषेधात्मक हो जाता है।

अब सक्षेप मे बौद्ध दर्शन के मोक्ष सबंधी मत पर विचार करना आवश्यक है। बौद्ध दर्शन मे मोक्ष को 'निर्वाण' कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'बुझ जाना' अथवा 'समाप्त या नष्ट हो जाना'। स्पष्ट है कि शब्दार्थ की दृष्टि मे निर्वाण पूर्णत निषेधात्मक स्थिति है जिसमे मनुष्य का कुछ भी शेष नही रह जाता। श्रीमती राइस डेविड्स, ओल्डनबर्ग पॉल डहल्के आदि विद्वानो ने 'निर्वाण' का यही निषेधात्मक अर्थ स्वीकार किया है। इसके अनुसार पूर्णत नष्ट अथवा समाप्त हो जाने पर ही मनुष्य को निवाण प्राप्त हो सकता है — अर्थात् वह सभी दु खो तथा बधनो से मुक्त हो सकता है। निर्वाण का यह निषेधात्मक अर्थ बुद्ध के मूल दार्शनिक सिद्धातो — क्षणिकवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, नैरात्म्यवाद — के अनुरूप ही प्रतीत होता है। परतु राधाकृष्णन, हिरियाना आदि कुछ विचारको ने निर्वाण के इस निषेधात्मक अर्थ को स्वीकार नही किया। इन विचारको के मतानुसार निवाण का वास्तविक अर्थ मनुष्य के समस्त दु खो का पूर्ण विनाश तथा उसे अखड आनद की प्राप्ति है। यदि निर्वाण के इस अर्थ को स्वीकार कर लिया जाए तो यह उपनिषदो मे प्रतिपादित मोक्ष से अधिक भिन्न प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त बुद्ध के क्षणिकवाद तथा नैरात्म्यवाद के साथ निवाण के उपर्युक्त अर्थ की सगति प्रमाणित करना बहुत कठिन है। यदि सब कुछ परिवर्तनशील तथा क्षणिक है और शाश्वत आत्मा की सत्ता नही है जैसा कि बौद्ध दार्शनिक मानते है तो प्रश्न यह है कि अखड आनद किसको प्राप्त होता है। वस्तुत इस प्रश्न का पूर्णतया सतोषजनक तथा युक्तिसगत उत्तर देना कठिन ही प्रतीत होता है। यह सत्य है कि तत्त्वमीमासा सबधी सभी प्रश्नों को अव्याकृत मानने के कारण स्वय गौतम बुद्ध ने निर्वाण की कोई स्पष्ट और निश्चित परिभाषा नही दी, किंतु उनके मूल दार्शनिक सिद्धातो को ध्यान मे रखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि निर्वाण कोई ऐसी स्थायी आनदमयी अवस्था नही है जिसका मुक्त आत्मा निरतर अनुभव करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ विचारक निर्वाण को न तो पूर्ण विनाश की स्थिति मानते है और न अखड आनदमयी अवस्था ही। उनका कथन है कि निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जिसका वर्णन करना असभव है। परतु निवाण के विषय मे यह मत नितात अस्पष्ट है अत. यहाँ इसके सबध मे कुछ न कहना ही उचित होगा। उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निर्वाण का निषेधात्मक अर्थ बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धातो के अधिक अनुरूप प्रतीत होता है। परतु इस दर्शन के महायान सप्रदाय के आचार्यो ने निर्वाण के इस निषेधात्मक अर्थ को अस्वीकार करके इसकी एक नई व्याख्या की है जो बहुत रचनात्मक है और मानव-समाज के लिए महान आदर्श प्रस्तुत करती है। इस नई व्याख्या के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के लिए मनुष्य को शरीर तथा ससार का त्याग करने की आवश्यकता नही है, अपने समस्त हितो एव अहकार का पूर्णतया परित्याग करके दूसरो की दु ख-निवृत्ति के लिए निरतर कार्यरत रहना ही निर्वाण की स्थिति है। जो मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है उसे महायान के दार्शनिको ने 'बोधिसत्व' की सज्ञा दी है। ऐसा मनुष्य अपनी मुक्ति के लिए नही, अपितु दूसरों की मुक्ति के लिए सदैव प्रयास करता है वह तब तक स्वयं मुक्त होने की इच्छा नही करता जब तक अन्य सभी मनुष्य

जन्म-मरण के दुःखमय सांसारिक चक्र से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाते। महायान के बोधिसत्त्व का यह आदर्श हीनयान के अरहत के आदर्श से भिन्न है, क्योंकि अरहत दूसरों की मुक्ति की चिन्ता किए बिना स्वयं सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में, अरहत बोधिसत्त्व के समान अपने व्यक्तित्व को दूसरों के व्यक्तित्व में विलीन नहीं कर देता। परंतु अरहत के आदर्श को बोधिसत्त्व के आदर्श के विपरीत न मानकर पूरक ही माना जा सकता है, क्योंकि निर्वाण-प्राप्ति के लिए व्यक्ति का अपना प्रयास अनिवार्य है। बुद्ध का निश्चित मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अंततः स्वयं अपने प्रयास द्वारा ही दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, किसी अन्य शक्ति का आश्रय लेकर नहीं। संभवतः इसी कारण हीनयान के दार्शनिकों ने अरहत के आदर्श को स्वीकार किया है। परन्तु अरहत संबंधी आदर्श के महत्त्व का निषेध न करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि मानव-कल्याण के लिए बोधिसत्त्व का आदर्श अधिक वांछनीय है।

2 वर्तमान युग में मोक्ष की उपादेयता

अभी तक हमने मोक्ष के संबंध में विभिन्न भारतीय दर्शनों के मत पर विचार किया है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वर्तमान युग के सामाजिक जीवन में मोक्ष की कोई उपादेयता है अथवा नहीं। इस संबंध में मेरा अपना विचार यह है कि अधिकतर भारतीय दर्शनों ने मोक्ष का जो निषेधात्मक अर्थ स्वीकार किया है उस अर्थ में न तो वह आज के मनुष्य के लिए उपादेय है और न प्राचीन युग के मानव के लिए उपादेय था। अपने इस मत की पुष्टि के लिए मैं निम्नलिखित कारण प्रस्तुत करना चाहूँगा। सर्वप्रथम उस रूप में मोक्ष की अवधारणा का औचित्य ही संदिग्ध प्रतीत होता है जिस रूप में अधिकतर भारतीय दर्शनों ने इसे प्रस्तुत किया है। हम देख चुके हैं कि मोक्ष की अवधारणा कुछ विशेष तत्त्वमीमांसात्मक मान्यताओं — आत्मा की अमरता, ईश्वर या ब्रह्म का अस्तित्व, अविद्या की सर्वव्यापकता आदि — पर ही आधारित है, किंतु इन सभी मान्यताओं की सत्यता में संदेह किया जा सकता है और किया भी गया है। अब यदि इन तत्त्वमीमांसात्मक मान्यताओं को स्वीकार न किया जाए तो मोक्ष की संपूर्ण अवधारणा निरर्थक हो जाती है।

मनुष्य के लिए मोक्ष की परंपरागत अवधारणा की उपादेयता को अस्वीकार करने का दूसरा कारण यह है कि विदेहमुक्ति के अर्थ में यह पूर्णतः निषेधात्मक है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अधिकतर भारतीय दर्शन विदेहमुक्ति के अर्थ में ही मोक्ष को स्वीकार करते हैं जिसके लिए शरीर तथा समस्त अनुभवों का पूर्ण विनाश अनिवार्य है। यदि यही मनुष्य का वास्तविक मोक्ष है तो मृत्यु तथा मोक्ष में कोई अंतर नहीं रह जाता और चार्वाक दर्शन के इस कथन को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि "मरण ही मोक्ष है"। इस दृष्टि से मनुष्य के लिए मोक्ष की वही उपादेयता — यदि इसे 'उपादेयता' कहा जाए तो — रह जाती है जो उसके लिए मृत्यु की है। फिर यदि मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा पूर्णतः अनुभवरहित तथा चेतनाशून्य हो जाती है तो ऐसी मुक्त आत्मा और जड़ वस्तु में कोई अंतर नहीं रह जाता। इस प्रकार के निषेधात्मक मोक्ष को जीवन का अंतिम ध्येय मानना नितांत अतर्कसंगत एवं हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि सांख्य, अद्वैतवेदांत और जैन दर्शन मुक्त आत्मा को अनुभवशून्य नहीं मानते, अतः उनके द्वारा प्रस्तुत मोक्ष के स्वरूप के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। परन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि ये तीनों दर्शन भी मुक्त आत्मा को साधारण अर्थ में अनुभवयुक्त अथवा चेतनापूर्ण नहीं मानते। सांख्य के अनुसार मुक्त पुरुष प्रकृति—अर्थात् संपूर्ण भौतिक जगत्— से पूर्णतया पृथक हो जाता है और इस अवस्था में वह नितांत निष्क्रिय होता है। ऐसे मुक्त किंतु निष्क्रिय पुरुष के [illegible] बने रहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। शंकर ने तो मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया क्योंकि वे निर्गुण ब्रह्म के साथ आत्मा के पूर्ण

तादात्म्य को ही मोक्ष मानते हैं। दूसरे शब्दों मे, मोक्ष प्राप्त कर लेने के पश्चात् आत्मा ब्रह्म में विलीन होकर निर्गुण तथा निराकार हो जाती है। इस स्थिति मे आत्मा के चेतनायुक्त बने रहने का प्रश्न ही नही उठता। जैन दर्शन ने भी कैवल्य-प्राप्ति के उपरात आत्मा को पूर्णतया निष्क्रिय ही माना है, क्योंकि उसके मतानुसार समस्त कर्मो का क्षय हो जाने पर ही उसे कैवल्य प्राप्त हो सकता है स्पष्ट है कि ऐसी निष्क्रिय आत्मा मे किसी प्रकार के अनुभव का शेष रहना सभव नही है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शन मुक्तावस्था में आत्मा को निष्क्रिय तथा अनुभवशून्य ही मानते हैं, अत ऐसे मोक्ष को मानव-जीवन के आदर्श के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।

मनुष्य के लिए मोक्ष की परपरागत अवधारणा की उपादेयता को स्वीकार न करने का तीसरा कारण यह है कि जिस रूप मे अधिकतर भारतीय दर्शनो ने इसे प्रस्तुत किया है उस रूप में यह नितात व्यक्तिकेंद्रित प्रतीत होती है। न्याय, वैशेषिक, मीमासा तथा जैन दर्शनो मे मोक्ष के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति दूसरो के मोक्ष की चिता किए बिना केवल अपनी मुक्ति के लिए ही प्रयास करता है। साख्य और अद्वैत-वेदात की विदेह मुक्ति की अवधारणा के सबध मे भी यही कहा जा सकता है। मोक्ष के इच्छुक मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य स्वय अपने लिए मुक्ति प्राप्त करना ही होता है। यदि वह दूसरो की दु खनिवृत्ति अथवा मुक्ति के लिए प्रयास करता है तो उसका यह प्रयास भी अतत उसके अपने मोक्ष का साधन मात्र ही होता है। स्पष्ट है कि विदेह मुक्ति के अतर्गत सामाजिक तथा परोपकारात्मक मूल्यो के लिए कोई स्थान नही है, अत यह कहना अनुचित न होगा कि विदेह मुक्ति के अर्थ मे मोक्ष की अवधारणा नितात असामाजिक एव व्यक्तिकेंद्रित अवधारणा है। ऐसी स्थिति मे इस अवधारणा को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मान लेना नैतिक दृष्टि से उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नही होता।

यह सत्य है कि साख्य तथा अद्वैतवेदात के जीवन-मुक्त और महायान के बोधिसत्व की अवधारणा के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति नही उठाई जा सकती, क्योंकि जीवन-मुक्त और बोधिसत्व ये दोनो ही दूसरो की दु खनिवृत्ति एव मुक्ति के लिए प्रयास करते है। परन्तु इस महान आदर्श के सबध मे भी एक समस्या है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह कहा जाता है कि जीवन-मुक्त तथा बोधिसत्व दोनो ही दूसरो की मुक्ति के लिए बार-बार जन्म लेते रहते हैं और वे तब तक अपनी मुक्ति की इच्छा नही करते जब तक अन्य सभी मनुष्य मुक्त न हो जाएँ। परतु यह मान्यता अनत पुनर्जन्म सबधी विश्वास पर ही आधारित है जिसकी सत्यता अथवा प्रामाणिकता नितात सदिग्ध ही प्रतीत होती है। इस प्रकार अवतारवाद पर आधारित जीवन-मुक्त और बोधिसत्व के आदर्श को भी उसी रूप मे स्वीकार करना कठिन है जिस रूप मे इसे साख्य, अद्वैतवेदात तथा बौद्ध दर्शन मे प्रस्तुत किया गया है। हाँ यदि अवतारवाद अथवा पुनर्जन्म की अवधारणा का परित्याग करके इस आदर्श को मनुष्य के वर्तमान जीवन तक ही सीमित कर दिया जाए, तो इसे निश्चय ही मानव-कल्याण के लिए महान आदर्श माना जा सकता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या तत्त्वमीमासात्मक मान्यताओ का आधार लिए बिना मोक्ष को मानव-जीवन के एक महान नैतिक आदर्श के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। फिर यदि हम मोक्ष को एक ऐसा नैतिक आदर्श मान ले तो इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या होगा और वह अर्थ, काम तथा धर्म इन तीन पुरुषार्थो मे किस प्रकार भिन्न होगा। यद्यपि इन दोनो प्रश्नो का कोई स्पष्ट, निश्चित तथा सर्वमान्य उत्तर देना बहुत कठिन है फिर भी मेरे विचार मे वर्तमान मानव जीवन के सदर्भ में मोक्ष की न[illegible] करके उसे ही जीवन

का अंतिम ध्येय माना जा सकता है। हमे सपूर्ण भारतीय दर्शन द्वारा मान्य इस कठोर सत्य को स्वीकार करना पडेगा कि समस्त प्राणी-जगत् मे दु:ख सर्वत्र व्याप्त है। इस संसार मे कोई भी प्राणी ऐसा नही है जो पीडा अथवा दु ख से पूर्णतया मुक्त हो। सवेदनशील होने के कारण मनुष्य अन्य प्राणियो की अपेक्षा कही अधिक तीव्रता से दु ख का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति मे दु ख से मुक्ति प्राप्त करने की समस्या मानव-जाति की सबसे अधिक गभीर समस्या है। वस्तुत मनुष्य की इसी गभीर समस्या का समाधान करने के लिए ही चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनो ने मोक्ष के सिद्धात का प्रतिपादन किया है। प्रत्येक भारतीय दर्शन ने इस दु ख के मूल कारण की खोज करने तथा मनुष्य को इससे मुक्ति प्राप्त करने के उपाय बताने का प्रयास किया है। यहाँ हमें इस विवाद में उलझने की आवश्यकता नही है कि भारतीय दर्शनो द्वारा किया गया दु ख के मूल कारणो का विश्लेषण तथा उससे मुक्त होने के लिए बताया गया मार्ग कहाँ तक उचित एवं मान्य है। हमारे समक्ष यह निर्विवाद तथ्य विद्यमान है कि मनुष्य अपने जीवन मे पीडा अथवा दु ख का अनुभव करता है। यह दु ख या तो भूकम्प, बाढ, सूखा, तूफान आदि प्राकृतिक विपदाओ के फलस्वरूप उत्पन्न होता है या ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, लोभ, अभिमान, कामेच्छा आदि मानवीय सवेगो के कारण। स्पष्ट है कि इस दु ख से पूर्ण अथवा आशिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को इसके उपर्युक्त मूल कारणो को समाप्त या नियन्त्रित करना होगा। दु ख के समस्त प्राकृतिक कारणो को पूर्णतया समाप्त अथवा नियन्त्रित करना मनुष्य के लिए सभव प्रतीत नही होता। ऐसी स्थिति मे प्राकृतिक विपदाओ के फलस्वरूप उत्पन्न दु ख से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने की आशा व्यर्थ ही प्रतीत होती है, हाँ, इसके लिए यथासभव सतत् प्रयास करना आवश्यक है। परतु मनुष्य के जीवन मे अधिकाश दु ख का मूल कारण प्राकृतिक विपत्तियाँ नही अपितु ईर्ष्या द्वेष, क्रोध, घृणा आदि मानवीय सवेग ही हैं। इन्ही सवेगो के कारण व्यक्ति स्वय भी दु.ख प्राप्त करता है और दूसरो को भी अनावश्यक कष्ट पहुँचाता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के अधिकाश दु ख का मूल कारण उसके ये विकृत सवेग ही हैं, अत इन्हें समुचित रूप से नियन्त्रित किए बिना वह दु:ख से मुक्त नही हो सकता। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए अपने वर्तमान जीवन मे ही दु.ख से मुक्ति प्राप्त करना मोक्ष है और इस मोक्ष का एकमात्र उपाय है अपने विकृत सवेगो को भली भाँति नियन्त्रित करना।

यदि मोक्ष का उपर्युक्त अर्थ स्वीकार कर लिया जाए तो इसके लिए आत्मा की अमरता, ईश्वर या ब्रह्म का अस्तित्व आदि किसी तत्त्वमीमासात्मक मान्यता का आधार लेने की आवश्यकता नही है। इसी अर्थ मे मोक्ष को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना जा सकता है। यह सत्य है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अतत: व्यक्ति को स्वय ही प्रयास करना होगा, किंतु सामाजिक प्राणी होने के नाते दूसरो की दु ख-निवृत्ति के लिए निरतर प्रयत्न करना भी उसका अनिवार्य नैतिक कर्तव्य है। इस अनिवार्य कर्तव्य का पालन करके ही व्यक्ति मोक्ष सबधी अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, अत दूसरो की दु ख-निवृत्ति और अपनी मोक्ष-प्राप्ति के प्रयास मे कोई विरोध या सघर्ष नही है। दूसरो को दु ख से मुक्त करने का प्रयास करके ही व्यक्ति आत्मकेंद्रित होने से बच सकता है और अपने उन सवेगों को भी नियंत्रित कर सकता है जो स्वय उसके लिए तथा समाज के लिए हानिकारक हैं। इस प्रकार अपने निकृष्ट सवेगों को नियंत्रित करके दूसरो के दु ख का निराकरण करने के सतत् प्रयास में ही व्यक्ति का वास्तविक मोक्ष निहित है। मानव-जीवन के इसी महान आदर्श को गीता मे 'स्थितप्रज्ञ' की सज्ञा दी गई है जो सुख-दु ख, लाभ-हानि, जय-पराजय मे समत्वभाव रखते हुए सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है। अपनी भावनाओ तथा मनोवृत्तियो को नियंत्रित कर लेने के कारण ऐसा स्थितप्रज्ञ व्यक्ति

हर्ष-विषाद से प्रभावित नही होता, अत: ससार मे रहते हुए भी वह सासारिक पदार्थो एवं विषयभोगो मे आसक्ति नही रखता और केवल लोकसग्रह के लिए ही फलाकाक्षारहित कर्म करता है। मेरे विचार मे स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था ही मनुष्य की वास्तविक मुक्ति है जिसे मानव-जीवन के लिए महान आदर्श के रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त अर्थ म मोक्ष अन्य तीनो पुरुषार्थो से भिन्न है और उसके लिए किसी तत्त्व-मीमासात्मक मान्यता को भी स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। अर्थ, काम तथा धर्म क्रमश : सयमपूर्वक धनोपार्जन, इच्छाओ की तृप्ति और स्वकर्तव्य-पालन तक ही सीमित है, किंतु मोक्ष इसी जीवन मे अहकार एव दु ख से मुक्त होने की अवस्था है जिसके लिए इन तीनो पुरुषार्थो को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से ये तीनो पुरुषार्थ मोक्ष के मार्ग मे बाधक न होकर उसके लिए अतत सहायक ही माने जा सकते है। निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि परपरागत अर्थ मे मोक्ष मनुष्य के लिए उपादेय प्रतीत नही होता, अत उपर्युक्त नए अर्थ मे ही मानव-जीवन के लिए नैतिक आदर्श के रूप मे मोक्ष की उपादेयता को स्वीकार किया जा सकता है।

19

सत्याग्रह : सिद्धांत और व्यावहारिकता

1 सत्याग्रह का अर्थ

'सत्याग्रह' शब्द 'सत्य' और 'आग्रह' इन दो शब्दों के संयोग से बना है जिसका अर्थ है सत्य के लिए दृढ़तापूर्वक आग्रह करना। यदि कोई व्यक्ति स्वार्थरहित होकर निष्पक्ष रूप से विचार करने के पश्चात् किसी विचार या सिद्धांत को सत्य मानता है तो कष्टों तथा कठिनाइयों की चिंता किए बिना उसे इसी सिद्धांत के अनुरूप दृढ़तापूर्वक आचरण करना चाहिए और इसमें बाधा डालने वाले व्यक्तियों तथा संगठनों का केवल अहिंसात्मक उपायों द्वारा प्रतिरोध करना चाहिए। इस प्रकार भय तथा प्रलोभन से प्रभावित हुए बिना, स्वयं कष्ट सहन करते हुए केवल अहिंसात्मक उपायों की सहायता से सदैव सत्य पर दृढ़ रहना और मन, वचन तथा कर्म से उसी के अनुसार आचरण करना सत्याग्रह है। गाँधीजी ने सत्याग्रह का यही व्यापक अर्थ स्वीकार किया है और इसी व्यापक अर्थ में वे पर्याप्त समय तक दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत में सत्याग्रह का प्रयोग करते रहे।

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह सभी प्रकार के अन्याय, शोषण और अत्याचार के विरुद्ध पूर्णतः अहिंसात्मक संघर्ष है। युद्ध अथवा हिंसात्मक संघर्ष और सत्याग्रह में कुछ आधारभूत अंतर हैं जिनका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। हिंसात्मक संघर्ष का उद्देश्य विरोधी को अधिकाधिक क्षति पहुँचाना अथवा उसे नष्ट करना होता है जबकि सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी द्वारा किए जाने वाले अन्याय तथा अत्याचार का अंत करना ही होता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना नहीं। हिंसात्मक संघर्ष करने वाले व्यक्ति के मन में विरोधी के प्रति क्रोध, घृणा, प्रतिशोध आदि दुर्भावनाएँ होती हैं, किंतु सत्याग्रही अपने विरोधी के प्रति भी स्नेह और सौहार्द रखता है। वह विरोधी के दुष्कर्म से घृणा करता है, विरोधी से नहीं। हिंसात्मक संघर्ष करने वाला व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विरोधी को ही कष्ट पहुँचाता है जब कि सत्याग्रही स्वयं अधिकाधिक कष्ट सहन करके विरोधी के हृदय-परिवर्तन द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त करता है। हिंसात्मक संघर्ष में प्रत्येक पक्ष अपनी विजय तथा दूसरे पक्ष की पराजय की कामना करता है, किंतु सत्याग्रही केवल सत्य और न्याय की विजय चाहता है, अपनी विजय और विरोधी की पराजय नहीं। हिंसात्मक संघर्ष का अंत हो जाने के पश्चात् भी दोनों पक्षों में शत्रुता बनी रहती है, किंतु सत्याग्रह की समाप्ति के उपरांत सत्याग्रही अपने सद्व्यवहार द्वारा विरोधी को अपना मित्र बना लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्याग्रह युद्ध अथवा हिंसात्मक संघर्ष से मूलतः भिन्न है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गौतम बुद्ध के चार आर्य सत्यों की भाँति सत्याग्रह के भी चार मूल सिद्धांत हैं जिन पर सत्याग्रह का संपूर्ण दर्शन आधारित है। ये चार सिद्धांत निम्नलिखित हैं

(1) यह निर्विवाद सत्य है कि संसार में शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि अनेक बुराइयाँ हैं।

(2) इन सभी बुराइयों का निराकरण बहुत आवश्यक है, क्योंकि इन्हें समाप्त किए बिना विश्व में

सुख और शांति की कल्पना भी नही की जा सकती। (3) ये बुराइया युद्ध तथा अन्य हिंसात्मक उपायो द्वारा कभी समाप्त नही हो सकती, क्योकि हिंसा और अधिक तीव्र हिंसा को ही उत्पन्न करती है। विश्व का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि युद्ध से और अधिक संघर्ष का तथा घृणा और प्रतिशोध का ही जन्म होता है। (4) केवल आत्मपीडन तथा अन्य अहिंसात्मक उपायो द्वारा ही ससार मे अन्याय, शोषण, अत्याचार आदि बुराइयों का अंत किया जा सकता है। इसी कारण सत्याग्रही के लिए स्वय कष्ट सहन करने की इच्छा तथा क्षमता का विशेष महत्त्व है जिस पर हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि बुराइयो का निराकरण करने के लिए सत्याग्रही की स्वेच्छया कष्ट सहन करने की क्षमता सत्याग्रह का सर्वाधिक प्रभावशाली अहिंसात्मक उपाय है।

सत्याग्रह के अर्थ को भलीभाँति समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से मूलत भिन्न है। यह सत्य है कि जब सर्वप्रथम 1906 मे गाँधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका मे गोरे शासको द्वारा भारतीयों के प्रति किए जाने वाले अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध अपना अहिंसात्मक आदोलन आरंभ किया था तो उस समय वे उसे 'निष्क्रिय प्रतिरोध' ही कहा करते थे किन्तु बाद मे उन्होने अनुभव किया कि उनके आदोलन का यह नाम उचित नहीं है। इसका कारण यह था कि पाश्चात्य देशों मे निष्क्रिय प्रतिरोध को केवल असहाय और दुर्बल व्यक्तियों का हथियार माना जाता था जिसका वे अपने कष्ट-निवारण के लिए शक्तिशाली व्यक्तियो के विरुद्ध प्रयोग करते थे। इसका प्रयोग करने वाले व्यक्ति अहिंसा को नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट न मानकर केवल विवशता एव दुर्बलता के कारण अहिंसात्मक आचरण करते थे। आवश्यक साधन उपलब्ध होने पर अनुकूल परिस्थितियों में वे अन्याय एवं अत्याचार के निराकरण के लिए हिंसात्मक उपायो का प्रयोग करने में भी कोई सकोच नही करते थे। इस प्रकार निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने वाले व्यक्ति सत्य और अहिंसा को अनुल्लघनीय नैतिक सिद्धात न मानकर अपनी सफलता के लिए उपयुक्त साधन मात्र मानते थे जिनका सुविधानुसार परित्याग किया जा सकता था।[1] परतु उनकी यह मान्यता गाँधी जी के सत्य और अहिंसा पर आधारित आध्यात्मिक आदोलन के विरुद्ध थी, इसी कारण गाँधी जी यह अनुभव करने लगे थे कि उन्हें अपने आंदोलन को निष्क्रिय प्रतिरोध नही कहना चाहिए। जब वे दक्षिणी अफ्रीका मे चलाए जाने वाले अहिंसात्मक आदोलन के लिए कोई उपयुक्त नाम ढूँढ रहे थे तो श्री मगनलाल गाँधी ने यह सुझाव दिया कि इस आंदोलन को 'सदाग्रह' कहा जाना चाहिए। इस शब्द को परिवर्तित करके गाँधी जी ने अपने आदोलन को 'सत्याग्रह' की सज्ञा दी और इस प्रकार उसे निष्क्रिय प्रतिरोध से पृथक किया।

गाँधी जी के सत्याग्रह तथा निष्क्रिय प्रतिरोध मे मूल अतर यह है कि निष्क्रिय प्रतिरोध के विपरीत सत्याग्रह के लिए सभी परिस्थितियो मे पूर्णत: अहिंसात्मक होना अनिवार्य है। सत्याग्रह मे हिंसा, क्रोध, घृणा, प्रतिशोध आदि दुर्भावनाओ के लिए कोई स्थान नही है। सत्याग्रही सत्य तथा अहिंसा को किसी उत्तम उद्देश्य की पूर्ति का साधन न मानकर उन्हें स्वत साध्य मानता है और सभी परिस्थितियों मे उनके अनुसार आचरण करता है। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने वाला व्यक्ति अपने विरोधी से स्नेह नही करता, उसके मन मे विरोधी के प्रति घृणा, क्रोध, प्रतिशोध आदि हिंसात्मक भावनाएँ हो सकती हैं। इसके विपरीत सत्याग्रही विरोधी के दुष्कर्म का दृढतापूर्वक विरोध करते हुए भी उसके प्रति स्नेह एव सौहार्द रखता है और सदैव उसके कल्याण की कामना करता है। वह अपने लिए अनुकूलतम परिस्थिति में भी विरोधी की कठिनाइयो का लाभ

1 आर आर. दिवाकर, 'सत्याग्रह, इट्स टेक्नीक ऐंड हिस्ट्री'।

उठाकर उसके विरुद्ध किसी भी रूप मे हिंसा का प्रयोग नही करता। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के विपरीत सत्याग्रही का एकमात्र आधार उसका नैतिक बल तथा सभी परिस्थितियों में स्वय कष्ट सहन करने की शक्ति है। निष्क्रिय प्रतिरोध के लिए शुभ लक्ष्य की प्राप्ति का ही महत्त्व है, साधनो की शुद्धता का नहीं। परतु सत्याग्रह के लिए साधनो का शुभ होना भी उतना ही आवश्यक है जितना लक्ष्य का शुभ होना। सत्याग्रही शुभ लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी परिस्थिति मे अशुभ साधनो का प्रयोग नहीं कर सकता। इस प्रकार गाँधीजी का अहिंसात्मक आदोलन केवल सत्य एव अहिसा पर आधारित होने के कारण निष्क्रिय प्रतिरोध से मूलत भिन्न है और इसीलिए उन्होने उसे 'सत्याग्रह' का नाम दिया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गाँधी जी के विचार मे सत्याग्रह कायर तथा दुर्बल व्यक्ति का हथियार नही है। सच्चा सत्याग्रही वही व्यक्ति हो सकता है जिसमे नैतिक तथा आध्यात्मिक बल हो और जो इस बल के आधार पर स्वेच्छया अधिकतम कष्ट सहन कर सके। ऐसे सत्याग्रही के जीवन मे किसी प्रकार की दुर्बलता अथवा कायरता के लिए कोई स्थान नही है। सत्य पर वही व्यक्ति अडिग रह सकता है जिसमे नैतिक साहस तथा बल हो और ऐसा सत्याग्रही निश्चय ही दुर्बल एव कायर नही हो सकता। गाँधी जी कायरता की अपेक्षा हिसा को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं, क्योंकि उनके विचार मे "हिंसा करने वाले व्यक्ति से यह आशा की जा सकती है कि वह कभी अहिसा के अनुसार आचरण करना सीख जाएगा, परंतु कायर व्यक्ति से ऐसी आशा नहीं की जा सकती"।[2] दुर्बल एव कायर व्यक्ति के विपरीत सत्याग्रही पूर्णतः निर्भय होता है। सत्य पर अटल रहते हुए वह सदा दृढतापूर्वक यही कहता है — "मैं संसार मे किसी से नही डरूगा। मैं केवल ईश्वर से डरूगा। मैं किसी के प्रति कोई दुर्भावना नही रखूंगा। मैं सत्य द्वारा असत्य को पराजित करूगा। असत्य को सत्य द्वारा, घृणा को प्रेम द्वारा तथा अन्याय को न्याय द्वारा पराजित करके मैं सभी व्यक्तियो के प्रति सदैव सद्भाव रखूगा और स्वयं सहर्ष अधिकतम कष्ट सहन करूगा"।[3] सत्याग्रही की यह प्रतिज्ञा किसी कायर की नही, अपितु नैतिक दृष्टि से साहसी तथा वीर की प्रतिज्ञा है। वह स्वेच्छया जो कष्ट सहन करता है उसका कारण कायरता, अथवा दुर्बलता न होकर अपने विरोधी सहित सभी व्यक्तियों के प्रति उसका स्नेह एव सद्भाव ही है। इस प्रकार पूर्णतः निर्भय होकर सदैव सत्य पर अडिग रहना और केवल अहिसात्मक उपायो द्वारा सभी प्रकार के अन्याय, अत्याचार तथा शोषण का दृढतापूर्वक प्रतिरोध करना सत्याग्रह की अनिवार्य शर्त है।

2. सत्याग्रह की आधारभूत मान्यताएँ

गाँधी जी का यह अहिंसात्मक सत्याग्रह उनकी कुछ मूल दार्शनिक मान्यताओ पर आधारित है जिनका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। गाँधी जी के विचार मे ये मान्यताएँ सत्याग्रह के लिए अनिवार्य हैं। सत्याग्रह की प्रथम अनिवार्य आधारभूत मान्यता है — ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास तथा उसके प्रति अखड श्रद्धा। गाँधी जी धर्मपरायण व्यक्ति थे और ईश्वर में उनकी अगाध श्रद्धा थी। ईश्वरोपासना को उन्होंने अपने जीवन का अभिन्न अग बना लिया था और इसे ही वे अपने सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों का मूल आधार मानते थे। यही कारण है कि गाँधी जी सत्याग्रह की सफलता के लिए ईश्वर मे सत्याग्रही की अखड श्रद्धा का होना अनिवार्य मानते हैं। उनका विचार है कि कोई

2 हरिजन', 21 अक्तूबर, 1939.
3 आर आर दिवाकर, 'सत्याग्रह इट्स टेक्नीक ऐंड हिस्ट्री' पृष्ठ 74.

भी नास्तिक वास्तव मे सत्याग्रही नही हो सकता। इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि सत्याग्रह के लिए "मनुष्य का अहिंसा मे दृढ़ विश्वास होना चाहिए। ईश्वर मे अखड श्रद्धा के बिना यह असभव है। अहिंसा के अनुरूप आचरण करने वाला मनुष्य ईश्वर की शक्ति और कृपा के बिना कुछ नही कर सकता। इसके बिना उसमे क्रोध, भय तथा प्रतिशोध से मुक्त रहते हुए अपने आपको बलिदान कर देने का साहस उत्पन्न नही हो सकता"।[4] गाँधी जी यह मानते हैं कि ईश्वर की सत्ता और शक्ति मे विश्वास किए बिना मनुष्य को अहिंसा की महान शक्ति का वास्तविक लाभ नही हो सकता। "सत्य और अहिंसा का यांत्रिक समर्थन किसी भी कठिन समय मे छिन्न-भिन्न हो सकता है ईश्वर एक महान शक्ति है और हमारा जीवन उसी शक्ति द्वारा अनुप्राणित है। जो इस महान शक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करता है वह अनत शक्ति के प्रयोग से वंचित होकर सामर्थ्यहीन हो जाता है। वह उस जहाज़ की भाँति हो जाता है जो दिशासूचक यत्र के अभाव मे अपने गतव्य की ओर अग्रसर नही हो पाता और समुद्र मे इधर-उधर भटकते हुए अनत नष्ट हो जाता है"।[5] सर्वशक्तिमान ईश्वर मे विश्वास करके ही सत्याग्रही निर्भय हो सकता है जो सत्याग्रह की सफलता के लिए आवश्यक है। इस प्रकार गाँधी जी के विचार मे ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा के बिना सत्याग्रह के सफल होने की कोई संभावना नही है।

सत्याग्रह की दूसरी आवश्यक आधारभूत मान्यता है मनुष्य की अच्छाई में सत्याग्रही का दृढ विश्वास। सत्याग्रही इस सिद्धात मे दृढतापूर्वक विश्वास करता है कि चाहे कोई मनुष्य कितना ही पतित क्यो न हो, उसके मन मे स्नेह, मैत्री, उदारता, करुणा आदि सद्भावनाएँ सुषुप्तावस्था मे अवश्य विद्यमान रहती हैं जिन्हे उसके प्रति सद्व्यवहार द्वारा जागृत किया जा सकता है। इसी कारण वह किसी भी स्थिति मे अन्याय तथा अत्याचार करने वाले के विरुद्ध हिंसात्मक उपायो का प्रयोग नही करता। मनुष्य मात्र की अच्छाई मे अटूट विश्वास करने के कारण ही गाँधी जी यह कहा करते थे कि हमे पाप से घृणा करनी चाहिए, पापी से नही। घोर अत्याचार एव अन्याय करने वाले व्यक्ति मे भी सद्वृत्तियाँ विद्यमान रहती है जिन्हे सत्याग्रही स्वय कष्ट सहन करके अपनी करुणा द्वारा जगा सकता है और इस प्रकार एक अच्छा मनुष्य बनने मे उसकी सहायता कर सकता है। गाँधी जी स्वयं अपने जीवन मे सत्याग्रह के इसी मूल सिद्धात के अनुसार सदैव आचरण करते रहे। दक्षिणी अफ्रीका मे जब वे गोरे शासको द्वारा भारतीयो पर किए गए अत्याचारो के विरुद्ध अहिंसात्मक सत्याग्रह कर रहे थे तो कई व्यक्तियो ने उनकी हत्या करने का प्रयत्न किया था। परतु गाँधी जी के मन में इन व्यक्तियो के प्रति कटुता अथवा घृणा उत्पन्न नही हुई। इसके विपरीत इन व्यक्तियो को क्षमा करके गाँधी जी ने इन्हे अपना मित्र अथवा अनुयायी बना लिया। एक बार जोहन्सबर्ग मे आयोजित एक बडी सभा मे भाषण देने के बाद गाँधी जी जब हॉल से बाहर आए तो एक व्यक्ति हाथ मे छुरा लिए हुए उनकी ओर बढ़ा। गाँधीजी तुरत उसके पास पहुँचे और उसके साथ स्नेहपूर्वक बातचीत करने लगे। कुछ ही क्षणो मे उस व्यक्ति ने अपना छुरा गाँधी जी के हाथ मे दे दिया और चुपचाप वहाँ से चला गया। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए गाँधी जी ने कहा था कि यदि मैं उस व्यक्ति को दड दिलाने का प्रयत्न करता तो वह मेरा शत्रु हो जाता, किन्तु अब वह मेरा मित्र बन जाएगा। वे इसी प्रकार ऐसे सभी व्यक्तियों को क्षमा करते रहे जिन्होने उन्हे कष्ट पहुँचाया अथवा उनकी हत्या करने का प्रयत्न किया। इसका कारण उनका यह दृढ विश्वास था कि कोई भी व्यक्ति स्वभावत बुरा नही होता, अत हमे किसी से घृणा नही करनी चाहिए। अपने इसी

4 'हरिजन', 18 जून, 1938.
5 'हरिजन' 20 जुलाई 1947, पृष्ठ 240.

विश्वास के आधार पर वे दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत में सत्याग्रह का संचालन करते रहे। इस प्रकार गाँधी जी का सत्याग्रह संबंधी संपूर्ण दर्शन उनकी इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य स्वभावत अच्छा है और उसकी सदाशयता कभी भी पूर्णत नष्ट नहीं होती।

सत्याग्रह की तीसरी आवश्यक आधारभूत मान्यता है सत्य और अहिंसा की शक्ति में सत्याग्रही का अटूट विश्वास। जब वह अन्याय तथा अत्याचार का अंत करने के लिए हिंसा का मार्ग छोड़ कर अहिंसात्मक सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण करता है तो उसे इस बात का पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि अंतत उसका सत्याग्रह सफल होगा। इस विश्वास के अभाव में वह अधिक समय तक सत्याग्रह के कठिन मार्ग पर नहीं चल सकता. इस विश्वास के बिना सत्याग्रही में अपने विरोधी द्वारा दिए गए शारीरिक तथा मानसिक कष्ट को सहर्ष सहन करने की शक्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती जो सत्याग्रह की सफलता के लिए अनिवार्य हैं। सत्य और अहिंसा की महान शक्ति में पूर्ण विश्वास रखने पर ही सत्याग्रही सभी परिस्थितियों में इनके अनुसार आचरण कर सकता है। गाँधी जी सत्याग्रह में अहिंसा की सफलता को पूर्णत निश्चित मानते है। इस संबंध में उनका कथन है — "मैं इस बात को स्वतः सिद्ध सत्य मानता हूँ कि सच्ची अहिंसा विरोधी को प्रभावित करने में कभी असफल नहीं हो सकती। यदि वह असफल होती है तो वह अपूर्ण है"।[6]

सत्याग्रह में हिंसा के प्रयोग को गाँधी जी इस बात का स्पष्ट प्रमाण मानते थे कि सत्याग्रह करने वाले व्यक्ति सत्य और अहिंसा को भलीभाँति नहीं समझ सके। ऐसी स्थिति में वे सत्याग्रह को स्थगित कर देना आवश्यक समझते थे। भारत में इसी कारण उन्होंने अनेक बार सत्याग्रह को स्थगित किया था। उदाहरणार्थ फरवरी 1929 में जब कुछ सत्याग्रहियों ने आवेश में आकर चौरीचौरा में कुछ सिपाहियों की हत्या कर दी थी तो गाँधी जी ने तुरंत सत्याग्रह को स्थगित कर दिया। इसका कारण उनका यह दृढ़ विश्वास था कि हिंसा और सत्याग्रह साथ-साथ नहीं चल सकते। सच्चा सत्याग्रही अन्याय एवं अन्याचार को समाप्त करने के लिये स्वयं कष्ट सहन करता है, वह अपने विरोधी को कभी कष्ट नहीं पहुँचाता। जब भी गाँधी जी के अनुयायी सत्याग्रह करते समय अहिंसात्मक मार्ग से हटने लगते थे तो वे इसके लिए अपने आपको दोषी मानकर आत्मशुद्धि के लिए उपवास करते थे और इस प्रकार अपने अनुयायियों को पुनः सत्य एवं अहिंसा के मार्ग पर लाने का प्रयास करते थे। वे प्रत्येक सत्याग्रही से यही कहा करते थे कि सत्य और अहिंसा उसके जीवन के अभिन्न अंग बन जाने चाहिएं अर्थात् उसे अपने सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में ही नहीं, अपितु अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी सदा इन्हीं के अनुसार आचरण करना चाहिए।[7] इस प्रकार गाँधी जी के मतानुसार सत्य और अहिंसा की शक्ति में दृढ़ विश्वास द्वारा ही सत्याग्रही अपने महान उद्देश्य में सफल हो सकता है।

सत्याग्रह की उपर्युक्त मान्यताओं के अतिरिक्त गाँधी जी सत्याग्रही की आत्मशुद्धि को भी आवश्यक मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि अन्याय, अन्याचार, शोषण आदि बुराइयों के विरुद्ध सत्याग्रह करने से पूर्व स्वयं सत्याग्रही को इन बुराइयों से मुक्त होना चाहिए। यदि सत्याग्रही स्वयं इन बुराइयों से मुक्त नहीं है तो वह सत्याग्रह द्वारा अपने विरोधी को कभी प्रभावित नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त सत्याग्रह की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि सत्याग्रही अपने देश अथवा समाज की निःस्वार्थ भाव से सेवा करे और उसके कल्याण के लिए अपने जीवन तक का

---

6 हरिजन', 6 मई,1939 पृ 12.
हरिजन 2 जुलाई 940 पृष्ठ 2 0

बलिदान करने में भी संकोच न करे उस सत्याग्रह संबंधी अपने महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वयं अधिकतम कष्ट सहन करना चाहिए और किसी भी स्थिति मे सत्य तथा अहिंसा के मार्ग से कभी विचलित नही होना चाहिए। परंतु सत्याग्रही यह सब तभी कर सकता है जब उसमे आत्मत्याग आत्मसंयम, आचरण की पवित्रता, निर्भयता, प्राणीमात्र के प्रति स्नेह एवं करुणा आदि सद्गुण हो। सत्य, अहिंसा आदि एकादश व्रतो का पालन करने से सत्याग्रही मे इन सद्गुणो का पूर्ण विकास हो सकता है, अतः गाँधी जी ने उसके लिए इन सभी व्रतो का पालन् करना अनिवार्य माना है। उनका विचार है कि इन सभी व्रतो का भलीभाँति पालन करने से सत्याग्रही मे उपर्युक्त सद्गुणो के विकास के साथ-साथ महान आध्यात्मिक शक्ति भी उत्पन्न होती है जिसका प्रतिरोध करना उसके विरोधी के लिए असंभव हो जाता है। ये सभी व्रत सत्याग्रही की आत्मशुद्धि मे बहुत सहायक होते हैं और उसे सत्याग्रह के कठिन मार्ग पर निरंतर अग्रसर होते रहने के लिए अदम्य शक्ति प्रदान करते हैं। इसी कारण गाँधी जी ने सत्याग्रही के लिए मन, वचन, कर्म मे इन एकादश व्रतो के अनुसार सदैव आचरण करना अनिवार्य माना है।

3 सत्याग्रह का उद्देश्य और प्रभाव

सत्याग्रह के उद्देश्य के विषय मे गाँधी जी का कथन है कि केवल समाज के कल्याण के लिए ही इसका प्रयोग किया जाना चाहिए, अपने व्यक्तिगत लाभ अथवा स्वार्थ के लिए नही। जो व्यक्ति सदैव अपनी स्वार्थसिद्धि मे लिप्त रहता है और सामाजिक हित के लिए अपने व्यक्तिगत लाभ का परित्याग नही कर सकता वह सत्याग्रही होने के योग्य नही है। अपने व्यक्तिगत हित के लिए किया गया अहिंसात्मक प्रतिरोध वास्तव मे सत्याग्रह नही है क्योंकि वह सत्याग्रह के मूल उद्देश्य—सामाजिक कल्याण—की उपेक्षा करता है। इस दृष्टि से आज जो व्यक्ति और समुदाय अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए समय-समय पर तथाकथित सत्याग्रह करते रहते हैं वे गाँधी जी के विचार में वस्तुत- इस महान सिद्धांत का दुरुपयोग कर रहे हैं। कोई व्यक्ति किसी से धन लेने या ऋण वसूल करने के लिए उपवास करता है तो वह इसका दुरुपयोग करता है, क्योंकि उसका उद्देश्य जनहित न होकर अपना व्यक्तिगत लाभ है। गाँधी जी के विचार मे स्वार्थपूर्ण होने के कारण ऐसा उपवास अहिंसात्मक या सत्याग्रह की भावना के अनुरूप नही है। सच्चा सत्याग्रही अपने लाभ के लिए नहीं, अपितु सामाजिक कल्याण मे बाधक किसी बुराई का अंत करने के लिए ही सत्याग्रह करता है। अपनी इसी मान्यता के कारण गाँधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत मे अन्याय और अत्याचार से पीडित लाखो व्यक्तियो के कल्याण-संबंधी व्यापक उद्देश्य के लिए ही सत्याग्रह का प्रयोग किया। उन्होंने सत्याग्रह करते हुए अपने जीवन में जो घोर कष्ट सहे और दीर्घकालीन उपवास किए, वे सभी इसी व्यापक उद्देश्य की पूर्ति के साधन थे। इस प्रकार गाँधी जी के विचार मे सत्याग्रह का उद्देश्य बहुत व्यापक और महान है, वह किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की स्वार्थसिद्धि का साधन नही हैं जैसा कि प्राय आज उसे समझा जाता है।

गाँधी जी सत्याग्रह को 'सत्य' के लिए 'तपस्या' तथा 'दुख सहने का सिद्धात' मानते हैं। उनका कथन है — ''कुछ भी मेरे इस विश्वास से मुझे विचलित नही कर सकता कि यदि लक्ष्य शुभ हो तो उसके लिए कष्ट सहन करना जितना उसकी प्राप्ति मे सहायक होता है उतना अन्य कोई उपाय नही हो सकता''।[8]

---

8 'यंग इंडिया' 2, पृष्ठ 838.

सत्याग्रही के लिए दु ख सहन करने की कोई सीमा नही है भयकर शारीरिक तथा मानसिक कष्ट पहुँचाए जाने पर भी वह अपना धैर्य नही छोडता और अहिंसा एवं सत्य के मार्ग से विचलित नही होता। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह मृत्यु को भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है किंतु अपने विरोधी के अहित की कामना नही करता और न उसके साथ किसी प्रकार का छल करता है। सत्याग्रही का यही आत्मत्याग उसके विरोधी मे विद्यमान मानवता की भावना को जागृत करके उसे इतना अधिक प्रभावित कर देता है कि वह स्वेच्छया उस बुराई का अंत करने के लिए तैयार हो जाता है जिसे सत्याग्रही समाप्त करना चाहता है। इस दृष्टि से अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सत्याग्रही द्वारा कष्ट सहन करने का विशेष महत्त्व है। इसी के द्वारा वह अपने विरोधी का हृदय-परिवर्तन कराके उसे बुराई को छोड देने के लिए नैतिक दृष्टि से बाध्य करता है और इस प्रकार उसे अपना सहयोगी बना लेता है। यदि सत्याग्रही इसके लिए तर्कबुद्धि का सहारा ले तो वह इसमे सफल नही हो सकता। इसी कारण गाँधी जी सत्याग्रह के लिए तर्कबुद्धि की अपेक्षा दु ख सहने की इच्छा और क्षमता को अधिक महत्त्व देते है। इस संबंध मे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "यदि आप वास्तव मे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते हैं तो आपके लिए केवल तर्कबुद्धि को ही संतुष्ट करना पर्याप्त नही है, हृदय को प्रभावित करना भी बहुत आवश्यक है। तर्कबुद्धि हमारे मस्तिष्क को प्रभावित करती है, किंतु हमारा हृदय दु ख से ही प्रभावित होता है"।[9] इसी कारण अपने विरोधी के अत्याचार के फलस्वरूप सत्याग्रही जितना अधिक दु ख झेलता है उसके शुभ लक्ष्य की पूर्ति की संभावना उतनी ही अधिक बढ जाती है। इस दृष्टि से गाँधी जी के विचार मे सत्याग्रही के सहर्ष दु ख सहने की इच्छा और क्षमता का सत्याग्रह की सफलता के लिए विशेष महत्त्व है।

परंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सत्याग्रही के लिए अपने दु ख का प्रदर्शन करना गाँधी जी अनुचित एवं निंदनीय मानते हैं। उनके अनुसार सच्चा सत्याग्रही वही है जो अपने विरोधी द्वारा पहुँचाए गए सभी कष्टों को मौन रहकर सहन करता है और उनका प्रदर्शन करके अपने लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास नही करता। लोगों के समक्ष अपने दु ख का प्रदर्शन करना और इस प्रकार उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना वास्तव मे सत्याग्रह की मूल भावना के विरुद्ध है। सत्याग्रही अपने विरोधी को इस बात के लिए विवश अथवा प्रेरित भी नही करता कि वह उसे कष्ट पहुँचाए। वह केवल उन कष्टों को नम्रतापूर्वक मौन भाव से सहन करता है जो उसके विरोधी द्वारा उसे दिए जाते हैं। गाँधी जी का मत है कि सत्याग्रही का उद्देश्य स्वयं दुःख सहन करते हुए अपने स्नेह, सौहार्द तथा आत्मत्याग द्वारा विरोधी का हृदय-परिवर्तन करना ही होता है, अपने कष्टों का प्रदर्शन करना नही।[10] जब सत्याग्रही सभी दु ख झेलते हुए पूर्णत शांत रहता है और प्रतिशोध लेने का प्रयत्न नही करता तो उसके विरोधी का पाशविक बल समाप्त होने लगता है और अपने दुष्कर्मों के लिए उसके मन मे पश्चाताप की भावना उत्पन्न होने लगती है जो उसे सत्याग्रही के सन्मार्ग का अनुसरण करने को बाध्य करती है। विरोधी के प्रति सत्याग्रही का स्नेह तथा सौहार्द उसके पश्चाताप की इस भावना को और अधिक तीव्र कर देते है जिसके फलस्वरूप उसके लिए दीर्घकाल तक सत्याग्रही का प्रतिरोध करना असंभव हो जाता है। अतत वह हिंसा का मार्ग छोडकर सत्याग्रही के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेता है और इस प्रकार उसका सहयोगी हो जाता है। गाँधी जी के अनुसार शांतिपूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह की अवश्यंभावी सफलता का यही वास्तविक रहस्य है।

---

9 एम के गाँधी और महादेव देसाई टि नशा स ब्रांडिस पृष्ठ ··६

10 यंग इंडिया ६ अगस्त 29

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी सत्याग्रह के प्रभाव को केवल सभ्य और शिष्ट विरोधी तक ही सीमित नहीं मानते। प्राय यह कहा जाता है कि सत्याग्रह ऐसे विरोधी को तो प्रभावित कर सकता है जिसमें मानवता की भावना विद्यमान है किन्तु वह चोरों, डाकुओं हत्यारों तथा अन्य कठोर अपराधियों पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। इसका अर्थ यह है कि ऐसे अपराधियों को सुधारने के लिए सत्याग्रह करना व्यर्थ है। परन्तु गाँधी जी इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य में सद्वृत्तियाँ अवश्य विद्यमान रहती हैं, अत कोई भी अपराधी इसका अपवाद नहीं हो सकता। अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे कहते हैं कि कठोर से कठोर अपराधी को भी सत्याग्रह द्वारा सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। यदि सत्याग्रही सत्य एवं अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करते हुए अपराधी के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करे, उसे कभी धोखा न दे और उससे प्रतिशोध लेने का प्रयत्न न करे तो वह अपने सत्याग्रह द्वारा उसे अवश्य सुधार सकता है। गाँधी जी यह मानते हैं कि ऐसे कठोर अपराधियों को उचित मार्ग पर लाने में ही हमारे सत्याग्रह की वास्तविक परीक्षा होती है। इस संबंध में उन्होंने स्पष्ट कहा कि "जब आप किसी चोर अथवा हत्यारे का सामना करते हैं तभी आप की अहिंसा की परीक्षा होती है। सभ्य लोगों के बीच में रहते हुए आपके आचरण को अहिंसात्मक नहीं कहा जा सकता"।[11] आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की भाँति गाँधी जी भी अपराध को एक रोग मानते हैं जिसका समुचित उपचार करना समाज का कर्तव्य है। उनका विचार है कि अन्याय और शोषण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के फलस्वरूप ही अपराध का जन्म होता है अत हमें अपराधी को दंड देने के स्थान पर इस व्यवस्था में सुधार करना चाहिए। अपराधी के प्रति हमारी सहानुभूति होनी चाहिए, क्योंकि वह इस अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का शिकार है।[12] गाँधी जी का दृढ़ विश्वास है कि सत्याग्रही अपने स्नेह, सौहार्द तथा निश्छल एवं उदारतापूर्ण व्यवहार द्वारा अपराधी को उचित मार्ग पर ला सकता है। इस प्रकार उनके विचार में सत्याग्रह का उद्देश्य तथा प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, कठोर अपराधियों को सुधारने के लिए भी इसका प्रयोग किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

4. सत्याग्रह के विभिन्न रूप

सत्याग्रही स्वेच्छया कष्ट सहने तथा उपवास करने के अतिरिक्त कुछ अन्य उपायों द्वारा भी अन्यायी और अत्याचारी शासकों को उचित मार्ग पर लाने का प्रयास कर सकते हैं। इन उपायों में गाँधी जी ने असहयोग, सविनय अवज्ञा, धरना, सामाजिक बहिष्कार, हड़ताल आदि का उल्लेख किया है। इन सबका प्रयोग सामाजिक एवं राजनीतिक अन्याय तथा अत्याचार का अंत करने के लिए किए जाने वाले सत्याग्रह के अंतर्गत किया जा सकता है, अत इन्हें सत्याग्रह के विभिन्न रूप कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इनके संबंध में गाँधी जी का कथन है कि ये सभी पूर्णत सत्य और अहिंसा के अनुरूप ही होने चाहिए। इनका प्रयोग करते समय किसी भी रूप में असत्य और हिंसा का आधार लेना अथवा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इनका प्रयोग करना इस सिद्धांत का उल्लंघन है।

5 सत्याग्रह की व्यावहारिकता

यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि गाँधी जी का यह सत्याग्रह कहाँ तक व्यावहारिक और उपादेय है? इसकी व्यावहारिकता के विषय में कुछ विचारकों ने अनेक शंकाएँ

11 हरिजन 13 मई 939 पृष्ठ 2
12 अगस्त 946 पृष्ठ 255

उठाई हैं जिनका स्वयं गाँधी जी ने उत्तर दिया है। उदाहरणार्थ आर्थर मूर ने नैतिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से सत्याग्रह की श्रेष्ठता में संदेह किया है। उनका कथन है कि सत्याग्रह ऐसे लोगों के लिए ही संघर्ष का साधन है जिनके पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। इसी कारण वे सत्याग्रह को 'मानसिक हिंसा' कहते हैं और इसे विद्रोह अथवा युद्ध की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट नहीं मानते।[13] परंतु सत्याग्रह के विषय में आर्थर मूर का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। हम देख चुके हैं कि गाँधी जी सत्याग्रही के लिए मन, वचन तथा कर्म से पूर्णतः सत्य और अहिंसा का पालन करना अनिवार्य मानते हैं। उनका स्पष्ट और निश्चित मत है कि सत्याग्रही को हिंसात्मक उपायों द्वारा किसी व्यक्ति को कुछ करने या न करने के लिए कभी भी बाध्य नहीं करना चाहिए। ऐसी हिंसात्मक बाध्यता सत्याग्रह के मूल सिद्धांत के विरुद्ध है। अपने इस विचार को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी ने लिखा है कि "हमें अच्छे कार्य के लिए भी बाध्यता का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किसी भी प्रकार की बाध्यता हमारे उद्देश्य को ही नष्ट कर देगी। हमारा आंदोलन हृदय-परिवर्तन का आंदोलन है, बाध्यता का आंदोलन नहीं, यह अत्याचारी को भी बाध्य नहीं करता"।[14] इस प्रकार गाँधी जी के सत्याग्रह में किसी प्रकार की हिंसात्मक बाध्यता के लिए कोई स्थान नहीं है।

इसके अतिरिक्त सत्याग्रही कभी किसी व्यक्ति का अहित नहीं चाहता और किसी के प्रति कोई दुर्भावना भी नहीं रखता। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह को 'मानसिक हिंसा' कहना उचित नहीं माना जा सकता। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि गाँधी जी के अनुसार सत्याग्रह दुर्बल अथवा कायर व्यक्ति का हथियार नहीं है, क्योंकि इसके लिए महान धैर्य, आत्मसंयम तथा नैतिक बल की आवश्यकता होती है और ये गुण कायर मनुष्य में नहीं पाए जाते। सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न न समझने के कारण ही आर्थर मूर ने इसे दुर्बल व्यक्तियों का हथियार मान लिया है। परंतु हम देख चुके हैं कि सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से मूलतः भिन्न है, अतः इसके संबंध में आर्थर मूर का उपर्युक्त मत उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है।

एक अन्य विचारक सी० एम० केस ने सत्याग्रह की व्यावहारिकता के संबंध में गम्भीर संदेह व्यक्त किया है। उनका कथन है कि अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष के लिए आदर्श की दृष्टि से सत्याग्रह बहुत प्रशंसनीय और प्रभावशाली साधन है, किंतु मनुष्य की सीमाओं एवं दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए इसकी व्यावहारिकता बहुत संदिग्ध प्रतीत होती है। यह मनुष्य से जिस धैर्य, मानवीयता, आत्मसंयम, कष्ट सहने की शक्ति तथा उच्च नैतिक स्तर की माँग करता है उसे अधिकतर व्यक्ति अभी प्राप्त नहीं कर सके हैं।[15] इस प्रकार केस के मतानुसार सत्याग्रह का सिद्धांत एक महान आदर्श अवश्य है, किंतु वह व्यावहारिक जीवन-दर्शन नहीं है। उनकी इस आपत्ति का उत्तर देते हुए गाँधी जी ने कहा है कि सत्याग्रह के दर्शन के अनुसार आचरण करने के लिए असाधारण स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता नहीं है, पर्याप्त अभ्यास के पश्चात् सामान्य व्यक्ति भी अपने व्यावहारिक जीवन में इसे कार्यान्वित कर सकते हैं। बहुत से साधारण व्यक्तियों ने सफलतापूर्वक सत्याग्रह का प्रयोग किया है।[16] निश्चय ही इसके लिए धैर्य, उदारता, सहनशीलता, आत्मसंयम आदि सद्गुणों की आवश्यकता है। गाँधी जी का विचार है कि प्रत्येक

---

13 'महात्मा गाँधी', संपादक सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पृष्ठ 192-193.

14 यंग इंडिया', 17 अप्रैल 1930,

15 सी० एम० केस (नॉन-वॉयोलेंट कोअर्शन) पृष्ठ 406

16 हरिजन 3 [illegible] 1940 पृष्ठ 98

व्यक्ति निरन्तर अभ्यास और प्रयत्न द्वारा अपने भीतर इन सद्गुणो का विकास कर सकता है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुछ समाज-सुधारको के सतत् प्रयास के फलस्वरूप मानवजाति ने दासता, मनुष्य-बलि, बाल-हत्या आदि ऐसी दुष्प्रथाओ से मुक्ति प्राप्त की है जिनका निराकरण मनुष्य की दुर्बलता और स्वार्थपरायणता को देखते हुए उस समय असभव समझा जाता था। इससे स्पष्ट है कि गाँधी जी के मतानुसार मनुष्य निरतर प्रयत्न द्वारा कालातर मे सत्य और अहिसा के मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक नैतिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार गाँधी जी सत्याग्रह को आदर्श मात्र न मानकर पूर्णत व्यावहारिक मानते हैं। फिर भी, सत्याग्रह की व्यावहारिकता के सबध मे उनका यह मत व्यावहारिक जीवन के कटु यथार्थ की उपेक्षा करता है। इस सबध मे सी० एम० केस का मत वास्तविकता के अधिक निकट प्रतीत होता है।

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे सत्याग्रह के प्रयोग के विषय मे गाँधी जी यह स्वीकार करते है कि व्यक्तिगत सत्याग्रह की अपेक्षा सामूहिक सत्याग्रह मे अधिक कठिनाइयो और समस्याओ का सामना करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि एक-दो व्यक्तियो की अपेक्षा बहुत से व्यक्तियो मे एक साथ आत्मसयम, सहनशीलता, धैर्य, दु ख सहने की शक्ति, नैतिक बल आदि वे सद्गुण उत्पन्न करना अधिक कठिन है जो सत्याग्रह के लिए अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति की अपेक्षा समूह मे नैतिक अनुशासन स्थापित करना भी अधिक कठिन होता है। यही कारण है कि सामूहिक सत्याग्रह कभी-कभी सत्य और अहिसा के मार्ग से हट जाता है। परन्तु इन सब कठिनाइयो के होते हुए भी गाँधी जी सामूहिक सत्याग्रह की सफलता के सबध मे आश्वस्त हैं। उनका विचार है कि एक व्यक्ति की भाँति बड़े समूह को भी सत्य और अहिसा के मार्ग पर चलने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। वे यह नही मानते कि सत्याग्रह का मार्ग केवल व्यक्ति तक ही सीमित है और बहुत से व्यक्तियो का समूह इसका सफलतापूर्वक अनुसरण नही कर सकता ।[17] यदि समूह को समुचित नेतृत्व तथा प्रशिक्षण प्राप्त हो तो व्यक्ति की भाँति उसमे सत्याग्रह के लिए आवश्यक सभी सद्गुण उत्पन्न हो सकते है और वह भी अनुशासनबद्ध होकर सत्य एव अहिसा के मार्ग का अनुसरण कर सकता है। दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत मे लाखो व्यक्तियो को सत्याग्रह के लिए सगठित करके गाँधी जी ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि अनेक कठिनाइयो और समस्याओ के होते हुए भी सफल सामूहिक सत्याग्रह सभव है। उनके सामूहिक सत्याग्रह मे सम्मिलित होने वाले बहुत से व्यक्ति निरक्षर अथवा बहुत कम पढ़े-लिखे थे। इससे गाँधी जी ने अपने इस विश्वास को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सत्याग्रह के लिए असाधारण तथा प्रतिभाशाली व्यक्तियो का होना आवश्यक नही है। अपने दृढ सकल्प और सतत् प्रयास द्वारा कोइ भी व्यक्ति सत्याग्रह के कठिन मार्ग पर सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार गाँधी जी सामूहिक सत्याग्रह की कठिनाइयो को स्वीकार करते हुए भी उसकी व्यावहारिकता मे किचित्मात्र भी सदेह नही करते।

सत्याग्रह की व्यावहारिकता तथा सफलता मे गाँधी जी के इस दृढ विश्वास का कारण उनकी यह आधारभूत मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य मे स्नेह, मैत्री, करुणा आदि सद्वृत्तियाँ अनिवार्यत विद्यमान रहती है जिनके फलस्वरूप वह दूसरो के दु ख मे कुछ सीमा तक अवश्य प्रभावित होता है। कठोर से कठोर व्यक्ति भी दूसरो के दु ख के प्रभाव से पूर्णत मुक्त अथवा उदासीन नही रह सकता। अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी ने लिखा है — ''आध्यात्मिक शक्ति की अग्नि के द्वारा कठोरतम हृदय भी द्रवित हो जाता है। नीरो जैसा अत्याचारी व्यक्ति भी प्रेम के

हरिजन 2 93 पृष्ठ

परिणामस्वरूप मेमने के समान निरीह हो जाता है''।[18] मानव मात्र की अच्छाई मे अपने इसी दृढ विश्वास के कारण गाँधी जी सत्याग्रह की सफलता को निश्चित मानते हैं। उनके विचार मे कठोर से कठोर अत्याचारी को भी सत्याग्रह द्वारा सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। वास्तविक सत्याग्रही कभी असफल और पराजित नही होता, क्योकि उसकी शक्ति दूसरो को कष्ट पहुँचाने मे नही अपितु स्वय अधिकाधिक दु ख झेलने में ही निहित रहती है। अपनी इसी नैतिक शक्ति द्वारा वह अन्याय और अत्याचार करने वाले व्यक्ति को सुधारने मे कभी न कभी अवश्य सफल हो जाता है। इसमे उसे पर्याप्त समय लग सकता है और बहुत कष्ट भी सहन करना पड सकता है, किंतु वह अपने प्रयास मे असफल नही हो सकता। वह अपना सत्याग्रह तब तक नही छोडता जब तक उसे अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त नही हो जाती। गाँधी जी का कथन है कि सत्याग्रही का विरोधी उसे कष्ट पहुँचाकर अपनी पराजय और उसकी सफलता को निश्चित बना देता है। मौनभाव से निरंतर दु ख झेलते रहने के कारण सत्याग्रही के प्रति सभी लोगो के मन मे सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है जो अतत उसके उद्देश्य की पूर्ति मे बहुत सहायक सिद्ध होती है। इस प्रकार गाँधी जी सत्याग्रह की व्यावहारिकता और सफलता के विषय में बहुत आशावादी तथा पूर्णत आश्वस्त हैं। गाँधी जी ने लगभग चालीस वर्ष तक भारतवासियों को सत्याग्रह की शिक्षा दी और इसकी सफलता के लिए स्वय निरतर अधिकतम प्रयास भी किया। परतु यह एक कटु सत्य है कि हमने वास्तव मे सत्याग्रह के मार्ग पर चलना नही सीखा और आज भी हमारे समाज मे वास्तविक सत्याग्रह का कोई स्थान नहीं है। हॉ, कुछ व्यक्ति तथा समुदाय अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सत्याग्रह के नाम का दुरुपयोग अवश्य कर रहे है। उनके लिए सत्याग्रह अपने सकुचित उद्देश्यो की पूर्ति का सुविधाजनक साधन मात्र है। यही कारण है कि आज सत्याग्रह की सार्थकता और उपादेयता ही सदिग्ध प्रतीत होने लगी है।

जहाँ तक हमे ज्ञात है, स्वतत्रता के पश्चात् भारत की राजनीति मे सत्याग्रह की सफलता का कोई उदाहरण उपलब्ध नही होता। पिछले दिनो देश मे लगभग उन्नीस मास तक सकटकालीन स्थिति लागू रही और इस अवधि मे अधिनायकवादी शासकों तथा प्रभावशाली व्यक्तियो ने निरीह जनता का निर्लज्ज शोषण किया, उस पर भयकर अत्याचार किए। इस सपूर्ण अवधि मे लाखों निर्दोष लोगों को जो क्रूर शारीरिक तथा मानसिक यातनाएँ दी गई उनकी करुण कथाओ से तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएँ भरी पडी थी। परंतु यह एक दुर्भाग्यपूर्ण और कटु सत्य है कि इस अन्याय शोषण तथा अत्याचार के विरुद्ध कोई सामूहिक सत्याग्रह सगठित नही किया जा सका। व्यक्तिगत स्तर पर सत्याग्रह के जो थोडे से प्रयास हुए वे पूर्णत असफल रहे, क्योकि उन्हे तत्कालीन क्रूर शासको ने बड़ी निर्दयतापूर्वक कुचल दिया। इस अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध जनसाधारण सगठित रूप से सत्याग्रह करने का साहस तक नही कर सका। भारतीय राजनीति और समाज मे सत्याग्रह की अव्यावहारिकता एव असफलता का यह प्रत्यक्ष तथा ज्वलत प्रमाण है। जब सत्याग्रह के जन्मदाता भारत की यह स्थिति है तो अन्य देशो मे उसकी सफलता की क्या आशा की जा सकती है? तथापि, हिसा और अशाति से ग्रस्त विश्व के लिए सत्याग्रह एक महान आदर्श है जिसके अनुसार यथासभव आचरण करना निश्चय ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर होगा।

18 स्पीचेज ऐंड राइटिंग्ज ऑफ गाँधी जी० ए० नाटेसन पृष्ठ 393

भाग 3
धर्म-दर्शन

20

कान्ट का धर्मदर्शन

1. सामान्य परिचय

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में इमैनुअल कान्ट (1724-1804) का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उन्होने दर्शन के क्षेत्र मे उसी प्रकार नवीन तथा क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किए हैं जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे कॉपरनिकस ने किए थे। दर्शन के क्षेत्र मे कान्ट के विशेष महत्त्व का उल्लेख करते हुए अनेक विचारकों ने उनकी तुलना प्लेटो, अरस्तू, सेंट अगस्टाइन, सेंट ऐक्विनास आदि महान दार्शनिकों के साथ की है। जिस समय कान्ट ने अपने दार्शनिक सिद्धातो का प्रतिपादन किया उस समय पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवाद तथा अनुभववाद इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओ के समर्थकों मे सघर्ष चल रहा था। बुद्धिवाद के समर्थक केवल तर्कबुद्धि को और अनुभववाद के समर्थक केवल अनुभव को मनुष्य के सपूर्ण ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानते थे। इन दोनों विचारधाराओ के गुण-दोषों से भलीभाँति परिचित होने के कारण कान्ट ने मानवीय ज्ञान की व्याख्या करने के लिए इन दोनो का समुचित समन्वय करने का प्रयास किया। उनकी ज्ञानमीमासा का मूल सिद्धात यह है कि किसी भी वास्तविक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुभव और तर्कबुद्धि दोनों ही समान रूप से अनिवार्य है। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम अनुभवजन्य सवेदन अनिवार्य है, किंतु जब तक हमारी तर्कबुद्धि इन सवेदनो को परस्पर सबद्ध नही करती तब तक हम उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से मनुष्य की सवेदन-शक्ति और तर्कबुद्धि दोनो का समान महत्त्व है। अपने इसी मूल सिद्धात के आधार पर कान्ट ने मानव के समस्त ज्ञान की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इसी कारण ज्ञानमीमासा की दृष्टि से उनके दर्शन को अनुभववाद तथा बुद्धिवाद का युक्तिसगत समन्वय प्रस्तुत करने वाला दर्शन माना जा सकता है।

कान्ट के दर्शन के सबध मे अधिकतर विचारकों का यह मत है कि ज्ञानमीमासा तथा नैतिकता की दृष्टि से ही उसका विशेष महत्त्व है। परतु वास्तव में कान्ट के दर्शन का क्षेत्र ज्ञानमीमासा और नैतिकता तक ही सीमित नही है, सौंदर्यशास्त्र तथा धर्मदर्शन की मूल समस्याओ के विषय मे भी उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धातों का प्रतिपादन किया है। इस लेख मे हम धर्मदर्शन संबंधी कुछ प्रमुख समस्याओ के विषय मे उनकी आधारभूत मान्यताओ पर विचार करेंगे। इस सबध मे सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कान्ट नैतिकता की भाँति धर्म को भी सैद्धातिक तर्कबुद्धि का विषय न मानकर व्यावहारिक तर्कबुद्धि का विषय ही मानते हैं। उनके मतानुसार सैद्धातिक तर्कबुद्धि की सहायता से हम अनुभवमूलक जगत् का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह तर्कबुद्धि हमे बताती है कि हमारे, अनुभवजन्य ज्ञान के मूल तत्त्व क्या हैं और किन परिस्थितियो मे हमारा यह ज्ञान सत्य अथवा मिथ्या होता है इस प्रकार सैद्धातिक तर्कबुद्धि का क्षेत्र हमारे

अनुभवमूलक ज्ञान तक ही सीमित है, अतः इसके द्वारा हम आत्मा, ईश्वर आदि ऐसी किसी सत्ता को प्रमाणित या अप्रमाणित नही कर सकते जो अनुभवातीत मानी जाती है। दूसरे शब्दो मे, हमारी सैद्धातिक तर्कबुद्धि हमे आत्मा तथा ईश्वर की सत्ता का ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ है, क्योकि ये हमारे अनुभव के विषय नही हैं। परंतु कान्ट के विचार मे इसका अर्थ यह नही है कि आत्मा तथा ईश्वर का अस्तित्व नही है और ये निरर्थक शब्द मात्र हैं। वस्तुत वे आत्मा और ईश्वर को व्यावहारिक तर्कबुद्धि के विषय ही मानते हैं। व्यावहारिक तर्कबुद्धि का कार्य हमें सासारिक वस्तुओ का ज्ञान प्रदान करना नहीं, अपितु अपने कर्तव्य का ज्ञान कराना है — अर्थात यह हमे बताती है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह व्यावहारिक तर्कबुद्धि ही आत्मा तथा ईश्वर को आवश्यक पूर्वमान्यताओ के रूप में स्वीकार करने के लिए हमें बाध्य करती है। इस प्रकार कान्ट के विचार मे हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि ही नैतिकता और धर्म दोनो का मूल आधार है। सैद्धातिक तर्कबुद्धि ज्ञान की सीमाओ को निर्धारित करके नैतिकता और धर्म की आधारभूत पूर्वमान्यताओ — आत्मा तथा ईश्वर — को स्वीकार करने के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। आत्मा और ईश्वर को मनुष्य के ज्ञान की परिधि से परे प्रमाणित करके सैद्धातिक तर्कबुद्धि केवल आस्था के आधार पर इनके अस्तित्व में विश्वास करने के लिए हमे बाध्य करती है। इस दृष्टि से नैतिकता और धर्म के लिए सैद्धातिक तर्कबुद्धि का योगदान भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। परतु कान्ट धर्म को सैद्धातिक विषय न मानकर जीवन के प्रति विशेष व्यावहारिक दृष्टिकोण के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि धर्मपरायण होने का अर्थ आत्मा, ईश्वर आदि इंद्रियातीत सत्ताओ से संबंधित सिद्धातो को स्वीकार करना नही अपितु व्यावहारिक जीवन मे विशेष दृष्टिकोण के अनुरूप आचरण करना ही है। इसी कारण वे धर्म को सैद्धातिक तर्कबुद्धि का विषय न मानकर व्यावहारिक तर्कबुद्धि का विषय ही मानते हैं। हम अगले खडो मे देखेगे कि धर्म सबधी अपनी इसी मान्यता के आधार पर कान्ट ने आत्मा तथा ईश्वर और मानव-जीवन पर धर्म के प्रभाव का विवेचन किया है।

2. रूसो और ह्यूम का प्रभाव

ईश्वर तथा आत्मा के विषय मे कान्ट के मत का विवेचन करने से पूर्व धर्म के सबंध मे उनके दृष्टिकोण पर सक्षेप मे विचार कर लेना आवश्यक है। यद्यपि कान्ट धर्मपरायण व्यक्ति थे और ईसाई धर्म के मूल सिद्धातो को स्वीकार करते थे, फिर भी वे धर्म से सबद्ध आडम्बर, रूढिवाद तथा आचारके विरोधी थे। वे यह मानते थे कि उपासना, चमत्कारो मे आस्था, बाइबल द्वारा घोषित धार्मिक सिद्धातो मे विश्वास तथा धार्मिक कर्मकाड धर्म के अनिवार्य अग नहीं हैं, इन सबका त्याग कर देने पर भी धर्म मे मनुष्य की वास्तविक आस्था को आघात नही पहुँचता। इसका कारण यह है कि वास्तविक धर्म बाह्य कर्मकाड पर निर्भर न होकर मनुष्य के शुभाचरण पर आधारित है और नैतिकता मे ही उसका मूल तत्त्व निहित है। कान्ट के मतानुसार सच्चा धर्मपरायण व्यक्ति वही है जो अपने नैतिक कर्तव्य के अनुरूप सदा आचरण करता है, ऐसे व्यक्ति के लिए धर्म सबधी बाह्य कर्मकाड का पालन करना आवश्यक नही है। अपनी पुस्तक 'रिलिजन विदिन दि लिमिट्स ऑफ रीजन अलोन' मे उन्होंने धर्म को नैतिकता का ही अभिन्न अग माना है और इसी आधार पर मानव-जीवन मे उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार धर्म मे दृढ आस्था रखते हुए भी कान्ट ने उस रूढीवाद तथा बाह्य कर्मकाड को स्वीकार नही किया जो शताब्दियो से धर्म के साथ प्रायः सबद्ध रहा है।

धर्म के विषय मे कान्ट के उपर्युक्त दृष्टिकोण पर फ्रास के महान विचारक रूसो के विचारो का

पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अपनी पुस्तक 'इमाइल' में रूसो ने नैतिकता के आधार पर धर्म की व्याख्या की है। उनके अनुसार धर्म का अर्थ कुछ विशेष सिद्धांतो को स्वीकार करना नही, अपितु नैतिकता के अनुरूप सदाचरण करना ही है। धर्म मनुष्य की तर्कबुद्धि से सबंधित न होकर उसके हृदय – अर्थात उसकी भावनाओ – से ही सबंधित है। रूसो धर्म से सबद्ध चमत्कारो की सभावना को अस्वीकार करते हैं और कर्मकाड सबधी धर्म के बाहय पक्ष को भी कोई महत्त्व नही देत। उनका मत है कि मनुष्य को अपनी अतश्चेतना द्वारा ही ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है और यह अतश्चेतना प्रत्येक व्यक्ति मे जन्म से विद्यमान रहती है, अत धर्म और नैतिकता केवल कुछ दार्शनिको अथवा विचारको के लिए ही नही, अपितु सभी मनुष्यो के लिए सहज रूप से उपलब्ध हैं।[1] धर्म के सबध मे रूसो के इन विचारो से कान्ट बहुत प्रभावित हुए। उन्होने अपने धर्मदर्शन पर रूसो के प्रभाव को स्वयं स्पष्टत स्वीकार किया है। इस सबध मे वे कहते हैं कि ''रूसो ने मुझे उचित मार्ग दिखाया। रूसो दूसरे न्यूटन हैं। न्यूटन ने बाहय प्रकृति के विज्ञान को प्रस्तुत किया और रूसो ने मनुष्य के आतरिक विज्ञान को। जिस प्रकार न्यूटन ने बाहय विश्व मे व्यवस्था और नियमितता का पता लगाया उसी प्रकार रूसो ने मनुष्य के आतरिक स्वभाव की खोज की''।[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कान्ट रूसो का बहुत आदर करते थे और वे उनके विचारो से पर्याप्त सीमा तक प्रभावित थे। इस प्रकार कान्ट के धर्मदर्शन के विकास मे रूसो के विचारो का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

रूसो के अतिरिक्त ह्यूम के धर्म सबधी परम्परा विरोधी विचारो का भी कान्ट के धर्मदर्शन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। ह्यूम के धर्मदर्शन का अध्ययन करने से पूर्व कान्ट यह मानते थे कि जगत् के रचियता के रूप मे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है। 1763 मे लिखित अपनी एक संक्षिप्त कृति 'दि ओनली पॉसिबल प्रुफ ऑफ दि बीइंग ऑफ गॉड' मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणो से युक्त ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित किया जा सकता है। परन्तु धर्म और ईश्वर के विषय मे ह्यूम के विचारो के अध्ययन करने के फलस्वरूप इन विषयो मे सबधित कान्ट के विचारो मे आमूल परिवर्तन हुआ। इस बात के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं कि अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन' लिखने से पूर्व कान्ट ने ह्यूम की पुस्तक 'डायलाग्ज़ कन्सर्निंग नेचरल रिलीजन' का 1780 मे अध्ययन किया था जो तब तक जर्मन भाषा मे अनूदित हो चुकी थी। इस पुस्तक मे ह्यूम ने कारणमूलक प्रमाण तथा प्रयोजनमूलक प्रमाण की जो प्रबल आलोचना की थी उससे कान्ट बहुत प्रभावित हुए, फलत उन्होने अपनी इस मान्यता को छोड दिया कि ईश्वर की सत्ता को युक्तियो द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। जैसा कि हम अगले खंड मे देखेंगे, कान्ट ने 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन' मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तर्को अथवा युक्तियो द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना सभव नही है। उनकी इस आधारभूत मान्यता पर ह्यूम के विचारो का प्रभाव स्पष्टत देखा जा सकता है। वे ह्यूम के इस मत को स्वीकार करते हैं कि मानवीय अनुभव से परे कारण और कार्य के नियम का प्रयोग नही किया जा सकता, अत अनुभवातीन ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिय कारणमूलक प्रमाण देना युक्तिसगत नहीं है। कान्ट ने ह्यूम के इस ". का भी समर्थन किया है कि प्रत्यय-सत्ता-युक्ति द्वारा ईश्वर के 'अनिवार्य अस्तित्व' को प्रमाणित नही किया जा सकता क्योंकि हम जिसके अस्तित्व का विचार करते है उसके अनस्तित्व की भी कल्पना कर सकते हैं। वस्तुत: वे ह्यूम की इस आधारभूत मान्यता को स्वीकार करते हैं कि जब तर्कबुद्धि द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है तो ऐसी अनेक जटिल

1 रूसो 'इमाइल', बी फाक्सले द्वारा अँग्रेज़ी मे अनूदित पृ 228.
2 एच जे डी व्लीशावर, 'दि डेवलपमेंट ऑफ काटियन थॉट', पृ 39-40

समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं जिनका संतोषप्रद समाधान खोजना संभव प्रतीत नहीं होता। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कान्ट के धर्मदर्शन पर ह्यूम के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वस्तुत यह कहना अनुचित न होगा कि ह्यूम के क्रांतिकारी विचारों ने कान्ट के धर्मदर्शन को ही नहीं अपितु उनके संपूर्ण दर्शन को एक नवीन दिशा प्रदान की। इस तथ्य को कान्ट ने स्वयं यह कहकर स्वीकार किया है कि ह्यूम ने ही उनकी मोहनिद्रा को भंग करके उन्हें जगाया।

3 ईश्वर के अस्तित्व संबंधी परंपरागत युक्तियों का खंडन

हम पिछले खंडों में देख चुके हैं कि कान्ट आत्मा तथा ईश्वर को तर्कबुद्धि के विषय नहीं मानते और वे ह्यूम के इस मत का समर्थन करते हैं कि तर्कों अथवा युक्तियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अपनी इसी मान्यता के कारण उन्होंने अपनी पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन' में उन सभी परंपरागत युक्तियों का खंडन किया है जो ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए शताब्दियों से प्रस्तुत की जाती रही हैं। इनमें प्रत्यय-सत्ता-युक्ति, जगत्-कारण-युक्ति और प्रयोजन-युक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कान्ट ने अनेक तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ये सभी युक्तियाँ दोषपूर्ण हैं, अत इनमें से किसी भी युक्ति द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना संभव नहीं है। वे इस संबंध में तर्कबुद्धि के संपूर्ण प्रयास को व्यर्थ मानते हैं। यहाँ हम ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित उपर्युक्त तीनों परंपरागत युक्तियों के विषय में कान्ट के मत पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(1) **प्रत्यय-सत्ता-युक्ति** . इस युक्ति को कान्ट आधारभूत तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युक्ति मानते हैं। इस युक्ति की विशेषता यह है कि इसका आधार हमारा अनुभव न होकर 'पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय' ही है। इस युक्ति को सर्वप्रथम संत ऐन्सैल्म ने प्रस्तुत किया और उनके पश्चात् संत ऐक्विनास, डेकार्ट, लाइबनीज, हीगेल आदि दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में इसका समर्थन किया है। इस युक्ति में ईश्वर के स्वरूप के आधार पर उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। इसके समर्थक पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। उनका कथन है कि हम सबके मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है जिससे ऐसे ईश्वर की सत्ता अनिवार्यत प्रमाणित होती है। अस्तित्व का अभाव एक अपूर्णता है जो पूर्ण ईश्वर में नहीं हो सकती, अत पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य है। यह कहना कि पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तार्किक दृष्टि से स्वतोव्याघाती है, क्योंकि पूर्ण ईश्वर में अनस्तित्व की अपूर्णता नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रत्यय-सत्ता-युक्ति में ईश्वर की पूर्णता के प्रत्यय से ही उसके अस्तित्व को तार्किक दृष्टि से निगमित करने का प्रयास किया गया है। अन्य दो युक्तियों के विपरीत इस युक्ति का मानवीय अनुभव से कोई संबंध नहीं है, क्योंकि इसमें किसी भी सांसारिक वस्तु के अनुभव के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। मानवीय अनुभव का आधार न लेने के कारण ही इस युक्ति को 'अनुभवनिरपेक्ष युक्ति' कहा जाता है। इसका एकमात्र आधार ईश्वर की पूर्णता का प्रत्यय है जिससे ईश्वर के अस्तित्व को निगमित किया गया है।

कान्ट ने उपर्युक्त प्रत्यय-सत्ता-युक्ति का खंडन करते हुए इसके विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं। सर्वप्रथम उनका कथन है कि 'पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय' द्वारा वास्तविक ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। यदि यह मान भी लिया जाए कि हमारे मन में पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय है तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वास्तव में पूर्ण ईश्वर की सत्ता है। इसका कारण यह है कि हम केवल किसी

प्रत्यय के आधार पर वास्तविक वस्तु के अस्तित्व का अनुमान नहीं लगा सकते। इस प्रकार पूर्ण ईश्वर का प्रत्यय उसके अनिवार्य और वास्तविक अस्तित्व का प्रमाण नहीं हो सकता जैसा कि प्रत्यय-सत्ता-युक्ति के समर्थक मानते हैं। इस युक्ति के विरुद्ध कान्ट की दूसरी आपत्ति यह है कि इसमें 'अस्तित्व' को भी अन्य गुणों की भाँति एक गुण मान लिया गया है जिसका ईश्वर में विद्यमान होना उसकी पूर्णता के लिए अनिवार्य है। परन्तु वास्तव में 'अस्तित्व' गुणबोधक शब्द नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु का अस्तित्व है तो 'अस्तित्व' शब्द द्वारा हम उस वस्तु के किसी नवीन गुण की ओर संकेत नहीं करते, हमारे इस कथन का अर्थ यही है कि वह वस्तु हमारे मन की कल्पना मात्र न होकर वस्तुत: जगत् में विद्यमान है। स्पष्ट है कि किसी वस्तु के लिए अस्तित्व शब्द का प्रयोग करने से उसके किसी विशेष गुण का बोध नहीं होता। इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए प्रत्यय-सत्ता-युक्ति के समर्थकों ने ईश्वर की पूर्णता के लिए 'अस्तित्व' को भी उसका अनिवार्य गुण मान लिया है और इसी दोषपूर्ण मान्यता के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वास्तव में पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व है। परंतु इससे पूर्ण ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि 'अस्तित्व' कोई गुण न होने के कारण ईश्वर की पूर्णता के लिए अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार प्रत्यय-सत्ता-युक्ति के समर्थकों की यह मान्यता भ्रामक है कि ईश्वर की पूर्णता में उसके अन्य गुणों के साथ-साथ उसका अस्तित्व भी अनिवार्यत: निहित है। जैसा कि हम पिछले खंड में देख चुके हैं, इसी कारण कान्ट ह्यूम के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि हम जिस वस्तु के अस्तित्व के विषय में सोच सकते हैं उसके अनस्तित्व का भी विचार कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर की पूर्णता के साथ उसका अस्तित्व अनिवार्यत: संबद्ध नहीं है, अत: हम उसके अनस्तित्व का भी विचार कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के अनस्तित्व की कल्पना करना हमारे लिए तार्किक दृष्टि से असंगत नहीं होगा। संक्षेप में कान्ट का मत है कि पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय से हम वास्तविक ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, अत: प्रत्यय-सत्ता-युक्ति ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर पाती।

(2) **जगत्-कारण-युक्ति** अनुभवनिरपेक्ष प्रत्यय-सत्ता-युक्ति की इस असफलता को ध्यान में रखते हुए अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए कुछ ऐसी युक्तियाँ दी हैं जो मानवीय अनुभव पर आधारित हैं। इन युक्तियों में सांसारिक वस्तुओं के अनुभव के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। जगत्-कारण-युक्ति ऐसी ही अनुभवाश्रित युक्ति है। अपनी पुस्तक 'सम्मा थियोलॉजिका' में सर्वप्रथम सेंट ऐक्विनास ने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए यह युक्ति प्रस्तुत की है। उनके पश्चात् डेकार्ट तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने भी किसी न किसी रूप में इस युक्ति का समर्थन किया है। इन दार्शनिकों का कथन है कि जगत् के आदि कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि जगत् में प्रत्येक वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है और कारणता का यह सिद्धांत संपूर्ण जगत् पर भी लागू होता है — अर्थात् हमारा जगत् भी अकारण नहीं हो सकता। इससे यह प्रमाणित होता है कि जगत् का आदि कारण अवश्य है और यह आदि कारण ईश्वर ही हो सकता है, कोई अस्थायी तथा स्वयं किसी अन्य कारण से उत्पन्न वस्तु नहीं। इसके अतिरिक्त जगत् में कारणों की अनंत श्रृंखला से बचने के लिए भी ऐसे आदि कारण के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है जो स्वयंभू है — अर्थात् जिसका कोई कारण नहीं है। इस प्रकार जगत्-कारण-युक्ति में अनुभवाश्रित कारणता के सिद्धांत द्वारा संपूर्ण विश्व के मूल आधार अथवा आदि कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास

किया गया है, अत इसे कारणमूलक युक्ति भी कहा जाता है।

कान्ट ने प्रत्यय-सत्ता-युक्ति की भाँति जगत्-कारण-युक्ति का भी खडन किया है। इस युक्ति के विरुद्ध उनकी प्रथम आपत्ति यह है कि इसमे कारणता के सिद्धात का अनुचित ढग से प्रयोग किया गया है। उनका कथन है कि हम केवल अनुभवमूलक जगत् की वस्तुओ की व्याख्या करने के लिए ही कारणता के सिद्धात का प्रयोग कर सकते हैं और ऐसी वस्तुओ की व्याख्या के लिए यह सिद्धात बहुत उपयोगी है, किंतु अपने अनुभव से बाहर जाकर हम इस सिद्धात का प्रयोग नही कर सकते। ईश्वर को अनुभवातीत माना जाता है, अत उसकी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए इस सिद्धात का प्रयोग करना निरर्थक है। वस्तुतः कान्ट का विचार है कि हम ऐसी वस्तुओ के सबध मे ही कारण और कार्य के सिद्धात का प्रयोग कर सकते हैं जिनका ज्ञान हमारे लिए देश-काल के अतर्गत प्राप्त करना सभव है। परतु ईश्वर देश-कालातीत है, अत उसका अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए यह सिद्धात हमारी कोई सहायता नही कर सकता। इस प्रकार सपूर्ण जगत् को कार्य मानकर उसके कारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है। जगत्-कारण-युक्ति के विरुद्ध कान्ट की दूसरी आपत्ति यह है कि इसके समर्थक कारणो की अनत श्रृखला को अनुचित मान लेते है और अपनी इसी मान्यता के आधार पर जगत् के आदि कारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयत्न करते है। परतु प्रश्न यह है कि कारणो की अनत श्रृखला को अनुचित मानने का हमारे पास क्या आधार है। हमारा अनुभव इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ससार मे कारणो की श्रृखला कभी समाप्त नही होती — अर्थात् हम ऐसी किसी वस्तु को नही जानते जिसके अस्तित्व का कोई कारण न हो। ऐसी स्थिति मे हम किस आधार पर यह कह सकते हैं कि कारणो की अनत श्रृखला अनुचित है, अत इससे बचने के लिए जगत् के आदि कारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है? वस्तुत ईश्वर को जगत् का आदि कारण मानने की अपेक्षा ससार मे कारणो की अनत श्रृखला को ही अनिवार्य मान लेना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। इस प्रकार कान्ट के मतानुसार कारणो की अनत श्रृखला को अनुचित मानकर उससे बचने के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नही किया जा सकता। जगत्-कारण-युक्ति के विरुद्ध कान्ट ने तीसरी आपत्ति यह उठाई है कि इसके समर्थक ईश्वर की निरुपाधिक अनिवार्यता मे विश्वास करते हैं, किंतु वास्तव मे हमारे लिए निरुपाधिक अनिवार्यता का विचार बोधगम्य नही है। इस युक्ति के समर्थको का कथन है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु अस्थायी है और वह अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर रहती है। परतु ईश्वर शाश्वत है और वह अन्य किसी वस्तु पर निर्भर नही है। इस दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व की अनिवार्यता निरुपाधिक है — अर्थात् वह किन्ही परिस्थितियो के सयोग पर आधारित नहीं है। परंतु कान्ट का मत है कि हम कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही किसी वस्तु के अस्तित्व की अनिवार्यता की बात समझ सकते हैं, अत हमारे लिए ईश्वर की निरुपाधिक अनिवार्यता का विचार निरर्थक है। दूसरे शब्दो मे, सभी परिस्थितियो से पृथक ईश्वर की अनिवार्यता के विचार को हम कभी नही समझ सकते, यही कारण है कि ईश्वर की निरुपाधिक अनिवार्यता हमारे लिए अबोधगम्य और निरर्थक हो जाती है। उपर्युक्त सभी आपत्तियो के आधार पर कान्ट ने यही निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्यय-सत्ता-युक्ति की भाँति जगत्-कारण-युक्ति भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने मे असमर्थ है।

(3) **प्रयोजन-युक्ति :** ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए उपर्युक्त दो परपरागत युक्तियों के अतिरिक्त एक अन्य युक्ति भी प्रस्तुत की गई है जिसे प्रयोजन-युक्ति कहा जाता है। सेंट

ऐक्विनास ने अपनी पुस्तक 'सम्मा थियोलॉजिका' में जगत्-कारण-युक्ति के साथ-साथ प्रयोजन-युक्ति का भी समर्थन किया है। उनके अतिरिक्त विलियम पैले भी इस युक्ति के प्रबल समर्थक माने जाते हैं। जगत्-कारण-युक्ति की भाँति यह युक्ति भी मूलत मानवीय अनुभव पर ही आधारित है। इसके समर्थकों का कथन है कि हम संसार में विद्यमान व्यवस्था और प्रयोजन के आधार पर उसके रचयिता — अर्थात् ईश्वर — के अस्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं। हमारा अनुभव इस तथ्य की पुष्टि करता है कि इस जगत् में व्यवस्था है और संपूर्ण प्रकृति कुछ निश्चित नियमों द्वारा शासित होती है। समस्त ग्रह तथा नक्षत्र ऐसे निश्चित प्राकृतिक नियमों के अधीन गतिशील हैं जिनमें एकरूपता पाई जाती है और जो कभी परिवर्तित नहीं होते। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी के सभी अंगों का एक निश्चित उद्देश्य अथवा प्रयोजन है और वह है उसे जीवित रखना तथा उसके विकास में सहायता देना। इन सभी तथ्यों से स्पष्ट है कि इस जगत् के मूल में एक निश्चित प्रयोजन है जो इसके रचयिता की ओर संकेत करता है। यह रचयिता सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर ही हो सकता है, क्योंकि वही इतने विशाल ब्रह्मांड की रचना करके उसमें व्यवस्था स्थापित कर सकता है। इस प्रकार प्रयोजन-युक्ति के समर्थक जगत् की व्यवस्था और प्रयोजनशीलता के आधार पर उसके रचयिता ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करते है।

अन्य दोनों युक्तियों की अपेक्षा प्रयोजन-युक्ति अधिक लोकप्रिय रही है और स्वयं कान्ट भी इसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस युक्ति के संबंध में उनका कथन है कि "यह सब से प्राचीन, स्पष्टतम और मनुष्य की तर्कबुद्धि के सर्वाधिक अनुरूप है"।[3] संभवत इसी कारण कान्ट ने इस युक्ति का उतनी दृढ़ता से खंडन नहीं किया जितनी दृढ़ता से ह्यूम ने अपनी पुस्तक 'डाएलॉग्ज कन्सरनिंग नैचुरल रिलिजन' में किया है। फिर भी कान्ट इसे ईश्वर के अस्तित्व के लिए पर्याप्त प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। इस युक्ति के विरुद्ध उनकी प्रथम आपत्ति यह है कि यदि इसे उचित मान लिया जाए तो अधिक से अधिक इसके द्वारा विश्व के शिल्पी का ही अनुमान लगाया जा सकता है, जगत् को उत्पन्न करने वाले ईश्वर का नहीं। इस युक्ति के आधार पर हम केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि कोई ऐसा शिल्पी है जिसने पहले से विद्यमान सामग्री का उपयोग करके एक विशेष प्रयोजन के अनुसार इस विश्व की रचना की है। स्पष्ट है कि ऐसा शिल्पी असीमित ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि पहले से विद्यमान सामग्री इसे सीमित कर देती है। दूसरे शब्दों में, इस शिल्पी का कार्य मानव शिल्पी के कार्य के समान ही उपलब्ध सामग्री को नया रूप देने तक ही सीमित हो जाता है। इस प्रकार यह युक्ति असीमित ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में असमर्थ है। प्रयोजन-युक्ति के विरुद्ध कान्ट ने दूसरी आपत्ति यह उठाई है कि हमारे सीमित अनुभव पर आधारित होने के कारण यह युक्ति सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं कर सकती। जगत् के संबंध में अपने अनुभव के आधार पर हम केवल यही अनुमान लगा सकते हैं कि इसकी रचना करने वाला शिल्पी 'अत्यधिक बुद्धिमान' तथा 'अत्यधिक शक्तिशाली' होगा। इसके आधार पर हमारे लिए यह कहना संभव नहीं है कि वह 'सर्वज्ञ' एवं 'सर्वशक्तिमान' ईश्वर है। इस प्रकार प्रयोजन-युक्ति को उचित मान लेने पर भी हम जगत् के विषय में अपने सीमित अनुभव द्वारा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वाधिक दयालु ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकते।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कान्ट के समय में प्रयोजन-युक्ति द्वारा ही जीवों के विकास की

3 कान्ट, मलैक्शन्स, सम्पादक टी एम ग्रीन न्यूयार्क 1929 पृ 260

व्याख्या की जाती थी, क्योंकि तत्कालीन विचारक उस जैविक विकासवाद से अनभिज्ञ थे जिसकी खोज उन्नीसवी शताब्दी मे चार्ल्स डारविन तथा उनके साथियो ने की। कान्ट ने प्रयोजन-युक्ति की जो प्रशसा की है और उसे जो सीमित महत्त्व दिया है उसका सभवत यही कारण है। यह कहना कठिन है कि यदि कान्ट जैविक विकासवाद सबधी वैज्ञानिक अनुसधानो से अवगत होते तो वे प्रयोजन-युक्ति की कोई उपयोगिता स्वीकार करते अथवा नही। ईश्वर के अस्तित्व से सबंधित परपरागत युक्तियो के विषय मे उनके बुद्धिवादी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए यह कहना युक्तिसगत ही प्रतीत होता है कि ऐसी स्थिति मे वे सभवत प्रयोजन-युक्ति का अधिक दृढतापूर्वक खडन करते। परन्तु, जैसा कि हम देख चुके है, प्राणियो के विकास के विषय में जैविक विकासवाद सबधी विकल्प के उपलब्ध न होते हुए भी, उन्होंने प्रयोजन-युक्ति के विरुद्ध अनेक आपत्तियॉं उठाई है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अन्य दो युक्तियो की भॉंति यह युक्ति भी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वाधिक दयालु ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने मे असमर्थ है। इस प्रकार सभी परपरागत युक्तियो के सबध मे कान्ट का अतिम निष्कर्ष यही है कि इनके द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नही किया जा सकता, अत ईश्वर हमारी सैद्धातिक तर्कबुद्धि का विषय नही हो सकता।

यहॉं यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ईश्वर के सबध मे अपने उपर्युक्त निष्कर्ष द्वारा कान्ट निरीश्वरवाद का समर्थन नहीं करते। उनका मत है कि यदि सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नही कर सकती तो वह उसके अनस्तित्व को भी प्रमाणित करने मे असमर्थ है। वस्तुत अनुभवातीत होने के कारण ईश्वर सैद्धातिक तर्कबुद्धि के ज्ञान का विषय ही नही है, अत हम तर्को अथवा युक्तियो द्वारा ईश्वर की सत्ता को न तो प्रमाणित कर सकते हैं और न अप्रमाणित। ऐसी स्थिति मे निरीश्वरवादियो द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को अप्रमाणित करने का प्रयास उतना ही निरर्थक है जितना ईश्वरवादियो द्वारा उसकी सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास। कान्ट के मतानुसार इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को हमारे समक्ष प्रस्तुत करके सैद्धातिक तर्कबुद्धि ईश्वर के प्रति हमारी आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

4 आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता

हम देख चुके है कि कान्ट आत्मा तथा ईश्वर को सैद्धातिक तर्कबुद्धि द्वारा जाने जा सकने वाले विषय नही मानते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि हमारे लिए सैद्धातिक तर्कबुद्धि द्वारा आत्मा तथा ईश्वर को जानना और इनके अस्तित्व को प्रमाणित कर सकना सभव नही है, क्योंकि ये हमारे अनुभव की परिधि से बाहर हैं। ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि कान्ट किस आधार पर आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता से सबधित विश्वास की व्याख्या करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर मे उनका कथन है कि यद्यपि हम सैद्धातिक तर्कबुद्धि द्वारा आत्मा तथा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते और तर्को अथवा युक्तियो द्वारा इनके अस्तित्व को भी प्रमाणित नही कर सकते फिर भी नैतिकता के लिए व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यताओ के रूप मे इन्हे स्वीकार करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। अपनी पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन'' में उन्होंने विस्तारपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नैतिकता के लिए व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यताओ के रूप मे सकल्पस्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। सकल्पस्वातन्त्र्य का सबध कान्ट के नैतिक दर्शन से है, अत यहॉं हम इसका विवेचन न करके उनके धर्मदर्शन से सबधित आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता के विषय मे ही उनके मत पर विचार करेंगे

कान्ट ने मनुष्य की 'नैतिक पूर्णता' संबंधी अपनी प्राक्कल्पना के आधार पर ही आत्मा की अमरता से संबंधित विश्वास को अनिवार्य प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका विचार है कि कर्तव्य को स्वतः साध्य समझते हुए — अर्थात् उसे अन्य किसी प्रयोजन की पूर्ति का साधन न मानते हुए — सदैव केवल अपनी कर्तव्यचेतना से प्रेरित होकर कर्म करना नैतिक पूर्णता के लिए आवश्यक है। बौद्धिक प्राणी होने के नाते यह नैतिक पूर्णता प्राप्त करना हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की अनिवार्य माँग है। परन्तु कान्ट के मतानुसार मनुष्य के लिए अपने सीमित जीवनकाल में यह नैतिक पूर्णता प्राप्त करना संभव नहीं है, क्योंकि उसकी भावनाएँ तथा मूलप्रवृत्तियाँ इसमें सदा बाधा डालती रहती हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के स्वभाव का अबौद्धिक अथवा भावनात्मक पक्ष उसकी नैतिक पूर्णता के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। इसी कारण नैतिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए मानव-स्वभाव के इस अबौद्धिक पक्ष पर पूर्ण विजय प्राप्त करना आवश्यक है। परंतु यह मनुष्य के एक ही जीवन-काल में संभव नहीं है, इसके लिए उसे अनंत काल तक प्रयास करना होगा। नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए मनुष्य का यह अनंत प्रयास तभी संभव और सार्थक है जब आत्मा की सत्ता तथा अमरता को स्वीकार किया जाए। इसी युक्ति के आधार पर कान्ट ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि नैतिक पूर्णता के लिए आत्मा की सत्ता और अमरता को स्वीकार करना हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की अनिवार्य माँग है। यही कारण है कि उन्होंने आत्मा को सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि के ज्ञान का विषय न मानकर केवल व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता के रूप में ही स्वीकार किया है।

आत्मा की अमरता की भाँति ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने के लिए भी कान्ट ने नैतिक युक्ति ही प्रस्तुत की है। आत्मा के समान ही ईश्वर को भी वे सैद्धांतिक तर्कबुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान का विषय न मानकर व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता ही मानते हैं। ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखने के लिए उन्होंने जो नैतिक युक्ति प्रस्तुत की है वह इस प्रकार है — नैतिकता की यह अनिवार्य माँग है कि प्रत्येक व्यक्ति कर्तव्य को अपने आप में साध्य मानकर उसका निरंतर पालन करता रहे और इसके लिए किसी प्रकार के पुरस्कार की इच्छा अथवा आशा न करे। इसी कर्तव्य-चेतना को कान्ट ने 'शुभ संकल्प' की संज्ञा दी है जो उनके विचार में 'निरपेक्ष शुभ' है — अर्थात् जिसका शुभत्व किन्हीं विशेष परिस्थितियों पर निर्भर नहीं है। यद्यपि वे कर्तव्य को स्वतः साध्य मानते हैं, फिर भी उनका विचार है कि निस्स्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य का निरंतर पालन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आनंद अवश्य प्राप्त होना चाहिए — यह हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की माँग है। इसी कारण कान्ट विशुद्ध कर्तव्य-चेतना अथवा 'शुभ संकल्प' को निरपेक्ष शुभ मानते हुए भी उसे 'पूर्ण शुभ' नहीं मानते। उनके अनुसार 'पूर्ण शुभ' वही है जिसमें कर्तव्य-चेतना तथा आनंद दोनों सम्मिलित हों और ऐसे 'पूर्ण शुभ' की प्राप्ति प्रत्येक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति का अधिकार है। दूसरे शब्दों में, हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की यह उचित माँग है कि स्वार्थरहित होकर अपने कर्तव्य का पालन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उसकी कर्तव्यनिष्ठा के अनुपात में आनंद अवश्य प्राप्त होना चाहिए। परन्तु हम जानते हैं कि प्रायः संसार में ऐसा नहीं होता, अतः व्यावहारिक तर्कबुद्धि की इस माँग की पूर्ति के लिए एक ऐसी शक्ति की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है जो प्रत्येक व्यक्ति के साथ न्याय करे — अर्थात् उसकी कर्तव्यनिष्ठा के अनुपात में उसे आनंद प्रदान करे। यह शक्ति ईश्वर ही है जो शाश्वत्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा न्यायशील होने के कारण सभी व्यक्तियों के प्रति उचित न्याय कर सकता है। यदि ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न किया जाए तो किसी भी व्यक्ति के लिए 'पूर्ण शुभ' की प्राप्ति सम्भव नहीं है, अतः कर्तव्यनिष्ठा के साथ आनंद को संबद्ध करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व में है इस प्रकार कान्ट पूर्ण

'शुभ' की प्राप्ति मे सबंधित व्यावहारिक तर्कबुद्धि की माँग की पूर्ति के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, असीम, शाश्वत् एव न्यायशील ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य मानते हैं। इसी प्रकार 'पूर्ण शुभ' की प्राप्ति के लिए उन्होने आत्मा की अमरता मे विश्वास करना भी आवश्यक माना है, क्योंकि उनके अनुसार मनुष्य अपने सीमित जीवनकाल मे यह 'पूर्ण शुभ' प्राप्त नहीं कर सकता। सक्षेप मे कान्ट 'पूर्ण शुभ' संबंधी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की माँग के आधार पर ही आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता मे आस्था रखना आवश्यक मानते हैं।

आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता के विषय में कान्ट की यह नैतिक युक्ति कहाँ तक उचित एवं तर्कसंगत है इस प्रश्न पर हम अगले खड मे विचार करेगे। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि कान्ट इस नैतिक युक्ति को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनका विचार है कि इस युक्ति को स्वीकार कर लेने पर आत्मा और ईश्वर के संबध मे धर्मपरायण व्यक्ति का दृष्टिकोण अधिक नम्रतापूर्ण तथा उदार हो सकता है। इसका कारण यह है कि नैतिक युक्ति के आधार पर वह आत्मा तथा ईश्वर को व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यताओ के रूप मे ही स्वीकार कर सकता है, वह इन दोनो के विषय मे सैद्धातिक ज्ञान प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकता। वह जानता है कि आत्मा और ईश्वर सैद्धांतिक तर्कबुद्धि के ज्ञान के विषय न होकर व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यताएँ मात्र हैं, अतः वह इनकी सत्ता स्वीकार करने के लिए ऐसे किसी भी व्यक्ति को बाध्य नही कर सकता जिसकी इनमे आस्था नही है। वह इस सबध मे सैद्धांतिक युक्तियो की व्यर्थता को समझता है, अत आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने अथवा इनके प्रति अन्य व्यक्तियो मे आस्था उत्पन्न करने के लिए वह ऐसी युक्तियाँ प्रस्तुत नही करता। इस प्रकार कान्ट के मतानुसार आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता के विषय मे उपर्युक्त नैतिक युक्ति मनुष्य मे धार्मिक सहिष्णुता उत्पन्न करती है।

परतु यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या नैतिक युक्ति की यह उपयोगिता उसे वास्तव मे उचित एव प्रामाणिक सिद्ध करती है। इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही प्रतीत होता है, क्योंकि किसी युक्ति की उपयोगिता उसकी प्रामाणिकता की कसौटी नही हो सकती। वस्तुत यह नैतिक युक्ति ऐसे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नही कर सकती जिसकी पूजा अथवा उपासना धर्मपरायण व्यक्ति करता है। ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से यह मानता है कि उसके आराध्य ईश्वर की उसके विचारों से पृथक एव स्वतत्र सत्ता है। वह ईश्वर को नित्य अथवा शाश्वत मानकर उसका स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार करता है। परतु कान्ट द्वारा प्रस्तुत नैतिक युक्ति ऐसे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित करने मे असमर्थ प्रतीत होती है, क्योकि इस युक्ति के अनुसार ईश्वर हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की एक पूर्वमान्यता मात्र है। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए कान्ट ने स्वय कहा है कि "यह नैतिक युक्ति ईश्वर के अस्तित्व के लिए कोई वस्तुगत प्रमाण प्रस्तुत नही करती, यह सशयवादी के लिए इस तथ्य को प्रमाणित नही करती कि ईश्वर है, यह कवल इतना ही सिद्ध करती है कि यदि वह नैतिकता के अनुरूप विचार करना चाहता है तो उसे व्यावहारिक तर्कबुद्धि की मान्यता के रूप मे ईश्वर का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार नैतिकता मे आस्था रखने वाले मनुष्य के लिए यह एक व्यक्तिनिष्ठ युक्ति है"।[4] इससे स्पष्ट है कि नैतिक युक्ति जिस ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करती है वह व्यक्ति के विचारों से पृथक तथा स्वतंत्र नही है। नैतिक युक्ति के इस अनिवार्य परिणाम को स्पष्टत स्वीकार करते हुए कान्ट स्वय कहते हैं कि

4 वही पुस्तक पृ० 5 4

"ईश्वर मुझसे पृथक अथवा बाहर न होकर स्वयं मेरे भीतर एक विचार मात्र है।. ईश्वर की सत्ता कर्तव्य सबधी ऐसे निरपेक्ष आदेश के कारण ही है जिसके समक्ष स्वर्ग, धरती तथा पाताल मे सभी नतमस्तक होते हैं"।[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि कान्ट की नैतिक युक्ति ईश्वर को एक व्यक्तिनिष्ठ विचार मात्र बना देती है; यह ऐसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु तथा शाश्वत् ईश्वर के स्वतत्र अस्तित्व को प्रमाणित नही करती जो भक्तो का आराध्य है। वस्तुत: कान्ट के धर्मदर्शन की यह कठिनाई उनकी ज्ञानमीमासा का अनिवार्य परिणाम है, क्योकि इसके अनुसार हमारे लिए किसी भी अनुभवातीत वस्तु का सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त करना सभव नही है और इसी आधार पर उन्होने अनुभवातीत ईश्वर के सैद्धातिक ज्ञान की सभावना को अस्वीकार किया है। इस कठिनाई के अतिरिक्त उनके धर्मदर्शन की कुछ अन्य समस्याएँ भी हैं जिन पर हम अगले खंड मे विचार करेगे।

5. मूल्यांकन

पिछले खडो मे हमने धर्म, आत्मा तथा ईश्वर से सबधित कान्ट की कुछ प्रमुख मान्यताओ का विवेचन किया है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनके धर्मदर्शन मे नैतिकता और आस्था का विशेष महत्त्व है। वस्तुत यह कहना अनुचित न होगा कि धर्मदर्शन सबंधी उनकी सभी प्रमुख मान्यताएँ मूलत नैतिकता एव आस्था पर ही आधारित हैं। हम देख चुके हैं कि वे बाह्य कर्मकांड के स्थान पर शुभाचरण को ही धर्म का सारतत्त्व मानते हैं। धर्म के विषय मे उनका यह नैतिकतापरक दृष्टिकोण कर्मकाड को अत्यधिक महत्त्व देने वाले परपरागत धार्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है, उनका यह मत उचित ही है कि वास्तविक धर्म मनुष्य द्वारा कृत कुछ विशेष प्रकार के बाह्य कर्मो मे निहित न होकर उसके शुभ संकल्प द्वारा प्रेरित कर्तव्य के अनुरूप किए गए सद्कर्मो मे ही निहित रहता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत की गई परपरागत युक्तियो के विरुद्ध कान्ट ने जो गभीर आपत्तियाँ उठाई हैं उनका आज भी बहुत से दार्शनिक समर्थन करते हैं। अनेक समकालीन दार्शनिक कान्ट की इस आधारभूत मान्यता को स्वीकार करते हैं कि अनुभवातीत ईश्वर हमारे सैद्धांतिक ज्ञान का विषय नही हो सकता, अत. तर्को अथवा युक्तियो द्वारा उसकी सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। यही बात आत्मा की सत्ता और अमरता के विषय मे भी कही जा सकती है। इस प्रकार ज्ञानमीमासा और नैतिकता की भाँति धर्मदर्शन के क्षेत्र मे भी कान्ट के विचारो को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है।

परतु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नही होगा कि कान्ट का धर्मदर्शन दोषो अथवा कठिनाइयो से पूर्णत: मुक्त है। आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए कान्ट ने जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनके विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। हम देख चुके हैं कि उन्होने नैतिक पूर्णता के आधार पर ही आत्मा की अमरता को स्वीकार करना अनिवार्य माना है, किंतु उनका यह मत युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता। इसके विरुद्ध निम्नलिखित आपत्ति उठाई जा सकती है। एक ओर तो कान्ट यह कहते हैं कि मनुष्य के लिए नैतिक पूर्णता प्राप्त करना सभव है, क्योकि यदि यह सभव न होता तो नैतिक पूर्णता के लिए प्रयास करना उसका कर्तव्य नही हो सकता था। परतु दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि नैतिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए अनत काल की आवश्यकता है जिसका स्पष्ट अर्थ यही है कि मनुष्य के लिए नैतिक पूर्णता प्राप्त करना असभव है

5 कान्ट ओपस पोस्टमम' ई एडिकेस पृ० 819 820

यदि वास्तव में कभी भी नैतिक पूर्णता प्राप्त करना सभव नही है तो उस पर आधारित आत्मा की अमरता सबधी पूर्वमान्यता निरर्थक हो जाती है। इस प्रकार व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता के रूप मे आत्मा की अमरता को स्वीकार करने के लिए कान्ट ने जो आधार प्रस्तुत किया है वह उचित एव तर्कसगत प्रतीत नहीं होता।

इसके अतिरिक्त आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता से संबंधित पूर्वमान्यताओ को स्वीकार करने के लिए कान्ट ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं उनमे भी असगति दिखाई देती है। आत्मा की अमरता के लिए वे नैतिक पूर्णता को अनिवार्य मानते हैं और उनके विचार मे मनुष्य के लिए नैतिक पूर्णता प्राप्त करना तभी सभव है जब वह अपनी समस्त भावनाओ तथा मूल प्रवृत्तियों से पूर्णतया मुक्त हो जाए। परतु ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए वे यह तर्क देते हैं कि 'पूर्ण शुभ' की प्राप्ति -- अर्थात् प्रत्येक कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को उसकी कर्तव्यनिष्ठा के अनुपात मे आनद प्रदान करने के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। परतु प्रश्न यह है कि नैतिक पूर्णता प्राप्त करने के फलस्वरूप जब मनुष्य अपने भावनात्मक पक्ष का अत कर देगा तो वह आनद का अनुभव कैसे कर सकता है। आनंद की स्थिति मूलत. सवेगात्मक अथवा भावनात्मक स्थिति है जिसका अनुभव करना नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य के लिए सभव नहीं है, अत उसकी कर्तव्यनिष्ठा के अनुपात मे उसे आनंद प्रदान करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनावश्यक तथा निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार नैतिक पूर्णता के आधार पर आत्मा की अमरता और 'पूर्ण शुभ' की प्राप्ति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व की अनिवार्यता को प्रमाणित करने के लिए कान्ट ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं उनमें पारस्परिक सगति नही है, फलत. ये तर्क न तो आत्मा की अमरता को प्रमाणित करते हैं और न ईश्वर की सत्ता को।

हम देख चुके है कि कान्ट ईश्वर के विषय में सैद्धातिक ज्ञान की सभावना को अस्वीकार करते हुए उसे व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता मात्र मानते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारे लिए किसी भी रूप मे ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करना तथा उसका ज्ञान प्राप्त करना सभव नही है। ऐसी स्थिति मे हमारे पास यह मानने का कोई युक्तिसगत आधार नहीं है कि ईश्वर की हमारे विचारो से स्वतंत्र एव पृथक सत्ता है और उसीके द्वारा हमारे लिए पूर्ण शुभ की प्राप्ति सभव है। परतु कान्ट अपने सिद्धांत के इस अनिवार्य परिणाम को पूर्णत स्वीकार करने के लिए उद्यत प्रतीत नही होते। जैसा कि हम पहले सकेत कर चुके हैं, वे ईश्वर की सत्ता के विषय में दो परस्पर विरोधी सिद्धातो का समर्थन करते हैं। एक ओर तो वे यह कहते हैं कि हमारे विचारो से भिन्न तथा स्वतत्र ईश्वर की सत्ता नही है और दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि पूर्ण शुभ की प्राप्ति को सभव बनाने के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एव शाश्वत् ईश्वर का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है। वस्तुत: उनकी इन दो परस्पर विरोधी मान्यताओं मे सगति स्थापित करना संभव प्रतीत नहीं होता। यदि ईश्वर का हमारे विचारो से पृथक एव स्वतंत्र अस्तित्व नही है तो यह कहना निरर्थक हो जाता है कि वह हमारे लिए पूर्ण शुभ की प्राप्ति को सभव बनाता है। इसके विपरीत यदि यह माना जाए कि ईश्वर की स्वतत्र सत्ता है तो कान्ट के अपने सिद्धात के अनुसार हम सैद्धातिक दृष्टि से न तो ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित कर सकते हैं और न उसका ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी जटिल समस्या का समाधान करने के लिए उन्होंने ईश्वर को केवल व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता के रूप मे स्वीकार किया है। परतु वास्तव मे इससे उपर्युक्त समस्या का समाधान नही होता। कान्ट स्वय यह मानते हैं कि हम केवल सैद्धातिक तर्कबुद्धि द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तर्कबुद्धि द्वारा नहीं उनके

व्यावहारिक तर्कबुद्धि का कार्य हमे किसी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्रदान करना नही, अपितु केवल यह बताना है कि हमे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। दूसरे शब्दो में, व्यावहारिक तर्कबुद्धि हमारे ज्ञानात्मक पक्ष से सबंधित न होकर केवल नैतिक पक्ष से ही सबंधित है। अब यह समझना कठिन नही है कि व्यावहारिक तर्कबुद्धि द्वारा हम किसी भी रूप मे ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। ऐसी स्थिति मे हमारे लिए यह जानना भी सभव नही है कि ईश्वर व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता है। इस प्रकार कान्ट तर्कसगत रूप मे यह सिद्ध करने में सफल नही हो पाए कि हमे व्यावहारिक तर्कबुद्धि की पूर्वमान्यता के रूप मे ईश्वर की सत्ता को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

जैसा कि हम पिछले खडो मे देख चुके हैं, कान्ट का विचार है कि सैद्धांतिक दृष्टि से आत्मा तथा ईश्वर को अज्ञेय प्रमाणित करके सैद्धातिक तर्कबुद्धि इनके प्रति हमारी आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। परतु प्रश्न यह है कि आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता के प्रति हमारी इस आस्था का आधार क्या है। इस प्रश्न के उत्तर मे कान्ट केवल इतना ही कहते हैं कि ये हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि की आवश्यक पूर्वमान्यताएँ हैं। वे स्वय स्वीकार करते हैं कि हमारे लिए किसी भी रूप मे आत्मा और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना सभव नही है, क्योकि ये हमारे अनुभव की परिधि से बाहर हैं। कान्ट के इस मूल सिद्धात को ध्यान मे रखते हुए यह कहना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है कि आत्मा और ईश्वर की सत्ता में हमारी आस्था का कोई वास्तविक एव तर्कसंगत आधार नही है। किसी वस्तु के प्रति हमारी आस्था का होना तभी सभव है जब हमे उसके स्वरूप का कुछ ज्ञान हो। परतु कान्ट के मतानुसार आत्मा तथा ईश्वर हमारे लिए सैद्धातिक दृष्टि से पूर्णत. अज्ञेय हैं— अर्थात् किसी भी रूप मे उनका ज्ञान प्राप्त करने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। ऐसी स्थिति मे उनके प्रति हमारी आस्था का कोई आधार नही रह जाता और इसी कारण ऐसी निराधार आस्था की सभावना ही समाप्त हो जाती है। जो कुछ हमारे लिए पूर्णत अज्ञात और अज्ञेय है उसके प्रति किसी प्रकार की आस्था रखना हमारे लिए सभव नही है। इस प्रकार कान्ट की यह मान्यता उचित एव युक्तिसंगत प्रतीत नही होती कि सैद्धांतिक तर्कबुद्धि आत्मा और ईश्वर को पूर्णत अज्ञेय सिद्ध करके उनके प्रति हमारी आस्था के लिए वास्तव मे मार्ग प्रशस्त करती है।

कान्ट स्वयं यह मानते हैं कि हम अनुभवातीत आत्मा तथा ईश्वर के लिए द्रव्य, देश-काल, कारण-कार्य आदि अवधारणाओ का प्रयोग नहीं कर सकते। स्पष्टत. इसका अर्थ यही है कि हम आत्मा और ईश्वर के विषय मे सार्थकतापूर्वक कुछ भी नही कह सकते। उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आत्मा तथा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए कान्ट ने जो नैतिक युक्ति प्रस्तुत की है वह उनके इस मूल सिद्धात के विरुद्ध है। इस युक्ति मे उन्होंने, आत्मा को अनत काल तक बना रहने वाला तथा ईश्वर को पूर्ण शुभ की प्राप्ति संभव बनाने वाला मानकर इन दोनो के विषय मे स्वय देश-काल, कारण-कार्य आदि अवधारणाओ का प्रयोग किया है। यह समझना कठिन नहीं है कि आत्मा तथा ईश्वर के संबध मे इन अवधारणाओ का प्रयोग करना, उनके अपने मूल सिद्धात के विरुद्ध है। वस्तुत अपने इस मूल सिद्धात पर दृढ रहते हुए वे आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता के विषय मे युक्तिसगत रूप से कुछ भी नही कह सकते। परतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपनी नैतिक युक्ति द्वारा वे अपने ही मूल सिद्धात के विरुद्ध आत्मा की अमरता और ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं, जिससे उनके विचारो मे असंगति उत्पन्न हो जाती है।

वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मपरायण व्यक्ति होने के कारण कान्ट आत्मा तथा ईश्वर

के विषय में उन निषेधात्मक निष्कर्षों को स्वीकार करने में बहुत कठिनाई का अनुभव करते हैं जो उनकी ज्ञानमीमांसा संबधी आधारभूत मान्यताओं के अनिवार्य निष्कर्ष हैं। वे अपनी ज्ञानमीमांसा के इन निषेधात्मक अनिवार्य निष्कर्षों को सैद्धांतिक ज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित रखना चाहते हैं। जहाँ तक आत्मा तथा ईश्वर के सैद्धांतिक ज्ञान का संबंध है, वे संशयवादी दार्शनिक ह्यूम के इस मत का समर्थन करते है कि मनुष्य के लिए यह ज्ञान प्राप्त करना संभव नही है। परन्तु मानवीय ज्ञान की इस सीमा के जिस अनिवार्य निष्कर्ष को ह्यूम ने स्पष्टत स्वीकार किया है उसे कान्ट अपने धार्मिक विचारो के कारण स्वीकार नही करना चाहते। अपने अनुभववादी सिद्धात के अनुरूप ह्यूम यह मानते थे कि अनुभवातीत आत्मा तथा ईश्वर की सत्ता के विषय मे हम कुछ नही जान सकते, अत: इनके संबध मे कोई निश्चित निर्णय न देना ही हमारे लिए उचित एव तर्कसगत मार्ग है। जब हमारी तर्कबुद्धि आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित या अप्रमाणित नही कर सकती तो इनके विषय मे अपने निर्णय को स्थगित कर देने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई उपाय नही रह जाता। वस्तुत: अज्ञेयवाद का यही तर्कसगत अनिवार्य निष्कर्ष है। परन्तु कान्ट मानवीय ज्ञान की सीमाओ के विषय मे ह्यूम के मत का समर्थन करते हुए भी अज्ञेयवाद के इस अनिवार्य निष्कर्ष को स्वीकार नही करते, क्योंकि यह निष्कर्ष ईश्वरवाद पर आधारित धर्म के अनुरूप नही है। केवल आस्था का आधार लेकर वे मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे आत्मा तथा ईश्वर की अवधारणाओं का वही महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए रखना चाहते हैं जो शताब्दियों से स्वीकार किया जाता रहा है किन्तु जिसके लिए हमारे पास कोई तर्कसगत आधार नही है।

निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि कान्ट ने अपनी पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन' मे आत्मा तथा ईश्वर से संबधित परपरागत विचारधारा का जो समर्थन किया है वह उनकी ज्ञानमीमांसा के मूल सिद्धात के अनुरूप प्रतीत नही होता।

21

क्या धार्मिक वाक्य सार्थक है?

1. समस्या की पृष्ठभूमि

हम अपने दैनिक जीवन में प्राय अनेक धार्मिक वाक्य बोलते तथा सुनते हैं। उदाहरणार्थ हम कहते हैं 'ईश्वर सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान है', 'ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता, पालनकर्ता और सहारक है', 'आत्मा अजर और अमर है', 'ईश्वर की आज्ञा अथवा इच्छा के विरुद्ध कर्म करना पाप और ईश्वराराधना करना पुण्यकर्म है', 'मनुष्य को इस जन्म अथवा अगले जन्म मे अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है', 'मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को अपने कर्मानुसार स्वर्ग अथवा नरक मे स्थान प्राप्त होता है', 'ईश्वर प्रेममय है और वह हमारी प्रार्थना सुनता है तथा हमारी सहायता करता है' इत्यादि। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि धार्मिक वाक्य हमारे इंद्रियजन्य अनुभव पर आधारित न होकर ईश्वर, आत्मा, पाप पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि इंद्रियातीत प्रत्ययो से सबधित होते हैं। इन वाक्यों का मुख्य उद्देश्य किसी अलौकिक सत्ता में वक्ता की आस्था एव श्रद्धा व्यक्त करना ही होता है। इससे स्पष्ट है कि ये धार्मिक वाक्य उन तथ्यात्मक वाक्यो से भिन्न हैं जिनका उद्देश्य इस जगत् मे सबधित किन्ही तथ्यो का वर्णन करना होता है और जो हमारे इंद्रियजन्य अनुभव पर आधारित होते हैं। अलौकिक सत्ता एव इंद्रियातीत प्रत्ययों से संबध धार्मिक वाक्यों की प्रमुख विशेषता है जो उन्हें तथ्यात्मक, संवेगात्मक तथा नैतिक वाक्यों से पृथक करती है। संक्षेप मे तथ्यात्मक, संवेगात्मक तथा नैतिक वाक्यो के विपरीत धार्मिक कथनों मे अलौकिक अथवा अतींद्रिय शक्तियो के प्रति मनुष्य की आस्था व्यक्त होती है।

प्राचीन काल से मानव-जीवन में धार्मिक भाषा का विशेष महत्त्व रहा है। सामान्य व्यक्ति ही नहीं, अपितु बहुत-से महान विचारक भी धार्मिक कथनो की सत्यता मे विश्वास करते रहे हैं और आज भी करते हैं। वे यह मानते हैं कि धार्मिक वाक्य जिन इंद्रियातीत एवं अलौकिक शक्तियों की ओर संकेत करते हैं उनकी सत्ता असंदिग्ध है। परतु अनेक दार्शनिक धर्मपरायण विचारकों की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते। उदाहरणार्थ बहुत प्राचीन काल से ही निरीश्वरवादी धार्मिक कथनो को असत्य मानते रहे हैं और अज्ञेयवादी तथा सदेहवादी इन कथनो की सत्यता में संदेह करते रहे हैं। इसी प्रकार पुद्गल को एकमात्र अंतिम सत्ता स्वीकार करते हुए भौतिकवादियों ने भी धार्मिक कथनों को मिथ्या और महत्त्वहीन ही माना है। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि धार्मिक कथनो की सत्यता में संदेह करने की प्रवृत्ति भी उतनी ही प्राचीन है जितनी इन कथनों को सत्य एव प्रामाणिक मानने की परपरा।

परतु वर्तमान शताब्दी में कुछ अनुभववादी विचारकों ने धार्मिक वाक्यों की सत्यता एव प्रामाणिकता पर बिल्कुल नये ढंग से जो आक्रमण किया है उसका उदाहरण हमें प्राचीन युग में प्राप्त नहीं होता। इनमे से कुछ विचारक धार्मिक कथनों को मिथ्या और महत्त्वहीन ही नहीं, प्रत्युत

नितांत निरर्थक मानते हैं। भाषा-विश्लेषण के आधार पर इन विचारकों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से न सत्य हैं और न मिथ्या, अत. इन कथनों को वास्तव मे सार्थक नहीं माना जा सकता। इसका अभिप्राय यह है कि धार्मिक कथनो के संबंध में वाद-विवाद करना उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार 'गोल चतुर्भुज' के विषय मे वाद-विवाद करना जिसका वास्तव मे अस्तित्व संभव ही नही है। धार्मिक कथनों की सार्थकता के सबंध मे उन सभी विचारको की यही मान्यता है जो तर्कीय प्रत्यक्षवाद मे विश्वास करते हैं और जो इंद्रियानुभविक कथनों को ही तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक मानते हैं। इस प्रकार भाषा-विश्लेषण के आधार पर तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने धार्मिक वाक्यों की सार्थकता का निषेध किया है। परंतु कुछ अन्य विचारक अनुभववाद तथा भाषा-विश्लेषण के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी धार्मिक कथनों को निरर्थक नही मानते। अगले खंडो मे धार्मिक कथनो की सार्थकता के सबंध मे इन दोनों प्रकार के विचारको की प्रमुख मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन तथा मूल्याकन करने का प्रयास किया जाएगा। परतु धार्मिक भाषा के विषय में इन दार्शनिकों के मत पर विचार करने से पूर्व समकालीन दर्शन मे भाषा-विश्लेषण सबधी नवीन धारा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सबध में कुछ शब्द कह देना आवश्यक है।

आजकल पाश्चात्य दर्शन में भाषा-विश्लेषण से संबधित इस नई धारा को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। कुछ दार्शनिक तो शब्दार्थों का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण ही दर्शन का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं। उनका मत है कि दर्शन का कार्य अंतिम सत्ता की खोज अथवा अनुभवातीत निरपेक्ष सिद्धातो की स्थापना करना नही, अपितु विभिन्न क्षेत्रो मे प्रयुक्त भाषा के अर्थ का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करना ही है। इस प्रकार वर्तमान युग मे भाषा-विश्लेषण को स्वतत्र दर्शन के रूप मे स्वीकार किया जा रहा है। वस्तुत: भाषा-विश्लेषण सबंधी यह दर्शन उस अनुभवमूलक प्रत्यक्षवाद का परिणाम है जिसका उदय उन्नीसवी शताब्दी में हुआ। इस प्रत्यक्षवाद के मुख्य प्रणेता फ्रांस के विचारक ऑगस्ट कूम्ट माने जाते हैं। वे विज्ञान को विशेष महत्त्व देते थे और इंद्रियजन्य अनुभव को ही मानवीय ज्ञान का एकमात्र आधार मानते थे। उनका विचार था कि हमारा सपूर्ण ज्ञान इंद्रियगोचर जगत् तक ही सीमित है, अत. अतींद्रिय सत्ताओं के विषय में चिंतन हमारे लिए न तो सभव है और न सार्थक। हम केवल उसी वस्तु के सबध मे सार्थक वार्तालाप और चिंतन कर सकते हैं जिसका इंद्रियो द्वारा ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए सभव है। गत शताब्दी मे कुछ अन्य विचारको ने भी कूम्ट के इस अनुभवमूलक प्रत्यक्षवाद का समर्थन किया। इसी सिद्धात के आधार पर कूम्ट और उनके समर्थकों ने उन सभी धार्मिक एव तत्त्वमीमांसा विषयक कथनों को महत्त्वहीन माना है जो किसी तथाकथित अनुभवातीत सत्ता के वर्णन का दावा करते हैं। इस प्रकार विज्ञान को विशेष महत्त्व देना, इंद्रियजन्य अनुभव को ज्ञान का एकमात्र आधार मानना तथा अतींद्रिय सत्ताओ की सभावना को अस्वीकार करना इस प्रत्यक्षवाद की मुख्य विशेषताएँ हैं। वर्तमान भाषा-विश्लेषण सबधी दर्शन के समर्थक भी प्रत्यक्षवाद की इन तीनों प्रमुख मान्यताओं का किसी न किसी रूप मे अवश्य स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि भाषा-विश्लेषण सबधी इस विचारधारा के बीज सी० एस० पीयर्स द्वारा लिखित एक महत्त्वपूर्ण निबंध मे विद्यमान हैं। इस निबंध का शीर्षक था 'हाउ टू मेक अवर आइडियाज़ क्लियर' और यह 1878 मे 'पापुलर साइन्स मन्थली' नामक पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था। इसी कारण कुछ विद्वान पीयर्स को भाषा-विश्लेषणवाद का प्रवर्तक मानते हैं। पीयर्स के पश्चात् वर्तमान शताब्दी मे अनेक दार्शनिकों ने इस विचारधारा का प्रबल समर्थन किया है और इनके विभिन्न प[illegible] से सर्वाधित बहुत से ग्रंथ इसके विकास में योगदान किया है इस संदर्भ में मर रसल

आरडन, रिचड्स, [illegible], कारनैप, एयर, फ्ल्यू, श्लिक, स्टीवैन्सन, ब्रैथवेट, हेयर आदि दार्शनिको के नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। इन सभी दार्शनिको ने किसी न किसी रूप मे भाषा-विश्लेषणवाद का समर्थन किया है और इसे समकालीन दर्शन की ऐसी महत्त्वपूर्ण विचारधारा माना है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस लेख मे हम धार्मिक कथनों की सत्यता एव सार्थकता के विषय मे इनमे से कुछ दार्शनिको के मत पर सक्षेप मे विचार करेगे।

2 विटगिनस्टाइन

भाषा-विश्लेषण के क्षेत्र मे लुडविग विटगिनस्टाइन (1889-1951) का विशेष महत्त्व है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होने ही अपने दो महत्त्वपूर्ण ग्रथो — 'ट्रैक्टेटस लॉजिको-फिलॉसॉफिकस' तथा 'फिलॉसॉफिकल इन्वैस्टिगेशन्स' — मे इस विचारधारा को व्यवस्थित दर्शन का वह रूप प्रदान किया जिसे आजकल 'विश्लेषणात्मक दर्शन' कहा जाता है। भाषा-विश्लेषण सबधी उनकी प्रथम पुस्तक 'ट्रैक्टेटस' 1921 मे प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक मे उन्होने वाक्यो की सार्थकता के विषय मे अपना जो मत प्रस्तुत किया है वह तर्कीय प्रत्यक्षवादियो के मत से बहुत भिन्न नही है। इस पुस्तक मे उन्होने स्पष्टत यह कहा है कि दैनिक जीवन तथा विज्ञान के क्षेत्र मे प्रयुक्त इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा प्रमाणित हो सकने वाले वाक्य अथवा कथन ही सार्थक हैं, इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के वाक्यो का कोई तथ्यात्मक अर्थ नही होता। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे सभी वाक्य तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं जिनका मनुष्य के इद्रियजन्य अनुभव से कोई सबध नही है। ऐसे वाक्य हमे किसी प्रकार की तथ्यात्मक सूचना प्रदान नहीं करते, अत संज्ञानात्मक दृष्टि से इन वाक्यो का कोई महत्त्व नही है। वाक्यो की सार्थकता के सबध मे अपनी इस मान्यता का कारण स्पष्ट करते हुए विटगिनस्टाइन ने यह कहा है कि भाषा की कुछ निश्चित सीमाएँ हैं जिनके अतर्गत रहकर ही वह सार्थक हो सकती है, इन सीमाओं का अतिक्रमण करने पर भाषा की सार्थकता का स्वत अंत हो जाता है। भाषा की ये सीमाएँ मनुष्य के अनुभव द्वारा ही निर्धारित होती हैं, अत भाषा की सार्थकता का मूल आधार अतत हमारा अनुभव ही हो सकता है। जब हम भाषा की इन सीमाओ का उल्लघन करके अनुभवातीत विषयों अथवा सत्ताओं के संबध मे कुछ सोचने या कहने का प्रयास करते हैं तो हमारा यह प्रयास अनिवार्यत निरर्थक और विफल हो जाता है। दूसरे शब्दो मे, अनुभव द्वारा निर्धारित भाषा की सीमाओं से बाहर जाकर हमारे लिए 'सार्थकतापूर्वक' सोचना तथा बोलना सभव नही है। भाषा की सार्थकता के संबध मे विटगिनस्टाइन की इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि उनके विचार मे धार्मिक एव तत्त्वमीमासा विषयक ऐसे सभी कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नही हो सकते जिनका संबध अनुभवातीत विषयो अथवा अतीद्रिय शक्तियो से है। हमारा सपूर्ण सार्थक ज्ञान और चितन अतत. हमारे अनुभव पर ही आधारित हो सकता है, अतः जब हम ईश्वर, आत्मा आदि इद्रियातीत एव अनुभवनिरपेक्ष सत्ताओ के विषय में कुछ कहते अथवा सोचते हैं तो यह वार्तालाप तथा चितन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नही हो सकता। इस प्रकार भाषा की सार्थकता के विषय मे विटगिनस्टाइन की उपर्युक्त मान्यता से यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुभवातीत सत्ता से सबंधित होने के कारण धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं।

परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अपनी दूसरी पुस्तक 'फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' मे विटगिनस्टाइन ने शब्दार्थ विषयक जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है उसके आधार पर धार्मिक कथनो की सार्थकता को स्वीकार किया जा सकता है। यह सिद्धान तर्कीय प्रत्यक्षवादियो द्वारा मान्य शब्दार्थ सिद्धान से भिन्न है। तर्कीय प्रत्यक्षवादियो के मतानुसार इंद्रियजन्य अनभव द्वारा कम से

कम सिद्धातत सत्यापित हो सकने वाले कथन अथवा वाक्य ही तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हैं, शेष सभी वाक्य या तो पुनरुक्तियाँ मात्र हैं या वे तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। अपने इसी सत्यापन सबधी सिद्धात के आधार पर तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने तत्त्वमीमांसा विषयक और धार्मिक कथनो को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परतु 'फिलासॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' में विटगिनस्टाइन ने इस सिद्धात के स्थान पर शब्दार्थ सबधी एक अन्य सिद्धात का प्रतिपादन किया है जिसे उपयोग-सिद्धात कहा जा सकता है। इस सिद्धात के अनुसार शब्दो का अर्थ उस प्रसग द्वारा निर्धारित होता है जिसके अतर्गत उनका प्रयोग किया गया है। प्रसग के अनुरूप शब्दो के अर्थ मे भी परिवर्तन हो सकता है, अत सभी क्षेत्रो मे उनका अर्थ समान नही रहता। यह समझना कठिन नही है कि तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के सिद्धात के विपरीत विटगिनस्टाइन का यह सिद्धात सभी क्षेत्रो अथवा प्रसगो मे शब्दो का अर्थ निर्धारित करने के लिए केवल एक ही सामान्य कसौटी को स्वीकार नही करता। इस सिद्धात के अनुसार विविध प्रसगो के अतर्गत शब्दो का अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकता है, अत सभी प्रसगो मे उनका अर्थ निर्धारित करने के लिए किसी एक ही सामान्य कसौटी को मान लेना उचित नहीं है। किसी शब्द के अर्थ को निर्धारित करने के लिए हमे यह जानना चाहिए कि उसका प्रयोग किस प्रसग के अतर्गत किया गया है। यदि विटगिनस्टाइन के इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाए तो यह कहा जा सकता है कि तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक न होते हुए भी धार्मिक कथन निरर्थक और महत्त्वहीन नही हैं; अपने विशेष क्षेत्र मे उनका महत्त्व है और वे उस व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं जो उनकी सत्यता मे विश्वास करता है। दूसरे शब्दो मे, धर्मपरायण व्यक्ति के लिए धार्मिक कथनो का विशेष अर्थ और महत्त्व है, क्योंकि ये कथन उसके जीवन के लिए एक मानदंड अथवा आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण धार्मिक कथनो मे वास्तविक आस्था रखने वाले व्यक्ति की जीवन-पद्धति इन कथनों को मिथ्या मानने वाले व्यक्ति की जीवन-पद्धति से बहुत भिन्न होती है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि विटगिनस्टाइन के मतानुसार कम से कम धर्मपरायण व्यक्ति के लिए धार्मिक वाक्य निरर्थक और महत्त्वहीन नहीं हैं। इस सपूर्ण विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि तर्कीय प्रत्यक्षवादियो के विपरीत विटगिनस्टाइन ने धार्मिक कथनों की उपयोगिता एव सार्थकता का निषेध नही किया, वे केवल यही कहते हैं कि अनुभवातीत सत्ता से सबधित होने के कारण इन कथनो को सूचनात्मक वाक्यों के समान तथ्यात्मक दृष्टि मे सार्थक नही माना जा सकता। हम आगे देखेगे कि तर्कीय प्रत्यक्षवादियो को छोडकर अन्य अनेक समकालीन दार्शनिको ने धार्मिक वाक्यों की सार्थकता के सबध मे विटगिनस्टाइन के इस सिद्धात को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। परतु इन दार्शनिको के मत पर विचार करने से पूर्व सत्यापन सिद्धांत के आधार पर धार्मिक वाक्यों की सार्थकता का निषेध करने वाले कुछ मुख्य विचारको के मत का विवेचन करना आवश्यक है।

3. एयर और फ्ल्यू

धार्मिक कथनो के सबंध मे सत्यापन-सिद्धांत के सभी समर्थको के दृष्टिकोण पर इस लेख मे विचार करना संभव नही है, अत यहाँ इस सिद्धांत के एक मुख्य प्रतिनिधि विचारक ए० जे० एयर के मत पर ही विचार किया जाएगा। 1936 मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक' मे एयर ने दर्शन सबधी अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओ के अतिरिक्त धार्मिक कथनो के विषय मे भी अपने क्रांतिकारी विचार व्यक्त किए हैं कार्नैप श्लिक आदि दार्शनिकों की भाँति एयर भी तर्कीय

भववाद के प्रबल समर्थक माने जाते रहे हैं और इस शताब्दी के तीसरे तथा चौथे दशक में पाश्चात्य दर्शन पर उनके परपरा विरोधी विचारों का पर्याप्त प्रभाव रहा है। केवल अनुभववाद में पूर्णरूपेण विश्वास करने के कारण एयर उन सभी वाक्यो को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं जिनका इंद्रियजन्य अनुभवसे कोई सबध नही है। उनके विचार मे केवल ऐसे वाक्य ही तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमारे इंद्रियजन्य अनुभव से संबधित हैं। उन्होंने सभी सार्थक वाक्यो को दो वर्गों मे विभाजित किया है — विश्लेषणात्मक वाक्य तथा सश्लेषणात्मक वाक्य। विश्लेषणात्मक वाक्य किसी प्रकार के तथ्यो का वर्णन नही करते, अत वे सूचानात्मक न होकर पुनरुक्तियाँ मात्र होते हैं। 'प्रत्येक कार्य का कारण होता है', 'प्रत्येक भौतिक वस्तु विस्तारयुक्त होती है', 'दो और दो चार होते हैं' आदि कथन विश्लेषणात्मक वाक्यो के उदाहरण हैं। यद्यपि इन वाक्यो द्वारा हमारे ज्ञान में वृद्धि नही होती, फिर भी ये वाक्य सार्थक हैं और इनकी सार्थकता भाषा-प्रयोग सबंधी नियमो पर आधारित शब्दो की परिभाषाओं पर ही निर्भर होती है। अनुभवनिरपेक्ष होने के कारण ये वाक्य असदिग्ध होते हैं और अनुभव द्वारा इनका खडन नही हो सकता। विश्लेषणात्मक वाक्यो के विपरीत सश्लेषणात्क वाक्य हमारे अनुभव पर आधारित होते हैं और ये किन्ही तथ्यो का वर्णन करते हैं। पुस्तक मेज पर है, 'वस्त्र अलमारी मे है', 'पृथ्वी गोल है', 'यह पैंसिल लाल है' आदि वाक्य सश्लेषणात्मक वाक्यो के उदाहरण हैं। सूचनात्मक होने के कारण ये वाक्य हमारे ज्ञान मे वृद्धि करते हैं और इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा इनका सत्यापन सभव है। परतु ये वाक्य असंदिग्ध न होकर केवल सभावित ही होते हैं, क्योंकि भावी अनुभव द्वारा इनका खडन हो सकता है। एयर तथा अन्य तर्कीय प्रत्यक्षवादी इन सश्लेषणात्मक वाक्यो को ही तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक मानते हैं। इन वाक्यो की सार्थकता को प्रमाणित करने के लिए उन्होने जिस सिद्धात का प्रतिपादन किया है उसे सत्यापन-सिद्धात की सज्ञा दी जाती है। इस सिद्धात के अनुसार केवल वे ही वाक्य तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हैं जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कम से कम सिद्धातत सत्यापन सभव है। ऐसे सभी वाक्य तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं जो विश्लेषणात्मक नही हैं और जिनका इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा किसी भी प्रकार से सत्यापन असभव है।

उपर्युक्त सत्यापन-सिद्धात के आधार पर ही एयर ने सभी तत्त्वमीमासा विषयक वाक्यो नैतिक एव सौंदर्यात्मक निर्णयो तथा धार्मिक कथनो को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हम यहाँ धार्मिक कथनो के सबध मे ही उनके मत का उल्लेख करेंगे। एयर के विचार मे धार्मिक कथन न तो विश्लेषणात्मक वाक्य है और न सत्यापनीय सश्लेषणात्मक वाक्य। धमपरायण व्यक्ति धार्मिक कथनो को पुनरुक्तियाँ मात्र न मानकर तथ्यात्मक वाक्य मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि सश्लेषणात्मक वाक्यो की भाँति धार्मिक कथन भी किन्ही विशेष तथ्यो का वर्णन करते हैं। यदि धार्मिक कथनो के विषय मे धर्मपरायण व्यक्तियो के इस मत को उचित मान लिया जाए तो यह स्वीकार करना पडेगा कि सामान्य र. लेषणात्मक वाक्यो की भाँति धार्मिक कथनो का भी इद्रियजन्य अनुभव द्वारा कम से कम सिद्धातत सत्यापन सभव होना चाहिए। परतु ईश्वर, आत्मा आदि अनुभवातीत सत्ताओ से सबधित होने के कारण इन कथनो का सत्यापन नितात असभव है अत ये कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नही हो सकते। जब कोई व्यक्ति धार्मिक वाक्य बोलता है तो वास्तव मे वह किसी प्रकार के तथ्यो का वर्णन नही करता, ऐसी स्थिति मे इन वाक्यो का कोई तथ्यात्मक अर्थ नही हो सकता। इसका अभिप्राय यह है कि धार्मिक कथन व्याकरण की दृष्टि से उचित और सश्लेषणात्मक वाक्य प्रतीत होते हुए भी तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं, क्योंकि वास्तव में वे हमें किसी प्रकार की सूचना प्रदान नही करते। इसी कारण एयर ने

धार्मिक वाक्यो को 'वास्तविक कथन' न मानकर छद्म कथन मात्र माना है। उनके विचार म केवल तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक वाक्य ही सत्य अथवा मिथ्या हो सकते है अत धार्मिक कथन — जो तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं — न सत्य हो सकते है और न मिथ्या। जो व्यक्ति इन्हे सार्थक मानते हैं वे इनके उचित प्रतीत होने वाले स्वरूप के कारण इनकी सार्थकता के भ्रम मे पड जाते है। यदि ये व्यक्ति इन धार्मिक कथनो का ठीक-ठीक विश्लेषण करे तो वे इनकी सार्थकता के भ्रम से मुक्त हो सकते है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धार्मिक वाक्यो को सत्य तथा मिथ्या से परे और तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानकर एयर निरीश्वरवाद एव अज्ञेयवाद का समर्थन नही करते। उन्होने स्पष्ट कहा है कि ईश्वर के सबध मे निरीश्वरवादी तथा अज्ञेयवादी के कथन भी उतने ही निरर्थक है जितने ईश्वरवादी के। धार्मिक कथनो को मिथ्या सिद्ध करने के प्रयास मे निरीश्वरवादी भी इन कथनो को सार्थक मानने की वही भूल करते हैं जो ईश्वरवादी करते है। अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए एयर ने लिखा है . 'यह कहना कि 'ईश्वर का अस्तित्व है' एक ऐसा तत्त्वमीमासा विषयक वाक्य बोलना है जो न सत्य हो सकता है और न मिथ्या। इसी आधार पर ऐसा कोई भी वाक्य जो अनुभवातीत ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करने का प्रयत्न करता है तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नही हो सकता। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धार्मिक कथनो के सबध मे इस मत को निरीश्वरवादियो अथवा अज्ञेयवादियो द्वारा मान्य मत के समान समझने की भूल नही करनी चाहिए। . हमारा यह मत कि ईश्वर के स्वरूप से सबधित समस्त कथन निरर्थक हैं निरीश्वरवाद अथवा अज्ञेयवाद के समान या इन सिद्धातो का समर्थक होने के स्थान पर वास्तव मे इनके विपरीत है। यदि 'ईश्वर है' यह कथन निरर्थक है तो निरीश्वरवादी का यह कथन भी उतना ही निरर्थक है कि 'ईश्वर नही है'। इसका कारण यह है कि केवल सार्थक वाक्य का ही सार्थकतापूर्वक खडन किया जा सकता है''।[1] इस उद्धरण मे स्पष्ट है कि एयर निरीश्वरवाद तथा अज्ञेयवाद का समर्थन करने के स्थान पर इन दोनो सिद्धातो को भी उतना ही महत्त्वहीन और निरर्थक मानते है जितना ईश्वरवाद को।

तर्कीय प्रत्यक्षवाद अथवा तर्कीय अनुभववाद को एकमात्र प्रामाणिक सिद्धात मानने के कारण एयर ने ईश्वर सबधी कथनो की भाँति पुनर्जन्म, आत्मा आदि से सबधित धार्मिक कथनो की सार्थकता का भी निषेध किया है। उनका मत है कि अनुभवातीत गुणो से युक्त किसी सत्ता का विचार कदापि बोधगम्य नही हो सकता और जो बोधगम्य नही है वह सार्थक भी नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि किसी अनुभवातीत सत्ता के स्वरूप का वर्णन करने के विषय मे धर्मपरायण व्यक्तियो का दावा नितात निरर्थक है। ये व्यक्ति भाषा मे विद्यमान 'ईश्वर', 'आत्मा' आदि सज्ञाओ के कारण इस भ्रम मे पड जाते हैं कि इन सज्ञाओ के अनुरूप अतींद्रिय सत्ताओ का भी अस्तित्व है। परतु इन सज्ञाओ का सूक्ष्म विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि वास्तव मे ये सज्ञाएँ किसी प्रकार की सत्ता का बोध नही कराती, अत ये निरर्थक शब्द मात्र हैं। पुनर्जन्म, आत्मा तथा अन्य धार्मिक विचारो की सार्थकता का निषेध करते हुए एयर ने स्पष्ट कहा है कि ''अनुभवातीत ईश्वर के प्रति आस्था के साथ मृत्यु के पश्चात् जीवन की सभावना का विश्वास भी सबद्ध है। परतु जिस रूप मे इस विश्वास को सामान्यत ग्रहण किया जाता है उस रूप में वह वास्तविक प्राक्कल्पना नही है. यह कहना कि मनुष्य के भीतर कोई अदृश्य वस्तु है जो उसकी

---

1 ए०जे० एयर 'लैंग्वेज ट्रुथ एड लॉजिक' पृ० 115

आत्मा है और जिसका अस्तित्व उसकी मृत्यु के पश्चात् भी बना रहता है एक तत्त्वमीमांसा विषयक कथन है जो 'अनुभवातीत ईश्वर का अस्तित्व है' इस कथन की अपेक्षा तथ्यात्मक दृष्टि से जरा भी सार्थक नहीं है। जो बात हम प्रमाणित करना चाहते हैं वह यह है कि किसी प्रकार के अनुभवातीत धार्मिक सत्य नहीं हैं क्योंकि इन सत्यों को अभिव्यक्त करने के लिए ईश्वरवादी जिन वाक्यों का प्रयोग करता है वे तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हैं।"[2] इस प्रकार एयर सत्यापन-सिद्धान्त के आधार पर सभी प्रकार के धार्मिक कथनों की वास्तविकता और सार्थकता को अस्वीकार करते हैं।

एयर की भाँति एक अन्य समकालीन दार्शनिक एन्टोनी फ्ल्यू ने भी धार्मिक कथनों की सार्थकता का निषेध किया है। 'न्यू एसेज इन फिलॉसॉफिकल थियोलॉजी' नामक पुस्तक में प्रकाशित अपने एक निबंध 'थियोलॉजी एंड फाल्सिफिकेशन' में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक शब्द मात्र हैं। जिस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने इन कथनों के विषय में यह निष्कर्ष निकाला है उसे वे 'मिथ्यापनीयता का सिद्धान्त' कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक तथ्यात्मक वाक्य का उसके विरुद्ध कुछ तथ्यों द्वारा निषेध करना सम्भव है। कुछ विशेष तथ्यों का वर्णन करके प्रत्येक तथ्यात्मक वाक्य ऐसे सभी तथ्यों का स्वतः निषेध करता है जो उसमें वर्णित तथ्यों के प्रतिकूल हैं। स्पष्ट है कि तथ्यात्मक वाक्य कुछ विशेष तथ्यों के वर्णन तक सीमित होने के कारण सभी तथ्यों के अनुरूप नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ 'पुस्तक मेज पर है' यह वाक्य मेज पर पुस्तक के होने का वर्णन करके इस तथ्य का स्वतः निषेध करता है कि वह पुस्तक मेज के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान पर है। इस तथ्यात्मक वाक्य की सार्थकता मेज पर पुस्तक के होने की स्वीकृति के साथ-साथ इसके विरोधी वाक्यों — यथा, वही पुस्तक उसी समय धरती पर है, वही पुस्तक उसी समय अलमारी में है आदि — के निषेध में ही निहित है। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि एक ही पुस्तक एक ही समय में मेज पर, धरती पर, अलमारी में तथा अन्य सभी स्थानों पर है तो उसका यह कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हो सकता। परस्पर विरोधी तथ्यों को एक साथ स्वीकार करने के कारण उसका यह कथन स्वतः निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार फ्ल्यू के मतानुसार किसी विशेष तथ्य का वर्णन करने वाले वाक्य की सार्थकता के लिए उसके कुछ विरोधी तथ्यों की सम्भावना को स्वीकार करना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में निषेधात्मक तथ्यों की स्वीकृति प्रत्येक तथ्यात्मक वाक्य की सार्थकता की अनिवार्य शर्त है और यदि कोई व्यक्ति इस शर्त को अस्वीकार करके परस्पर विरोधी तथ्यों की एक साथ पुष्टि करने वाले तथाकथित तथ्यात्मक वाक्य बोलने का दावा करता है तो उसका यह दावा निरर्थक ही माना जाएगा। स्पष्ट है कि फ्ल्यू तथ्यात्मक वाक्य की सार्थकता के लिए उसके विरोधी तथ्यों द्वारा उसे मिथ्या सिद्ध करने की सम्भावना को स्वीकार करना अनिवार्य मानते हैं, इसी कारण उन्होंने तथ्यात्मक वाक्यों की सार्थकता के इस सिद्धान्त को 'मिथ्यापनीयता का सिद्धान्त' की संज्ञा दी है।

अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर फ्ल्यू ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि तथ्यात्मक होने का दावा करने वाले सभी धार्मिक कथन वास्तव में निरर्थक हैं — अर्थात् वे ऐसा कुछ नहीं कहते जिसकी सार्थकता की जरा भी सम्भावना हो। जब कोई धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक वाक्य बोलता या लिखता है तो वह एक ओर तो यह दावा करता है कि उसका वाक्य किसी तथ्य विशेष का वर्णन करता है और दूसरी ओर वह यह भी दावा करता है कि कोई भी विरोधी तथ्य उसके धार्मिक

2 वही पुस्तक पृ० 116-117

वाक्य को किसी भी परिस्थिति में मिथ्या सिद्ध नहीं कर सकता। वह दृढ़तापूर्वक यह मानता है कि बहुत-से विरोधी तथ्यों के होते हुए भी उसका धार्मिक वाक्य सभी परिस्थितियों में सत्य है। उदाहरणार्थ धर्मपरायण ईश्वरवादी यह कहता है कि ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान दयालु तथा प्रेममय है — और वही इस जगत् का रचयिता एवं पालनकर्ता है। जब इस व्यक्ति से यह कहा जाता है कि इस जगत् में अनावश्यक पीड़ा अथवा दुःख का होना उसके इस कथन को मिथ्या सिद्ध करता है तो वह इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी अपने कथन की सत्यता में पूर्ववत दृढ़तापूर्वक विश्वास करना अनिवार्य मानता है। वह किसी भी विरोधी तथ्य को अपने इस कथन की सत्यता का निषेधक मानने के लिए उद्यत नहीं होता। हम देख चुके हैं कि तथ्यात्मक वाक्य की सार्थकता के लिए उसके विरोधी तथ्यों द्वारा उसके निषेध की संभावना को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस संभावना को अस्वीकार करने के कारण धर्मपरायण व्यक्ति का उपर्युक्त धार्मिक वाक्य तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है — अर्थात् वह वास्तव में किसी तथ्य का वर्णन नहीं करता। तथाकथित अदृश्य माली से सम्बन्धित एक अन्य उदाहरण द्वारा भी फ्ल्यू ने धार्मिक वाक्यों के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट किया है। एक व्यक्ति क यह कहता है कि एक माली इस उद्यान की निरन्तर रक्षा करता है। जब दूसरा व्यक्ति ख उससे यह पूछता है कि इस माली के बोलने की ध्वनि कैसी है और इसका रूप रंग आकार आदि कैसा है तो इसके उत्तर में क यह कहता है कि वह माली अदृश्य अस्पर्श्य ध्वनिरहित गंधरहित तथा आकृतिहीन है। उसका यह उत्तर सुनकर ख पुनः यह प्रश्न करता है कि क्या स्पर्श, रूप रंग, आकृति ध्वनि गंध आदि से रहित माली के होने तथा न होने में कोई अन्तर है? वस्तुतः ख यह कहना चाहता है कि ऐसा माली कोई व्यक्ति नहीं हो सकता — वह केवल शून्य अथवा 'कुछ नहीं' है। ऐसी स्थिति में 'क' का यह कथन स्वतः निरर्थक हो जाता है कि रूप रंग स्पर्श, आकार, ध्वनि, गंध' आदि से रहित एक माली उद्यान की निरन्तर रक्षा करता है। पहले उदाहरण की भाँति इस उदाहरण द्वारा भी फ़्ल्यू ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर आत्मा आदि अनुभवातीत सत्ताओं से सम्बन्धित धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। ऐसे कथन किसी तथ्य का वर्णन नहीं करते, अतः वे अर्थहीन शब्द मात्र हैं। अपने इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "यदि कोई कथन किसी तथ्य को अस्वीकार नहीं करता तो वह किसी तथ्य का वर्णन भी नहीं करता और इसलिए वह वास्तव में कथन नहीं है। ... सार्थक कथन वह है जो यह कहता है कि कुछ तथ्य इस प्रकार है और अन्य तथ्य ऐसे नहीं है। ... परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मपरायण व्यक्ति इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं और केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सैद्धांतिक दृष्टि से भी वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि कुछ तथ्य उनके धार्मिक कथनों को मिथ्या प्रमाणित कर सकते हैं। परन्तु इस तथ्य को अस्वीकार करने के कारण उनके धार्मिक कथन वास्तव में निरर्थक शब्द मात्र रह जाते हैं"।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक कथनों की सार्थकता के सम्बन्ध में फ़्ल्यू का निष्कर्ष एयर के निष्कर्ष से मूलतः भिन्न नहीं है। वस्तुतः फ़्ल्यू ने जिस 'मिथ्यापनीयता-सिद्धांत' के आधार पर धार्मिक वाक्यों को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह भी एयर के 'सत्यापन-सिद्धान्त' से भिन्न प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसी वाक्य का 'मिथ्याकरण' सम्भव है जिसका सत्यापन हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि मिथ्यापनीयता का सिद्धांत मूलतः सत्यापन-सिद्धांत का ही दूसरा रूप है अतः इन दोनों में कोई महत्त्वपूर्ण अंतर नहीं है। इस खंड को समाप्त करने से पूर्व यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एयर और फ़्ल्यू इन दोनों दार्शनिकों ने भौतिकवाद, निरीश्वरवाद

---

1. फ्ल्यू और ए० मैकिन्टायर 'न्यू एसेज इन ——— थियालॉजी' पृ. 98–106

अज्ञेयवाद आदि किसी दार्शनिक सिद्धान्त का समर्थन किए बिना केवल भाषा-विश्लेषण के आधार पर धार्मिक वाक्यों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया है, अतः इन विचारकों का दृष्टिकोण धार्मिक कथनों की सत्यता का निषेध करने वाले भौतिकवादियों निरीश्वरवादियों तथा अज्ञेयवादियों के दृष्टिकोण से बहुत भिन्न है। धार्मिक कथनों की सार्थकता के विषय में यह नया दृष्टिकोण कहाँ तक उचित है इस प्रश्न पर हम अंतिम खंड में विचार करेंगे।

4. ब्रैथवेट, हेयर और माइल्स

एयर तथा फ्ल्यू के अतिरिक्त अन्य बहुत-से समकालीन दार्शनिकों ने भी धार्मिक कथनों की सार्थकता पर विचार किया है और इस संबंध में उनका विचार-विनिमय अब भी चल रहा है, परन्तु स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इनमें से केवल तीन प्रमुख दार्शनिकों के मत का उल्लेख करेंगे। ये दार्शनिक हैं आर० बी० ब्रैथवेट आर० एम० हेयर तथा टी० आर० माइल्स। ये तीनों विचारक एयर तथा फ्ल्यू के इस मत को स्वीकार करते हैं कि किसी प्रकार के तथ्यों का वर्णन न करने के कारण धार्मिक कथनों का वर्णनात्मक अर्थ नहीं होता, अतः इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा इन कथनों का सत्यापन अथवा मिथ्याकरण भी संभव नहीं है। परन्तु उनके विचार में इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि धार्मिक वाक्य निरर्थक तथा महत्त्वहीन होते हैं। इस प्रकार ये दार्शनिक धार्मिक कथनों को अवर्णनात्मक एवं असत्यापनीय मानते हुए भी सार्थक मानते हैं और मानव-जीवन के लिए इनके महत्त्व तथा प्रभाव को स्वीकार करते हैं।

आर०बी० ब्रैथवेट ने जॉन हिक द्वारा संपादित 'दि ऐग्जिसटैन्स ऑफ गॉड', में अपने लेख 'ऐन एम्पिरीसिस्ट्स व्यू ऑफ दि नेचर ऑफ रिलीजियस बिलीफ तथा 'प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि ऐरीस्टोटेलियन सोसाइटी' 1946 में प्रकाशित अपने एक अन्य लेख 'बिलीफ ऐंड ऐक्शन' में धार्मिक कथनों की सार्थकता के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका यह लेख 1946 में 'प्रोसीडिंग्ज ऑफ दि ऐरिस्टोटेलियन सोसाइटी' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। ब्रैथवेट के मतानुसार यह समझना हमारा भ्रम है कि धार्मिक वाक्य किसी अनुभवातीत सत्ता अथवा तथ्यों का वर्णन करते हैं। वास्तव में ये वाक्य न तो अनुभवातीत तथ्यों का वर्णन करते हैं और न अनुभव सापेक्ष तथ्यों का, अतः इन्हें किसी भी अर्थ में तथ्यात्मक मानना भ्रामक है। स्पष्ट है कि यहाँ तक, ब्रैथवेट एयर तथा फ्ल्यू के मत की ही पुष्टि करते हैं। परंतु इन दोनों दार्शनिकों के विपरीत उनका विचार है कि धार्मिक कथन अवर्णनात्मक तथा असत्यापनीय होते हुए भी सार्थक और महत्त्वपूर्ण हैं। इस संबंध में उन्होंने धार्मिक कथनों की नैतिक वाक्यों से तुलना की है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार नैतिक वाक्य तथ्यात्मक न होते हुए भी मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार धार्मिक कथन भी किन्हीं तथ्यों का वर्णन न करते हुए भी उन व्यक्तियों के जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं जो इन कथनों की सत्यता में आस्था रखते हैं। इन कथनों की सत्यता में विश्वास करने वाले व्यक्ति की जीवन-पद्धति इन्हें असत्य अथवा निरर्थक मानने वाले व्यक्ति की जीवन-पद्धति से बहुत भिन्न होगी। इसका कारण यह है कि धार्मिक कथनों की सत्यता में वास्तविक आस्था मनुष्य के उन मूल आदर्शों को निर्धारित करती है जिनके अनुसार वह अपना जीवन व्यतीत करना चाहता है। जो व्यक्ति ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि से संबंधित धार्मिक कथनों को वास्तव में सत्य मानता है उसका आचरण इन कथनों को मिथ्या अथवा निरर्थक मानने वाले व्यक्ति के आचरण से बहुत भिन्न होगा। इससे स्पष्ट है कि आस्थावान व्यक्ति के लिए धार्मिक कथन निरर्थक और महत्त्वहीन नहीं हैं। ये कथन एक विशेष जीवन-पद्धति के

साथ श्रद्धालु व्यक्ति की प्रतिबद्धता स्थापित करते हैं जिसे वह व्यक्ति स्वीकार नही करता जो इन्हे मिथ्या अथवा निरर्थक मानता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति इस कथन मे सच्ची आस्था रखता है कि दयालु एव प्रेममय ईश्वर ही इस सपूर्ण जगत् का रचयिता है तो उसके लिए सभी प्राणियो के प्रति दया तथा प्रेमभाव रखना आवश्यक है और यदि वह ऐसा नही करता तो उसपर आत्मप्रवचना अथवा दूसरो को धोखा देने का आरोप लगाया जा सकता है। परन्तु जो व्यक्ति इस कथन को मिथ्या अथवा निरर्थक मानता है उसके लिए समस्त प्राणियो के प्रति दया और प्रेम का अनुभव करना अनिवार्य नही है, यद्यपि कुछ अन्य कारणो से प्रेरित होकर वह ऐसा कर भी सकता है। इसी प्रकार 'आत्मा अमर है' इस कथन में वास्तविक आस्था रखने वाला व्यक्ति जिस आशावाद से प्रेरित हो सकता है वह इस कथन को मिथ्या या निरर्थक मानने वाले व्यक्ति के लिए शायद सभव नही है। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि धार्मिक वाक्य कम से कम उस व्यक्ति के लिए निरर्थक और महत्त्वहीन नही हैं जो उनकी सत्यता में सचमुच विश्वास करता है। सक्षेप मे ब्रेथवेट के मतानुसार धार्मिक कथन नैतिक वाक्यो के समान ही हैं और उनका उद्देश्य किन्ही तथ्यो का वर्णन करना न होकर जीवन तथा जगत् के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त एव प्रभावित करना ही होता है। अत इन कथनों को निरर्थक और महत्त्वहीन मानना उचित प्रतीत नही होता।

धार्मिक कथनो के विषय मे आर० एम० हेयर का दृष्टिकोण भी ब्रेथवेट के दृष्टिकोण के लगभग समान ही है। फ़्ल्यू तथा मैकिन्टायर द्वारा सपादित 'न्यू एसेज इन फिलॉसॉफिकल थियोलॉजी' मे प्रकाशित 'थियोलॉजी ऐंड फ़ल्सिफिकेशन' और बेसिल मिचल द्वारा सपादित 'फेथ ऐंड लॉजिक' में प्रकाशित 'रिलीजन ऐंड मॉरल्ज़' मे उन्होने धार्मिक वाक्यो के संबध मे अपने विचार व्यक्त किए हैं। ब्रेथवेट की भाँति वे भी इन वाक्यो को तथ्यात्मक न मानने के कारण निरीक्षण अथवा अनुभव द्वारा असत्यापनीय ही मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि सत्यापनीय तथ्यात्मक कथन न होते हुए भी ये वाक्य सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। उनका भी यही मत है कि नैतिक तथा धार्मिक भाषा में कुछ तत्त्व अवश्य समान होते हैं, अत यदि नैतिक वाक्य सार्थक हैं तो धार्मिक कथनो को भी निरर्थक नही माना जा सकता। धार्मिक भाषा को कुछ सीमा तक नैतिक भाषा के समान मानते हुए हेयर ने लिखा है कि ''सर्वप्रथम मैं नैतिक भाषा और धार्मिक भाषा के कुछ समान तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि कम से कम इतना तो अवश्य स्वीकार किया जाएगा कि सभी अथवा लगभग सभी धर्मो का नैतिक पक्ष भी होता है। इससे मेरा अभिप्राय केवल यही नहीं है कि किसी विशेष धर्म के समर्थक वास्तव मे सामान्यत कुछ विशेष नैतिक सिद्धातों को मानते हैं, अपितु मेरा यह भी विचार है कि धार्मिक विश्वास के साथ नैतिक सिद्धातो का बहुत गहरा सबंध है। धर्म-गुरू धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ नैतिक उपदेश भी देते रहे हैं''।[4] इस प्रकार हेयर के मतानुसार नैतिक भाषा तथा धार्मिक भाषा मे कुछ समानता अवश्य है, अत. ये दोनों ही सार्थक एव महत्त्वपूर्ण हैं। नैतिक निर्णयो की भाँति धार्मिक कथनो को वास्तव में स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए भी इन कथनो के अनुरूप आचरण करना अनिवार्य है और यदि वह ऐसा नही करता तो यह मानना पडेगा कि वह इन कथनो की सत्यता में वास्तविक आस्था नहीं रखता। दूसरे शब्दो मे, कोई व्यक्ति धार्मिक कथनों को वस्तुत. सत्य मानता है या नहीं इस बात का निर्णय व्यावहारिक जीवन मे उसके आचरण के आधार पर ही किया जा सकता है। नैतिक निर्णयों की भाँति धार्मिक कथनो को भी हेयर ने मुख्यत परामर्शात्मक ही माना है। अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि ''किसी वस्तु को ईश्वर कहने से हमारा केवल यही

4 बी मिचल, 'फेथ ऐन्ड लॉजिक' पृ 187.

अभिप्राय नहीं होता कि उसकी पूजा करने से कुछ परिणाम निकलेंगे; हम यह भी कहना चाहते हैं कि उसकी पूजा करना उचित है, इसका अर्थ यह है कि हम कम से कम कुछ सीमा तक ईश्वर के प्रति एक विशेष अभिवृत्ति रखने का परामर्श देते हैं। कोई व्यक्ति ईश्वर मे विश्वास करता है अथवा नहीं यह इस बात पर निर्भर है कि वह उसके प्रति क्या अभिवृत्ति रखता है -- अर्थात् उस व्यक्ति का आचरण कैसा है। जो व्यक्ति ईश्वर की आराधना करता है वह एक विशेष प्रकार से आचरण करने के लिए प्रतिबद्ध है और वह कुछ तथ्यात्मक कथनों की सत्यता में विश्वास करने के लिए भी बाध्य है''।[5] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि हेयर धार्मिक कथनों को कुछ सीमा तक परामर्शात्मक मानकर उनकी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। उनके विचार में धर्मपरायण व्यक्ति के लिए इन कथनो का बहुत महत्त्व है, क्योंकि उसका आचरण मुख्यत: इन्हीं कथनों द्वारा निर्धारित होता है।

ब्रैथवेट तथा हेयर की भाँति टी० आर० माइल्स भी धार्मिक कथनो को तथ्यात्मक और अनुभव द्वारा सत्यापनीय न मानते हुए भी सार्थक मानते हैं। उनका मत है कि धार्मिक भाषा सूचनात्मक न होकर वास्तव मे रूपकों तथा नीति-कथाओ की प्रतीकात्मक भाषा है। धर्म-गुरू कुछ रूपको अथवा नीति-कथाओ द्वारा हमे किसी विशेष प्रकार का आचरण करने या न करने का उपदेश देते हैं, अत धार्मिक भाषा का उद्देश्य किन्ही तथ्यो का वर्णन करना नही, अपितु हमारे आचरण को निर्धारित अथवा प्रभावित करना ही होता है। ऐसी स्थिति मे धार्मिक कथनो को तथ्यात्मक मानकर सत्यापन-सिद्धात के आधार पर उन्हे निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास करना अनुचित है। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक आदि धार्मिक प्रत्ययो द्वारा किन्ही तथ्यो का बोध नही होता, इनकी सार्थकता हमारे आचरण को प्रभावित करने मे ही निहित है। ईश्वरवादियो की यह मान्यता निरर्थक है कि ये धार्मिक प्रत्यय हमे वास्तविक अतीद्रिय सत्ताओ का बोध कराते हैं। अदृश्य पारलौकिक सत्ताओ के रूप मे ईश्वर तथा आत्मा की सार्थकता को अस्वीकार करते हुए माइल्स ने लिखा है : ''सामान्यत यह समझा जाता है कि ईश्वरवादियो को कुछ ऐसे तथ्यो का ज्ञान प्राप्त है जो निरीश्वरवादी नही जानते। वस्तुत यह विचार भ्रामक है। 'ईश्वर' शब्द को किसी पराभौतिक वस्तु का द्योतक नही माना जा सकता, क्योकि पराभौतिक वस्तु का विचार ही निरर्थक है। धर्मपरायण व्यक्तियो तथा रहस्यवादियो की अपरोक्षानुभूतियो को चाहे कितना ही महत्त्व क्यो न दिया जाए, हम यह दावा नही कर सकते कि उन्हे कुछ ऐसा अतिरिक्त तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त है जो ईश्वर में आस्था न रखने वाले व्यक्ति को उपलब्ध नहीं है। यह बात नही है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा तथ्यो का अधिक ज्ञान है, वास्तव मे वे एक ही प्रकार के तथ्यो को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं. ... यह कहना नितात असभव प्रतीत होता है कि 'आत्मा अमर है' इस वाक्य का तथ्यात्मक अर्थ क्या है''।[6] इस प्रकार माइल्स अनुभवातीत पारलौकिक सत्ताओ के विचार की सार्थकता का निषेध करते हैं। इसी कारण उन्होने इन सताओ से सबधित धार्मिक कथनो को प्रतीकात्मक ही माना है, तथ्यात्मक नही। हमारे आचरण को प्रभावित करने के कारण ही वे इन धार्मिक कथनों को सार्थक और महत्त्वपूर्ण मानते हैं, किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान करने की दृष्टि से नही।

5. मूल्यांकन

पिछले खडो में धार्मिक कथनों के विषय मे जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि इन कथनो

---

5 वही पुस्तक, पृ 180

6 टी.आर माइल्स, 'रिलिजन ऐण्ड दि साइंटिफिक आउटलुक' पृ 176 204

की सार्थकता के संबंध में मुख्यतः दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार ये कथन असत्यापनीय होने के कारण निरर्थक शब्द मात्र हैं, अतः मनुष्य के जीवन में इनका कोई महत्त्व नहीं है। हम देख चुके हैं कि एयर, फल्यू आदि विचारक मूलतः इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। परंतु दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार धार्मिक कथन तथ्यात्मक एवं सत्यापनीय न होते हुए भी सार्थक और मानव-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। आस्थावान व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करने के कारण उसके लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन कथनों का बहुत महत्त्व है। द्वितीय और चतुर्थ खंड में दिए गए विवरण से स्पष्ट है कि विटगिनस्टाइन, ब्रैथवेट, हेयर, माइल्स आदि दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धार्मिक वाक्यों के संबंध में इन दो भिन्न दृष्टिकोणों में से कौन-सा दृष्टिकोण अधिक उचित, संतुलित एवं युक्तिसंगत है।

जिस सत्यापन-सिद्धांत के आधार पर एयर, फल्यू आदि दार्शनिकों ने धार्मिक वाक्यों की सार्थकता का निषेध किया है उसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि वह सभी प्रकार के वाक्यों की सार्थकता को जाँचने के लिए एक ही कसौटी प्रस्तुत करता है और यह कसौटी भी बहुत सीमित तथा संकुचित है। यह सत्य है कि तथ्यों का वर्णन करने वाले वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता इसी सिद्धांत के आधार पर प्रमाणित की जा सकती है और इस दृष्टि से यह सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम भाषा का प्रयोग केवल तथ्यों का वर्णन करने के लिए नहीं करते; तथ्यात्मक विवरण के अतिरिक्त अन्य अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी हम भाषा का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ हम अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने, दूसरों को प्रभावित करने के लिए उनमें ये भावनाएँ उत्पन्न करने, उपदेश, परामर्श या आदेश देने, प्रशंसा, निंदा या आलोचना करने, अन्य व्यक्तियों को प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित करने आदि अनेक कार्यों के लिए भी भाषा का उपयोग करते हैं। इन कार्यों के लिए जिन वाक्यों का प्रयोग किया जाता है वे केवल सूचनात्मक अथवा तथ्यात्मक नहीं होते। स्पष्ट है कि भाषा का उद्देश्य सूचनाएँ देने अथवा तथ्यों का वर्णन करने तक ही सीमित न होकर इसकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। ऐसी स्थिति में सभी प्रकार के वाक्यों की सार्थकता की परीक्षा के लिए सत्यापन संबंधी एक ही कसौटी को स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसी कसौटी के आधार पर केवल सत्यापनीय वाक्यों को सार्थक मानकर अन्य सभी प्रकार के वाक्यों को निरर्थक शब्द अथवा छद्मकथन मात्र मान लेना भाषा-प्रयोग के उद्देश्य के संबंध में बहुत सीमित एवं संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है। इसी कारण आजकल अधिकतर विश्लेषणवादी दार्शनिक सत्यापन, मिथ्याकरण अथवा अन्य किसी भी एक कसौटी को सभी प्रकार के कथनों की सार्थकता की जाँच करने के लिए उपयुक्त नहीं मानते। ऐसी स्थिति में केवल सत्यापन-सिद्धांत के आधार पर सत्यापनीय न होने के कारण धार्मिक कथनों को निरर्थक शब्द मात्र घोषित कर देना उचित एवं तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। कुछ विचारकों ने सत्यापन-सिद्धांत के समर्थकों से यह प्रश्न किया है कि 'इंद्रियजन्य अनुभव द्वारा सत्यापनीय वाक्य ही सार्थक हैं' इस कथन की सार्थकता का आधार क्या है। वस्तुतः इन विचारकों के मतानुसार यह कथन स्वयं ही निरर्थक है, क्योंकि यह न तो विश्लेषणात्मक वाक्य है और न संश्लेषणात्मक वाक्य। परंतु मेरे विचार में सत्यापन-सिद्धांत के विरुद्ध यह कोई गंभीर आपत्ति अथवा अकाट्य तर्क नहीं है। सत्यापन-सिद्धांत के संबंध में उपर्युक्त प्रश्न उठाना उसी प्रकार अनुपयुक्त है जिस प्रकार सब कुछ तोलने वाली तराजू के विषय में यह पूछना कि आखिर उसको किसने तोला है। वास्तव में सत्यापन-सिद्धांत तथ्यात्मक वाक्यों की सार्थकता को जाँचने की एक कसौटी मात्र है विश्व संबंधी कोई स्थापना नहीं [illegible] की प्रामाणिकता के विषय में प्रश्न

उठाया जा सके। परन्तु, जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह भाषा की सार्थकता को जाँचने के लिए बहुत सीमित कसौटी प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि आजकल अधिकतर विश्लेषणवादी दार्शनिक तथ्यात्मक वाक्यों को सत्य या मिथ्या प्रमाणित करने के लिए ही इस सिद्धान्त का प्रयोग करना युक्तिसंगत मानते हैं, अन्य किसी प्रकार के वाक्यों की सार्थकता की परीक्षा करने के लिए नहीं। सत्यापन-सिद्धान्त के विषय में इन दार्शनिकों का यह दृष्टिकोण उचित एवं तर्कसंगत ही प्रतीत होता है।

यदि सभी प्रकार के वाक्यों की सार्थकता की जाँच करने के लिए सत्यापन-सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत कसौटी एकांगी है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अनेक प्रकार के वाक्य तथ्यात्मक एवं सत्यापनीय न होते हुए भी सार्थक और महत्त्वपूर्ण हैं। नैतिक निर्णयों द्वारा हम मनुष्य के कर्मों अथवा चरित्र का और सौंदर्यात्मक निर्णयों द्वारा कलात्मक वस्तुओं अथवा कृतियों का मूल्यांकन करते हैं, अतः केवल सूचनात्मक तथा सत्यापनीय न होते हुए भी ये निर्णय सार्थक हैं। इसी प्रकार धार्मिक कथनों की सत्यता में वास्तविक आस्था रखने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों के विचारों तथा आचरण पर इन कथनों का गहरा प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म की वास्तविकता, ईश्वर, स्वर्ग, नरक आदि की सत्ता से सम्बन्धित धार्मिक कथनों को सत्य मानता है उसका आचरण और जीवन तथा जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण इन कथनों को मिथ्या अथवा निरर्थक मानने वाले व्यक्ति के आचरण तथा जीवन और जगत् के प्रति उसके दृष्टिकोण से पर्याप्त सीमा तक भिन्न होना लगभग निश्चित है। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक कथन कम से कम उस व्यक्ति के लिए अवश्य सार्थक और महत्त्वपूर्ण है जो इनकी सत्यता में सचमुच आस्था रखता है और जो इनके अनुसार अपने व्यावहारिक जीवन में आचरण करता है। ऐसे व्यक्ति का आचरण सामाजिक हित की दृष्टि से वांछनीय है अथवा नहीं यह एक अलग प्रश्न है, किंतु उसके जीवन पर धार्मिक कथनों के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से धार्मिक कथनों की सार्थकता के संबंध में विट्गेन्स्टाइन, ब्रैथवेट, हेयर, माइल्स आदि दार्शनिकों का दृष्टिकोण एयर तथा फ्ल्यू के दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इन दार्शनिकों के मत को स्वीकार करते हुए निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि तथ्यात्मक एवं सत्यापनीय न होते हुए भी धार्मिक वाक्य धर्मपरायण व्यक्तियों के आचरण तथा दृष्टिकोण को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित करने के कारण उनके लिए संवेगात्मक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवश्यमेव सार्थक और महत्त्वपूर्ण हैं, अतः सत्यापन-सिद्धान्त के आधार पर इन वाक्यों की सार्थकता का निषेध करना उचित और युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

22

क्या ईश्वर विषयक चर्चा सार्थक और बोधगम्य है?

ईश्वर के विषय में चर्चा करते हुए हम प्राय यह कहते हैं कि "ईश्वर विश्व का रचयिता है" "ईश्वर हम सबसे प्रेम करता है", "ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा अत्यत दयालु है" इत्यादि। जब हम ईश्वर के संबध मे ऐसे कथनो का प्रयोग करते हैं तो हम बिना किसी प्रमाण के यह मान लेते हैं कि हमारे ये कथन सार्थक और बोधगम्य हैं। दूसरे शब्दों मे, हम यह दावा करते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व स्वरूप तथा गुणों के विषय मे हम अपने इन कथनो का अर्थ भलीभाँति समझते हैं और जानते हैं। हम अपने इस दावे मे पूर्णत विश्वास करते हैं कि ईश्वरविषयक हमारे उपर्युक्त कथन संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थक तथा सत्य हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वर्तमान शताब्दी में तर्कीय प्रत्यक्षवाद के उदय से पूर्व किसी दार्शनिक ने ईश्वर विषयक कथनो की सार्थकता और बोधगम्यता के संबध मे कोई प्रश्न नही उठाया। इस शताब्दी से पूर्व भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष मे दिए गए तर्कों से यह स्पष्ट है कि ईश्वरवादी एव निरीश्वरवादी दोनो ही समान रूप से ईश्वर विषयक कथनों की सार्थकता और बोधगम्यता को पूर्णत स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित या अप्रमाणित करने के लिए उन्होने जो तर्क दिए हैं वे केवल सार्थक ही नही, अपितु बहुत महत्त्वपूर्ण भी हैं। इस प्रकार तर्कीय प्रत्यक्षवाद के उदय से पूर्व दार्शनिक जगत् मे ईश्वर विषयक चर्चा की सार्थकता और बोधगम्यता को कभी कोई चुनौती नहीं दी गई।

परंतु बीसवी सदी मे तर्कीय प्रत्यक्षवाद तथा भाषा-विश्लेषणवाद के आविर्भाव के परिणामस्वरूप ईश्वर विषयक चर्चा के सबध मे उपर्युक्त परपरागत दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन हुआ। दर्शन के दीर्घकालीन इतिहास में पहली बार तर्कीय प्रत्यक्षवादियो तथा कुछ भाषा-विश्लेषणवादियो ने ईश्वर विषयक कथनों की सार्थकता और बोधगम्यता को अस्वीकार किया। इन दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को अप्रमाणित करने के लिए उस प्रकार के तर्क नही दिए जिस प्रकार के तर्क निरीश्वरवादियों तथा सदेहवादियो ने दिए थे। इसके विपरीत उन्होंने ईश्वरवादियों तथा निरीश्वरवादियों दोनो की इस आधारभूत मान्यता को ही अस्वीकार कर दिया कि ईश्वर विषयक चर्चा सार्थक और बोधगम्य है। ये दार्शनिक निश्चित रूप से यह मानते थे कि ईश्वरवादी दार्शनिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति मानवीय अनुभव एव तर्कबुद्धि से परे ईश्वर की जिस अवधारणा मे विश्वास करने का दावा करते हैं वह वास्तव में निरर्थक और अबोधगम्य है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने निरीश्वरवाद, अज्ञेयवाद तथा सदेहवाद का भी उसी प्रकार खडन किया है जिस प्रकार ईश्वरवाद का। इन दार्शनिकों के मतानुसार जो व्यक्ति ईश्वर के पक्ष तथा विपक्ष मे निश्चित रूप से बहुत कुछ कहने का दावा करते हैं वे वास्तव मे सार्थक रूप मे कुछ भी नही कहते। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईश्वर विषयक चर्चा की सार्थकता का यह निषेध [illegible] के विरुद्ध [illegible] तर्कों की अपेक्षा कही अधिक गभीर

चुनौती है, क्योंकि इसमे इश्वर सबधी कथनो की बोधगम्यता को ही अस्वीकार किया गया है। इस संक्षिप्त लेख का उद्देश्य ईश्वरवाद के विरुद्ध इसी अभूतपूर्व गभीर चुनौती की विवेचना करना है।

यहाँ सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ईश्वर विषयक कथनो की सार्थकता और बोधगम्यता को किस प्रकार निश्चित किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमे संक्षेप मे उन शर्तो पर विचार करना होगा जो सामान्य रूप से भाषा की सार्थकता एव बोधगम्यता के लिए अनिवार्य मानी जाती हैं। शब्दो के अर्थ को जानने के लिए वर्तमान शताब्दी मे दार्शनिको ने 'चित्र-सिद्धात' या 'निर्देशात्मक सिद्धांत', 'सत्यापन सिद्धात', 'मनोवैज्ञानिक सिद्धात', 'उपयोग सिद्धात' आदि भाषार्थ विषयक अनेक सिद्धातो का प्रतिपादन किया है। इस सक्षिप्त लेख मे इन सभी सिद्धातो की विस्तृत विवेचना करना संभव नही है, कितु यह अवश्य कहा जा सकता है कि सभी दृष्टियो से पूर्णत सतोषप्रद न होते हुए भी ये सिद्धात अशत निश्चय ही सत्य हैं। चित्र-सिद्धात अथवा निर्देशात्मक सिद्धात के समर्थन मे यह कहा जा सकता है कि हम वर्णनात्मक शब्दो का अर्थ उन वस्तुओ की ओर सकेत करके सीख या सिखा सकते हैं जिनका ये शब्द बोध कराते हैं। इसी प्रकार सत्यापन सिद्धात की यह मान्यता उचित प्रतीत होती है कि जिस कथन का मानवीय अनुभव के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई सबध नही है वह हमारे लिए तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नही हो सकता। हमारी भाषा मे बहुत से शब्द सवेगात्मक हैं जिनका उद्देश्य भावनाओ को अभिव्यक्त तथा जागृत करना होता है। मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ऐसे शब्दो के अर्थ को स्पष्ट करने मे हमारी कुछ सहायता कर सकता है। परतु आज अधिकतर दार्शनिक भाषार्थ विषयक उपर्युक्त सिद्धांनो के स्थान पर उपयोग-सिद्धात को ही स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार हम प्रत्येक कथन का अर्थ विशेष प्रसंग मे उसके उपयोग के आधार पर ही समझ सकते हैं। विभिन्न प्रसगो मे शब्दो का उपयोग भाषा सबधी तार्किक नियमो द्वारा ही शासित होता है। हमे यह नही पूछना चाहिए कि किसी शब्द का अर्थ क्या है, अपितु यह पूछना चाहिए कि किसी विशेष प्रसंग मे उस शब्द का कार्य अथवा उपयोग क्या है। यह सत्य है कि भाषा के अर्थ के विषय में इन सिद्धातो की मान्यताएँ एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं, कितु इन सभी सिद्धांतों के मूल मे एक सामान्य तत्त्व अवश्य विद्यमान है और यह सामान्य तत्त्व है व्यापक अर्थ में मानवीय अनुभव की स्वीकृति। ये सभी सिद्धात भाषा की सार्थकता और बोधगम्यता को किसी न किसी रूप मे मनुष्य के अनुभव के साथ अनिवार्यत सबद्ध मानते हैं। इसका अर्थ यही है कि जिस शब्द या कथन का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे मानवीय अनुभव के साथ कोई सबध नही है वह हमारे लिए कभी भी सार्थक तथा बोधगम्य नही हो सकता।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि भाषा की सार्थकता से सबधित उपर्युक्त विवेचन को ध्यान मे रखते हुए हम ईश्वर विषयक चर्चा की बोधगम्यता के सबध मे क्या कह सकते हैं। क्या ईश्वर से सबंधित कथन हमारे लिए बोधगम्य है? यदि हाँ, तो इन्हे किस अर्थ मे बोधगम्य माना जा सकता है? इन प्रश्नो का उतर देने के लिए हमे ईश्वर की उस अवधारणा के स्वरूप पर विचार करना होगा जिसमें धर्मपरायण व्यक्ति और अधिकनर ईश्वरवादी दार्शनिक विश्वास करते रहे हैं। धर्म तथा दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल से वर्तमान युग तक ईश्वरवादी दार्शनिक और धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप के विषय मे अनेक अवधारणाओ को स्वीकार करते रहे हैं। इस सक्षिप्त लेख मे इन सभी अवधारणाओ की विवेचना करना सभव नही है, अत यहाँ हम ईश्वर विषयक केवल दो प्रमुख अवधारणाओ का ही उल्लेख करेगे। ईश्वर की प्रथम और सर्वाधिक प्रचलित अवधारणा वह है जिसे दर्शन मे 'मानवत्वारोपी अवधारणा' कहा जाता है। इस अवधारणा के अनुसार ईश्वर एक ऐसा महा मानव है जो सभी दृष्टियो से पूर्ण है और जिसमे ज्ञान

शक्ति, प्रेम, सौंदर्य, शुभत्व आदि मानवीय गुण अधिकतम मात्रा मे विद्यमान रहते हैं। इसका अर्थ यही है कि यद्यपि ईश्वर सभी दृष्टियो से मनुष्य की अपेक्षा कही अधिक महान है, फिर भी वह मनुष्य से मूलत भिन्न नहीं है। लगभग सभी धर्मपरायण व्यक्ति किसी न किसी रूप में ईश्वर की इसी मानवत्वारोपी अवधारणा मे विश्वास करते हैं। जब हम स्वयं अपने लिए अथवा दूसरों के लिए ईश्वर से सहायता या सुरक्षा की याचना करते हैं तो हम ईश्वर विषयक इसी अवधारण को पूर्णत स्वीकार कर लेते हैं। वस्तुत सभी ईश्वरवादी धर्मो का मूल आधार ईश्वर की यही मानवत्वारोपी अवधारणा है, क्योंकि इसी अवधारणा को स्वीकार करने पर ही ईश्वर मनुष्य की उपासना या पूजा का विषय हो सकता है। जब हम यह कहते हैं कि "ईश्वर जगत् का रचयिता है, वह हम सबका पिता है और वह हम सबसे प्यार करता है," तो हम निश्चित रूप से ईश्वर विषयक मानवत्वारोपी अवधारणा का ही समर्थन करतेहैं। यह स्पष्ट है कि इस अवधारणा को स्वीकार कर लेने पर ईश्वर विषयक चर्चा हमारे लिए सार्थक और बोधगम्य हो सकती है। इसका कारण यह है कि हम अपने अनुभव के आधार पर ईश्वर मे आरोपित ज्ञान, शक्ति, स्नेह, सौंदर्य, शुभत्व आदि मानवीय गुणो के अर्थ को भलीभाँति जानते हैं। इन गुणो से परिपूर्ण ईश्वर कम से कम सिद्धातत हमारे अनुभव का विषय हो सकता है, क्योंकि हम यह कल्पना कर सकते हैं कि वह किस प्रकार का महा मानव होगा। ऐसी स्थिति में हम इस प्रकार के ईश्वर के विषय मे सार्थक रूप से चर्चा कर सकते हैं। परतु ईश्वर विषयक इस मानवत्वारोपी अवधारणा के विरुद्ध दार्शनिक दृष्टि से गंभीर आपत्ति यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर ईश्वर मनुष्य के समान ही एक ऐसा सीमित प्राणी हो जाता है जिसका विशेष स्वरूप है और जिसमें कुछ विशेष गुण विद्यमान हैं। उसकी स्थिति एक सीमित महा मानव की स्थिति से मूलत भिन्न नही रह जाती। यही कारण है कि अधिकतर ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर विषयक उपर्युक्त मानवत्वारोपी अवधारणा को पूर्णत अस्वीकार करते हैं।

ईश्वर के सबध मे दूसरी अवधारणा मानवत्वारोपी अवधारणा के ठीक विपरीत है। इस अवधारणा को 'अमानवत्वारोपी अवधारणा' अथवा 'निर्गुण तथा निराकार ईश्वर की अवधारणा' कहा जाता है। इस अवधारणा के अनुसार ईश्वर किसी प्रकार का व्यक्ति या प्राणी नही है, अत. हम उसके संबध में मानवीय अनुभव, स्वरूप, गुणो तथा क्रियाओं के आधार पर विचार नहीं कर सकते। वह निर्गुण तथा निराकार होने के कारण मनुष्य के अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि से परे है। इसका अर्थ यही है कि हम कभी भी ईश्वर की अवधारणा की कल्पना नही कर सकते, क्योंकि वह हमारे अनुभव अथवा हमारी तर्कबुद्धि का विषय नहीं हो सकता। ऐसे ईश्वर मे हम मानवीय गुणो तथा क्रियाओ को भी आरोपित नहीं कर सकते। जो दार्शनिक निर्गुण, निराकार तथा अनुभवातीत ईश्वर की अवधारणा मे विश्वास करते हैं वे निश्चित रूप से यह मानते हैं कि ईश्वर कोई ऐसा महा मानव नही है जो इस जगत् का संचालन और नियमन कर रहा है। परतु इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर ऐसी अनिवार्य सत्ता है जो सपूर्ण ब्रहमाड का मूल आधार है और जिस पर अतत सभी सत्तावान वस्तुएँ पूर्णत निर्भर हैं। इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता अन्य सभी वस्तुओ की सत्ता से भिन्न प्रकार की है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा तथा निर्गुण, निराकार और देश-कालातीत ईश्वर की अवधारणा मे आधारभूत अतर है।

अब हमारे समक्ष मूल प्रश्न यह है कि क्या हम ऐसे निर्गुण, निराकार तथा मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि से परे ईश्वर के विषय मे सार्थकतापूर्वक कुछ कह सकते हैं। मेरे विचार मे इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से ——— ही हो सकता है। हम देख चुके हैं कि मानवीय अनभव और तर्कबुद्धि से पर होने के कारण ऐसा ईश्वर हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता यह

कठिन नहीं है कि ऐसी स्थिति में हमारे लिए 'ईश्वर' शब्द का कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं रह जाता और इसी कारण हम उसके विषय में सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। हम जब भी ऐसे निर्गुण, निराकार तथा अनुभवातीत ईश्वर के विषय में कुछ कहते हैं तो हमारा कथन संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक एवं अबोधगम्य हो जाता है। ऐसे कथन को न तो अनुभव द्वारा सत्यापित किया जा सकता है और न तर्कबुद्धि द्वारा प्रमाणित, क्योंकि ईश्वर को इन दोनों से परे माना जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि हम ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा को अस्वीकार करते हैं तो हम उसके अस्तित्व, स्वरूप तथा उसकी क्रियाओं के विषय में सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। अतः ऐसे ईश्वर के संबंध में हमारी संपूर्ण चर्चा संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक हो जाती है। परन्तु इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हुए ईश्वरवादी ऐसे ईश्वर के विषय में बहुत कुछ कहने और जानने का दावा करते हैं जिसे वे स्वयं निर्गुण, निराकार तथा मानवीय अनुभव एवं तर्कबुद्धि से परे मानते हैं। वस्तुतः ईश्वरवाद की मूल समस्या यह है कि इसके समर्थक एक ओर तो ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा का खंडन करते हुए उसे निर्गुण तथा निराकार मानते हैं और दूसरी ओर वे उसके अस्तित्व, स्वरूप एवं जगत् के साथ उसके संबंध के ज्ञान का भी दावा करते हैं। वे यह मानते हैं कि ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता, संरक्षक तथा संचालक है और इसी कारण वह हमारी पूजा या उपासना का विषय है। ईश्वरवादी प्रायः ईश्वर के विषय में निम्नलिखित कथनों का प्रयोग करते हैं — "ईश्वर हम सबका पिता है", "वह हम सब से प्यार करता है और हमारी प्रार्थना सुनता है", "वह संकट-काल में हमारी सहायता करता है"। उनका दावा है कि ईश्वर के संबंध में उनके ये कथन संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थक तथा पूर्णतः सत्य हैं। वे ईश्वर में शक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य, शुभत्व आदि समस्त मानवीय सद्गुणों को आरोपित करते हैं और इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से ईश्वर की उसी मानवत्वारोपी अवधारणा को स्वीकार कर लेते हैं जिसे वे स्वयं अनुचित तथा अयुक्तिसंगत मानते हैं। इसके फलस्वरूप ईश्वरवादियों की ईश्वर विषयक चर्चा में गंभीर असंगति उत्पन्न हो जाती है और वह हमारे लिए संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक तथा अबोधगम्य हो जाती है।

ईश्वर विषयक चर्चा की सार्थकता एवं बोधगम्यता के विरुद्ध उपर्युक्त तर्क का उत्तर देते हुए ईश्वरवादी यह कह सकते हैं कि वे तथा निरीश्वरवादी सार्थकतापूर्वक 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करते हैं और उन कथनों का अर्थ भलीभांति समझते हैं जिनमें इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु मेरे विचार में ईश्वरवादियों का यह दावा उचित एवं तर्कसंगत नहीं है। हमारी भाषा में 'ब्रह्म', 'ईश्वर', 'आत्मा', 'निरपेक्ष तत्त्व', 'पूर्ण प्रत्यय' आदि अनेक ऐसे शब्द प्रचलित हैं जिनका हम वास्तव में अर्थ नहीं समझते, क्योंकि इन शब्दों का कोई संज्ञानात्मक अर्थ नहीं है। इनमें से कोई भी शब्द वास्तव में किसी वस्तु या स्थिति का वर्णन नहीं करता और इसी कारण हमें किसी प्रकार की कोई तथ्यात्मक सूचना नहीं देता। स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि ये तथा ऐसे ही अन्य अनेक शब्द हमारे लिए संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। ऐसे शब्दों के प्रयोग के परिणामस्वरूप ही हमारी भाषा में 'छद्म कथनों' की उत्पत्ति होती है जो व्याकरण की दृष्टि से तथ्यात्मक कथन प्रतीत होते हैं किंतु जो वास्तव में हमें जीवन और जगत् के विषय में किसी प्रकार की कोई तथ्यात्मक सूचना नहीं देते। मेरा यह निश्चित मत है कि यदि हम ईश्वर की मानवत्वारोपी अवधारणा का परित्याग कर देते हैं तो ईश्वर के संबंध में हमारे समस्त कथन ऐसे ही 'छद्म कथन' हो जाते हैं— अर्थात् वे हमारे लिए संज्ञानात्मक दृष्टि से सार्थक और बोधगम्य नहीं रह जाते। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वर विषयक चर्चा वस्तुतः हमारे लिए निरर्थक तथा अबोधगम्य है।

परन्तु यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि संज्ञानात्मक दृष्टि से निरर्थक और अबोधगम्य होते हुए भी ईश्वर विषयक चर्चा धर्मपरायण व्यक्तियो के लिए संवेगात्मक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय है। संवेगो या भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करने वाले संवेगात्मक शब्दो का भी हमारे जीवन मे उतना ही महत्त्व है जितना वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक शब्दो का। ये शब्द हमारी भावनाओ को प्रभावित करके हमारे जीवन मे प्रेरणा और उत्साह का संचार करते हैं। मेरे विचार मे 'ईश्वर' भी ऐसा ही संवेगात्मक शब्द है जिसका भक्तो अथवा धर्मपरायण व्यक्तियो के लिए विशेष महत्त्व है। यह सर्वविदित तथ्य है कि जिन कथनो मे इस शब्द का प्रयोग किया जाता है वे भक्तो के मन मे श्रद्धा, प्रेम, भयमिश्रित सम्मान आदि विशेष भावनाएँ उत्पन्न करते है जिनका उनके आचरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से ईश्वर विषयक चर्चा भक्तो के लिए निश्चय ही बहुत उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है।

23

धार्मिक अनुभव और ईश्वर का अस्तित्व

बहुत से ईश्वरवादियों और धर्मपरायण व्यक्तियों का यह दावा है कि उनका साक्षात् धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण तथा उसके स्वरूप के ज्ञान का प्रमुख आधार है। कुछ धर्मपरायण रहस्यवादी यहाँ तक दावा करते हैं कि उन्हें विशिष्ट रहस्यमय धार्मिक अनुभव द्वारा ईश्वर का उसी प्रकार प्रत्यक्षत ज्ञान प्राप्त होता है जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपने इंद्रिय अनुभव द्वारा बाह्य जगत् की वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से जान लेते हैं। प्रस्तुत लेख मे ईश्वरवादियों तथा धर्मपरायण रहस्यवादियो के इस दावे के औचित्य पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया जाएगा। इस सबध मे सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि जब धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के साक्षात् ज्ञान का दावा करते हैं तो 'ईश्वर' शब्द से उनका वास्तविक अभिप्राय क्या होता है। इस प्रश्न के उत्तर मे सभवत यही कहा जा सकता है कि 'ईश्वर' शब्द से उनका अभिप्राय ईश्वर के उस रूप मे है जो विश्व का रचयिता, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा दयालु होने के कारण भक्तो की उपासना अथवा पूजा का विषय है। धर्मपरायण व्यक्तियो के लिए अरस्तू द्वारा वर्णित ईश्वर के उस अमूर्त रूप का कोई महत्त्व नही है जो विश्व का 'आदि कारण' है और उसे गति प्रदान करता है किंतु जो भक्तो की पूजा अथवा आराधना का विषय नही हो सकता। इस प्रकार धर्मपरायण ईश्वरवादी शकर के ब्रह्म तथा अरस्तू एव स्पिनोजा के 'अमूर्त ईश्वर' के स्थान पर ईश्वर के उस रूप को स्वीकार करते हैं जो उनका उपास्य हो सकता है और जिसकी सहायता पर वे सदैव निर्भर रह सकते हैं।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि जिस 'धार्मिक अनुभव' के आधार पर भक्तो के उपास्य, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु तथा सर्वव्यापक ईश्वर के अस्तित्व के साक्षात् ज्ञान का दावा किया जाता है उसका स्वरूप क्या है। इस प्रश्न का कोई सर्वमान्य और सतोषप्रद उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योकि धार्मिक अनुभव क स्वरूप के विषय में दार्शनिको तथा स्वय धर्मपरायण व्यक्तियों मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ दार्शनिक धार्मिक अनुभव को पूर्णत सवेगात्मक तथा निर्बौद्धिक ही मानते हैं, किंतु कुछ अन्य दार्शनिको का विचार है कि धार्मिक अनुभव मे भावनात्मक तत्त्व के साथ-साथ बौद्धिक तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान रहता है। होफडिंग विशेष धार्मिक भावना को ही धार्मिक अनुभव मानते हैं। इसी प्रकार रूडोल्फ ऑटो ने भी निर्बौद्धिक तत्त्व को धार्मिक अनुभव की प्रमुख विशेषता माना है। अपनी पुस्तक 'दि आइडिया ऑफ दि होली' मे धार्मिक अनुभव का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि यह निर्बौद्धिक तत्त्व ही धार्मिक अनुभव का मूल तत्त्व है जिसे इंद्रिय अनुभव एव तर्क द्वारा नही समझा जा सकता। इसी निर्बौद्धिक तत्त्व को उन्होंने 'न्यूमिनस' की सज्ञा दी है जो उनके विचार में मनुष्य की एक अद्वितीय सवेगात्मक अवस्था है। धार्मिक अनुभव संबधी इस विशेष अवस्था के अतर्गत मनुष्य अपने आप को ईश्वर पर पूर्णत निर्भर ही नही समझता, अपितु वह उसकी महानता के समक्ष अपने आप को नितांत तुच्छ अनुभव

करता है। इस अवस्था में उसे आदर तथा भय से परिपूर्ण ऐसे महान रहस्य की भी अनुभूति होती है जिसे वह किसी प्रकार अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इस प्रकार ऑटो के विचार में धार्मिक अनुभव मनुष्य की एक विशेष संवेगात्मक अवस्था है जो ईश्वर पर उसकी पूर्ण निर्भरता और ईश्वर के समक्ष उसकी नितान्त महत्त्वहीनता की रहस्यमयी अनुभूति के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। इसमें मनुष्य ईश्वर को अपने आप से पूर्णतः पृथक, अत्यधिक शक्तिशाली तथा अत्यधिक महान दैवी शक्ति के रूप में अनुभव करता है जिसके प्रति उसके मन में आदरमिश्रित भय की उत्पत्ति होती है।

कुछ अन्य विचारक धार्मिक अनुभव के स्वरूप के विषय में ऑटो के उपर्युक्त मत को पूर्णतः स्वीकार नहीं करते। इन विचारकों में जी. डेविस हिक्स तथा कुक विलसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऑटो के विपरीत ये दोनों विचारक भावनात्मक तत्त्व को धार्मिक अनुभव का प्रमुख और मूल तत्त्व नहीं मानते। इन विचारकों का मत है कि धार्मिक अनुभव में भावनात्मक तत्त्व के साथ-साथ ज्ञानात्मक बौद्धिक तत्त्व का भी पर्याप्त महत्त्व है। इसका कारण यह है कि धर्मपरायण व्यक्ति जिस ईश्वर पर अपने आप को पूर्णतः निर्भर मानता है और जिसके प्रति आदर एवं पूजा की भावना का अनुभव करता है उसे वह यथार्थ आध्यात्मिक सत्ता मानता है जिसका ज्ञान केवल भावनात्मक तत्त्व द्वारा संभव नहीं है। हिक्स के शब्दों में, "धार्मिक भावना की बात करना तब तक निरर्थक है जब तक हम इसका अर्थ यह न समझें कि यह भावना आध्यात्मिक सत्ताओं से संबद्ध धार्मिक विचारों से उत्पन्न होती है। ... यदि हम ऐसी यथार्थ सत्ता को स्वीकार न करें जिसका कुछ सीमा तक बौद्धिक ज्ञान संभव है तो इस पर 'पूर्ण निर्भरता' का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

मुझे विश्वास है कि भावना और ज्ञान को पृथक करना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि पहले तो इनका पृथकत्व संभव ही नहीं है और यदि यह संभव हुआ तो इसका अर्थ होगा भावना तथा ज्ञान दोनों का विनाश। ... मनुष्य का मन एक ऐसी इकाई है जिसमें ये भिन्न-भिन्न तत्त्व अनिवार्यतः एक दूसरे से संबद्ध रहते हैं।"[1] इस प्रकार हिक्स के मतानुसार धार्मिक अनुभव में भावनात्मक तथा बौद्धिक दोनों तत्त्वों का लगभग समान महत्त्व है। कुक विलसन भी धार्मिक अनुभव के स्वरूप के विषय में मूलतः इसी मत का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि "हमारी पूजा की भावना अनुभवातीत आध्यात्मिक सत्ता में सर्वाश्रित हमारे विश्वास पर ही आधारित रहती है। जिस प्रकार किसी के प्रति कृतज्ञ होने वाला मनुष्य उस व्यक्ति के वास्तविक अस्तित्व में विश्वास करता है जिसके प्रति वह कृतज्ञता का अनुभव करता है उसी प्रकार हम पूजा की भावना का अनुभव तभी करते हैं जब हम वस्तुतः ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं"।[2] विलसन के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार ईश्वर की सत्ता में हमारा विश्वास पूर्णतः भावनात्मक अथवा निर्बौद्धिक नहीं हो सकता — वह कुछ सीमा तक अनिवार्यतः बौद्धिक होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अधिकतर विचारक ईश्वर अथवा किसी अन्य आध्यात्मिक सत्ता में अटूट विश्वास तथा इस विश्वास पर आधारित पूर्ण समर्पण एवं पूजा की भावना को धार्मिक अनुभव के अनिवार्य तत्त्व मानते हैं।

इसी धार्मिक अनुभव के आधार पर अनेक धर्मपरायण दार्शनिकों ने दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका तर्क है कि संसार में करोड़ों व्यक्तियों को यह धार्मिक अनुभव प्राप्त है और यह तथ्य निश्चय ही

---

1 जी. डेविस हिक्स, द फिलॉसॉफिकल बेसिस ऑफ थीज्म, पृ. 105, 127, 130

2 कुक विलसन, 'स्टेटमेंट ऐंड इन्फरेंस', वोल्यूम II, पृ. 83

ईश्वर के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करें तो हम इस धार्मिक अनुभव के मूल कारण की संतोषजनक व्याख्या कभी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में हमारा यह व्यापक धार्मिक अनुभव एक रहस्य बनकर रह जाता है जिसका कोई कारण बताना संभव नहीं है। ऐसा व्यापक अनुभव अकारण नहीं हो सकता, अतः इसका कोई महान प्रेरणा-स्रोत अवश्य है और यह महान प्रेरणा-स्रोत ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए धार्मिक अनुभव संबंधी इसी युक्ति को स्पष्ट करते हुए एक ईश्वरवादी दार्शनिक ट्रूबलड ने लिखा है कि "हमें आशा करनी चाहिए कि विचारशील व्यक्ति अन्य युक्तियों की अपेक्षा ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा अधिक प्रभावित होंगे। जो बात हम कहना चाहते हैं वह यह नहीं है कि करोड़ों व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करते हैं अपितु वह यह है कि करोड़ों व्यक्तियों ने यह बताया है और अब भी बता रहे हैं, कि उन्हें ईश्वर का उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त है जिस प्रकार वे अन्य व्यक्तियों तथा बाह्य वस्तुओं को प्रत्यक्षतः जानते हैं। उनके विवरणों में जो दावा किया गया है वह इतना महान तथा इतना व्यापक है कि कोई भी दर्शन उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। जब इस दावे की सावधानीपूर्वक जाँच किए बिना ही इसे दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया जाता है तो ऐसा संभवतः पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण के कारण ही होता है। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न करने वाले व्यक्ति के समक्ष एक ही युक्तिसंगत विकल्प बच रहता है और वह यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ईश्वर का विवरण देने वाले सभी व्यक्ति भ्रम में हैं। वास्तव में धार्मिक अनुभव पर आधारित युक्ति इतनी प्रबल है कि जब तक इसमें कोई गंभीर दोष नहीं दिखाया जाता तब तक इसका प्रभावशाली रहना निश्चित है"।[3] ट्रूबलड की भाँति अन्य बहुत से धर्मपरायण विचारकों ने भी धार्मिक अनुभव संबंधी इसी युक्ति द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इस युक्ति द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने वाला ईश्वरवादी दार्शनिक निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है —

"मुझे ईश्वर का प्रत्यक्ष अथवा साक्षात् अनुभव है, अतः उसके अस्तित्व में विश्वास करने के लिए मेरे पास उचित एवं पर्याप्त कारण है। यह कथन स्वतोव्याघाती है कि मुझे ईश्वर का साक्षात अनुभव है किन्तु ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार ईश्वर के विषय में मेरा साक्षात् अनुभव उसके अस्तित्व को निश्चित रूप से प्रमाणित करता है।" इस तर्क से स्पष्ट है कि धर्मपरायण दार्शनिक अपने धार्मिक अनुभव को वैयक्तिक मनोदशा न मानकर उसके आधार पर ईश्वर के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रमाणित करने का दावा करता है।

परन्तु अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने से संबंधित धर्मपरायण व्यक्ति का यह दावा उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हम देख चुके हैं कि ईश्वरवादियों के अनुसार धार्मिक अनुभव धर्मपरायण व्यक्ति की वह मानसिक स्थिति है, जिसके अंतर्गत उसे ईश्वर संबंधी विशेष प्रकार की वर्णनातीत अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में, धार्मिक अनुभव धर्मपरायण व्यक्ति की एक मनोदशा मात्र है जो उसमें ईश्वर से संबंधित कुछ विशेष भावनाएँ उत्पन्न करती है। इस अर्थ में धार्मिक अनुभव पूर्णतः वैयक्तिक होने के कारण ईश्वर अथवा किसी अन्य वस्तुगत सत्ता के ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में ईश्वरवादी के इस कथन को स्वीकार किया जा सकता है कि वह विशेष प्रकार की ईश्वर संबंधी भावनाओं का अनुभव करता है। परन्तु यह कथन उसकी अपनी विशेष व्यक्तिगत मानसिक स्थिति का वर्णन मात्र है, अतः यह ईश्वर के अस्तित्व संबंधी ज्ञान का प्रामाणिक आधार

3 डेविड ऐल्टन ट्रूबलड, 'लॉजिक ऑफ रिलिजन' पृ 143, 44, 45, 52

नहीं हो सकता। वास्तव में किसी व्यक्ति द्वारा अनुभव की गई कुछ विशेष भावनाओं के आधार पर किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता, अतः धर्मपरायण व्यक्ति द्वारा ईश्वर संबंधी कुछ विशेष भावनाओं का अनुभव करने तथा ईश्वर का अस्तित्व न होने में कोई अनिवार्य विरोध नहीं है। एक विशेष मानसिक स्थिति में कोई व्यक्ति ईश्वर की साक्षात अनुभूति प्राप्त करने का दावा कर सकता है, किंतु वस्तुतः उसकी यह वैयक्तिक मनोदशा उसके मानसिक जगत से स्वतंत्र ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकती। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव तथा ईश्वर के अस्तित्व में परस्पर कोई संबंध नहीं है।

जब कोई धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव द्वारा ईश्वर का साक्षात ज्ञान प्राप्त करने का दावा करता है तो वास्तव में उसके इस ज्ञान का कोई वस्तुगत युक्तिसंगत आधार खोजना संभव प्रतीत नहीं होता। स्वयं ईश्वरवादी यह स्वीकार करते हैं कि धार्मिक अनुभव प्राप्त ईश्वर के साक्षात ज्ञान की यथार्थता की जाँच करने के लिए हमारे पास कोई संतोषजनक कसौटी नहीं है। यही कारण है कि वे इस ज्ञान को भौतिक वस्तुओं के ज्ञान से मूलतः भिन्न तथा अद्वितीय मानते हैं। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इस अद्वितीय ज्ञान की यथार्थता को स्वीकार करने का हमारे पास क्या आधार है। हम इस तथ्य का निर्णय कैसे कर सकते हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के जिस साक्षात ज्ञान का दावा करता है वह यथार्थ है अथवा उसकी विशेष मनोदशा से उत्पन्न भ्रम? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ईश्वरवादियों ने इस मूल प्रश्न का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। वे धार्मिक अनुभव को अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से भिन्न मानते हुए यही कहते हैं कि यह अनुभव असाधारण अनुभव है, अतः इस पर आधारित ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप का ज्ञान भी विशिष्ट कोटि का ज्ञान है जिसकी सामान्य विधियों अथवा उपायों द्वारा जाँच नहीं की जा सकती। इससे स्पष्ट है कि स्वयं ईश्वरवादियों के मतानुसार धार्मिक अनुभव द्वारा प्राप्त ईश्वर संबंधी साक्षात् ज्ञान की यथार्थता को प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कोई वस्तुगत कसौटी नहीं। ऐसी स्थिति में धार्मिक अनुभव द्वारा प्राप्त ईश्वर के साक्षात् ज्ञान की यथार्थता से संबंधित धर्मपरायण व्यक्तियों के दावे का औचित्य बहुत ही संदिग्ध प्रतीत होता है। वस्तुतः जिस ज्ञान की यथार्थता की जाँच करने के लिए हमारे पास सत्यापनीयता संबंधी कोई वस्तुगत कसौटी नहीं है उसे यथार्थ ज्ञान के रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। विशेष वैयक्तिक मनोदशा मात्र होने के कारण किसी व्यक्ति का धार्मिक अनुभव ऐसे ज्ञान की यथार्थता को प्रमाणित नहीं कर सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप का साक्षात् और असाधारण ज्ञान प्राप्त करने का जो दावा करता है उसकी प्रामाणिकता की जाँच करने के लिए हमारे पास कोई वस्तुगत कसौटी या विधि नहीं है, अतः उसका यह दावा यथार्थ ज्ञान का द्योतक न होकर उसकी अपनी विशेष मानसिक स्थिति का ही परिचायक है।

उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए कुछ ईश्वरवादियों ने कहा है कि केवल धार्मिक अनुभव ही नहीं अपितु सभी प्रकार का अनुभव अंततः अनुभवकर्ता की अपनी मानसिक स्थिति का ही द्योतक होता है अतः धार्मिक अनुभव को अनुभवकर्ता की वैयक्तिक मनोदशा कहकर अप्रामाणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। "सच्चाई यह है कि एक व्यक्ति की चेतना दूसरे व्यक्ति की चेतना नहीं हो सकती। मैं जिस रूप में वस्तुओं का अनुभव करता हूँ ठीक उसी रूप में आप उनका अनुभव नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त कोई भी अनुभव किसी व्यक्ति को जब तक नहीं समझाया जा सकता जब तक उस व्यक्ति में उस अनुभव को ग्रहण करने की क्षमता न हो। ... इस संबंध में मुख्य बात यह है

कि धार्मिक अनुभव तथा इंद्रिय अनुभव के प्रमाणीकरण की प्रक्रिया एक ही है''।[4] इसी आधार पर सभी प्रकार के अनुभव को मूलत वैयक्तिक बताते हुए ब्रैडले ने लिखा है कि ''मेरे विचारो तथा मेरी भावनाओ के समान ही मेरे बाह्य सवेदन भी व्यक्तिगत होने के कारण केवल मुझ तक ही सीमित हैं''।[5] इन ईश्वरवादी विचारको का मुख्य तर्क यह है कि जिस व्यक्ति को धार्मिक अनुभव प्राप्त नही है और जिसमे इस अनुभव को ग्रहण करने की क्षमता नही है उसे ईश्वर का साक्षात् ज्ञान नही हो सकता, परतु इस आधार पर उसे यह कहने का अधिकार नहीं है कि धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नही करता। धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता के समर्थन मे इसी युक्ति को स्पष्ट करते हुए ऐच०ऐच० फारमर ने अपनी पुस्तक 'टुवर्ड्स बिलीफ इन गॉड' मे कहा है कि निरीश्वरवादी के समक्ष ईश्वर के अनुभव का वर्णन करना वैसा ही है जेसा दृष्टिहीन व्यक्ति के समक्ष रग का वर्णन करना। फारमर के इस कथन का अर्थ यह है कि जिस प्रकार दृष्टि के अभाव के कारण दृष्टिहीन व्यक्ति रंग का अनुभव नही कर सकता उसी प्रकार धार्मिक अनुभव के अभाव के कारण निरीश्वरवादी भी ईश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ है। परतु जिस प्रकार दृष्टिहीन व्यक्ति की रग सबधी अनुभव को ग्रहण करने की असमर्थता इस अनुभव को अप्रामाणिक सिद्ध नही करती उसी पकार निरीश्वरवादी की धार्मिक अनुभव को ग्रहण करने की असमर्थता भी इस अनुभव को अप्रामाणिक सिद्ध नही कर सकती। यदि निरीश्वरवादी को धार्मिक अनुभव प्राप्त नहीं है तो केवल इसी आधार पर वह यह नहीं कह सकता कि धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नही करता। इस प्रकार उपर्युक्त तर्क द्वारा ईश्वरवादियो ने धार्मिक अनुभव को युक्तिसंगत एव प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया है।

परतु धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता के समर्थन मे ईश्वरवादियो की इस युक्ति का औचित्य बहुत सदिग्ध प्रतीत होता है। हम देख चुके है कि स्वय ईश्वरवादी धार्मिक अनुभव को अन्य सभी प्रकार के अनुभवो से मूलत भिन्न मानते हैं। वे यह स्वीकार करते है कि धार्मिक अनुभव का एकमात्र विषय ईश्वर है जो उसे सासारिक विषयो से सबधित अन्य सभी प्रकार के अनुभवो से पृथक करता है। हम जिन तथ्यो द्वारा सासारिक विषयो मे सबधित अपने सामान्य अनुभव की पुष्टि करते है वे तथ्य धार्मिक अनुभव की पुष्टि नही करते। इस अर्थ मे धार्मिक अनुभव हमारे सामान्य सासारिक अनुभव से मूलत भिन्न है। ऐसी स्थिति मे धार्मिक अनुभव तथा इंद्रिय अनुभव की प्रामाणिकता की जॉच करने की विधि एक ही नही हो सकती जैसा कि कुछ ईश्वरवादी मानते है। यह सत्य है कि अतत प्रत्येक अनुभव वैयक्तिक होता है, क्योंकि स्वय व्यक्ति को उस अनुभव से सबधित विषय की अनुभूति होनी है। मेरे सुख-दुख का अनुभव इस अर्थ मे केवल मुझ तक सीमित है कि उसकी अनुभूति मुझे ही हो सकती है, किसी अन्य व्यक्ति को नही। इस दृष्टि से धार्मिक अनुभव इंद्रिय अनुभव के समान ही प्रतीत होता है। परतु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नही होगा कि हम उन्ही तथ्यो एव विधियो द्वारा धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता की जॉच कर सकते हैं जिन तथ्यो और विधियो द्वारा हम अपने सामान्य सासारिक अनुभव की प्रामाणिकता की जॉच करते है। जब किन्ही दो व्यक्तियो मे बाह्य वस्तु सबधी इंद्रिय अनुभव के विषय मे मतभेद होता है तो कुछ निर्वैयक्तिक तथ्यो के आधार पर वस्तुगत विधि द्वारा उनके अनुभव की सत्यता की जॉच की जा सकती है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति यह कहता है कि उसे एक विशेष समय पर एक कमरे मे कोई विशेष ध्वनि सुनाई पडती है और उन्ही परिस्थितियो मे दूसरा व्यक्ति यह कहता है

---

4 डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन', पृ. 155.

5 ऐफ ऐच ब्रैडले, 'अपीयरैंस ऐंड रियैलिटी', पृ 346.

कि उसे वह ध्वनि नहीं सुनाई पडती तो कुछ विशेष यन्त्रो — यथा, टेप-रिकार्डर द्वारा उस तथ्य की वस्तुगत परीक्षा की जा सकती है कि उन दोनो मे से किसका इंद्रिय अनुभव सत्य है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से सामान्य व्यक्तियों द्वारा भी उनके इस अनुभव की सत्यता की जॉच की जा सकती है। सभी प्रकार के इंद्रिय अनुभवो के सबध मे इस प्रकार की वस्तुगत परीक्षा सभव है। परतु धार्मिक अनुभव की सत्यता के विषय मे हम इस प्रकार की निर्वैयक्तिक तथा वस्तुगत परीक्षा नही कर सकते, क्योंकि इंद्रिय अनुभव के विपरीत धार्मिक अनुभव धर्मपरायण व्यक्ति की कुछ विशेष भावनाओं तक ही सीमित है, और किसी वस्तुगत विधि द्वारा उसकी इन भावनाओं का ईश्वर अथवा किसी अन्य बाह्य सत्ता के साथ सबध प्रमाणित करना सभव नही है। यही कारण है कि बहुत से ईश्वरवादी धार्मिक अनुभव को स्वत प्रामाणिक मानकर उसकी सत्यता को प्रमाणित करने की आवश्यकता को ही अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि धार्मिक अनुभव की सत्यता स्वत सिद्ध है, अत उसे प्रमाणित करने के लिए किन्ही बाह्य तथ्यो अथवा वस्तुगत विधियो की कोई आवश्यकता नही है। परतु धार्मिक अनुभव के विषय मे ईश्वरवादियों का यह मत उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नही होता, क्योंकि किसी अनुभव को स्वत सिद्ध कह देने से उसकी सत्यता प्रमाणित नही हो जाती। वस्तुत- इंद्रिय अनुभव के विपरीत धार्मिक अनुभव की सत्यता की जॉच करने के लिए हमारे पास कोई निर्वैयक्तिक उपाय अथवा वस्तुगत विधि नही है, ऐसी स्थिति में इस अनुभव पर आधारित ईश्वर के साक्षात ज्ञान का ईश्वरवादियों द्वारा जो दावा किया जाता है उसका औचित्य बहुत ही सदिग्ध प्रतीत होता है। किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव द्वारा केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि उस व्यक्ति को कुछ विशेष भावनाओ की अनुभूति होती है उसके धार्मिक अनुभव द्वारा इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के अतिरिक्त और कुछ भी प्रमाणित नही होता। धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर की सत्ता के ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए ऐच० ऐच० फारमर ने जो तर्क दिया है वह दोषपूर्ण है। यह सत्य है कि जन्म से अथवा शैशवकाल में दृष्टिहीन व्यक्ति के लिए रग का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना संभव नही है। इसी प्रकार यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि निरीश्वरवादी उन विशेष भावनाओ का अनुभव नही कर पाता जिनका अनुभव ईश्वरवादी करता है। परतु इससे केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि जिस प्रकार रग के अनुभव के विषय मे दृष्टिवान व्यक्ति की मानसिक स्थिति दृष्टिहीन व्यक्ति की मानसिक स्थिति से भिन्न होती है उसी प्रकार धार्मिक भावनाओं के सबध मे ईश्वरवादी की मनोदशा निरीश्वरवादी की मनोदशा से भिन्न होती है। इससे न तो यह प्रमाणित होता है कि ईश्वरवादी को वस्तुत- ईश्वर का साक्षात ज्ञान है और न यह प्रमाणित होता है कि ईश्वरवादी की कुछ विशेष अनुभूतियो से भिन्न एव स्वतत्र ईश्वर का वास्तव मे अस्तित्व है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व और उसके ज्ञान का प्रामाणिक एव तर्कसगत आधार नही हो सकता।

यदि हम धार्मिक अनुभव को स्वत सिद्ध मानकर उसे ईश्वर के अस्तित्व और ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण मान लें तो हमारे समक्ष एक बहुत गभीर समस्या उपस्थित हो जाएगी। वह समस्या यह है कि तब हमे सभी प्रकार के धार्मिक अनुभवो को सत्य एव प्रामाणिक मानना पडेगा — फिर चाहे वे एक दूसरे से भिन्न ही नही, परस्पर विरोधी ही क्यो न हो। यदि धार्मिक अनुभव की सत्यता स्वत- सिद्ध है और उसकी प्रामाणिकता की जॉच करने के लिए हमारे पास कोई वस्तुगत विधि नही है तो किसी भी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव को मिथ्या अथवा अप्रामाणिक नही माना जा सकता। ऐसी स्थिति मे ईश्वर के स्वरूप के सबध मे धर्मपरायण व्यक्तियो के परस्पर विरोधी दावो को भी समान रूप से सत्य मानना पडेगा। स्पष्ट है कि यह स्थिति ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के यथार्थ ज्ञान में सहायक नही हो सकती। विश्व के प्रमुख धर्मों के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि

ईश्वर के स्वरूप के विषय में विभिन्न धर्मानुयायियों के धार्मिक अनुभव एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी हैं। उदाहरणार्थ ईसाई धर्म को मानने वाले व्यक्ति ईश्वर को दयालु, प्रेममय सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान पुरुष के रूप में अनुभव करते है। इसके विपरीत यहूदी धर्म के अनुयायी ईश्वर को मुख्यतः न्यायाधीश के रूप में अनुभव करते है जो दुष्टो के प्रति क्रूर भी हो सकता है। इसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप के संबध में हिंदू धर्म के अनुयायियों के धार्मिक अनुभव भी भिन्न भिन्न तथा परस्पर विरोधी है। कुछ व्यक्ति सगुण तथा साकार रूप में ईश्वर का अनुभव करते है जिसमे समस्त मानवीय सद्गुण आरोपित किए जाते है। इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्ति निर्गुण तथा निराकार शक्ति के रूप में ही ईश्वर का अनुभव करते है।जो देश-काल और अन्य सभी प्रकार के भेदो से परे है। यह सर्वविदित तथ्य है कि गौतम बुद्ध के धार्मिक अनुभव में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है: उनका धार्मिक अनुभव चार आर्य सत्यो का अनुभव है जिनका ईश्वर से कोई संबध नहीं है। जैन धर्म के अनुयायी भी विश्व के रचयिता के रूप में सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर का अनुभव नहीं करते। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय मे विभिन्न धर्मानुयायियो के धार्मिक अनुभव भिन्न-भिन्न अथवा परस्पर विरोधी हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के स्वरूप के संबध मे वस्तुतः कुछ भी प्रमाणित नहीं होता। यदि धार्मिक अनुभव की सत्यता स्वतः प्रमाणित है जैसा कि धर्मपरायण व्यक्ति दावा करते है तो ईश्वर के स्वरूप के विषय में किसी भी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव को मिथ्या अथवा अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। फलतः ईश्वर में परस्पर विरोधी गुणों की उपस्थिति को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है जो तार्किक दृष्टि से उचित नहीं है। इस संबध में वर्तमान शताब्दी के एक महान विचारक ऐफ० आर० टेनेट ने ठीक ही कहा है कि "धार्मिक अनुभव इतने निजी तथा इतने व्यक्तिनिष्ठ होते हैं कि किसी सत्ता को प्रमाणित करने की दृष्टि से उन्हे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता।"[6] संक्षेप में धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के स्वरूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है।

ईश्वर के अस्तित्व के संबध में धार्मिक अनुभव की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए कुछ ईश्वरवादियो ने यह तर्क भी दिया है कि विश्व मे करोडो व्यक्तियों को यह धार्मिक अनुभव प्राप्त है और इन व्यक्तियो में बहुत से बुद्धिमान, विचारशील तथा उच्च चरित्र के व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। ये सभी व्यक्ति भ्रम में नहीं हो सकते। अतः इनका धार्मिक अनुभव ईश्वर की सत्ता को निश्चित रूप से प्रमाणित करता है। धार्मिक अनुभव के समर्थन में यही तर्क प्रस्तुत करते हुए टूब्लड ने कहा है कि "ऐसी स्थिति में निरीश्वरवादी के समक्ष दो ही विकल्प शेष रह जाते है— या तो ईश्वर का अस्तित्व है, अथवा वे सभी व्यक्ति भ्रम मे है जो उसे साक्षात रूप से जानने का दावा करते हैं"।[7] ट्रूब्लड के इस कथन का अभिप्राय यही है कि विचारशील धर्मपरायण व्यक्ति भ्रम में नहीं हो सकते, अतः उनका धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। परंतु वास्तव में इस तर्क द्वारा धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। यह सत्य है कि संसार में बहुत से व्यक्ति ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव का दावा करते है, किन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके है ईश्वर के स्वरूप के संबध में उनके धार्मिक अनुभव परस्पर भिन्न अथवा विरोधी है, अतः इन्हे ईश्वर की सत्ता के लिए प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त हमें इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि बहुत से विचारशील तथा उच्च चरित्र के

---

6 ऐफ० आर० टैनेट : फिलॉसॉफिकल थियोलॉजी, वॉल्यूम 1 पृ० 319

7 डॉक्टर ऐल्टन ट्रूब्लड : फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन, पृ० 46

व्यक्ति निरीश्वरवादी हैं। यदि ईश्वरवादी विचारशील धर्मपरायण व्यक्तियो को भ्रम मे नही मानते तो यह मानने का भी कोई युक्तिसगत आधार नही है कि बुद्धिमान तथा विवेकशील निरीश्वरवादी भ्रम मे हैं।

निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि अन्य परपरागत युक्तियो की भाँति धार्मिक अनुभव सबधी युक्ति भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करने मे असमर्थ है।

24

क्या विश्व-रचना की अवधारणा बुद्धिगम्य है?

बहुत प्राचीन काल से जनसाधारण तथा धर्मपरायण व्यक्ति ही नही, अपितु अधिकतर दार्शनिक भी यह मानते रहे हैं कि इस विश्व या जगत् की रचना ईश्वर अथवा किसी अन्य दैवी शक्ति ने की है। समस्त ग्रह, नक्षत्र, भौतिक वस्तुएँ, पेड-पौधे तथा प्राणी उसी महान रचयिता की अपार सृजनात्मक शक्ति के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। विश्व-रचना की इस अवधारणा मे विश्वास करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि हम अपने दैनिक जीवन मे जिन वस्तुओ का उपयोग करते है उनमे से प्रत्येक वस्तु का कोई रचयिता अवश्य होता है जो किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान मे रखकर उस वस्तु की रचना करता है। अपने जीवन के इसी सामान्य अनुभव के आधार पर हम स्वभावत यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस विश्व का भी कोई रचयिता अवश्य होगा और उसने किसी महान उद्देश्य से प्रेरित होकर इसकी रचना की होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व-रचना की उपर्युक्त अवधारणा हमारे दैनिक जीवन के सामान्य अनुभव का स्वाभाविक परिणाम है जिसे साधारण व्यक्ति अस्वीकार करने की कल्पना भी नही कर सकता।

परन्तु दार्शनिक दृष्टि से विश्व-रचना की इस अवधारणा को तर्कसगत एव बुद्धिगम्य प्रमाणित करना सभव प्रतीत नही होता। इस अवधारणा को स्वीकार करने मे हमारे समक्ष अनेक गभीर दार्शनिक समस्याएँ उपस्थित होती हैं जिनका तार्किक दृष्टि से समुचित और सतोषप्रद समाधान सभव नही है। इन दार्शनिक समस्याओ का विवेचन करने से पूर्व यहाँ सक्षेप मे रचना की अवधारणा के स्वरूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इस अवधारणा के तत्त्वो का विश्लेषण करने मे ज्ञात होता है कि इसमे निम्नलिखित पाँच तत्त्व अनिवार्यत सम्मिलित रहते हैं--रचयिता, आधारभूत सामग्री, रचना की विधि, रचित वस्तु या कृति, रचयिता का उद्देश्य अथवा प्रयोजन। रचना की अवधारणा को भलीभाँति समझने के लिए इन सभी तत्त्वो की ओर समुचित ध्यान देना आवश्यक है। इनमेसे किसी एक तत्त्व की भी उपेक्षा करने पर हम इस अवधारणा की युक्तिसगत एवं सतोषप्रद व्याख्या नहीं कर सकते।

जब हम किसी रचना की बात करते हैं तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान उसके रचयिता की ओर आकृष्ट होता है, क्योंकि रचयिता के अभाव में हम रचना की कल्पना भी नही कर सकते। प्रत्येक वस्तु की रचना के लिए एक ऐसे बुद्धिमान रचयिता का होना अनिवार्य है जो अपनी इच्छा से उस वस्तु का निर्माण करता है। इस दृष्टि से रचयिता रचना प्रक्रिया का संभवत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। परन्तु हम अपने अनुभव से जानते हैं कि किसी वस्तु की रचना शून्य से नहीं हो सकती, अत हमारे लिए ऐसी सामग्री के अस्तित्व को स्वीकार करना भी अनिवार्य हो जाता है जिससे उस

वस्तु का निर्माण हुआ है। यह सामग्री वह मूल आधार है जिसके अभाव मे रचयिता के लिए किसी वस्तु की रचना करना असभव है। रचना की आधारभूत सामग्री के साथ-साथ हमारे लिए उस विधि पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है जिसके द्वारा रचयिता ने इस वस्तु का निर्माण किया है। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओ के निर्माण की विधियाँ भी भिन्न-भिन्न होती है। आधारभूत सामग्री तथा समचित विधि द्वारा जब कोई रचयिता किसी विशेष वस्तु का निर्माण करता है तो उसे हम 'रचना', 'रचित वस्तु' या 'कृति' की सज्ञा देते है। हम अपने जीवन मे इसी रचित वस्तु या कृति का उपयोग करते है अथवा आनद लेते हैं। इस कृति का स्वरूप भौतिक, वैचारिक अथवा भावनात्मक हो सकता है। परन्तु प्रत्येक वस्तु अथवा कृति का एक विशेष और निश्चित उद्देश्य या प्रयोजन होता है जिसकी पूर्ति के लिए रचयिता उसकी रचना करता है। कोई भी बुद्धिमान रचयिता किसी वस्तु या कृति की रचना किसी विशेष उद्देश्य अथवा प्रयोजन के बिना नहीं करता। वस्तुत रचयिता का रचना सबधी प्रयास तभी सफल माना जाता है जब उसकी कृति उस विशेष उद्देश्य की पूर्ति करती है जिसे ध्यान मे रखकर रचयिता ने इसकी रचना की है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि रचना की अवधारणा मे उपर्युक्त सभी पाँच तत्त्वो का होना अनिवार्य है जिनके बिना यह अवधारणा हमारे लिए बुद्धिगम्य नही हो सकती।

रचना की अवधारणा के स्वरूप को स्पष्ट करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या हम विश्व-रचना की अवधारणा को तर्कसगत रूप से समझ सकते हैं। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए 'विश्व' शब्द के अर्थ को भलीभाँति समझ लेना बहुत आवश्यक है। यहाँ, 'विश्व' शब्द का प्रयोग केवल पृथ्वी के सकुचित अर्थ मे ही नही, अपितु समस्त ग्रहो, नक्षत्रो, तारकमडलो तथा सौरप्रणालियों के व्यापक अर्थ मे किया जा रहा है जिसके अतर्गत 'दिक' और 'काल' भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार उक्त व्यापक अर्थ मे 'विश्व' के अतर्गत दिक-काल सहित समस्त अस्तित्ववान पदार्थ और प्राणी आ जाते हैं। क्या तार्किक दृष्टि से हमारे लिए ऐसे विश्व की रचना की अवधारणा बुद्धिगम्य है—अर्थात क्या हम किसी रचयिता द्वारा विश्व की रचना के विचार को तर्कसगत रूप से समझ सकते है? मेरे विचार मे अनेक गभीर दार्शनिक कठिनाइयो के कारण इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। जनसाधारण तथा धर्मपरायण व्यक्ति इन सब दार्शनिक कठिनाइयो की ओर ध्यान न देते हुए केवल अपनी आस्था के आधार पर निश्चित रूप से यह मान लेते हैं कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से इस मान्यता को तर्कसगत और बुद्धिगम्य सिद्ध करना सभव नही है।

विश्व-रचना की अवधारणा के विरुद्ध प्रथम दार्शनिक आपत्ति यह है कि जिस ईश्वर को विश्व का रचयिता माना जाता है स्वय उसका अस्तित्व ही सदिग्ध है। ह्यूम, कान्ट आदि अनेक महान दार्शनिको ने प्रबल तर्को द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए जो युक्तियाँ दी गई हैं वे सभी बहुत दुर्बल तथा दोषपूर्ण हैं। दर्शन के अध्येयता इन युक्तियों के विरुद्ध उक्त दार्शनिको की गभीर आपत्तियो से भलीभाँति अवगत है, अत यहाँ इनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इन गभीर आपत्तियो को ध्यान मे रखते हुए हम यह कह सकते है कि ईश्वर के अस्तित्व को असदिग्ध रूप से प्रमाणित करना असभव है। ऐसी स्थिति मे इस मान्यता को स्वीकार करने का कोई तर्कसगत आधार नही रह जाता कि ईश्वर ने विश्व की रचना की है। परन्तु यदि ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध अनेक प्रबल तर्कों की उपेक्षा करते हुए यह मान लिया जाए कि उसका अस्तित्व है तो भी तार्किक दृष्टि से यह प्रमाणित करना सभव नही है कि वह इस विश्व का रचयिता है। इसका कारण यह है कि हम विश्व के रचयिता ईश्वर तथा उसके द्वारा रचित विश्व के पारस्परिक सबध की कोई तर्कसगत व्याख्या नही कर सकते। स्वय ईश्वरवादी

दार्शनिकों मे ईश्वर तथा विश्व के पारस्परिक सबध मे मतभेद है। कुछ दार्शनिक ईश्वर को विश्व से अतीत और भिन्न मानते हैं जो विश्व की रचना करके उसके प्रति पूर्णत तटस्थ अथवा उदासीन हो गया है। इसके विपरीत कुछ अन्य दार्शनिक ईश्वर को विश्व से परे और उसमे सर्वत्र व्याप्त दोनो ही एक साथ मानते हैं। ईश्वर और विश्व के पारस्परिक सबध के विषय मे उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धातो को क्रमश 'तटस्थेश्वरवाद' तथा 'सर्वेश्वरवाद' की सज्ञा दी गई है। परतु इन दोनो सिद्धातो के विरुद्ध अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई गई हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि ये सिद्धात ईश्वर और विश्व के पारस्परिक सबंध की कोई सतोषप्रद एव तर्कसंगत व्याख्या नही कर पाते। ऐसी स्थिति में इन सिद्धातो के आधार पर विश्व-रचना सबधी अवधारणा को सत्य सिद्ध नही किया जा सकता।

उपर्युक्त आपत्ति के अतिरिक्त इस अवधारणा के विरुद्ध एक अन्य गभीर आपत्ति भी उठाई जा सकती है जो इस प्रकार है। हम देख चुके हैं कि किसी वस्तु की रचना के लिए उस आधारभूत सामग्री का होना अनिवार्य होता है जिसके द्वारा रचयिता उस वस्तु का निर्माण करता है। इस सामग्री का प्रयोग करके रचयिता निर्मित वस्तु को एक विशेष आकार अथवा आकृति प्रदान करता है, वह स्वय इस सामग्री का निर्माण नही करता। यह सामग्री किसी न किसी रूप मे पहले से ही विद्यमान होती है और रचयिता अपनी रचना के लिए आवश्यकतानुसार इसका चयन करके इसे नये रूप मे परिवर्तित करता है। हम इस ससार मे अपने अनुभव द्वारा जिन रचनाओं को जानते हैं उन सब मे यही प्रक्रिया दिखाई देती है। स्पष्ट है कि यदि ईश्वर ने विश्व की रचना की है तो उसने भी किसी विशेष आधारभूत सामग्री का प्रयोग करके इसकी रचना की होगी। परतु प्रश्न यह है कि यह आधारभूत सामग्री कहाँ से आई और इसकी रचना किसने तथा कैसे की। क्या विश्व की इस आधारभूत सामग्री का रचयिता भी ईश्वर ही है? कुछ दार्शनिक यह मानते है कि विश्व-रचना की यह आधारभूत सामग्री पहले से ही विद्यमान थी; इसकी रचना ईश्वर ने नही की। उदाहरणार्थ नैयायिको का मत है कि ईश्वर ने दिक, काल, आकाश, आत्मा मनस तथा परमाणुओ द्वारा इस विश्व या जगत् की रचना की है। परतु इन छह द्रव्यो की रचना उसने नही की, ये सभी द्रव्य निरवयव, अमर तथा शाश्वत हैं। नैयायिक इन शाश्वत द्रव्यों को ही जगत् का उपादान कारण मानते हैं, अत: उनके विचारो मे ईश्वर उस जगत् का केवल निमित्त कारण है। परन्तु वे इस प्रश्न का कोई सतोषप्रद एव तर्कसंगत उत्तर नही दे पाते है कि ये शाश्वत द्रव्य कैसे और कहाँ से आए। यदि ये द्रव्य पहले से ही विद्यमान थे और ईश्वर ने इनकी रचना नही की तो निश्चय ही वह अपनी रचना-प्रक्रिया में इनके द्वारा सीमित हो जाता है। ऐसी स्थिति मे उसे असीम तथा सर्वशक्तिमान नही माना जा सकता। इस प्रकार विश्व-रचना सबंधी अपने उपर्युक्त सिद्धात द्वारा नैयायिक न तो विश्व के उपादान कारणो के उद्भव तथा अस्तित्व की कोई युक्तिसगत व्याख्या कर पाते हैं और न ईश्वर की असीमता एव सर्वशक्तिमत्ता की। यही आपत्ति उन सभी दार्शनिको के विरुद्ध उठाई जा सकती है जो ईश्वर को असीम, सर्वशक्तिमान तथा विश्व का रचयिता मानते हुए भी उसे विश्व का उपादान कारण न मानकर केवल निमित्त कारण ही मानते हैं।

उपर्युक्त गंभीर आपत्ति से बचने के लिए ही कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण मानने के साथ-साथ उपादान कारण भी माना है। रामानुज तथा अन्य विशिष्टाद्वैतवादी इसी मत को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार स्वय ईश्वर ही अपने 'अचिद् अश' अथवा 'प्रकृति द्वारा जगत् के रूप मे व्यक्त होता है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर से भिन्न और स्वतत्र ऐसा कोई द्रव्य नही है जिसके माध्यम से वह इस जगत् की रचना करता है। वास्तव मे वह स्वय अपने ही एक अश को जगत् के रूप मे परिणत करता है- अत: ईश्वर उसका निमित्त कारण होने के साथ-साथ

उपादान कारण भी है। परंतु विश्व-रचना के संबंध में इस सिद्धांत के विरुद्ध भी अनेक गंभीर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, इस सिद्धांत के समर्थक एक ओर तो ईश्वर को जगत् का रचयिता मानते हैं जिसका अर्थ है कि वह जगत् से भिन्न तथा स्वतंत्र है, परन्तु दूसरी ओर वे यह भी मानते हैं कि जगत् स्वयं ईश्वर का ही एक अंश है जिसका तात्पर्य है कि ईश्वर और जगत् में कोई मौलिक भेद नहीं है। ईश्वर तथा जगत् के संबंध में इन दोनों विरोधी मान्यताओं को एक ही साथ स्वीकार करना उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त उक्त सिद्धांत के समर्थक इस प्रश्न का भी कोई संतोषप्रद तथा युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे पाते कि विशुद्ध चैतन्यस्वरूप माने जाने वाले ईश्वर में अचिद् अंश का अस्तित्व कैसे संभव है।

परंतु उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध इन आपत्तियों पर ध्यान न देते हुए यदि हम यह मान लें कि ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों ही है तो भी यह सिद्धांत वास्तव में बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होता। अपने अनुभव तथा अपनी तर्कबुद्धि के आधार पर मनुष्य के लिए इस अवधारणा को समझना संभव नहीं है कि ईश्वर अपने ही एक अंश को इस विश्व के रूप में व्यक्त करता है। इस अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए मकड़ी के जाले की उपमा देते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से ही जाले का निर्माण करती है, उसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं अपने भीतर विद्यमान एक अंश से इस जगत् की रचना करता है। परंतु वास्तव में यह उपमा दोषपूर्ण है, क्योंकि मकड़ी अपने बाह्य वातावरण से जल, वायु, भोजन आदि तत्त्व ग्रहण किए बिना निश्चय ही जाले का निर्माण नहीं कर सकती। इसका अर्थ यह है कि उसके द्वारा जाले के निर्माण की प्रक्रिया में बाह्य वातावरण का योगदान अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि मकड़ी केवल अपने भीतर से ही जाले को उत्पन्न करती है जैसा कि उपर्युक्त उपमा देने वाले दार्शनिक मानते हैं। इस प्रकार इन दार्शनिकों की यह मान्यता बुद्धिगम्य नहीं है कि ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों ही एक साथ है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को निर्गुण तथा निराकार मानते हुए भी उसे विश्व का रचयिता मानते हैं। इन दार्शनिकों का भी यही मत है कि निर्गुण और निराकार ईश्वर विश्व का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों ही है। शंकर तथा अन्य अनेक अद्वैतवादी दार्शनिक किसी न किसी रूप में इस मान्यता का समर्थन करते हैं। परंतु यह मान्यता हमारे लिए कभी भी बुद्धिगम्य नहीं हो सकती, क्योंकि हम ऐसे किसी रचयिता की कल्पना नहीं कर सकते जो निर्गुण तथा निराकार है। हम अपने अनुभव के आधार पर यही जानते हैं कि रचना-प्रक्रिया के लिए शरीरवान रचयिता का होना अनिवार्य है, अतः जो ईश्वर निर्गुण तथा निराकार है उसके द्वारा कोई कार्य किए जाने की हम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। फिर ऐसे ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों मानना ऐसी बात करना है जो मनुष्य की समझ और तर्कबुद्धि से परे है। निर्गुण तथा निराकार ईश्वर को विश्व का रचयिता मानने वाले इन दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर इस विश्व की रचना पहले से विद्यमान कुछ शाश्वत द्रव्यों के माध्यम से नहीं, अपितु केवल 'अभाव' से ही करता है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या 'अभाव' से किसी अस्तित्ववान पदार्थ की रचना संभव है। यह समझना कठिन नहीं है कि इस प्रश्न का उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। हम देख चुके हैं कि किसी भी रचना या कृति के लिए ऐसी आधारभूत सामग्री का होना अनिवार्य है जिसके माध्यम से रचयिता उसकी रचना करता है। ऐसी सामग्री के अभाव में हम किसी वस्तु की रचना के विषय में सोच भी नहीं सकते। तर्कसंगत रूप से हम यही कह सकते हैं कि अभाव से 'अभाव' के अतिरिक्त और कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार हमारे लिए ईश्वरवादी दार्शनिकों की इस मान्यता को समझना पूर्णतः असंभव है कि निर्गुण तथा

निराकार ईश्वर ने केवल अभाव से इस विश्व की रचना की है। यह मान्यता हमारे अनुभव तथा हमारी तर्कबुद्धि दोनों से परे है, अतः इसे स्वीकार करना किसी भी दृष्टि से हमारे लिए संभव नही है। संक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि निर्गुण और निराकार ईश्वर को विश्व का रचयिता मानने का हमारे पास कोई तर्कसगत आधार नहीं है।

विश्व-रचना की इस अवधारणा के विरुद्ध एक अन्य गभीर आपत्ति यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर हमारे लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि ईश्वर ने अन्य पदार्थों की भाँति दिक् और काल की भी रचना की है, परतु इन दोनों की रचना की कल्पना करना हमारे लिए नितात असभव है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि 'विश्व' के अतर्गत प्राणी, पेड-पौधे तथा भौतिक पदार्थ ही नहीं, अपितु दिक् और काल भी सम्मिलित हैं। यही कारण है कि ईश्वर को विश्व का रचयिता मानने वाले दार्शनिक यह कहते हैं कि अन्य सभी वस्तुओं की भाँति दिक् और काल की रचना भी ईश्वर ने ही की है। इसका अर्थ यह है कि एक ऐसा समय भी था जब दिक् और काल का अस्तित्व नहीं था, कितु यह हमारे लिए पूर्णत अचिंत्य तथा अबुद्धिगम्य है। सभी प्राणियो तथा वस्तुओ का अस्तित्व दिक् और काल के अतर्गत ही सभव है, अत हम इन दोनों के अभाव की कभी कल्पना भी नही कर सकते। हमारे लिए यह सोच पाना नितात असभव है कि किसी समय दिक् और काल नही थे। फिर यह कथन तो पूर्णत असगत और स्वतोव्याघाती है कि "किसी समय काल का अस्तित्व नही था", क्योंकि इस कथन में काल की अवधारणा के आधार पर ही एक विशेष समय में काल के अस्तित्व का निषेध किया गया है। वस्तुत हम सब दिक् और काल से सर्वत्र तथा सर्वदा इस प्रकार घिरे हुए हैं कि हमारे लिए किसी भी समय मे इन दोनो अथवा इनमे से किसी एक की अनुपस्थिति की बात पूर्णत अचित्य एव अकल्पनीय है। ऐसी स्थिति मे हम तर्कसगत रूप से यह कभी नही कह सकते कि ईश्वर ने ही दिक् और काल की रचना की है। जो दार्शनिक ऐसा कहते हैं वे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि दिक् और काल कोई भौतिक वस्तुएँ नही हैं जिनकी रचना की सार्थकतापूर्वक बात की जा सके। इस सपूर्ण विवेचन के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईश्वर द्वारा दिक् और काल की रचना की बात करना पूर्णतः अयुक्तिसगत, निरर्थक तथा अबुद्धिगम्य है।

जो दार्शनिक विश्व को ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं वे अपने मत के समर्थन मे प्रायः यह तर्क देते हैं कि ईश्वर को विश्व का रचयिता माने बिना विश्व की उत्पत्ति की तर्कसगत व्याख्या नहीं की जा सकती। इन दार्शनिको का कथन है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है उसकी उत्पत्ति के लिए किसी कारण का होना अनिवार्य है, क्योंकि कारण के अभाव में किसी भी वस्तु की उत्पत्ति सभव नही है। हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि इस संसार मे कारण के बिना कोई भी कार्य नही हो सकता, अत. विश्व का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए और यह कारण ईश्वर ही है। इस तर्क के आधार पर ईश्वरवादी दार्शनिक रचयिता के रूप मे ईश्वर को विश्व का कारण मानते हैं और इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। विश्व-रचना के पक्ष में इन दार्शनिको का उपर्युक्त तर्क बहुत प्रबल तथा अकाट्य प्रतीत होता है, परतु इस तर्क पर गभीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व-रचना के समर्थन में दिए गए अन्य तर्कों की भाँति यह तर्क भी दोषपूर्ण है। हम देख चुके हैं कि कारण-कार्य के नियम की अनिवार्यता के आधार पर ही ईश्वरवादी दार्शनिक यह कहते हैं कि विश्व की उत्पत्ति के कारण के रूप मे ईश्वर को उसका रचयिता मानना अनिवार्य है। दर्शन के अध्येयता इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हैं कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए यही कारणमूलक तर्क दिया गया है। इस परंपरागत तर्क के विरुद्ध ह्यूम कान्ट आदि महान दार्शनिकों ने जो गभीर आपत्तियाँ उठाई हैं उनसे ईश्वर के

अस्तित्व को प्रमाणित करने की दृष्टि से इस तर्क की व्यर्थता निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुकी है। परतु इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर अभी तक अधिक ध्यान नही दिया गया है कि ईश्वर के अस्तित्व की भॉति विश्व की रचना को प्रमाणित करने की दृष्टि से भी यह तर्क व्यर्थ और प्रभावहीन है।

उपर्युक्त तर्क के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि यदि प्रत्येक अस्तित्ववान वस्तु का कोई कारण होना अनिवार्य है जैसा कि ईश्वरवादी दार्शनिक मानते हैं तो कारण-कार्य की अनिवार्यता के इसी नियम के अनुसार ईश्वर का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। यदि विश्व का अकारण होना सभव नही है तो इसी तर्क के अनुसार ईश्वर भी अकारण नही हो सकता—अर्थात् इसी तर्क के आधार पर हमारे लिए यह मानना अनिवार्य है कि ईश्वर की भी किसी ने रचना अवश्य की है। परतु ईश्वरवादी दार्शनिक अपने ही तर्क के इस अनिवार्य परिणाम को स्वीकार करने के लिए उद्यत नही होते। वे ईश्वर को स्वयंभू तथा विश्व का अंतिम कारण मानते हैं। उनके अनुसार विश्व के रचयिता ईश्वर का न कोई कारण है और न हो सकता है। परतु वे यह भूल जाते हैं कि ईश्वर के विषय मे अपनी इस मान्यता द्वारा वे स्वय अपने ही तर्क का खंडन करते हैं। अपने उपर्युक्त तर्क के विरुद्ध वे यह मान लेते हैं कि कारण के अभाव मे भी किसी वस्तु का अस्तित्व सभव है। ऐसी स्थिति मे यदि यह कहा जाए कि विश्व का कोई कारण नही है तो इस मत को स्वीकार करने मे तार्किक दृष्टि से ईश्वरवादी दार्शनिको को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि ईश्वर स्वयभू तथा अकारण हो सकता है तो भौतिक द्रव्य अथवा पुद्गल भी स्वयभू और अकारण हो सकता है। परतु अपने ही तर्क के इस अनिवार्य परिणाम को अस्वीकार करते हुए ईश्वरवादी दार्शनिक केवल तर्कहीन मताग्रह के आधार पर ईश्वर को स्वयभू तथा विश्व का अतिम कारण मान लेते हैं। स्पष्ट है कि उनके इस मताग्रह को स्वीकार करने का हमारे पास कोई तर्कसगत आधार नही है।

यहाँ ईश्वरवादी दार्शनिक अपने मत के समर्थन मे यह तर्क दे सकते हैं कि कारण-कार्य की अनत श्रृखला से बचने के लिए ईश्वर को स्वयभू तथा विश्व का अंतिम कारण मानना अनिवार्य है। ऐसा न करने पर हम कभी भी विश्व की उत्पत्ति के कारण की व्याख्या नही कर सकते। वस्तुत अनेक ईश्वरवादियों ने अपने मत की पुष्टि के लिए यही तर्क दिया है। परतु कठिनाई यह है कि उपर्युक्त तर्क स्पष्टत कारण-कार्य के नियम के विरुद्ध है, अत जो दार्शनिक इस नियम की अनिवार्यता मे विश्वास करते हैं वे इस नियम का उल्लंघन किए बिना यह तर्क प्रस्तुत नही कर सकते। यदि हम यह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का कोई कारण होना अनिवार्य है तो हम कभी भी कारण-कार्य की अनत श्रृखला से नहीं बच सकते। इस समस्या का समाधान करने के लिए ईश्वर को विश्व का अंतिम कारण मानना उतना ही असतोषप्रद है जितना पुद्गल को उसका अंतिम कारण मानना। वास्तव मे कारण-कार्य के नियम की अनिवार्यता को स्वीकार करने पर इस समस्या का कोई सतोषप्रद और तर्कसगत समाधान सभव नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कारण-कार्य के नियम के आधार पर ईश्वरवादी दार्शनिकों ने विश्व-रचना के समर्थन मे जो तर्क दिया है उसके द्वारा उनके मत की पुष्टि नही होती।

यदि विश्व-रचना की अवधारणा के विरुद्ध उपर्युक्त सभी गभीर आपत्तियों पर ध्यान न देते हुए यह मान लिया जाए कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है तो भी ईश्वरवादियो द्वारा वर्णित ईश्वर के स्वरूप के साथ इस अवधारणा की सगति स्थापित करना सभव नहीं है। यह सर्वविदित तथ्य है कि ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को अपरिवर्तनीय मानते हैं। उनका कथन है कि ईश्वर सभी दृष्टियों से पूर्ण है, अतः उसमे कभी भी किसी प्रकार का परिवर्तन सभव नहीं है। परतु कठिनाई यह है कि विश्व-रचना की अवधारणा द्वारा उनके इस मत का खडन होता है। रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु की रचना करने से पूर्व

रचयिता में उस वस्तु की रचना की इच्छा का होना अनिवार्य है, रचना करना निश्चय ही ऐच्छिक कर्म है, अतः रचयिता की इच्छा के बिना किसी वस्तु की रचना संभव नहीं है। इसका अर्थ यह है कि विश्व की रचना करने से पूर्व ईश्वर में भी उसकी रचना की इच्छा उत्पन्न हुई। ऐसी स्थिति में ईश्वर को अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें किसी इच्छा के उत्पन्न होने का अर्थ निश्चय ही उसमें कुछ परिवर्तन होना है। विश्व-रचना की इच्छा उत्पन्न होने तथा उसके कार्यान्वयन के पश्चात् ईश्वर ठीक वैसा ही नहीं रहा जैसा वह इससे पूर्व था— अर्थात् उसके स्वरूप में अनिवार्यतः परिवर्तन हुआ। इस प्रकार विश्व-रचना की अवधारणा ईश्वर की अपरिवर्तनशीलता की अवधारणा के विरुद्ध है, अतः इन दोनों अवधारणाओं को तर्कसंगत रूप से एक ही साथ स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त विश्व-रचना की अवधारणा को स्वीकार कर लेने से ईश्वर की पूर्णता की अवधारणा का भी खंडन होता है। हम देख चुके हैं कि विश्व की रचना अनिवार्यतः ईश्वर की इच्छा का ही परिणाम है। परंतु ईश्वर में विश्व-रचना की इच्छा उत्पन्न होने से यही प्रमाणित होता है कि वह अपनी पूर्वस्थिति से संतुष्ट नहीं था। इच्छा की उत्पत्ति के कारण का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसका जन्म किसी न किसी प्रकार के अभाव की पूर्ति के लिए ही होता है। मनुष्य को जब किसी वस्तु के अभाव का अनुभव होता है तभी उसके मन में उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार अभाव ही इच्छा के जन्म का मूल कारण है। यदि इच्छा की उत्पत्ति का उपर्युक्त विश्लेषण ठीक है तो स्पष्टतः इसका अर्थ यही है कि विश्व-रचना से पूर्व ईश्वर को भी उसके अभाव का अनुभव हुआ, अन्यथा उसमें विश्व-रचना की इच्छा ही उत्पन्न न होती। परन्तु इससे ईश्वर की पूर्णता का खंडन होता है, क्योंकि जो ईश्वर किसी प्रकार के अभाव का अनुभव करता है उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता। यदि ईश्वर सभी दृष्टियों से पूर्ण है जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं तो उसे किसी प्रकार के अभाव का अनुभव न होने के कारण उसमें कभी भी विश्व-रचना की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती, फलतः वह विश्व की रचना नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि ईश्वर की पूर्णता की अवधारणा निश्चित रूप से विश्व-रचना की अवधारणा का निषेध करती है।

फिर यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि ईश्वर की विश्व-रचना संबंधी इच्छा शुभ थी या अशुभ। निश्चय ही ईश्वर की यह इच्छा अशुभ नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर को पूर्णतः शुभ माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि उसकी यह इच्छा शुभ थी और वह इसके द्वारा शुभ की उत्पत्ति करना चाहता था। परन्तु यह मान्यता भी ईश्वर की पूर्णता का निषेध करती है। इसका कारण यह है कि ईश्वर में शुभ की उत्पत्ति की इच्छा का होना निश्चय ही उसकी अपूर्णता को प्रमाणित करता है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर का शुभत्व अपूर्ण था और इसी कारण उसमें वृद्धि की संभावना थी। यदि ईश्वरवादियों का यह दावा सत्य है कि ईश्वर सभी दृष्टियों से पूर्ण है तो तर्कसंगत रूप से हम यह नहीं कह सकते कि उसमें और अधिक शुभत्व को उत्पन्न करने की इच्छा का जन्म हुआ जिसके फलस्वरूप उसने इस विश्व की रचना की। जो ईश्वर पहले से ही पूर्णतः शुभ था उसमें और अधिक शुभ को उत्पन्न करने की इच्छा का जन्म होना संभव नहीं है और ऐसे ईश्वर में शुभत्व की वृद्धि होने की संभावना की बात करना भी निरर्थक तथा अयुक्तिसंगत है। स्पष्ट है कि जो दार्शनिक ईश्वर को सभी दृष्टियों से पूर्ण मानते हैं वे अपने विचारों में तार्किक संगति बनाए रखते हुए यह नहीं कह सकते कि शुभत्व की वृद्धि करने अथवा और अधिक शुभत्व को उत्पन्न करने की इच्छा से प्रेरित होकर ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के आधार पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईश्वर की पूर्णता की अवधारणा

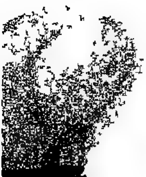
के साथ विश्व-रचना की अवधारणा की तार्किक संगति स्थापित करना संभव नहीं है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर को विश्व का रचयिता मानने वाले दार्शनिकों से यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि किस उद्देश्य से प्रेरित होकर ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके है कि रचना अनिवार्यत ऐच्छिक कर्म तथा बौद्धिक प्रक्रिया है जो कभी भी निरुद्देश्य नहीं हो सकती। किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही रचयिता किसी वस्तु या कृति का सृजन करता है, अत निरुद्देश्य रचना की बात करना नितान्त अयुक्तिसगत है। परन्तु, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ईश्वरवादी दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई तर्कसगत और सतोषप्रद उत्तर नही देते कि ईश्वर ने कौन-से विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस विश्व की रचना की है। यह निश्चित है कि ईश्वर ने अपने किसी अभाव की पूर्ति के लिए इस विश्व का निर्माण नहीं किया क्योंकि सभी दृष्टियो से पूर्ण होने के कारण उसमे कोई अभाव हो ही नहीं सकता।

उक्त समस्या का समाधान करने के लिए कुछ दार्शनिको ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि मनुष्य के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए ही ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। परन्तु तर्कसंगत रूप से इस मत का समर्थन करना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि विश्व की रचना से पूर्व जब मनुष्य का अस्तित्व नहीं था तो उसके प्रति ईश्वर के प्रेम की अभिव्यक्ति का प्रश्न ही नही उठता। हम ऐसी किसी वस्तु के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति की कल्पना भी नही कर सकते जिसका अस्तित्व ही नही है। इसके अतिरिक्त यह कहना कि मनुष्य के प्रति अपने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए ही ईश्वर ने विश्व की रचना की है सपूर्ण विश्व मे मनुष्य को अनुचित और अनावश्यक महत्त्व देना है जिसका वह निश्चय ही अधिकारी नही है। वस्तुत ईश्वरवादी दार्शनिको की उपर्युक्त मान्यता हमारे अहम् की तुष्टि करने के कारण हमारे लिए सुखद हो सकती है, किन्तु इससे यह मान्यता सत्य सिद्ध नही हो जाती। इस प्रकार मनुष्य के प्रति ईश्वर के प्रेम की अभिव्यक्ति को विश्व की रचना का उद्देश्य नही माना जा सकता। ऐसी स्थिति मे यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है कि ईश्वर ने किस उद्देश्य से प्रेरित होकर इस विश्व की रचना की है। वस्तुत इस जटिल समस्या का कोई समुचित एव सतोषप्रद समाधान सभव नही है, क्योंकि ऐसा कोई उद्देश्य हो ही नही सकता जिसे सभी दृष्टियो से पूर्ण ईश्वर प्राप्त करना चाहता हो। परन्तु निरुद्देश्य रचना असभव है अत इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर ने विश्व की रचना नही की।

अभी तक हमने विश्व-रचना की अवधारणा के सबध म उन प्रमुख दार्शनिक कठिनाइयो अथवा समस्याओ का उल्लेख किया है जिनके कारण यह अवधारणा मनुष्य के लिए पूर्णत अनौचित्य तथा अबुद्धिगम्य हो जाती है। इन सभी दार्शनिक कठिनाइयो से यह स्पष्ट है कि हमारे लिए तर्कसगत रूप से इस अवधारणा का समर्थन करना सभव नही है—अर्थात् हम तार्किक दृष्टि से यह सिद्ध नही कर सकते कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। वस्तुत अन्य अनेक दार्शनिक प्रश्नो की भाँति मनुष्य के लिए इस प्रश्न का भी सतोषप्रद उत्तर देना असभव है कि विश्व का उद्गम कब, कहाँ से और कैसे हुआ। यह मनुष्य के लिए एक ऐसा रहस्य है जिसके सबध मे वह अपने अनुभव और अपनी तर्कबुद्धि के आधार पर निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकता। अपनी अनिवार्य बौद्धिक सीमाओ को ध्यान मे रखते हुए यदि हम इस कठोर वास्तविकता को स्वीकार कर ले और ईश्वर के अस्तित्व तथा विश्व के उद्गम के विषय मे अनुभव तथा तर्कबुद्धि के आधार पर कुछ भी कहने या जानने का दावा न करे तो हम उन सभी दार्शनिक समस्याओ अथवा कठिनाइयो

से बच सकते हैं जो ईश्वर की सत्ता एव विश्व-रचना की अवधारणा का समर्थन करने के फलस्वरूप अनिवार्यत उत्पन्न होती है और जिनका तर्कसंगत तथा संतोषप्रद समाधान असभव है। वास्तव मे ये विषय हमारे लिए ऐसे महान रहस्य हैं जिनका उद्घाटन हम अनुभव एव तर्कबुद्धि द्वारा कभी नही कर सकते, अत इनके सबध मे दार्शनिक दृष्टि से पूर्ण अज्ञेयवाद को स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त हमारे समक्ष अन्य कोई उपाय नही है।



25

उपासना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

1 उपासना का अर्थ

किसी देवी, देवता अथवा ईश्वर की उपासना या आराधना करना बहुत महत्त्वपूर्ण धार्मिक क्रिया समझी जाती है, क्योंकि उपासना धर्म का अभिन्न अंग है। प्राचीन काल की भाँति आज भी विश्व के सभी धर्मों में उपासना को प्रमुख स्थान दिया जाता है। संभवत: कोई भी विकसित धर्म ऐसा नहीं है जिसमें किसी न किसी रूप में आराध्य की उपासना या आराधना का विधान न हो। इसका मूल कारण धर्मपरायण व्यक्ति का यह दृढ़ विश्वास है कि उपासना उसमें तथा उसके आराध्य में गहन संबंध स्थापित करती है। उपासना के संबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण तार्किक तथा दार्शनिक प्रश्न उठाए जा सकते हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं – उपासना का वास्तविक अर्थ और मूल उद्देश्य क्या है? वे कौन-से विशेष कारण हैं जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य उपासना का आश्रय लेता है और अपने आप को अपने आराध्य के प्रति समर्पित करता है? क्या उपासना की आधारभूत मान्यताएँ दार्शनिक दृष्टि से उचित एवं युक्तिसंगत हैं? मनुष्य के पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति पर उपासना का क्या और कितना प्रभाव पड़ता है? क्या उपासना द्वारा प्राकृतिक नियमों में किसी प्रकार का परिवर्तन संभव है? जीवन तथा जगत् के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेने पर क्या उपासना की कोई आवश्यकता रह जाती है? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के जीवन में उपासना का क्या महत्त्व है? प्रस्तुत लेख में उपासना से संबंधित इन सभी प्रश्नों पर दार्शनिक और तार्किक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया जाएगा।

सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि उपासना का वास्तविक स्वरूप तथा अर्थ क्या है और उसके लिए कौन-सी आधारभूत मान्यताएँ अनिवार्य हैं। उपासना की कोई सर्वसम्मत और निश्चित परिभाषा देना बहुत कठिन है, किंतु 'प्रार्थना' के साथ इसकी तुलना करते हुए इसके अर्थ को स्पष्ट किया जा सकता है। उपासना के लिए प्राय: 'प्रार्थना' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसमें अपनी अपेक्षा उच्चतर अथवा अधिक योग्य व्यक्ति से नम्रतापूर्वक कुछ याचना करने का भाव अनिवार्यत: निहित रहता है। 'उपासना' के अर्थ की अपेक्षा 'प्रार्थना' का अर्थ अधिक व्यापक है, क्योंकि मनुष्य केवल किसी देवता अथवा ईश्वर से ही नहीं, अपितु उस व्यक्ति से भी प्रार्थना करता है जिसे वह अपनी अपेक्षा अधिक योग्य अथवा शक्तिशाली समझता है। इसके विपरीत 'उपासना' शब्द का प्रयोग किसी दैवी शक्ति अथवा ईश्वर से की जाने वाली याचना के लिए ही किया जाता है, मनुष्य से किए जाने वाले अनुरोध के लिए नहीं। दूसरे शब्दों में 'प्रार्थना' का धार्मिक होना अनिवार्य नहीं है, जब कि किसी अतींद्रिय शक्ति से अनिवार्यत: संबंधित होने के

कारण 'उपासना' धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित है। जब कोई व्यक्ति स्वय अपने आप को तुच्छ मान कर ईश्वर अथवा किसी अन्य अतींद्रिय शक्ति से अपने लिए या दूसरो के लिए सासारिक अथवा पारलौकिक सुख की नम्रतापूर्वक याचना करता है तो उसकी इस धार्मिक क्रिया को 'उपासना' की सज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार उपासना एक ऐसी धार्मिक क्रिया है जिसके लिए उपासक तथा आराध्य इन दो पक्षो का होना आवश्यक है। उपासक और आराध्य मे वही सबध होता है जो याचक तथा दाता मे होता है। उपासक अपने आराध्य से ऐसे सुख अथवा सतोष की विनयपूर्वक याचना करता है जो उसे प्राप्त नही है और जिसे स्वय अपने प्रयास द्वारा प्राप्त करने मे वह अपने आप को नितात असमर्थ समझता है। सक्षेप में उपासक की विनयशीलता, असमर्थता, अपने आराध्य मे अटूट आस्था और उससे किसी प्रकार की याचना उपासना के लिए अनिवार्य हैं जिनके अभाव मे वह सभव तथा सार्थक नही हो सकती।

2. आधारभूत मान्यताएँ

उपासना की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि इसकी कुछ अनिवार्य आधारभूत मान्यताएँ है जिनका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। उपासना की प्रथम आधारभूत मान्यता उपासक का यह दृढ विश्वास है कि वह ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति की उपासना द्वारा कुछ विशेष मनोवाञ्छित परिणाम प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ जब कोई रोगी अपने रोग से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है तो वह निश्चयपूर्वक यह मानता है कि ईश्वर उसे रोग-मुक्त कर सकता है। यदि उपासक के मन में अपने आराध्य की उपासना द्वारा वाञ्छित परिणाम प्राप्त करने का दृढ विश्वास नही है तो वह इनकी प्राप्ति के लिए उपासना का आश्रय नही लेगा। यदि एक किसान यह नही मानता कि ईश्वर से प्रार्थना करने पर वर्षा हो जाएगी तो वह वर्षा के लिए ईश्वर की उपासना नही करेगा। इसी प्रकार यदि रोगी यह विश्वास नही करता कि वह ईश्वर से प्रार्थना करके रोग-मुक्त हो सकता है तो वह इसके लिए उपासना करने के स्थान पर चिकित्सक के पास जाना ही उचित समझेगा। स्पष्ट है कि मनोवाञ्छित परिणामो की प्राप्ति का विश्वास उपासना की आवश्यक आधारभूत मान्यता है। उपासना की दूसरी आधारभूत मान्यता है स्वय अपने प्रयास द्वारा इन परिणामो को प्राप्त कर सकने मे उपासक की पूर्ण असमर्थता। जिस वस्तु को मनुष्य स्वय अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त कर सकता है उसके लिए वह ईश्वर की उपासना नही करता। वह केवल ऐसी वस्तु की प्राप्ति के लिए ही ईश्वर से प्रार्थना करता है जिसे स्वय प्राप्त करने मे वह पूर्णत असमर्थ होता है। इस प्रकार मनुष्य की असहाय अवस्था एव असमर्थता के कारण ही उपासना की आवश्यकता का जन्म होता है। उपासना की तीसरी आधारभूत मान्यता है सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता मे अटूट आस्था। उपासक का यह दृढ विश्वास होता है कि सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान ईश्वर है जो अपने भक्तों की प्रार्थना सनुकर उनकी सहायता अवश्य करता है। इस आस्था के अभाव में उपासना निरर्थक और असभव हो जाएगी। स्पष्ट है कि व्यक्तित्वसपन्न, साकार एव सगुण ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करना उपासना की अनिवार्य शर्त है जिसकी पूर्ति न होने पर उपासना का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि सच्चा निरीश्वरवादी सकट-काल मे अपने आप को नितात असहाय एवं असमर्थ अनुभव करने पर भी उपासना का आश्रय नहीं लेता। सक्षेप मे उपासना की प्रभावशीलता मे दृढ विश्वास, उपासक की असमर्थता एव असहाय अवस्था और सगुण, साकार एव सर्वशक्तिमान ईश्वर मे अटूट आस्था उपासना की अनिवार्य मान्यताएँ हैं

3. उद्गम और उद्देश्य

उपासना की इन आधारभूत मान्यताओ को जान लेने के पश्चात् यह समझना कठिन नही है कि मनुष्य को क्यो और किन परिस्थितियो मे उपासना की आवश्यकता का अनुभव हुआ होगा। हम पहले ही कह चुके हैं कि उपासना एक धार्मिक क्रिया है, अत यह कहना अनुचित न होगा कि धर्म के उद्गम के साथ-साथ किसी न किसी रूप मे उपासना का भी जन्म हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अत्यन्त कठिन परिस्थितियो मे जीवन के लिए सतत् सघर्ष करने वाले आदि मानव के मन मे प्रतिकूल प्राकृतिक शक्तियो तथा भयानक पशुओ के कारण उत्पन्न असुरक्षा एवं असहाय अवस्था के फलस्वरूप निरतर जो भय बना रहता था उसी से धर्म का उद्गम हुआ। असहाय तथा भयत्रस्त होने के कारण ही आदि मानव ने कुछ ऐसी अतीद्रिय शक्तियो की कल्पना की जिनमे वह सुरक्षा और सहायता की याचना कर सकता था। इन कल्पित अतीद्रिय शक्तियो को प्रसन्न करने के लिए ही उसने इनकी आराधना अथवा उपासना करना आवश्यक समझा। स्पष्ट है कि धर्म तथा उपासना इन दोनो का उद्गम असुरक्षा एव असहाय अवस्था मे जीवन व्यतीत करने वाले आदि मानव की उस विशेष मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप हुआ जिसे किसी इद्रियातीत शक्ति के प्रति 'भयमिश्रित श्रद्धा' की सज्ञा दी जा सकती है। आज भी धर्म और उपासना के मूल में मनुष्य की यही मनोवृत्ति परिमार्जित रूप मे विद्यमान है। उपासक अपने आपको असहाय, नगण्य एव तुच्छ मानकर ही ईश्वर की आराधना करता है और उसकी शरण मे जाता है। उपासना का उद्देश्य सासारिक सुख, स्वर्ग-सुख अथवा आध्यात्मिक आनद प्राप्त करना हो सकता है। कोई व्यक्ति किस उद्देश्य से प्रेरित होकर उपासना करता है यह उसके स्वभाव तथा जीवन और जगत् के प्रति उसके दृष्टिकोण पर निर्भर है। अधिकतर व्यक्ति प्राय सासारिक सुख, मानसिक शाति तथा स्वर्ग-सुख की कामना से प्रेरित हो कर ही ईश्वर की आराधना करते हैं। इस प्रकार उपासना का मूल उद्देश्य अतत किसी-न-किसी रूप मे स्वय उपासक की आत्मतुष्टि ही है। परतु उपासना का सदैव आत्मकेद्रित एव स्वार्थमूलक होना अनिवार्य नही है, क्योंकि कुछ व्यक्तियो को दूसरो के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करके वास्तविक आत्मतुष्टि प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति मे उपासक की आत्मतुष्टि का साधन होते हुए भी उपासना को परोपकारमूलक माना जा सकता है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि उपासक का मूल उद्देश्य उपासना द्वारा किसी भी रूप मे आत्मतुष्टि प्राप्त करना ही होता है।

4. उपासना के भेद

यद्यपि उपासक की आत्मतुष्टि से सबद्ध होने के कारण उपासना मूलत व्यक्तिगत धार्मिक क्रिया है, फिर भी अनेक सामाजिक क्रियाओं की भाँति उपासना भी मनुष्य दूसरो के साथ सामूहिक रूप मे कर सकता है और करता है। इस दृष्टि से उपासना को मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—वैयक्तिक उपासना तथा सामूहिक उपासना। जब मनुष्य अपनी सुविधानुसार अकेला ही ईश्वर की आराधना करता है तो उसकी इस आराधना को 'वैयक्तिक उपासना' की सज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार की उपासना के लिए किसी धार्मिक सस्था अथवा व्यवस्था की आवश्यकता नही होती। इसमे उपासक अपनी चित्त-शुद्धि, मानसिक शांति अथवा अन्य किसी कामना की पूर्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। जब अनेक व्यक्ति किसी धर्म-स्थान पर एकत्र होकर सम्मिलित रूप मे ईश्वर की आराधना करते हैं तो उनकी इस आराधना को 'सामूहिक उपासना' कहा जाता है मंदिर में की जाने वाली पूजा मस्जिद में पढ़ी जाने वाली नमाज तथा गिरजाघर में

की जाने वाली प्रार्थना सामूहिक उपासना के उदाहरण हैं। स्पष्ट है कि ऐसी सामूहिक उपासना के लिए किसी धार्मिक संस्था, विशेष व्यवस्था और विधि-विधानो का होना अनिवार्य है। यदि कोई व्यक्ति किसी धर्म के संस्थापको अथवा गुरुओ द्वारा निर्धारित विशेष विधि-विधानो का पालन नही करता या नही करना चाहता तो वह उस धर्म के अनुयायियो की सामूहिक उपासना मे सम्मिलित नही हो सकता। इस प्रकार अन्य सामाजिक क्रियाओं की भाँति सामूहिक उपासना मे भी व्यक्ति की स्वतत्रता बहुत सीमित हो जाती है। परतु सामूहिक उपासना धर्म का अनिवार्य अग बन चुकी है। सभी विकसित धर्मो मे किसी-न-किसी रूप मे सामूहिक उपासना को बहुत आवश्यक माना जाता है। उदाहरणार्थ हिंदू मदिरों तथा तीर्थ-स्थानो मे, सिख गुरुद्वारो में मुसलमान मस्जिदो मे और ईसाई गिरजाघरो में सामूहिक उपासना करते हैं। वस्तुत समाज मे धर्म के व्यापक प्रभाव का एक बहुत बडा कारण सभी धर्मानुयाइयो के लिए सामूहिक उपासना की व्यवस्था है। शैशव काल से ही इसमे भाग लेने के कारण अधिकतर व्यक्ति श्रद्धालु तथा धर्म-परायण हो जाते हैं और किसी प्रकार का तर्क अथवा विचार किए बिना ही अपने धर्म के सभी सिद्धातो मे दृढ आस्था रखने लगते है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि धर्म के प्रचार तथा प्रभाव मे सामूहिक उपासना का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

5 उपासना का प्रभाव

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मनुष्य के व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन पर उपासना का क्या प्रभाव पडता है अथवा पड सकता है। इस बात को अस्वीकार करना कठिन है कि निष्ठापूर्ण उपासना के फलस्वरूप व्यक्ति मे विनयशीलता, दया, नम्रता, परोपकार की भावना उदारता आदि नैतिक गुणो का विकास सभव है। इसका अभिप्राय यह नही है कि ईश्वर उपासक मे यह गुण उत्पन्न करता है। वस्तुत उपासक मे इन गुणो के विकास का मूल कारण मनोवैज्ञानिक ही है। जब उपासक अपने भीतर इन सद्‌गुणो के विकास के लिए बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करता है तो उसके मन मे इनके अनुसार आचरण करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप ये गुण उसके चरित्र का अभिन्न अग बन जाते है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपासना मनुष्य के चारित्रिक उत्थान मे सहायक हो सकती है। परतु व्यक्ति की नैतिक उन्नति के लिए उपासना आवश्यक नही है, क्योंकि ईश्वर की सत्ता और उपासना की सार्थकता को अस्वीकार करने वाला निरीश्वरवादी भी नैतिक दृष्टि से महान तथा उत्कृष्ट व्यक्ति हो सकता है। फिर भी व्यक्ति के चारित्रिक उत्थान के लिए उपासना की मनोवैज्ञानिक उपयोगिता को अस्वीकार नही किया जा सकता। इसी प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की भाँति उसके सामाजिक जीवन पर भी उपासना का बहुत प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ सामूहिक उपासना के कारण किसी समुदाय के सदस्यो मे एकता एव भ्रातृत्व की भावना उत्पन्न होती है। प्रत्येक धर्म के अनुयायी विशेष प्रकार की सामूहिक उपासना मे बार-बार एक साथ भाग लेने के कारण अपने आप को एक दूसरे से सबद्ध अनुभव करते हैं और सकट-काल मे एक दूसरे की सहायता करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर उपासना के वाछनीय प्रभाव को अस्वीकार नही किया जा सकता।

परंतु व्यक्ति और समाज के लिए उपासना के हानिकारक परिणामो की उपेक्षा करना भी उचित नही होगा। उपासना में अत्यधिक शक्ति एव समय लगाने के कारण व्यक्ति अपने पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वो के प्रति उदासीन हो सकता है और उसकी यह उदासीनता

उसके परिवार के लिए ही नही, अपितु सारे समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। बहुत-से व्यक्ति अपने पारिवारिक एव सामाजिक कर्तव्यो की चिता किए बिना अपना अधिकाश समय पूजा-पाठ अथवा धार्मिक सस्थाओ मे होने वाली सामूहिक उपासना मे ही व्यतीत कर देते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनका जीवन पारिवारिक दायित्व तथा सामाजिक कल्याण की दृष्टि से लगभग निष्क्रिय और निरर्थक ही हो जाता है। ऐसे व्यक्तियो का जीवन अत्यधिक आत्मकेंद्रित हो जाता है और वे परिवार तथा समाज के हित की उपेक्षा करके उपासना द्वारा सदैव आत्मतुष्टि मे लगे रहते है। इसके अतिरिक्त बहुत-से व्यक्तियो का अधिकाश समय सामूहिक उपासना मे व्यतीत हो जाने के कारण समाज को काफी आर्थिक हानि उठानी पडती है। हमारे देश मे तो ईश्वर की उपासना अथवा आराधना के नाम पर लाखो पुजारी तथा साधु-सत किसी प्रकार का उत्पादक श्रम किए बिना सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसे व्यक्ति देश की प्रगति मे सहायक न हो कर उसपर बहुत बड़ा आर्थिक बोझ डालते है, किन्तु फिर भी वे अपने आप को किसानो तथा श्रमिको की अपेक्षा कही अधिक महान एव उत्कृष्ट मानते हैं। धर्म मे अध श्रद्धा रखने के कारण अधिकतर जनता भी अज्ञानवश महात्मा के रूप मे इनकी पूजा करती है। इन व्यक्तियो ने उपासना को अपनी आजीविका का साधन बना लिया है, परन्तु इस कटु तथ्य को स्वीकार न करके वे स्वय अपने आपको तथा दूसरो को धोखा देते हैं। यही नही, ऐसे व्यक्ति उपासना सबधी अपने व्यवसाय को बनाए रखने तथा उसमे वृद्धि करने के लिए जनता मे धर्म के प्रति अध श्रद्धा उत्पन्न करने का निरन्तर प्रयास करते रहते है। ईश्वर-भजन के नाम पर दिन-रात लाउडस्पीकरो से चिल्ला-चिल्ला कर ये पुजारी आसपास रहने वाले सभी व्यक्तियो का सुख-चैन छीन लेते है और उनके लिए अपने पारिवारिक एव सामाजिक दायित्वो की पूर्ति तथा उत्पादक श्रम करना बहुत कठिन बना देते है। ऐसी उपासना को इस आधार पर उचित सिद्ध नही किया जा सकता कि इससे कुछ व्यक्तियों को मानसिक शांति प्राप्त होती है। समाज मे रहने वाले किसी व्यक्ति को अपनी शांति के लिए दूसरो की शांति भग करने का अधिकार नही दिया जा सकता। सामूहिक उपासना के एक अन्य दुष्परिणाम का भी यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। ऐसी उपासना विभिन्न समुदायो अथवा धर्मों के अनुयाइयो मे एक दूसरे के प्रति घृणा तथा शत्रुता की भावना उत्पन्न करती है। सभी धर्मों का इतिहास इस दुखद तथ्य का साक्षी है कि उनके अनुयाइयों मे भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासो तथा पूजन-पद्धतियो के कारण भयकर सघर्ष होता रहा है। विभिन्न धर्मों के अनुयाइ ही नही, अपितु एक ही धर्म को स्वीकार करने वाले दो भिन्न-भिन्न सप्रदायो के लोग भी एक-दूसरे के रक्त के प्यासे बन गए हैं। स्पष्ट है कि सभी धर्म अलग-अलग धार्मिक विश्वासों तथा पूजन-पद्धतियो द्वारा मनुष्यो को कृत्रिम वर्गों मे विभाजित करके उन्हे एक दूसरे के घोर शत्रु बना देते है। इस दृष्टि से विभिन्न धर्मों तथा उनसे सबधित पूजन-पद्धतियो ने मानव-जाति को जितनी अधिक हानि पहुँचाई है उतनी सभवत किसी और ने नही पहुँचाई। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि सामूहिक उपासना मनुष्य के लिए लाभदायक कम और हानिकारक अधिक सिद्ध हुई है।

6. उपासना और वैज्ञानिक दृष्टिकोण में विरोध

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या उपासना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे कोइ सगति है और वर्तमान वैज्ञानिक युग मे उपासना को कहाँ तक वाच्छनीय माना जा सकता है हम पहले कह चुके हैं कि श्रद्धालु व्यक्ति के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कुछ सीमा तक उपासना की उपयोगिता है। परंतु तार्किक दृष्टि से विचार करने पर यह मानने के लिए बाध्य होना पडता है कि

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ उपासना की कोई संगति दिखाई नहीं देती। इसका कारण यह है कि विज्ञान उपासना के मूल आधार—ईश्वर के अस्तित्व—को ही स्वीकार नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार समुचित एवं पर्याप्त प्रमाणों द्वारा निष्पक्ष परीक्षा के आधार पर ही किसी प्राक्कल्पना अथवा सिद्धान्त को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है, आस्था के आधार पर नहीं। ईश्वर के अस्तित्व की प्राक्कल्पना वैज्ञानिक दृष्टिकोण की इस अनिवार्य शर्त की पूर्ति नहीं करती—अर्थात् इसे सत्य सिद्ध करने के लिए हमारे पास समुचित और पर्याप्त विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। अभी तक ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए जो प्रमाण दिए गए हैं वे वैज्ञानिक दृष्टि से दोषमुक्त और विश्वसनीय नहीं हैं, अत उनके आधार पर वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। इस प्रकार विशुद्ध बौद्धिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर उपासना का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ उपासना की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता। प्राकृतिक नियमों में हस्तक्षेप करने वाली किसी अनुभवातीत सत्ता को विज्ञान स्वीकार नहीं करता, अत वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार कुछ धर्मपरायण व्यक्तियों का यह दावा पूर्णतया अनुचित एवं अमान्य है कि उपासना के फलस्वरूप ईश्वर की इच्छा द्वारा प्राकृतिक नियमों में परिवर्तन हो सकता है। उदाहरणार्थ वर्षा कराने, रोगी को रोगमुक्त कराने तथा बाढ़, भूकम्प, तूफान आदि प्राकृतिक विपत्तियों को रोकने के लिए की गई उपासना अनावश्यक तथा व्यर्थ है। अपनी बुद्धि द्वारा प्राकृतिक नियमों को भलीभाँति समझ लेने पर उन्हें नियंत्रित करके ही मनुष्य मनोवांछित परिणाम प्राप्त कर सकता है, ईश्वर की उपासना या आराधना द्वारा नहीं। रोगी को स्वस्थ करने के लिए उचित औषधि द्वारा उन कीटाणुओं को नष्ट करना आवश्यक है जो रोग के मूल कारण हैं। इसी प्रकार वर्षा कराने के लिए इसके मूल कारणों को जानकर वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा इन कारणों को उत्पन्न करना अनिवार्य है। अन्य प्राकृतिक विपत्तियों से बचने के लिए भी उनके मूल कारणों को समझकर वैज्ञानिक उपायों द्वारा उन्हें नियंत्रित करने अथवा उनके दुष्प्रभाव से मुक्त होने के लिए सतत प्रयास करने की आवश्यकता है, किसी दैवी शक्ति की उपासना या आराधना करने की नहीं। इसका अर्थ यह है कि रोग, संकट तथा प्राकृतिक विपदाओं से मुक्त होने के लिए जो यज्ञ, पूजा-पाठ आदि किए जाते हैं उनका वास्तव में कोई प्रभाव नहीं हो सकता अत अंधविश्वासों से प्रेरित यह समस्त प्रयास अनावश्यक, व्यर्थ एवं हानिकारक ही है। जो व्यक्ति सचमुच वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही पूर्णत स्वीकार करता है वह मानव-सभ्यता के इस आदिकालीन प्रयास का कभी समर्थन नहीं कर सकता, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रयास के औचित्य को प्रमाणित करना संभव नहीं है। इस प्रकार किसी अनुभवातीत दैवी शक्ति में अबौद्धिक आस्था पर आधारित उपासना तथा एकमात्र भौतिकवाद पर आधारित विशुद्ध बौद्धिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई संगति दिखाई नहीं देती।

7. उपासना में विश्वास के कारण

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपासना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई संगति नहीं है तो वर्तमान युग में पर्याप्त वैज्ञानिक प्रगति होते हुए भी अधिकतर व्यक्ति मानसिक शांति प्राप्त करने और रोग, संकट एवं प्राकृतिक विपत्तियों से बचने के लिए उपासना का आश्रय क्यों लेते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में अनेक कारण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसका पहला कारण है जनसाधारण में शिक्षा तथा ज्ञान का अभाव। लाखों वर्षों से मनुष्य की बुद्धि पर जो अंधविश्वास जनित धार्मिक संस्कार पड़े हैं उनसे मुक्त होने के लिए आज भी करोड़ों व्यक्तियों को पर्याप्त शिक्षा तथा समुचित ज्ञान नहीं है इसी कारण आज का जीवन प्राय उन्हीं

अंधविश्वासों द्वारा शासित होता है जो सभ्यता के आदि-काल में मनुष्य की अनभिज्ञता और अक्षमता के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे। मानव-जाति का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि इन अंधविश्वासों के निराकरण का प्रयास करने के स्थान पर सभी धर्मगुरु शताब्दियों में इनका अधिकाधिक प्रचार करने तथा इन्हें उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। धर्मगुरुओं के इस प्रयास को उपासना में जन-साधारण के विश्वास का दूसरा कारण माना जा सकता है। हम पहले ही बता चुके हैं कि अधिकतर व्यक्तियों को शैशवकाल से ही धार्मिक दीक्षा देना प्रारंभ कर दिया जाता है, फलत वे धर्म के गुण-दोषों पर निष्पक्ष, स्वतंत्र एवं तर्कपूर्ण चिंतन करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि बहुत-से चिकित्सक, इंजीनियर, प्राकृतिक विज्ञानों के विशेषज्ञ तथा प्रयोगशालाओं में काम करने वाले बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता उच्च वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करके भी अपने कार्य में सफल होने के लिए आत्मविश्वास एवं अपनी योग्यता पर पूर्णत निर्भर न रहकर कार्यारंभ से पूर्व ईश्वर-कृपा की प्राप्ति के लिए उपासना का आश्रय लेते हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब उच्चकोटि के विज्ञानवेत्ता भी प्राचीन धार्मिक संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाते तो शिक्षित अथवा अशिक्षित जनसाधारण से यह आशा करना व्यर्थ ही है कि वह इन परंपरागत संस्कारों का परित्याग कर सकेगा। जन-मानस पर इन संस्कारों की जकड़ इतनी दृढ़ है कि इससे उसको मुक्त करने के लिए निरंतर व्यापक प्रयास की आवश्यकता है, किंतु प्रभावशाली धर्मगुरुओं के स्वार्थप्रेरित विरोध के कारण इस प्रयास के सफल होने की बहुत कम संभावना है। ईश्वर और उसकी उपासना में जनसाधारण के विश्वास का तीसरा कारण है विज्ञान द्वारा बहुत-से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर न दे सकना। इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि विज्ञान की कुछ निश्चित सीमाएँ हैं और वह उन्हीं के अंतर्गत रहकर कुछ प्राकृतिक घटनाओं एवं तथ्यों की व्याख्या करता है। विज्ञान उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता जो उसकी सीमित परिधि से बाहर हैं। उदाहरणार्थ 'इस विश्व का जन्म क्यों हुआ', 'मनुष्य के जीवन का उच्चतम ध्येय क्या है', 'भौतिक कारणों द्वारा शासित निर्जीव जगत् में चेतना का उदय कैसे और क्यों हुआ' आदि दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर विज्ञान नहीं दे सकता, क्योंकि ऐसे प्रश्न उसकी परिधि के अंतर्गत नहीं आते। यही नहीं, बहुत-सी महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक घटनाओं तथा प्राणियों की शरीर-रचना के विषय में विज्ञान की जानकारी अभी बहुत सीमित है। आज भी हम कुछ भयंकर रोगों के मूल कारणों को ठीक-ठीक नहीं जानते और उन्हें समाप्त अथवा नियंत्रित करने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार गर्भ में प्राणी के विकास की जटिल प्रक्रिया, मस्तिष्क की आश्चर्यजनक कार्यप्रणाली, मनोवेगों तथा शारीरिक क्रियाओं के पारस्परिक संबंध आदि अनेक समस्याओं की बिल्कुल ठीक-ठीक तथा पूर्णतया संतोषप्रद व्याख्या करना हमारे लिए आज भी संभव नहीं है। अब भी मनुष्य भूकम्प, बाढ़, सूखा, अतिवृष्टि, तूफ़ान, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक विपत्तियों को पूरी तरह नियंत्रित न कर सकने के कारण इनमें फँस कर प्राय असहाय हो जाता है। ऐसी स्थिति में आज भी मनुष्य यह मानने के लिए बाध्य हो जाता है कि कोई दैवी शक्ति इस विश्व को नियंत्रित करती है और इस शक्ति की उपासना द्वारा वह इसकी सहायता एवं कृपा का आश्वासन पाना चाहता है—फिर चाहे यह आश्वासन मिथ्या एवं भ्रमपूर्ण ही क्यों न हो। इस प्रकार वर्तमान युग में पर्याप्त वैज्ञानिक प्रगति हो जाने पर भी उपासना का मूल कारण—मनुष्य की सीमित क्षमता और कुछ विशेष परिस्थितियों में उसकी असहाय अवस्था—विद्यमान है, अत उपासना में अब भी जनसाधारण का विश्वास बना रहना स्वाभाविक ही है। इस विश्वास का चौथा कारण यह है कि सामान्य व्यक्ति उपासना से संबंधित दार्शनिक कठिनाइयों को नहीं समझ पाता। उदाहरणार्थ वह यह नहीं जानता कि ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध कितनी प्रबल और प्रभावशाली दार्शनिक युक्तियाँ

दी जा सकती है जिनके कारण उपासना का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार सामान्य व्यक्ति इस दार्शनिक कठिनाई से भी परिचित नहीं है कि उपासना की आवश्यकता और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा में स्पष्ट विरोध विद्यमान है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं तो वह उपासक के कष्टों को भलीभाँति जानता है और उन्हें दूर कर सकता है। ऐसी स्थिति में इन कष्टों से मुक्ति पाने के लिए ईश्वर की आराधना या उपासना करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। सर्वज्ञ ईश्वर को उपासना द्वारा अपनी कठिनाइयाँ तथा आवश्यकताएँ बताने का प्रयास निरर्थक एवं हास्यास्पद है, किन्तु साधारण व्यक्ति इस दार्शनिक समस्या को नहीं समझता और वह ईश्वर से उसी प्रकार याचना करता है जिस प्रकार मनुष्य से की जाती है। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति ईश्वर पर मानवत्वारोप की गंभीर समस्या को भी नहीं समझता— अर्थात् वह यह नहीं जानता कि मनुष्य की भाँति ईश्वर को भी सगुण, साकार तथा व्यक्तित्वसम्पन्न मानने में कितनी दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है। इन सब दार्शनिक समस्याओं से अनभिज्ञ होने के कारण साधारण व्यक्ति उपासना में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करता। संक्षेप में उपर्युक्त प्रमुख चार कारणों के फलस्वरूप आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी जनसाधारण का उपासना में दृढ़ विश्वास बना हुआ है और जब तक ये कारण विद्यमान रहेंगे उसका यह विश्वास भी बना रहेगा।

दार्शनिक दृष्टि से उपासना की समस्या के संबंध में मेरा अपना निष्कर्ष यह है कि उपासक के लिए इसकी जो थोड़ी-सी मनोवैज्ञानिक उपयोगिता है वह उसकी इस आस्था पर आधारित है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सगुण, साकार एवं व्यक्तित्वसम्पन्न ईश्वर की सत्ता है। परन्तु जैसा कि हम देख चुके है, इस आस्था का कोई तार्किक एवं वैज्ञानिक आधार नहीं है अतः विशुद्ध बौद्धिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से उपासना का युक्तिसंगत समर्थन नहीं किया जा सकता।



26

ईसाई धर्म में आस्था और तर्कबुद्धि का स्थान

1. धर्म, आस्था और तर्कबुद्धि का स्वरूप

सभवत इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि वर्तमान वैज्ञानिक युग मे भी मानव-जीवन पर धर्म का बहुत व्यापक और स्थायी प्रभाव है। प्राचीन युग की भाँति आज भी ससार मे मनुष्य के जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि असाधारण अवसरो पर विशेष धार्मिक विधि-विधानो को बहुत महत्त्व दिया जाता है। आज भी अधिकतर सामान्य व्यक्तियो का जीवन ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, चमत्कारो की सभावना, विश्व की प्रयोजनशीलता आदि अनेक धार्मिक विश्वासो द्वारा प्रेरित अथवा शासित होता है और वे इन विश्वासो की सत्यता एव प्रामाणिकता मे कभी सदेह नही करते। इससे यही प्रमाणित होता है कि प्राचीन युग के समान ही आज भी मानव-जीवन में इन धार्मिक विश्वासो का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसी स्थिति में दार्शनिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता आदि धार्मिक विश्वासो का मूल आधार क्या है—अर्थात हम इन्हे क्यो और किस आधार पर अपने जीवन के लिए अनिवार्य अथवा वाच्छनीय मानते हैं। क्या ये धार्मिक विश्वास केवल हमारी आस्था पर ही आधारित हैं अथवा क्या हम इन्हे तर्कबुद्धि द्वारा किसी प्रकार प्रमाणित कर सकते हैं? यदि आस्था ही इन विश्वासो का मूल आधार है तो उसका वास्तविक स्वरूप क्या है और वह तर्कबुद्धि से किस प्रकार भिन्न तथा कहाँ तक सबधित है? धर्म के क्षेत्र मे तर्कबुद्धि का क्या अर्थ एव महत्त्व है और वह हमारी आस्था को किस प्रकार तथा कहाँ तक प्रभावित कर सकती है? क्या हम किसी भी रूप मे तर्कबुद्धि की सहायता लिए बिना अपने धार्मिक विश्वासो की सार्थकता और प्रभावशीलता को बनाए रख सकते हैं? ये सभी ऐसे प्रश्न हैं जिनका हमारे लिए दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व ह अत प्रस्तुत लेख मे हम इन्ही तथा ऐसे ही कुछ अन्य प्रश्नो पर सक्षेप में विचार करने का प्रयास करेगे।

धर्म के अतर्गत आस्था और तर्कबुद्धि के स्थान तथा इनके पारस्परिक सबध का विवेचन करने से पूर्व धर्म के स्वरूप के विषय मे कुछ शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। दार्शनिको मे धर्म के अर्थ एव स्वरूप के सबध मे इतना अधिक मतभेद है कि धर्म की कोई निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा देना लगभग असभव है। धर्म की भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी परिभाषाओ के जाल मे न उलझते हुए हम सभवत यह कह सकते हैं कि धर्म किसी आदर्शमय एव सर्वाधिक मूल्यवान समझे जाने वाले विषय के प्रति मनुष्य की सपूर्ण निष्ठा एव प्रतिबद्धता को अभिव्यक्त करने वाली ऐसी सवेगात्मक अभिवृत्ति है जिसका मूल आधार तर्कबुद्धि न होकर भावनाजन्य विश्वास है। धर्म की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि मनुष्य जिस विषय को आदर्शपूर्ण तथा सर्वाधिक मूल्यवान मानता है उस विषय के पति उसकी सपर्ण निष्ठा एव प्रतिबद्धता का होना अनिवार्य है जो व्यावहारिक

जीवन में उसके विचारों और कर्मों में अभिव्यक्त होती है यह निष्ठा तथा बौद्धिक होने की अपेक्षा संवेगात्मक ही अधिक होती है और इसके माध्यम से आदर्शमय समझे जाने वाले विषय के प्रति धर्मपरायण व्यक्ति की अगाध श्रद्धा एवं संपूर्ण समर्पणयुक्त पूजा की भावना अभिव्यक्त होती है जो हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि सभी धर्मों का सार तत्त्व है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म मुख्यतः मनुष्य की तर्कबुद्धि का विषय न होकर उसकी अटूट आस्था अथवा उसके समर्पणयुक्त भावनामूलक विश्वास का विषय है जिसके अभाव में मानव-जीवन के लिए धर्म की सार्थकता संदिग्ध ही प्रतीत होती है।

सामान्यतः आस्था का अर्थ वह विश्वास है जिसे मनुष्य किसी प्रकार के तर्क अथवा प्रमाण के बिना ही स्वीकार करता है और उचित अवसर पर जिसके अनुसार वह अपने व्यावहारिक जीवन में कोई विशेष कर्म भी करता है। आस्थामूलक विश्वास की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति की अटूट निष्ठा होती है, अतः इसके विरुद्ध निश्चित प्रमाण प्राप्त होने पर भी वह किसी भी स्थिति में इसका परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं होता। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति ईश्वर की कृपा तथा दयालुता में आस्था रखता है वह आजीवन विपत्तियों एवं दुःखों से त्रस्त रहने पर भी अपनी इस आस्था की सत्यता में कभी संदेह नहीं करता। ईश्वर की दयालुता के विरुद्ध कोई भी तर्क अथवा प्रमाण उसे अपनी इस आस्था को छोड़ने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी आस्था का मूल आधार बौद्धिक न होकर संवेगात्मक होता है। इस प्रकार युक्तियों अथवा तर्कों द्वारा आस्था का न तो उचित प्रमाणित किया जा सकता है और न ही अनुचित। परन्तु आस्था के विपरीत हमारी विशुद्ध तर्कबुद्धि स्पष्ट एवं निश्चित प्रमाणों के अभाव में किसी भी विषय पर कोई अंतिम निर्णय देने के लिए उद्यत नहीं होती। ऐसी तर्कबुद्धि द्वारा प्रेरित होकर कार्य करने वाला व्यक्ति किसी प्राक्कल्पना अथवा सिद्धान्त को तभी पूर्णतः सत्य या असत्य मानता है जब उसके पक्ष अथवा विपक्ष में स्पष्ट वैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध हो जाते हैं, ऐसे प्रमाण उपलब्ध न होने तक वह अपने निर्णय को स्थगित ही रखता है। किसी भी प्राक्कल्पना अथवा सिद्धान्त के विरुद्ध स्पष्ट तथा प्रबल प्रमाण प्राप्त होने पर वह उसे तुरंत छोड़ देता है और उसके स्थान पर ऐसे सिद्धांत को स्वीकार कर लेता है जिसकी निश्चित एवं वैज्ञानिक प्रमाणों द्वारा पुष्टि होती है। दूसरे शब्दों में, वह ऐसे किसी भी तथ्य को स्वीकार करने के लिए सदैव उद्यत रहता है जिसका विशुद्ध तर्कबुद्धि पूर्णतः समर्थन करती है। ऐसे व्यक्ति का किसी प्राक्कल्पना या सिद्धान्त के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं होता, वह केवल विशुद्ध तर्कबुद्धि द्वारा प्रेरित होकर अपना निर्णय देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन में विशुद्ध तर्कबुद्धि को सर्वोच्च स्थान देने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण तथा आचरण आस्थावान व्यक्ति के दृष्टिकोण और आचरण से बहुत भिन्न होता है। हाँ, यह संभव है कि एक ही व्यक्ति किसी विशेष क्षेत्र में विशुद्ध तर्कबुद्धि द्वारा प्रेरित होकर कार्य करे और किसी अन्य क्षेत्र में केवल आस्था द्वारा प्रेरित होकर। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति अपने जीवन में एक निश्चित दृष्टिकोण को स्वीकार न करके भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार आचरण करता है।

2. मध्ययुगीन विचारधारा

धर्म, आस्था एवं तर्कबुद्धि के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन करने के पश्चात अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि धर्म के साथ आस्था और तर्कबुद्धि का क्या संबंध है। पाश्चात्य धर्मदर्शन के इतिहास में बहुत-से विद्वानों ने इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। प्लैटो

तथा अरस्तु ने धर्म को ईश्वर विषयक बौद्धिक चिंतन तक ही सीमित कर दिया था, अत उनके दर्शन मे धर्म के लिए आस्था और तर्कबुद्धि मे कोई संघर्ष दिखाई नही देता। ये दोनो दार्शनिक धर्म को मूलत दर्शन पर ही आधारित मानते है जिसमे निश्चय ही तर्कबुद्धि का सर्वाधिक महत्त्व होता है। परन्तु मध्य युग के कुछ धर्मपरायण विचारको ने प्लैटो और अरस्तु का यह धर्म संबंधी दार्शनिक दृष्टिकोण स्वीकार नहीं किया। इन विचारको के अनुसार धर्म 'दर्शन' पर निर्भर न होकर कुछ संतो को साक्षात् रूप मे ईश्वर द्वारा प्रदत्त 'श्रुति' पर ही आधारित होता है, अत धर्म के अनुरूप आचरण करने के लिए इस दैवी श्रुति मे मनुष्य की संपूर्ण और अटूट आस्था का होना अनिवार्य है। यह आस्था मनुष्य को ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। तर्कबुद्धि का एकमात्र कार्य इस आस्था के मार्ग मे आने वाली सभी बाधाओ का निराकरण करके इसे अधिकाधिक दृढ तथा अकाट्य बनाना है। उदाहरणार्थ अलेग्जैंड्रिया के 'फिलो' ईश्वरीय श्रुति को मनुष्य की तर्कबुद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्थान देते हैं और यह मानते हैं कि दर्शन अथवा तर्कबुद्धि का कार्य दैवी श्रुति पर आधारित आस्थाप्रधान धर्म के प्रति उठाई जाने वाली सभी प्रकार की आपत्तियो का खंडन करना ही है। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य की तर्कबुद्धि ईश्वरीय कृपा से प्राप्त आस्था की सेविका मात्र है। इसका कार्य धर्मग्रंथो की ऐसी व्याख्या करना है जो इस आस्था के अनुरूप हो और जो इसे अत्यधिक दृढ तथा अकाट्य बनाए। इस प्रकार 'फिलो' के अनुसार तर्कबुद्धि और आस्था मे सेवक-सेव्य संबंध होने के कारण कोई मूल विरोध नही है।

तृतीय शताब्दी के अन्य दो विचारको—क्लिमेंट तथा ओरिगेन— ने भी मूलत 'फिलो' के दृष्टिकोण का समर्थन किया है। क्लिमेंट का कथन है कि धर्म के लिए आस्था अनिवार्य है, क्योंकि इस दैवी श्रुति संबंधी सत्यो को तर्कबुद्धि द्वारा न तो जान सकते है और न प्रमाणित ही कर सकते हैं। ईश्वरीय कृपा पर आधारित होने के कारण यह आस्था अबौद्धिक नही है। ओरिगेन भी क्लिमेंट के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि तर्कबुद्धि तथा आस्था मे स्पष्ट एवं निश्चित भेद है और तर्कबुद्धि का कार्य हमारी आस्था को अधिक दृढ करना ही है। ईश्वर-ज्ञान के विषय मे मानव-बुद्धि की असमर्थता बताते हुए उन्होंने कहा है कि "ईश्वर को उसके विशुद्ध रूप मे जानने के लिए मनुष्य की तर्कबुद्धि नितान्त अपर्याप्त है"।[1] इसका अभिप्राय यही है कि ईश्वर के ज्ञान के लिए उसकी कृपा द्वारा प्राप्त आस्था अनिवार्य है। तर्कबुद्धि और आस्था के संबंध के विषय मे एक अन्य धर्मपरायण विचारक सेंट अगस्टाइन ने भी मूलत इसी आस्थाप्रधान विचारधारा का समर्थन किया है। यह सत्य है कि वे आस्था के साथ-साथ तर्कबुद्धि का भी स्वतंत्र महत्त्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके विचार मे तर्कबुद्धि के कारण ही मनुष्य को अन्य सभी प्राणियों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट माना जा सकता है। वे यह भी मानते हैं कि आस्था के बिना भी मनुष्य तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर के विषय मे विशुद्ध बौद्धिक चिंतन कर सकता है और उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास कर सकता है। अपनी पुस्तक 'डी लिबरो आर्बिट्रियो' मे उन्होने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण का उल्लेख किया है जिसे बाद मे सेंट एन्सेल्म ने प्रत्यय सत्ता-युक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया और जिसे धर्मदर्शन के इतिहास मे आज भी बहुत महत्त्व दिया जाता है। परन्तु मानव-जीवन मे तर्कबुद्धि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी पूर्ववर्ती विचारको की भाँति सेंट अगस्टाइन भी उसे आस्था की पुष्टि का आवश्यक साधन मानते हैं। उनका मत है कि तर्कबुद्धि द्वारा ही ईश्वर विषयक आस्था संबंधी सत्यो की व्याख्या की जा सकती है और उनके विरुद्ध उठाई जाने वाली आपत्तियो का खंडन किया जा सकता है। इस प्रकार फिलो, क्लिमेंट तथा ओरिगेन की

1 ओरिगेन, 'कॅन्ट्रा सेलसम', पृ० 430

भाँति सेंट अगस्टाइन भी यह मानते हैं कि तर्कबुद्धि का महत्त्वपूर्ण कार्य आस्था को दृढ करना और उसे बनाए रखना है। इन सभी विचारकों के समान ही मध्य युग के एक अन्य धर्मपरायण दार्शनिक पीटर अबेलार्ड ने भी इसी आस्थाप्रधान धार्मिक दृष्टिकोण का समर्थन किया है। आस्था की पुष्टि के साधन के रूप मे उन्होंने तर्कबुद्धि के तीन मुख्य कार्य बताए हैं (1) तर्कबुद्धि धर्मग्रंथों को समझने मे सहायक सिद्ध होती है। (2) आस्था के विरुद्ध दार्शनिको द्वारा उठाई गई आपत्तियो का खडन करने मे भी तर्कबुद्धि सहायक होती है। (3) अतत: यह ईश्वर द्वारा प्रदत्त आस्थामूलक सत्यों को बौद्धिक समर्थन प्रदान करती है।[2] अबेलार्ड का निश्चित मत है कि ईश्वर-कृपा द्वारा प्रदत्त आस्था के अभाव में केवल तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप का ज्ञान कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता, अत ईश्वर की सत्ता के प्रमाणो का कोई विशेष महत्त्व नही है।[3] परंतु मध्य युग के प्रमुख धर्मपरायण दार्शनिक सेंट ऐन्सेल्म ईश्वर की सत्ता से सबंधित प्रमाणो को पर्याप्त महत्त्व देते है। इसी कारण उन्होंने अपनी दो प्रमुख रचनाओं— 'मोनोलोजियन' तथा 'प्रोस्लोजियन'—में ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जिनमे प्रत्यय सत्ता-युक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन प्रमाणो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी सेंट ऐन्सेल्म ईश्वर-ज्ञान के लिए अतत आस्था को ही सर्वोच्च स्थान देते हैं। वे भी यह मानते हैं कि केवल तर्कबुद्धि द्वारा आस्थामूलक ईश्वरीय सत्यो का ज्ञान प्राप्त करना सभव नही है। इस प्रकार सेंट ऐन्सेल्म का दृष्टिकोण फिलो, क्लिमेंट, ऑरिगेन आदि पूर्ववर्ती विचारको के दृष्टिकोण से मूलत: भिन्न नही है। उनके पश्चात् मोसिस मेमोनाइड्स ने भी मुख्यत: इसी आस्थाप्रधान विचारधारा का समर्थन किया है। उनका कथन है कि तर्कबुद्धि का कार्य आस्था सबधी ईश्वरीय सत्यो का अनुसधान अथवा प्रतिपादन करना नहीं अपितु ईश्वर-कृपा द्वारा प्रदत्त इन सत्यो को सभव तथा उचित सिद्ध करना ही है।

मध्य युग के एक अन्य महान दार्शनिक सेंट टॉमस एक्विनॉस ने भी अपनी पुस्तक 'सम्मा थियोलॉजिका' मे आस्था और तर्कबुद्धि के सबध का विस्तृत विवेचन किया है। उनका मत है कि मनुष्य को कुछ विशेष धार्मिक सत्यो का ज्ञान ईश्वर की कृपा और प्रेरणा से ही प्राप्त हो सकता है, तर्कबुद्धि द्वारा नही। ईश्वरीय प्रेरणा से उद्घाटित धार्मिक सत्य तर्कबुद्धि के क्षेत्र के अतर्गत नही आते, क्योंकि तर्कबुद्धि अनुभवजन्य सासारिक तथ्यो तक ही सीमित रहती है। धार्मिक सत्यों मे हम तर्कबुद्धि के आधार पर नही अपितु उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की पूर्ण विश्वसनीयता के कारण विश्वास करते हैं जिसकी कृपा और प्रेरणा से हमें इन सत्यो का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि एक्विनास के मतानुसार धार्मिक सत्यो से सबंधित हमारे ज्ञान का मूल आधार आस्था ही है। इन सत्यो मे विश्वास करने के लिए हमें किसी प्रकार के तर्क अथवा प्रमाण की आवश्यकता नही होती। परतु अन्य मध्ययुगीन विचारको की भाँति एक्विनास भी आस्थामूलक सत्यों के समर्थन के लिए तर्कबुद्धि के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इस सबध में उन्होंने अबेलार्ड के मत का समर्थन किया है। आस्था के सबध मे एक्विनास ने तर्कबुद्धि के वे ही तीन कार्य स्वीकार किए हैं जो अबेलार्ड ने बताए है। ये तीन कार्य हैं— (1) आस्थामूलक मान्यताओ तथा सत्यो को परस्पर सबद्ध करके उनकी समुचित व्याख्या करना, (2) उन्हें युक्तियो द्वारा बौद्धिक समर्थन प्रदान करना और (3) सशयवादियों द्वारा उनके विरुद्ध उठाई गई आपत्तियो का युक्तिसगत खडन करना। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्य युग के अन्य दार्शनिको की भाँति एक्विनास भी तर्कबुद्धि को आस्था की

2 पीटर अबेलार्ड 'ट्रैक्टेट्स' पृ० 19 29

3 पीटर अबेलार्ड पृ० 68

पुष्टि का साधन मात्र मानते हैं, अत उनके मतानुसार धर्म के क्षेत्र मे आस्था और तर्कबुद्धि का वही स्थान है जो क्रमश स्वामिनी तथा सेविका का होता है। एक्विनास के पश्चात् जॉन कैलविन ने भी इसी आस्थाप्रधान धार्मिक विचारधारा का समर्थन किया है। ईसाई धर्म पर उनके विचारो का पर्याप्त प्रभाव पडा है। उनका मत है कि दैवी सत्य हमे धर्मग्रथो द्वारा ही प्राप्त हो सकते है और इन धर्मग्रथो की प्रामाणिकता पूर्णत असदिग्ध है। इन ग्रथो का अध्ययन एव अनुशीलन करने से ही ईश्वरीय कृपा के फलस्वरूप दैवी सत्यो मे मनुष्य की अटूट आस्था उत्पन्न हो सकती है। कैलविन के विचार मे तर्कों अथवा युक्तियो द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है, अत व इन्हे नितात अनावश्यक मानते है। वे मनुष्य के धार्मिक अनुभव को ही ईश्वर के ज्ञान का विश्वसनीय आधार मानते है, क्योकि उनके अनुसार इस अनुभव की प्रामाणिकता मे सदेह नही किया जा सकता। इस प्रकार अन्य मध्ययुगीन विचारको की भाँति कैलविन भी धार्मिक सत्यो के ज्ञान तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से तर्कबुद्धि की अपेक्षा ईश्वरीय कृपा से प्राप्त आस्था को ही अधिक महत्त्व देते हैं और इस आस्था को बनाए रखने के लिए धर्मग्रथो को ही अंतिम प्रमाण मानते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उपर्युक्त मध्ययुगीन आस्थाप्रधान विचारधारा को कहाँ तक उचित एव युक्तिसगत माना जा सकता है। यह सत्य है कि इस विचारधारा के समर्थको ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वस्तुत आस्था तथा तर्कबुद्धि मे कोई सघर्ष नही है, क्योंकि इन दोनो का उद्गम-स्रोत एक ही है और वह है ईश्वर। इन दोनो की प्राप्ति हमे ईश्वर-कृपा के फलस्वरूप ही होती है, अत ये दोनो एक-दूसरे की विरोधी न होकर परस्पर पूरक ही है। परतु आस्था और तर्कबुद्धि के विषय मे मध्यकालीन दार्शनिको की इस मान्यता का औचित्य बहुत सदिग्ध प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि आस्था और तर्कबुद्धि मे वास्तविक सघर्ष की सभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता। हम देख चुके हैं कि केवल तर्कबुद्धि को महत्त्व देने वाला व्यक्ति आस्थावान व्यक्ति के विपरीत ऐसे किसी विचार या सिद्धात को कभी स्वीकार नही कर सकता जिसे विश्वसनीय तर्कों अथवा युक्तियो द्वारा सत्य प्रमाणित न किया जा सके। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति के लिए केवल आस्था पर आधारित – किंतु तर्कबुद्धि द्वारा अप्रमाणित – विश्वासो का कोई महत्त्व नही हो सकता। इसके विपरीत आस्थावान व्यक्ति युक्तियो अथवा तर्कों द्वारा अपने विश्वासो की पुष्टि होना आवश्यक नही मानता। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आस्था और तर्कबुद्धि मे सघर्ष केवल सभव ही नही अपितु लगभग अनिवार्य है। वस्तुत मध्यकालीन दार्शनिको ने तर्कबुद्धि को आस्था की सेविका मात्र मानकर ही इस सघर्ष को समाप्त करने का प्रयास किया है। उनकी यह निश्चित मान्यता है कि तर्कबुद्धि आस्था का कभी विरोध नही कर सकती, क्योंकि उसका एकमात्र कार्य आस्था की व्याख्या तथा पुष्टि करना है। परतु, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, मध्यकालीन दार्शनिको ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिए पर्याप्त और विश्वसनीय कारण प्रस्तुत नही किये, अत उनकी यह मान्यता युक्तिसगत प्रतीत नही होती। इन दार्शनिकों का सपूर्ण दृष्टिकोण इस पूर्वाग्रह पर आधारित है कि यदि आस्था और तर्कबुद्धि मे सघर्ष होता है तो तर्कबुद्धि मे ही अवश्य कोई दोष है, अत आस्था के अनुरूप उसमे सुधार अथवा सशोधन करना आवश्यक है। परतु उनके इस पूर्वाग्रह का कोई उचित एव विश्वसनीय कारण खोज पाना बहुत कठिन है। वस्तुतः मध्ययुगीन दार्शनिको के इस पूर्वाग्रह के विपरीत यह कहना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है कि केवल आस्था पर आधारित ऐसे विश्वासो की सत्यता एव प्रामाणिकता अत्यत सदिग्ध है जो तर्कबुद्धि के विरुद्ध हैं अथवा जिनकी तर्कबुद्धि द्वारा पुष्टि करना असभव है। इस प्रकार मनुष्य के धार्मिक जीवन मे केवल ऐसी आस्था का ही स्थान हो सकता है जो उसकी तर्कबुद्धि के अनुरूप हो अथवा जिसका [illegible] सकी तर्कबुद्धि [illegible] इस दृष्टि मे विचार करने पर हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं

कि धर्म के लिए आस्था की अपेक्षा तर्कबुद्धि का महत्त्व कम नही है, अत तर्कबुद्धि को आस्था की सेविका मात्र मानना किसी भी दृष्टि से उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नही होता।

3. आधुनिक विचारधारा

धार्मिक विश्वासो के लिए तर्कबुद्धि को आस्था की सेविका मात्र मानने के अतिरिक्त एक अन्य दृष्टिकोण से भी पाश्चात्य दार्शनिको ने धर्म के क्षेत्र मे आस्था और तर्कबुद्धि के सबध पर विचार किया है। इस नए दृष्टिकोण के अनुसार तर्कबुद्धि स्वय अपनी सीमाओ को निश्चित करके हमे यह बताती है कि धार्मिक सत्यो का ज्ञान उसकी परिधि से बाहर है—अर्थात् वह न तो इन सत्यो को प्रमाणित कर सकती है और न अप्रमाणित। उदाहरणार्थ ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप, आत्मा की सत्ता एव अमरता, पुनर्जन्म की सभावना आदि ऐसे धार्मिक विषय है जिनकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता के सबध मे तर्कबुद्धि निश्चयपूर्वक कुछ नही कह सकती, क्योकि इन विषयो का ज्ञान उसकी स्वनिर्धारित सीमित परिधि के अतर्गत नही आता। इस प्रकार तर्कबुद्धि स्वय धार्मिक विश्वासो के अनिवार्य आधार के रूप मे आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। पास्कल, कान्ट कीर्केगार्ड, ऑटो, टिलिक आदि अनेक महान दार्शनिको ने इसी विचार धारा का समर्थन किया है। इस विचारधारा का प्रतिपादन सर्वप्रथम मध्ययुग के एक विचारक अल गजाली ने अपनी पुस्तक 'दि इन्कसिस्टैंसी ऑफ दि फिलॉसॉफर्स' मे किया था। ग्यारहवी शताब्दी मे लिखी गई उनकी इस पुस्तक मे ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता तथा सकल्प-स्वातत्र्य के सबध मे कान्ट के विचारो का पूर्वाभास प्राप्त होता है। गजाली का विचार है कि तर्कबुद्धि का कार्य आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करना ही है और ऐसा वह स्वय अपनी सीमाओ को निर्धारित करके तथा इस सत्य को उद्घाटित करके कर सकती है कि धार्मिक विश्वासो का प्रमाणित या अप्रमाणित करना उसके लिए सभव नही है। गजाली के इसी मत को स्वीकार करते हुए पास्कल ने भी आस्था का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ही तर्कबुद्धि को आवश्यक माना है। वे मानव-जीवन और धर्म के लिए तर्कबुद्धि को पर्याप्त महत्त्व देते है। उनके अनुसार विवेकशील प्राणी होने के कारण ही मनुष्य अन्य सभी प्राणियो की अपेक्षा उत्कृष्ट है। धर्म के लिए तर्कबुद्धि के महत्त्व को स्वीकार करते हुए वे कहते है कि "यदि हम तर्कबुद्धि के सिद्धातो की उपेक्षा करेगे तो हमारा धर्म मूर्खतापूर्ण और हास्यास्पद होगा"।[4] परन्तु मानव-जीवन के लिए तर्कबुद्धि की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी पास्कल उसके क्षेत्र को बहुत सीमित ही मानते है। अपनी पुस्तक 'पैंसीज' मे उन्होने धार्मिक विश्वासो के सबध मे तर्कबुद्धि की सीमाओ का विस्तृत विवेचन किया है। उनका मत है कि सीमित प्राणी होने के कारण मनुष्य ईश्वर के विषय मे कुछ नही जान सकता। ज्ञान की दृष्टि से सीमित मनुष्य तथा असीम ईश्वर मे जो अलघ्य दूरी है उसे तर्कबुद्धि कभी समाप्त नही कर सकती। "यदि ईश्वर है तो उसे समझना हमारे लिए नितात असभव है क्योकि भागो तथा सीमाओ से रहित होने के कारण उसकी हमसे कोई समानता नही है। हम उसके अस्तित्व और स्वरूप को कभी भी नही जान सकते। हमारे लिए न तो उसका अस्तित्व ही बोधगम्य है और न उसका अनस्तित्व"।[5] इस प्रकार पास्कल ईश्वर-ज्ञान को मनुष्य की तर्कबुद्धि का विषय नही मानते। उनका कथन है कि जब हमारी तर्कबुद्धि अपने क्षेत्र के अतर्गत आने वाले सासारिक विषयो का ज्ञान प्राप्त करने मे ही अनेक बार भूल करती है तो वह अपने सीमित क्षेत्र से बाहर जाकर धार्मिक सत्यो का ज्ञान कैसे प्राप्त कर

---

4 पास्कल पैंसीज पृ० 273
वही प 0

सकती है? इसी कारण वे ईश्वर, आत्मा आदि सभी धार्मिक विश्वासो को तर्कबुद्धि का नही अपितु 'हृदय' अथवा अनुभूति का विषय ही मानते हैं। उनके विचार में ईश्वर सबधी विश्वास बौद्धिक न होकर अनुभूतिजन्य ही होता है जिसमे मनुष्य की पूर्ण प्रतिबद्धता निहित रहती है। स्पष्ट है कि ऐसा विश्वास मनुष्य की आस्था पर ही आधारित हो सकता है, तर्कबुद्धि पर नही। तर्कबुद्धि का कार्य केवल यही बताना है कि ईश्वर सहित सभी धार्मिक विश्वास उसकी सीमित परिधि से बाहर हैं। ईश्वर को तर्कबुद्धि का विषय न मानने के कारण ही पास्कल ने मनुष्य को उसमे विश्वास करने का 'दाँव' लगाने के लिए कहा है। उनका निश्चित मत है कि हमे आस्था के आधार पर ईश्वर मे विश्वास करने का 'दाँव' अवश्य लगाना चाहिए, क्योंकि उसमें हमे अतत हानि की अपेक्षा लाभ होने की कही अधिक सभावना है। उनका यही मत 'पास्कल के दाँव' के नाम से विख्यात है। परन्तु मेरे विचार मे दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर-विश्वास सबधी उनकी उपर्युक्त मान्यता अत्यंत दुर्बल ही प्रतीत होती है, क्योंकि केवल हानि-लाभ के आधार पर किसी विश्वास या सिद्धान्त की सत्यता अथवा प्रामाणिकता का निर्णय नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त किसी विश्वास की सत्यता प्रमाणित हो जाने से पूर्व ही उससे प्राप्त सभावित हानि-लाभ का अनुमान लगाना और उस अनुमान के आधार पर उस विश्वास को स्वीकार करने का आग्रह करना उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता। परतु पास्कल का निश्चित मत है कि हमारी तर्कबुद्धि स्वय ही धार्मिक विश्वासो को अपनी सीमित परिधि से बाहर सिद्ध करके उन्हे अनिवार्यत हमारी आस्था के विषय बना देती है और इन विश्वासो के सबध मे वस्तुत उसका यही एकमात्र कार्य है।

पास्कल की भाँति कान्ट ने भी मूलत इसी विचारधारा के आधार पर धार्मिक विश्वासो की व्याख्या की है। सभवत यह कहना अनुचित न होगा कि तर्कबुद्धि द्वारा आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करने के सिद्धान्त का उनके दर्शन मे पर्याप्त विकास हुआ है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ प्योर रीजन' में मानव-बुद्धि के विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि' ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता तथा अन्य धार्मिक विश्वासों को प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं कर सकती, क्योंकि उसका सबध हमारे अनुभवजन्य सासारिक ज्ञान तथा इस ज्ञान को सभव बनाने वाली आवश्यक स्थितियो से ही है। हम अपनी विशुद्ध तर्कबुद्धि द्वारा यह कभी नही जान सकते कि ईश्वर तथा आत्मा का अस्तित्व है अथवा नही, अत इनकी सत्ता को प्रमाणित या अप्रमाणित करने के लिए तर्क प्रस्तुत करना व्यर्थ है। परतु कान्ट के मतानुसार इसका अभिप्राय यह नही है कि ये धार्मिक विश्वास निरर्थक एव मिथ्या हैं और हमारे जीवन के लिए इनका कोई महत्त्व नही है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि विशुद्ध तर्कबुद्धि के विषय न होते हुए भी ईश्वर तथा आत्मा सबधी धार्मिक विश्वास हमारी 'व्यावहारिक तर्कबुद्धि' की अनिवार्य मान्यताएँ हैं। हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि का कार्य हमे यह बताना है कि हमे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। यही व्यावहारिक तर्कबुद्धि हमे बताती है कि नैतिक जीवन की सार्थकता के लिए आस्था के आधार पर ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता स्वीकार करना आवश्यक है। सदैव निष्कामभाव से अपने नैतिक कर्त्तव्य का पालन करने वाले व्यक्ति को उसके वर्तमान जीवन मे अथवा आगामी जीवन मे उसके शुभाचरण के अनुरूप सुख प्रदान करने के लिए केवल ईश्वर ही न्यायाधीश के रूप मे कार्य कर सकता है, अत सार्थक नैतिक जीवन के लिए आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस प्रकार हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि—जिसका सबध हमारे नैतिक जीवन से है—हमे ईश्वर के अस्तित्व तथा आत्मा की अमरता से सबधित धार्मिक विश्वासो को आवश्यक मान्यताओ के रूप मे स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। इस दृष्टि से ये धार्मिक विश्वास हमारे जीवन के लिए केवल सार्थक ही नही अपितु अनिवार्य भी हैं। सैद्धातिक तर्कबुद्धि की

परिधि से पूर्णत बाहर होने के कारण ये धार्मिक विश्वास केवल हमारी आस्था के विषय ही हो सकते है जिनका सबध हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि से है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पास्कल की भाँति कान्ट भी यह मानते हैं कि विशुद्ध तर्कबुद्धि धार्मिक विश्वासो के आधार के रूप मे अतत आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। परतु कान्ट के सिद्धात के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि हम विशुद्ध तर्कबुद्धि द्वारा धार्मिक विश्वासों के सबंध मे कुछ नहीं जान सकते तो हम उन्हे व्यावहारिक तर्कबुद्धि की अनिवार्य मान्यताओं के रूप मे कैसे स्वीकार कर सकते हैं। हम ईश्वर, आत्मा आदि ऐसी सत्ताओ के विषय मे कुछ भी कैसे जान सकते हैं जो हमारी सैद्धातिक तर्कबुद्धि के सीमित क्षेत्र मे पूर्णत बाहर हैं? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, कान्ट ने इस प्रश्न का कोई सतोषजनक उत्तर नही दिया। वे केवल यही कहते हैं कि सैद्धातिक तर्कबुद्धि तथा व्यावहारिक तर्कबुद्धि के क्षेत्र भिन्न भिन्न है, अत सैद्धातिक तर्कबुद्धि की परिधि के अतर्गत न आने वाले हमारे धार्मिक विश्वास व्यावहारिक तर्कबुद्धि से सबधित हमारी आस्था के आवश्यक विषय हो सकते है। परतु कान्ट की यह मान्यता युक्तिसगत प्रतीत नही होती, क्योंकि जो हमारी विशुद्ध अथवा सैद्धातिक तर्कबुद्धि के लिए पूर्णत अज्ञात और अज्ञेय है वह हमारी व्यावहारिक तर्कबुद्धि का भी विषय नही हो सकता। वे स्वय यह मानते है कि व्यावहारिक तर्कबुद्धि का कार्य हमे किसी वस्तु के अस्तित्व एव स्वरूप का ज्ञान प्रदान करना नही अपितु हमे कुछ करने या न करने की प्रेरणा देना ही है। ऐसी स्थिति मे व्यावहारिक तर्कबुद्धि द्वारा हमे किसी भी अर्थ मे ईश्वर, आत्मा आदि अज्ञेय सत्ताओ का ज्ञान नही हो सकता। यदि वास्तव मे ये सत्ताएँ सभी प्रकार से हमारे लिए पूर्णत अज्ञेय है तो इन्हे व्यावहारिक तर्कबुद्धि की आवश्यक मान्यताओ के रूप मे स्वीकार करने का कोई युक्तिसगत आधार दृष्टिगोचर नही होता। इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि सैद्धातिक तर्कबुद्धि की सीमाओ को निर्धारित करके और ईश्वर तथा आत्मा सबधी धार्मिक विश्वासों को केवल व्यावहारिक तर्कबुद्धि के विषय मानकर कान्ट ने आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करने का जो प्रयास किया है उसमे उन्हे वास्तविक सफलता प्राप्त नही हुई।

कान्ट के सिद्धात की उपर्युक्त कठिनाइ के होते हुए भी अनेक परवर्ती दार्शनिको ने किसी न किसी रूप मे उनके इस सिद्धात का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ उन्नीसवी शताब्दी के अस्तित्ववादी दार्शनिक कीर्केगार्ड धार्मिक विश्वासो के सबंध मे मूलत कान्ट की विचारधारा को ही स्वीकार करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि हमारी तर्कबुद्धि स्वय अपनी सीमाओ को निश्चित करके हमे यह बताती है कि धार्मिक विश्वासो की व्याख्या करने तथा उन्हे प्रमाणित या अप्रमाणित करने मे वह नितात असमर्थ है। ऐसी स्थिति मे यदि कोई दार्शनिक तर्कबुद्धि द्वारा इन विश्वासो को सत्य या असत्य सिद्ध करने का प्रयास करता है तो उसका यह प्रयास पूर्णत व्यर्थ है। हाँ, तर्कबुद्धि द्वारा हम उसकी सीमाओ को समझ सकते है और यह भी जान सकते हैं कि कुछ ऐसी सत्ताओ के अस्तित्व की सभावना है जिन्हे हम न तो जानते है और न कभी जान ही सकते है। इन सत्ताओ को कीर्केगार्ड ने 'अज्ञात' की सज्ञा दी है।[6] उनके अनुसार 'अज्ञात' वह है जो हमारे ज्ञान की समस्त सीमाओ से पूर्णत बाहर है और जिसे हम तर्कबुद्धि द्वारा किसी भी अर्थ मे कभी नही जान सकते। हम किसी भी प्रकार से इस 'अज्ञात' का वर्णन नही कर सकते— यहाँ तक कि हम इसे 'ईश्वर' की सज्ञा भी नही दे सकते। इस प्रकार कीर्केगार्ड का मत कान्ट के मत की अपेक्षा अधिक आत्मसगतिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योकि कान्ट के विपरीत कीर्केगार्ड 'अज्ञात' को सभी दृष्टियो से पूर्णत अज्ञात और अज्ञेय ही मानते है। इस दृष्टि से उनके सिद्धात को कान्ट के सिद्धात का अधिक

6 कीर्केगार्ड द कन्क्लूडिंग अनसाइंटिफिक पोस्टस्क्रिप्ट, पृ० 495

विकसित रूप तथा आत्मसमर्पणयुक्त अनिवार्य तार्किक निष्कर्ष माना जा सकता है। कीर्केगार्ड का विचार है कि जो विषय हमारी तर्कबुद्धि की सीमित परिधि के अन्तर्गत नहीं आते वे ही हमारी धार्मिक आस्था के विषय हैं अतः आस्था का क्षेत्र तर्कबुद्धि के क्षेत्र से भिन्न है। असीम होने के कारण ईश्वर हमारी आस्था का ही विषय हो सकता है तर्कबुद्धि का नहीं, क्योंकि तर्कबुद्धि हमें सीमित सांसारिक वस्तुओं का ही ज्ञान प्रदान कर सकती है। तर्कबुद्धि में संबंधित विषयों के प्रति हमारी सैद्धान्तिक स्वीकृति ही पर्याप्त होती है उनके अनुरूप आचरण करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत आस्था के विषयों के प्रति हमारी पूर्ण वैयक्तिक प्रतिबद्धता का होना अनिवार्य है—अर्थात् इन विषयों में विद्यमान हमारी आस्था हमारे व्यक्तिगत आचरण को अनिवार्यतः प्रभावित करती है। इस संबंध में कीर्केगार्ड का मत कान्ट के मत से भिन्न नहीं है क्योंकि कान्ट भी धार्मिक विश्वासों को व्यावहारिक तर्कबुद्धि की आवश्यक मान्यताएँ बताकर इनके संबंध में केवल बौद्धिक स्वीकृति के स्थान पर हमारी पूर्ण प्रतिबद्धता का होना अनिवार्य मानते हैं। हम ईश्वर तथा अन्य धार्मिक विषयों में आस्था का अनुभव कैसे कर सकते हैं—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कीर्केगार्ड ने कहा है कि केवल ईश्वर की कृपा के फलस्वरूप ही हमें धार्मिक आस्था की प्राप्ति हो सकती है।

पास्कल, कान्ट तथा कीर्केगार्ड के अतिरिक्त एच०एल० मैंसेल, रूडॉल्फ ऑटो, कार्ल बार्थ, रूडोल्फ बल्टमान, पाल तिलिक आदि अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी धार्मिक विश्वासों के संबंध में किसी-न-किसी रूप में इसी विचारधारा का समर्थन किया है, किंतु यहाँ स्थानाभाव के कारण इन सभी दार्शनिकों के मत का उल्लेख करना संभव नहीं है। इस विचारधारा के प्रति इतने अधिक दार्शनिकों के व्यापक समर्थन को ध्यान में रखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि पाश्चात्य धर्मदर्शन में इसका विशेष महत्त्व है। यहाँ इस महत्त्वपूर्ण विचारधारा के कुछ प्रमुख गुणों तथा दोषों की ओर संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इसका प्रथम मुख्य गुण यह है कि धार्मिक आस्था को यह तर्कबुद्धि के कठोर बंधनों से मुक्त कर देती है जिसके फलस्वरूप यह आस्था दार्शनिकों के सैद्धान्तिक मतभेद द्वारा प्रभावित नहीं होती। हम देख चुके हैं कि इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार धार्मिक आस्था तर्कबुद्धि पर निर्भर नहीं है और न ही उसे तर्कबुद्धि के समर्थन की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्ति के लिए धार्मिक विश्वासों को स्वीकार करना निश्चय ही अधिक सुगम हो जाता है। इस विचारधारा का दूसरा प्रमुख लाभ यह है कि इसमें धर्म के व्यावहारिक पक्ष को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। इसके समर्थक धार्मिक विश्वासों को केवल बौद्धिक ज्ञान के विषय न मानकर मनुष्य के लिए उनके अनुसार आचरण करना भी आवश्यक मानते हैं। इन दार्शनिकों का मत है कि धार्मिक विश्वासों के प्रति मनुष्य की ऐसी दृढ़ निष्ठा तथा वैयक्तिक प्रतिबद्धता होनी चाहिए जो उसके संपूर्ण व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करे। परंतु इन गुणों के साथ-साथ उपर्युक्त विचारधारा में कुछ दोष अथवा कठिनाइयाँ भी हैं जिनका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। इस विचारधारा का प्रथम दोष यह है कि इसमें धार्मिक आस्था को तर्कबुद्धि से पूर्णतः पृथक कर दिया गया है जो न तो वाच्छनीय है और न संभव। आस्था के आधार पर विश्वासों को स्वीकार करने की निश्चय ही एक सीमा है हम आस्था के आधार पर ऐसे किसी विश्वास को स्वीकार नहीं कर सकते जो तर्कबुद्धि के विपरीत है। वस्तुतः ऐसा विश्वास 'अंधविश्वास' मात्र होने के कारण हमारी धार्मिक आस्था का विषय नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय यही है कि आस्था संबंधी धार्मिक विश्वासों के लिए भी कुछ सीमा तक तर्कबुद्धि का समर्थन प्राप्त करना अनिवार्य है। तर्कबुद्धि के समर्थन के बिना हम वाच्छनीय वास्तविक विश्वास तथा मूर्खतापूर्ण अंधविश्वास में भेद नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत विचारधारा

के समर्थकों की इस मान्यता को भी दार्शनिक युक्तियों द्वारा प्रमाणित करना आवश्यक है कि तर्कबुद्धि स्वयं अपनी सीमाओं को निर्धारित करके धार्मिक आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। उनकी यह मान्यता कि तर्कबुद्धि धार्मिक विश्वासों को प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं कर सकती ज्ञानमीमांसा संबंधी उनके सिद्धांत का ही परिणाम है और इस सिद्धांत को सभी दार्शनिक पूर्णतः स्वीकार नहीं करते। इस सिद्धांत को केवल इसीलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह धार्मिक विश्वासों को तर्कबुद्धि के प्रभाव से मुक्त कर देता है। फिर यदि यह मान भी लिया जाए कि धार्मिक आस्था संबंधी विषयों को तर्कबुद्धि द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित नहीं किया जा सकता तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन विषयों की सत्यता में विश्वास करना अनिवार्य है जैसा कि इस विचारधारा के समर्थक मानते हैं। क्या यह नहीं कहा जा सकता कि जिसे हमारी तर्कबुद्धि कभी प्रमाणित अथवा अप्रमाणित नहीं कर सकती उसका हमारे लिए अस्तित्व नहीं है और उसमें विश्वास करना अनुचित अथवा अवांछनीय है? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रस्तुत विचारधारा के समर्थकों ने इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। इस विचारधारा के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि तर्कबुद्धि द्वारा स्वयं अपनी सीमाओं को निर्धारित करने के जिस सिद्धांत पर यह आधारित है वह असंगत एवं स्वतोव्याघातपूर्ण है। इस सिद्धांत में विश्वास करने वाले दार्शनिक एक ओर तो यह कहते हैं कि सीमित होने के कारण हमारी तर्कबुद्धि ऐसी सत्ताओं को कभी नहीं जान सकती जो इसकी परिधि के अंतर्गत नहीं आती, परंतु दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि हम तर्कबुद्धि द्वारा यह जानते हैं कि ये सत्ताएँ हमारे लिए अज्ञात तथा अज्ञेय हैं। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि हमारी सीमित तर्कबुद्धि हमें यह कैसे बता सकती है कि उसकी परिधि के अंतर्गत न आने वाली कुछ अज्ञात एवं अज्ञेय सत्ताएँ भी हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रश्न को यों प्रस्तुत किया जा सकता है कि हम अपनी सीमित तर्कबुद्धि द्वारा अज्ञात एवं अज्ञेय सत्ताओं की संभावना को कैसे जान सकते हैं। पास्कल, कान्ट, कीर्केगार्ड आदि दार्शनिकों ने इस गंभीर समस्या का कोई संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं किया। ऐसी स्थिति में उनकी इस आधारभूत मान्यता को उचित एवं युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता कि हमारी तर्कबुद्धि स्वयं अपनी सीमाओं को निर्धारित करके धार्मिक आस्था के लिए अनिवार्यतः मार्ग प्रशस्त करती है। इस मान्यता में यह गंभीर स्वतोव्याघात निहित है कि हम ऐसी सत्ताओं में भी विश्वास कर सकते हैं—अथवा हमें ऐसी सत्ताओं में भी विश्वास करना चाहिए—जो हमारे लिए पूर्णतः अज्ञात और अज्ञेय हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्वतोव्याघातपूर्ण दुर्बल मान्यता धार्मिक आस्था के लिए वास्तव में कभी मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती।

4. मूल्यांकन

अभी तक हमने आस्था एवं तर्कबुद्धि के संबंध में जिन दो विचारधाराओं का विवेचन किया है उनमें से एक तर्कबुद्धि को आस्था की सेविका के रूप में स्वीकार करती है और दूसरी उसे आस्था के लिए मार्ग प्रशस्त करने का साधन मात्र मानती है। इस प्रकार ये दोनों विचारधाराएँ धार्मिक विश्वासों को स्वीकार करने की दृष्टि से मनुष्य के जीवन में तर्कबुद्धि को आस्था की अपेक्षा बहुत गौण स्थान देती हैं। परंतु हम देख चुके हैं कि इन दोनों विचारधाराओं में ऐसी अनेक गंभीर कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण इन्हें संतोषप्रद नहीं माना जा सकता। इन दोनों विचारधाराओं के समर्थक तर्कबुद्धि को पर्याप्त महत्त्व न देने के कारण इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते कि आस्था संबंधी धार्मिक विश्वास अंधविश्वासों से किस प्रकार भिन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में ये दार्शनिक तर्कबुद्धि से धार्मिक आस्था का संबंध विच्छेद करके उसे नितान्त

अबौद्धिक बना देते है। यह समझना कठिन नही है कि विज्ञान तथा तर्क को सर्वाधिक महत्त्व देने वाला आधुनिक मनुष्य ऐसी अबौद्धिक अथवा तर्करहित धार्मिक आस्था को स्वीकार नही कर सकता। उसके जीवन मे केवल ऐसी आस्था का स्थान हो सकता है जो तर्कबुद्धि द्वारा समर्थित तथा उसके अनुरूप हो—अर्थात् जो वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धांतो के विपरीत न हो। जीवन तथा जगत् के प्रति वास्तव मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाला कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति आज ऐसे धार्मिक विश्वासो का समर्थन नही कर सकता जो उसकी तर्कबुद्धि के विपरीत है और जिनकी उपादेयता उसकी तर्कबुद्धि द्वारा प्रमाणित नही होती। यदि किन्ही धार्मिक विश्वासो को स्वीकार करने के लिए तर्कबुद्धि और आस्था मे सघर्ष होता है तो हमे तर्कबुद्धि के निर्णय को ही उचित तथा अतिम मानना होगा, क्योकि हम केवल तर्कबुद्धि द्वारा ही निष्पक्ष रूप मे सत्य का अनुसधान कर सकते है। इस सबध मे महान अनुभववादी दार्शनिक लॉक ने ठीक ही कहा है कि जहाँ तर्कबुद्धि तथा श्रुति मे मतभेद प्रतीत होता है वहाँ तर्कबुद्धि ही अतिम निर्णायक शक्ति है और तर्कबुद्धि के लिए यह उचित ही है कि वह ऐसी श्रुति को प्रमाणित मानने से इन्कार कर दे जिसका उससे सघर्ष है अथवा जो उसके विपरीत है। "जो व्यक्ति श्रुति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए तर्कबुद्धि को अस्वीकार करता है वह दोनो के प्रकाश को समाप्त कर देता है"।[1] लाक का निश्चित मत है कि जो श्रुति अलौकिक अथवा तर्कबुद्धि के विपरीत है उसे सत्य और प्रामाणिक नही माना जा सकता। मेरे विचार मे वर्तमान युग के मनुष्य के लिए तर्कबुद्धि और आस्था के सबध मे इसी बौद्धिक दृष्टिकोण को स्वीकार करना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि किसी भी विश्वास की सत्यता और उपादेयता की ठीक-ठीक जाँच करने के लिए हमारे पास तर्कबुद्धि के अतिरिक्त अन्य कोई विश्वसनीय कसौटी नही है। यदि हम तर्कबुद्धि द्वारा निष्पक्ष तथा पर्याप्त जाँच किए बिना ही किसी विश्वास को स्वीकार कर लेते है तो ऐसे विश्वास को हम भ्रम अथवा निराधार मिथ्या कल्पना से पृथक नही कर सकते। ऐसे तर्करहित अथवा अबौद्धिक विश्वास के फलस्वरूप सभवत हम मिथ्या सतोष तो प्राप्त कर सकते है, किन्तु निश्चय ही वह हमारे जीवन का समुचित मार्गदर्शन नही कर सकता, अत ऐसे विश्वास का परित्याग कर देना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा।

कुछ दार्शनिको का विचार है कि ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता पुनर्जन्म की सभावना आदि से सबधित धार्मिक विश्वास ऐसे है कि तर्कबुद्धि द्वारा समर्थित न होते हुए भी वे हमारे जीवन के लिए हितकर है, अत केवल अबौद्धिक होने के कारण हमे इन विश्वासो को अस्वीकार नही करना चाहिए। पास्कल, विलियम जेम्स, फिट्ज जेम्ज स्टीफन आदि दार्शनिको ने इसी मत का समर्थन किया है। हम देख चुके है कि पास्कल धार्मिक विश्वासो को केवल इसीलिए स्वीकार करना आवश्यक मानते है कि उनके विचार मे ये विश्वास अतत मनुष्य के लिए अत्यधिक श्रेयस्कर सिद्ध हो सकते है। वे स्पष्ट कहते है कि तर्करहित होते हुए भी इन विश्वासो को हमे अतत अपने कल्याण के लिए स्वीकार करने का दॉव अवश्य लगाना चाहिए। अपने प्रसिद्ध भाषण 'दि विल टु बिलीव' मे विलियम जेम्ज ने भी धार्मिक विश्वासो के सबध मे मूलत इसी मत का समर्थन किया है। वे यह स्वीकार करते है कि हम तर्कबुद्धि द्वारा इन विश्वासो की सत्यता को प्रमाणित नही कर सकते, किन्तु फिर भी उनके विचार मे हमारे लिए इन्हे छोडना न तो सभव है और न वाच्छनीय। ये विश्वास हमारे जीवन के लिए इतने अधिक महत्त्वपूर्ण है कि तर्कबुद्धि द्वारा समर्थित न होते हुए भी इन्हे स्वीकार करने तथा इनके अनुसार आचरण करने का खतरा उठाने मे हमे सकोच नही करना चाहिए। जेम्ज का निश्चित मत है कि इन धार्मिक विश्वासो का परित्याग कर देने मे भी हमारे

---

1. जान लॉक एन एस्से ह्यूमन अडरस्टैंडिंग बुक 4 अध्याय 9 खड 4

लिए उतना ही खतरा है जितना इन्हे स्वीकार करने मे है, अतः इन्हे स्वीकार कर लेना ही हमारे लिए अधिक हितकर है। धर्म के विषय मे अपने इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "सर्वप्रथम धर्म हमारे जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विकल्प है। इसमे विश्वास करने से हमे महान शुभ की प्राप्ति हो सकती है जिसे हम इसमे अविश्वास करने से खो देगे। दूसरी बात यह है कि इस महान शुभ की प्राप्ति की दृष्टि से धर्म हमारे लिए अनिवार्य विकल्प है। हम अधिक प्रबल प्रमाण प्राप्त होने तक इसके विषय मे सशयवाद को स्वीकार करके इससे बच नही सकते, क्योकि ऐसा करके यद्यपि हम इसके असत्य होने की स्थिति मे एक भूल से बच जाएँगे, किंतु इसके सत्य होने की स्थिति मे हम महान शुभ की प्राप्ति से वचित रह जाएँगे। . धर्म के लिए पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होने तक हमारे कर्तव्य के रूप मे सशयवाद का प्रचार करना हमे यह बताने के समान ही है कि हमारे लिए इसके सत्य होने की आशा की अपेक्षा इसके असत्य होने के भय की ओर ध्यान देना अधिक उत्कृष्ट तथा युक्तिसगत है"।[8] इस प्रकार जेम्ज के विचार मे तर्कबुद्धि द्वारा धार्मिक विश्वासो की पुष्टि की चिता किए बिना हमे स्वय अपने हित के लिए इन विश्वासो को स्वीकार करने का खतरा अवश्य उठाना चाहिए। धार्मिक विश्वासो को स्वीकार करने के सबध मे इसी मत का समर्थन करते हुए फिट्ज-जेम्ज स्टीफन ने भी कहा है कि "जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण विषयो मे हमे अधकार मे ही कूदना पडता है। यदि हम जीवन की पहेलियो को अनुत्तरित छोड देते है तो यह एक विकल्प है, यदि हम इनका उत्तर देने मे सकोच करते हैं अथवा इनका उत्तर स्थगित कर देते हैं तो यह भी एक विकल्प ही है, हम चाहे कोई भी विकल्प स्वीकार करें, उसके लिए हम खतरा अवश्य उठाते हैं। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करने का निर्णय करता है तो उसे कोई नही रोक सकता, कोई भी यह निश्चित रूप से प्रमाणित नही कर सकता कि वह भूल कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करता है और अपने इस विश्वास के अनुसार आचरण करता है तो मैं नहीं समझता कि उसे कोई गलत प्रमाणित कर सकता है"।[9] स्पष्ट है कि स्टीफन धार्मिक विश्वासों को मनुष्य की तर्कबुद्धि पर आधारित न मानकर उसकी भावनाओ अथवा इच्छाओ पर ही आधारित मानते है। विलियम जेम्ज की भाँति उनका भी यही विचार है कि स्वयं अपने कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए हमे इन विश्वासो को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार ये सभी दार्शनिक हमारे धार्मिक विश्वासो को तर्कबुद्धि द्वारा समर्थित न मानते हुए भी मानव-जीवन के लिए अत्यधिक उपादेय मानते है और इसी आधार पर उन्हे स्वीकार करना तथा उनके अनुसार आचरण करना आवश्यक समझते है।

परंतु धार्मिक विश्वासो के सबध मे उपर्युक्त दृष्टिकोण उचित तथा सतोषप्रद प्रतीत नही होता। पास्कल तथा विलियम जेम्ज के इस मत का समर्थन करना बहुत कठिन है कि धार्मिक विश्वास हमारे लिए श्रेयस्कर हैं और इसी कारण हमे इन विश्वासो को स्वीकार करने का खतरा अवश्य उठाना चाहिए। ये दोनो दार्शनिक स्वय इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि धार्मिक विश्वास बौद्धिक अथवा तर्कसगत नही होते क्योकि उन्हे तर्कबुद्धि द्वारा सत्य प्रमाणित नही किया जा सकता। इसी कारण इन विश्वासो को मनुष्य के लिए उपादेय मानकर ही ये दार्शनिक इन्हे स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। परतु वर्तमान वैज्ञानिक युग मे ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म सबधी धार्मिक विश्वासो की वास्तव मे कोई उपादेयता दृष्टिगोचर नही होती। हाँ, इन विश्वासो को स्वीकार करने मे मनुष्य को कुछ मिथ्या सात्वना अवश्य प्राप्त हो सकती है, किंतु ऐसी सान्त्वना

8 विलियम जेम्ज 'दि विल टु बिलीव', बी ए ब्रोडी द्वारा सपादित 'रीडिंग्ज इन दि फिलॉसॉफी ऑफ रिलीजन' मे सकलित, पृ० 261

9 फिट्ज जेम्ज स्टीफन 'लिबर्टी इक्वैलिटी फ्रटर्निटी' पृ 353

उसके लिए श्रेयस्कर नही हो सकती, क्योकि यह उसे जीवन के कठोर यथार्थ से हटाकर केवल भ्रामक मृगमरीचिका की ओर ले जाती है। फिर यदि यह मान भी लिया जाए कि धार्मिक विश्वास मनुष्य के लिए उपादेय हैं तो भी केवल उपादेयता के आधार पर इन्हे सत्य नही माना जा सकता। यह आवश्यक नही है कि जो कुछ हमारे लिए उपादेय है वह यथार्थ अथवा सत्य भी हो। हम मृत्यु के पश्चात स्वर्ग-प्राप्ति की कल्पना से आश्वस्त हो सकते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ यह नही है कि स्वर्ग का वास्तव मे अस्तित्व है। यही बात ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि से सबधित अन्य धार्मिक विश्वासो के विषय मे भी कही जा सकती है। इस प्रकार धार्मिक विश्वासो की तथाकथित उपादेयता उन्हे हमारे लिए सत्य प्रमाणित नही कर सकती।

गत तीन या चार शताब्दियो में भौतिकी, जीवविज्ञान, शरीर-रचनाशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि मे जो महान क्रातिकारी अनुसधान हुए हैं उन्हे ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में परपरागत धार्मिक विश्वासो के लिए कोई विश्वसनीय तथा युक्तिसगत आधार नही है। यदि कोई विश्वास हमारी तर्कबुद्धि का समर्थन प्राप्त नही कर सकता तो उसे आस्था अथवा किसी अन्य अबौद्धिक आधार पर स्वीकार करना उचित प्रतीत नही होता। क्लिफोर्ड के शब्दो मे, "अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर किसी व्यक्ति के लिए किसी भी वस्तु मे विश्वास करना सदैव और सर्वत्र अनुचित है। यदि कोई व्यक्ति बाल्यकाल मे सीखे हुए अथवा बाद से स्वीकार किए हुए विश्वास के सबध मे अपने मन मे उठने वाले सशय को बलपूर्वक दबा देता है उन पुस्तको को पढने तथा उन व्यक्तियो के साथ रहने से जानबूझ कर इन्कार करता है जो इस विश्वास पर आपत्ति करते हैं अथवा इसके संबध मे विचार-विनिमय करते हैं, और जो ऐसे प्रश्नो को उठाना अपवित्र अथवा अनुचित समझता है जिन्हे इस विश्वास को आघात पहुँचाए बिना नही उठाया जा सकता उस व्यक्ति का जीवन मानव-जाति के विरुद्ध एक बहुत बडा पाप या अपराध है।[10]

10 डब्ल्यू के क्लिफोर्ड 'रीडिंग्स इन दि फिलॉसॉफी ऑफ रिलीजन' पृ 246

27

मीमांसा दर्शन में निरीश्वरवाद

1. निरीश्वरवाद का अर्थ

भारतीय दर्शन पर विचार करने वाले अधिकतर विद्वान प्राय यह दावा करते रहे हैं कि अध्यात्मवाद भारत के सम्पूर्ण दर्शन की मूल विशेषता है। यद्यपि ये विद्वान 'अध्यात्मवाद' की कोई निश्चित एवं सकारात्मक परिभाषा नही दे सके, फिर भी वे इतना अवश्य कहते हैं कि ईश्वर विषयक विश्वास अध्यात्मवाद का आवश्यक तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इन विद्वानो मे डॉ सर्वपल्ली राधा कृष्णन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिन्होने 'इडियन फिलॉसॉफी' 'आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ', 'हिंदू व्यू ऑफ लाइफ' आदि अपनी प्रसिद्ध कृतियो मे यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि भारतीय दर्शन मूलत अध्यात्मवादी दर्शन है और मानव-जीवन के महान तथ्य के रूप मे ईश्वर सबधी विश्वास उसके इस अध्यात्मवाद मे समाविष्ट है। परन्तु इस अर्थ मे भारतीय दर्शन को अध्यात्मवादी मानने के दावे की सत्यता अत्यत सदिग्ध तथा विवादास्पद है। इसका कारण यह है कि भारत के अधिकतर दर्शन ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास नही करते। नौ भारतीय दर्शनो मे से परवर्ती न्याय, वैशेषिक, वेदात के कुछ सप्रदाय तथा योग दर्शन ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। शेष सभी दर्शन — अर्थात् चार्वाक, बौद्ध, जैन, साख्य तथा मीमासा — ईश्वर विषयक विश्वास का खडन करते हैं। इसी कारण इन सभी भारतीय दर्शनो को 'निरीश्वरवादी दर्शन' माना जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि ईश्वर सबधी विश्वास को अध्यात्मवाद का अनिवार्य तत्त्व माना जाए तो निश्चय ही भारतीय दर्शन को 'अध्यात्मवादी दर्शन' कहना युक्तिसगत प्रतीत नही होता। परन्तु यदि अध्यात्मवादी होने का अर्थ अतीद्रिय या अतिप्राकृतिक सत्ताओ मे विश्वास करना है तो अवश्य ही भारतीय दर्शन को 'अध्यात्मवादी दर्शन' कहा जा सकता है, क्योकि चार्वाक को छोडकर अन्य सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी प्रकार की अतिप्राकृतिक सत्ता अथवा सत्ताओ मे विश्वास करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हम यह कह सकते हैं कि ये सभी भारतीय दर्शन ईश्वरवादी न होते हुए भी अध्यात्मवादी हैं। स्पष्टत इसका अर्थ यह है कि भारतीय दर्शन मे निरीश्वरवाद और अध्यात्मवाद दोनो एक ही साथ पाए जाते हैं, अत यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वरवाद अध्यात्मवाद का अनिवार्य तत्त्व नही है।

वस्तुत ईश्वरवाद के स्थान पर निरीश्वरवाद को ही भारतीय दर्शन की प्रमुख विचारधारा माना जा सकता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अधिकतर भारतीय दर्शन ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही करते — अर्थात् वे यह नही मानते कि ऐसे ईश्वर का अस्तित्व है जो असीमित शक्ति, ज्ञान, शुभत्व, प्रेम, दया, नित्यता आदि गुणो से परिपूर्ण है और जो इस जगत् का रचयिता पालनकर्ता, सचालक तथा सहारक है। इसी अर्थ मे इन भारतीय दर्शनो को निरीश्वरवादी दर्शन कहा जाता है। इस प्रकार निरीश्वरवाद का अर्थ है ईश्वर विषयक उपर्युक्त अवधारणा का निषेध

अथवा खंडन। जो भारतीय दर्शन इस निरीश्वरवाद का समर्थन करते हैं उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत सभी तर्कों का अपने-अपने ढंग से खंडन किया है। यद्यपि इन निरीश्वरवादी दर्शनों में तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा संबंधी समस्याओं के विषय में परस्पर तीव्र मतभेद है, फिर भी ये सभी दर्शन ईश्वरवाद का समान रूप से दृढ़तापूर्वक खंडन करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य दार्शनिक समस्याओं के संबंध में परस्पर विरोधी विचारधाराओं को स्वीकार करने वाले दर्शन भी निरीश्वरवाद का पूर्णतः समर्थन करते हैं। प्रत्ययवाद में विश्वास करने वाले बौद्ध दर्शन के महायान संबंधी विज्ञानवाद तथा यथार्थवाद के दृढ़ समर्थक मीमांसा दर्शन इस तथ्य के स्पष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार पूर्णतः भौतिकवादी चार्वाक दर्शन और आत्मा की सत्ता एवं अमरता में विश्वास करने वाले सांख्य तथा मीमांसा दर्शन समान रूप से निरीश्वरवाद का समर्थन करते हैं। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय निरीश्वरवाद किसी विशेष दार्शनिक विचारधारा पर आधारित नहीं है अतः उसका स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया जा सकता है।

निरीश्वरवादी भारतीय दर्शन ईश्वरवाद का जो खंडन करते हैं उसके मुख्य आधार हैं तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा जिन्हें ध्यान में रखते हुए इन दर्शनों ने ईश्वर के संबंध में निम्नलिखित प्रश्न उठाए हैं — (1) क्या ईश्वर की सत्ता को ज्ञान के किसी वैध प्रमाण द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है? (2) क्या जगत् की उत्पत्ति और उसके विकास के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है? (3) क्या मनुष्यों को उनके शुभ-अशुभ कर्मों का समुचित फल प्रदान करने के लिए कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर की सत्ता को मानना आवश्यक है? सभी भारतीय निरीश्वरवादी दर्शनों ने इन तीनों मूल प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित समस्या पर विचार किया है और इन तीनों प्रश्नों का स्पष्ट तथा निश्चित रूप से नकारात्मक उत्तर दिया है। इस दृष्टि से इन निरीश्वरवादी दर्शनों में पूर्ण सहमति और समानता है। वे ईश्वर की सत्ता के विषय में केवल उदासीन रहना ही पर्याप्त नहीं समझते, अपितु उसके अस्तित्व के समर्थन में ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों का खंडन करते हैं और इसके साथ ही ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध स्वयं अपने प्रभावशाली तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार ईश्वरवाद का निषेध इन निरीश्वरवादी दर्शनों की एक ऐसी विशेषता है जो इन सभी दर्शनों में ईश्वरवाद की समस्या के संबंध में पूर्ण मतैक्य उत्पन्न करती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन में निरीश्वरवादी होने का अर्थ अनिवार्यतः नास्तिक होना नहीं है। कोई दर्शन निरीश्वरवादी होते हुए भी आस्तिक हो सकता है। सांख्य तथा मीमांसा दर्शन इस बात के स्पष्ट उदाहरण हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन में 'आस्तिक' और 'नास्तिक' इन शब्दों का वह अर्थ नहीं है जो सामान्य भाषा में समझा जाता है। सामान्यतः ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने वाले व्यक्ति को 'आस्तिक' और उसके अस्तित्व में विश्वास न करने वाले व्यक्ति को 'नास्तिक' कहा जाता है। परंतु भारतीय दर्शन में इन दोनों शब्दों का ईश्वर विषयक विश्वास के साथ कोई संबंध नहीं है। प्राचीन काल से भारतीय विद्वान 'आस्तिक' तथा 'नास्तिक' इन दोनों शब्दों का विशेष अर्थ स्वीकार करते रहे हैं। इस विशेष अर्थ के अनुसार 'आस्तिक' वह है जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करता है और 'नास्तिक' वह है जो उनकी प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करता। इस दृष्टि से चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक तथा अन्य सभी भारतीय दर्शनों को आस्तिक माना जाता है। इस प्रकार किसी दर्शन के आस्तिक अथवा नास्तिक होने का निर्णय उसके द्वारा वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार या अस्वीकार करने के आधार पर ही किया जाता है। परंतु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं 'ईश्वरवाद' और [illegible] का अर्थ इससे

पूर्णत भिन्न है, क्योकि इन दोनो शब्दो का सबध केवल ईश्वर विषयक विश्वास से है जो दर्शन ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करते है उन्हे 'ईश्वरवादी' और जो दर्शन उसकी सत्ता मे विश्वास नही करते उन्हे 'निरीश्वरवादी' कहा जाता है। इस दृष्टि से साख्य और मीमासा आस्तिक होते हुए भी निरीश्वरवादी हैं क्योंकि ये दोनो दर्शन वेदो की प्रामाणिकता मे तो विश्वास करते है किंतु ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन नास्तिक भी हैं और निरीश्वरवादी भी, क्योकि ये तीनो दर्शन न तो वेदो की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं और न ईश्वर की सत्ता को। इन दर्शनो के विपरीत वेदो की प्रामाणिकता एव ईश्वर की सत्ता दोनो को स्वीकार करने के कारण न्याय, वैशेषिक, योग तथा वेदान्त आस्तिक भी है और ईश्वरवादी भी। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन मे 'आस्तिक' तथा 'नास्तिक' और 'ईश्वरवादी' एव 'निरीश्वरवादी' इन शब्दो का प्रयोग पूर्णत भिन्न-भिन्न अर्थो मे किया जाता है। प्रस्तुत लेख मे इन शब्दो का प्रयोग इसी विशेष पारिभाषिक अर्थ मे किया जा रहा है।

2 ईश्वरवाद का खंडन

पिछले खड मे हम बता चुके है कि चार्वाक, जैन, बौद्ध तथा साख्य के साथ-साथ मीमासा दर्शन भी निरीश्वरवाद का पूर्णत समर्थन करता है। ये सभी दर्शन उन तर्को अथवा युक्तियो का खडन करते है जो भारतीय ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता के समर्थन मे प्रस्तुत करते रहे है। इन निरीश्वरवादी दर्शनो का निश्चित मत है कि जगत् के रचयिता, पालनकर्ता, कर्माध्यक्ष तथा सहारक के रूप मे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्य, पूर्णत शुभ एव अत्यत दयालु ईश्वर के अस्तित्व को तर्कसगत रूप से प्रमाणित करना सभव नहीं है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए इन दर्शनो ने ईश्वरवादियो की युक्तियो का खडन करने के अतिरिक्त ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध स्वय अपने तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार अन्य दार्शनिक समस्याओं के विषय मे परस्पर सहमत न होते हुए भी ये सभी निरीश्वरवादी दर्शन ईश्वरवाद का समान रूप से दृढतापूर्वक खडन करते है। प्रस्तुत लेख मे हम ईश्वरवाद के विरुद्ध केवल मीमासा — जिसे 'पूर्वमीमासा' भी कहा जाता है — के तर्को की ही विवेचना करेंगे। ईश्वरवाद का खडन करने के लिए मीमासा ने जो तर्क दिए हैं उनमे से अधिकतर लगभग वे ही है जो बौद्ध दर्शन तथा जैन दर्शन द्वारा ईश्वरवाद के विरुद्ध प्रस्तुत किए जा चुके थे। परन्तु निरीश्वरवाद के सबध मे इन दोनो दर्शनो मे पूर्णत सहमत होते हुए भी आस्तिक दर्शन होने के कारण मीमासा उन सभी तर्को का खडन करता है जो ये नास्तिक दर्शन वेदो की प्रामाणिकता के विरुद्ध प्रस्तुत करते है। इस दृष्टि से मीमासा चार्वाक के साथ-साथ जैन और बौद्ध दर्शनो का भी घोर विरोधी है। वस्तुत मीमासा दर्शन का मूल उद्देश्य ही वैदिक धर्म तथा कर्मकाड का तर्कपूर्ण समर्थन करना है, अत इस दर्शन के आचार्यो ने वेदो मे प्रतिपादित सिद्धातो एव यज्ञ आदि कर्मो की व्याख्या करते हुए उनके औचित्य और मनुष्य के लिए उनकी उपादेयता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। शाब्दिक दृष्टि से 'मीमासा' का अर्थ है तर्कपूर्ण व्याख्या अथवा विवेचना, इसी कारण जो दर्शन वैदिक सिद्धातो, धर्म एव कर्मकाड की युक्तिसगत व्याख्या करता है उसे 'मीमासा' की सज्ञा दी गई है।

ईश्वरवाद के विरुद्ध मीमासा के तर्को पर विचार करने से पूर्व यहाँ एक भ्राति का निराकरण कर देना आवश्यक है जो इस दर्शन को कुछ विद्वानों द्वारा ईश्वरवादी दर्शन मानने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। हम देख चुके हैं कि मीमांसा वैदिक सिद्धातो, धर्म तथा कर्मकाड का प्रबल समर्थक है। इसी कारण कुछ विचारको ने यह तर्क दिया है कि जो दर्शन वेदो मे इतनी गहन श्रद्धा रखता है

वह ईश्वरवाद का विरोधी नही हो सकता, क्योंकि ईश्वर की अवधारणा वेदों में पाई जाती है। इन विचारकों मे सुविख्यात विद्वान मैक्समूलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने इस मत का खंडन करने का प्रयास किया है कि मीमांसा निरीश्वरवादी दर्शन है। उनके मतानुसार ईश्वरवाद के विषय मे मीमांसा के दृष्टिकोण को समझने मे भूल की गई है। वे स्पष्ट रूप से यह कहते है "कि मीमांसा के विरुद्ध निरीश्वरवाद का आरोप बहुत विचित्र प्रतीत होता है, क्योंकि यह दर्शन वेदो का सम्मान करता है, उनमे विद्यमान ज्ञान को श्रुतिमूलक ज्ञान के रूप मे ग्रहण करता है और समस्त वैदिक आदेशो का विधिवत पालन करना मनुष्य का अनिवार्य कर्तव्य मानता है। फिर भी प्राचीन काल तथा आधुनिक काल मे मीमांसा के विरुद्ध यह आरोप लगाया गया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस संबंध मे कुछ भूल हुई है। जैमिनी संसार मे विद्यमान अन्याय के लिए ईश्वर को उत्तरदायी नही मानना चाहते थे, अत उन्होंने समस्त सांसारिक घटनाओं की व्याख्या कारण-कार्य के सिद्धान्त के आधार पर ही की है और मनुष्यों मे पाई जाने वाली असमानता को स्वयं उन्ही के शुभ-अशुभ कर्मो का अनिवार्य परिणाम माना है। यह निश्चय ही निरीश्वरवाद न होकर ईश्वर को निर्दयता एवं पक्षपात के उन आरोपो से बचाने का प्रयास है जो प्राय उसके विरुद्ध लगाए जाते रहे है। यदि मीमांसकों को निरीश्वरवादी कहा जाता है तो इसका अर्थ केवल यही है कि वे अपने ढंग से ईश्वर के कार्यों को उचित एवं युक्तिसंगत सिद्ध कर रहे है।[1] मैक्समूलर के उपर्युक्त विचारो से यह स्पष्ट है कि वे मीमांसा को वास्तव में ईश्वरवादी दर्शन ही मानते है। उनके इस मत से प्रभावित होकर डॉ राधाकृष्णन भी यह कहते है कि परवर्ती मीमांसकों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। उन्ही के शब्दो मे "पूर्वमीमांसा की कमी इतनी असंतोषप्रद थी कि परवर्ती लेखकों ने ईश्वर को धीरे-धीरे चुपचाप मान लिया"।[2] इस प्रकार मैक्समूलर की भांति डॉ राधाकृष्णन का भी यही मत है कि परवर्ती मीमांसक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है। परन्तु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, मीमांसा के संबंध मे इन विद्वानो की यह मान्यता उचित और तर्कसंगत प्रतीत नही होती। लगभग सभी प्रमुख मीमांसको ने ईश्वरवादियो की युक्तियो का खंडन किया है और ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध अनेक प्रबल तर्क भी प्रस्तुत किए है।

मीमांसा दर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनी ने इस दर्शन के मूल ग्रंथ 'मीमांसा-सूत्र' मे कही भी ईश्वर का उल्लेख नही किया है। जैमिनी के इस ग्रंथ पर विस्तृत भाष्य के रचयिता शबरस्वामी ने भी इस आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया है कि उसे प्रमाणित करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। ईश्वर की सत्ता मे विश्वास न करने के कारण इन दोनो दार्शनिकों ने उसके संबंध में विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक नही समझा। परन्तु परवर्ती मीमांसकों — विशेषत प्रभाकर तथा कुमारिल — ने ईश्वर के अस्तित्व से संबंधित समस्या की विस्तृत विवेचना की है। यद्यपि इन दोनों विचारको मे अन्य दार्शनिक समस्याओं के विषय मे पर्याप्त मतभेद है, फिर भी ईश्वरवाद का खंडन करने के संबंध में वे परस्पर पूर्णत सहमत है। प्रभाकर और कुमारिल ने अपने तर्कों द्वारा उन सभी युक्तियो का खंडन करने का प्रयास किया है जो ईश्वरवादियो ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन मे प्रस्तुत की है। इन युक्तियो का मुख्य उद्देश्य जगत् के रचयिता और कर्माध्यक्ष के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना है। कुमारिल प्रभाकर तथा अन्य मीमांसको ने अनेक तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इन दोनो रूपों मे ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नही किया जा सकता। यहाँ हम ईश्वरवाद के विरुद्ध मुख्यत प्रभाकर तथा कुमारिल द्वारा प्रस्तुत तर्कों पर विचार करेंगे।

---

1 प्रोफ मैक्समूलर 'क्लैक्टिड' वर्क्स, खंड 19, पृ 210

2 सर्वपल्ली राधाकृष्णन इंडियन फिलॉसॉफी खंड 2 पृ 4

नैयायिकों — विशेषत परवर्ती नैयायिकों — को ईश्वरवाद के प्रबल समर्थक माना जाता है। उदाहरणार्थ, उदयन ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कुसुमांजलि' में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। परंतु अन्य ईश्वरवादियों की भाँति नैयायिक भी यह स्वीकार करते हैं कि लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसी कारण उन्होंने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में जो युक्तियाँ दी हैं वे मुख्यत 'अनुमान' नामक प्रमाण पर ही आधारित हैं। इन युक्तियों में सृष्टिमूलक युक्ति अथवा कारणमूलक युक्ति प्रमुख है जिसके अनुसार ईश्वर ही जगत् का रचयिता या आदिकारण है। नैयायिकों का विचार है कि इस जगत् की उत्पत्ति का कोई कारण अवश्य होना चाहिए और यह कारण सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। हम अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि इस जगत् में घर, वस्त्र, घट आदि जितनी वस्तुएँ हैं उनका कोई बुद्धिमान रचयिता अवश्य है। अपने इसी सामान्य अनुभव के आधार पर नैयायिक यह कहते हैं कि इस जगत् का भी कोई रचयिता अथवा कारण अवश्य है और वह ईश्वर ही है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उनके मतानुसार ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं, क्योंकि जिन परमाणुओं तथा अन्य द्रव्यों से जगत् का निर्माण हुआ है वे ईश्वर द्वारा रचित न होकर शाश्वत अथवा नित्य हैं। इस प्रकार नैयायिक जगत् में पाई जाने वाली वस्तुओं से सर्वाधिक मानवीय अनुभव के आधार पर उसके निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परंतु प्रभाकर, कुमारिल आदि मीमांसकों ने उनकी इस युक्ति को पूर्णत अस्वीकार किया है, क्योंकि उनके मतानुसार ईश्वर को जगत् का रचयिता मानने में अनेक गंभीर दार्शनिक असंगतियाँ तथा कठिनाइयाँ हैं जिनका तर्कसंगत समाधान संभव नहीं है। इन कठिनाइयों और असंगतियों को ध्यान में रखते हुए जगत् के रचयिता के रूप में ईश्वर के विरुद्ध मीमांसकों ने निम्नलिखित मुख्य तर्क प्रस्तुत किए हैं :—

(1) हम अपने सामान्य अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि किसी वस्तु की रचना करने के लिए रचयिता का शरीरवान होना तथा उसमें रचना की इच्छा और उसके लिए प्रयास अनिवार्य हैं। अब यदि ईश्वर को शरीरवान माना जाए तो उसका भी कोई रचयिता स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि ईश्वर स्वयं अपने शरीर की रचना नहीं कर सकता। फिर यदि यह माना जाए कि ईश्वर का कोई रचयिता है तो इस रचयिता का भी कोई अन्य रचयिता मानना पड़ेगा और इस श्रृंखला का कभी अंत नहीं होगा जिसके फलस्वरूप अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इसके अतिरिक्त ईश्वर को शरीरवान मानने का अर्थ होगा अन्य शरीरवान प्राणियों की भाँति उसे भी नश्वर तथा सीमित प्राणी मानना। यही कारण है कि नैयायिक और अन्य ईश्वरवादी विचारक ईश्वर को अशरीरी अथवा शरीररहित ही मानते हैं। परंतु यहाँ कठिनाई यह है कि शरीररहित ईश्वर में विश्व-रचना की इच्छा तथा उसके लिए प्रयास का होना संभव नहीं है। इस प्रकार ईश्वर को चाहे शरीरवान माना जाए अथवा शरीररहित, दोनों विकल्पों को स्वीकार करने में अनेक गंभीर समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जिनका युक्तिसंगत समाधान असंभव है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, नैयायिकों तथा अन्य ईश्वरवादियों ने मीमांसकों द्वारा वर्णित इस कठिनाई का कोई संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं किया है, अत जगत् के रचयिता के रूप में ईश्वर की अवधारणा के विरुद्ध मीमांसकों का उपर्युक्त तर्क उचित ही प्रतीत होता है।

(2) नैयायिकों को छोड़कर अन्य अधिकतर ईश्वरवादी यह मानते हैं कि विश्व-रचना से पूर्व ईश्वर के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं था। इसका अर्थ यह है कि तब भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ दिक् और काल का भी अस्तित्व नहीं था। ईश्वरवादियों की इस मान्यता के

सबध में कुमारिल और अन्य मीमासकों ने यह प्रश्न उठाया है कि ऐसी स्थिति में विश्व-रचना से पूर्व ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना कैसे की जा सकती है। यदि विश्व-रचना से पूर्व भौतिक पदार्थ तथा दिक् और काल नही थे तो ऐसी स्थिति मे ईश्वर का अस्तित्व कैसे सभव हो सकता है? ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनो ही मानने वाले ईश्वरवादी कुमारिल द्वारा उठाए गए इस प्रश्न का कोई युक्तिसगत उत्तर नही दे पाते। उपर्युक्त प्रश्न उठाने के साथ-साथ कुमारिल ने यह तर्क भी दिया है कि ईश्वर को जगत् का रचयिता मानने के लिए किसी के द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया जाना आवश्यक है, किंतु ऐसा होना सभव नही है, क्योंकि विश्व-रचना के पश्चात् जो प्राणी उत्पन्न हुए वे यह नही जान सकते कि उन्हे किसने उत्पन्न किया है। ऐसी स्थिति मे हमारे पास ईश्वर को विश्व का रचयिता मानने का कोई तर्कसगत आधार नही रह जाता। प्रभाकर तथा कुमारिल ने ईश्वर को जगत् का रचयिता मानने के विरुद्ध यह तर्क भी प्रस्तुत किया है कि जगत् की समस्त वस्तुएँ प्राकृतिक कारणो के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती हैं, अत उनकी उत्पत्ति के लिए ईश्वर जैसी किसी अतिप्राकृतिक कल्पित सत्ता को स्वीकार करने का कोई युक्तिसगत कारण नही है।

(3) साख्य तथा जैन दर्शन की भाँति मीमांसकों ने भी यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि किस अभिप्रेरणा से प्रेरित होकर ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि किसी वस्तु की रचना करना विवेकशील प्राणी का ऐसा ऐच्छिक कर्म है जिसके मूल मे रचयिता की कोई निश्चित अभिप्रेरणा होती है। ईश्वरवादियो का यह दावा है कि सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर अत्यत बुद्धिमान है। इसका अर्थ यह है कि यदि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है तो उसने निश्चय ही किसी विशेष अभिप्रेरणा से प्रेरित होकर इसकी रचना की होगी। इसी कारण कुमारिल ने यह प्रश्न उठाया है कि वह कौन-सी अभिप्रेरणा थी जिससे प्रेरित होकर ईश्वर ने इस जगत् की रचना की। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ ईश्वरवादियो का कथन है कि प्राणियों के प्रति दया अथवा करुणा से प्रेरित होकर ही ईश्वर ने इस जगत् की रचना की है। परन्तु कुमारिल के मतानुसार ईश्वरवादियो का यह उत्तर अयुक्तिसगत है क्योंकि विश्व-रचना से पूर्व प्राणियो का अस्तित्व ही नही था जिनके प्रति ईश्वर दया अथवा करुणा प्रदर्शित कर सकता। ऐसी स्थिति मे प्राणियो के प्रति दया विश्व-रचना के लिए ईश्वर की अभिप्रेरणा नही हो सकती।

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त ईश्वर की इस अभिप्रेरणा के विरुद्ध कुमारिल ने यह तर्क भी दिया है कि यदि ईश्वर ने वास्तव मे प्राणियों के प्रति दया से प्रेरित होकर ही इस विश्व की रचना की होती तो सभी प्राणियों का जीवन सदैव सुख एव सतोष से परिपूर्ण बना रहता और विश्व में इतना अधिक दु ख तथा सताप न होता। परंतु सभी प्राणी प्राय शारीरिक तथा मानसिक पीडा का अनुभव करते रहते हैं जिससे यही प्रमाणित होता है कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना प्राणियो के प्रति दया से प्रेरित होकर नही की। कुमारिल की इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कुछ ईश्वरवादियो ने यह कहा है कि विश्व-रचना के लिए पीडा या दु.ख की कुछ मात्रा अनिवार्य थी। परन्तु कुमारिल ईश्वरवादियो के इस तर्क को यह कहकर अस्वीकार करते हैं कि सर्वशक्तिमान माने जाने वाले ईश्वर के लिए कुछ भी अनिवार्य नही हो सकता। यदि विश्व-रचना के लिए दु ख को अनिवार्य मान लिया जाए तो उसके रचयिता ईश्वर को सर्वशक्तिमान नही कहा जा सकता। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना प्रासंगिक होगा कि विश्व मे विद्यमान दु ख के सबध मे मीमांसको तथा ईश्वरवादियो के उपर्युक्त वाद-विवाद से ईश्वरवाद की उस गभीर समस्या का पूर्वाभास प्राप्त होता है जिसे पाश्चात्य धर्म-दर्शन मे 'अशुभ की समस्या' कहा जाता है। कुमारिल का यह तर्क निश्चय ही उचित है कि यदि

कोई नियम ईश्वर की रचना-प्रक्रिया को सीमित करता है तो उसे सर्वशक्तिमान नही माना जा सकता और यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा अत्यंत दयालु दोनो ही है तो विश्व मे दुख के रूप मे विद्यमान अशुभ की कोई तर्कसंगत एव सतोषप्रद व्याख्या नही की जा सकती। वस्तुत अशुभ की यह समस्या ईश्वरवाद की एक ऐसी गभीर समस्या है जिसका सतोषजनक एव युक्तिसगत समाधान न तो भारतीय ईश्वरवादी दार्शनिक कर सके हैं और न पाश्चात्य ईश्वरवादी दार्शनिक।

(4) कुमारिल प्रभाकर आदि मीमासको ने विश्व-रचना के लिए ईश्वर की अभिप्रेरणा के अतिरिक्त उसके प्रयोजन के सबध मे भी प्रश्न उठाया है। हम देख चुके हैं कि किसी वस्तु की रचना करना एक ऐच्छिक कर्म है और प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का कोई निश्चित लक्ष्य या प्रयोजन अवश्य होता है। ऐसी स्थिति मे यहाँ स्वभावत. यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने किस प्रयोजन अथवा लक्ष्य की पूर्ति के लिए इस जगत् की रचना की है। इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाए कि जगत् की रचना के मूल मे ईश्वर का कोई प्रयोजन नही था तो उसका यह कर्म निश्चय ही पूर्णत अबौद्धिक और निरर्थक हो जाता है। स्पष्ट है कि जो ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण अत्यत बुद्धिमान है उसका कोई भी कर्म निष्प्रयोजन नही हो सकता। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही इस जगत् की रचना की होगी। इसी कारण ईश्वरवादियो के लिए इस प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है कि यह प्रयोजन क्या था। इस प्रश्न के उत्तर मे बादरायण तथा कुछ अन्य ईश्वरवादियो का कथन है कि ईश्वर ने केवल क्रीडा अथवा लीला के लिए ही इस विश्व की रचना की है। सभवत इसका तात्पर्य यह है कि विश्व-रचना के मूल मे ईश्वर का प्रयोजन स्वय अपने लिए आनद प्राप्त करना था। ईश्वरवादियो की इस मान्यता के विरुद्ध आपत्ति करते हुए कुमारिल ने कहा है कि इसे स्वीकार कर लेने पर ईश्वर की पूर्णता के विचार का खडन होता है। यदि ईश्वर ने स्वय अपने लिए आनदप्राप्ति के उद्देश्य से इस विश्व की रचना की है तो इसका अर्थ यही है कि उसमे कोई अभाव था जिसकी पूर्ति वह विश्व-रचना द्वारा करना चाहता था। ऐसे ईश्वर को निश्चय ही पूर्ण नही माना जा सकता। वस्तुत विश्व-रचना के प्रयोजन से सबधित प्रश्न के कारण ईश्वरवादी के समक्ष एक ऐसी द्विविधा उपस्थित हो जाती है जिससे निकलना उसके लिए सभव नही है। यदि वह यह कहता है कि विश्व-रचना के मूल मे ईश्वर का कोई प्रयोजन नही था तो ईश्वर का यह कर्म नितात अबौद्धिक एव निरर्थक हो जाता है जिससे ईश्वर की बुद्धिमता का खडन होता है। परंतु यदि वह यह कहता है कि ईश्वर ने किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए इस विश्व की रचना की है तो ईश्वर की पूर्णता के सबध में उसका दावा अयुक्तिसगत सिद्ध हो जाता है। मेरे विचार मे ईश्वरवादी के समक्ष इस कठिन द्विविधा से निकलने का कोई तर्कसगत मार्ग नही है। वस्तुत इस सबध मे कुमारिल ने ठीक ही कहा है कि विश्व-रचना के प्रयोजन की समस्या के विषय मे ईश्वरवादी कोई युक्तिसगत एव सतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नही कर पाता।

(5) अत मे प्रभाकर, कुमारिल आदि मीमासको ने विश्व-रचना की सामग्री के सबध मे भी प्रश्न उठाया है। सामान्यत रचयिता पहले से विद्यमान सामग्री का प्रयोग करके ही किसी वस्तु की रचना करता है। यदि यह मान लिया जाए कि ईश्वर ने इस विश्व की रचना की है तो यह प्रश्न उठता है कि किस सामग्री का प्रयोग करके उसने इसकी रचना की। इस प्रश्न के उत्तर मे भारतीय ईश्वरवादियो ने दो विभिन्न सिद्धात प्रस्तुत किए हैं। प्रथम सिद्धात के अनुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण है जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने पहले से विद्यमान परमाणु, दिक्, काल आदि द्रव्यों का प्रयोग करते हुए इस विश्व की रचना की है। ये सभी द्रव्य नित्य अथवा हैं क्योंकि ईश्वर ने इनका निर्माण नहीं किया जैसा कि हम पहले ही बता

चुके हैं, विश्व-रचना के संबंध मे नैयायिक इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। परंतु इस सिद्धांत की कठिनाई यह है कि इसे स्वीकार कर लेने पर ईश्वर असीम और सर्वशक्तिमान नही रह जाता। पहले से विद्यमान द्रव्य अनिवार्यतः उसकी क्रिया तथा शक्ति को सीमित कर देते हैं। वह एक ऐसा महा मानव बनकर रह जाता है जिसने पूर्वस्थित सामग्री का प्रयोग करके इस विश्व की रचना की है। इसी कारण बादरायण, रामानुज आदि अन्य ईश्वरवादियो ने नैयायिको के उपर्युक्त सिद्धांत को अस्वीकार किया है। नैयायिको के विपरीत इन ईश्वरवादियो का मत है कि ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण ही नही, अपितु उपादान कारण भी है। उसने इस जगत् की रचना पहले से विद्यमान किसी प्रकार की सामग्री के आधार पर न करके स्वय अपने आप मे से की है। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं था, अत. उसकी रचना के लिए ईश्वर द्वारा किसी अन्य द्रव्य के प्रयोग का प्रश्न ही नही उठता। स्वय ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण यह जगत् उसी का अंश है। अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए बादरायण ने मकडी और उसके जाले का उदाहरण दिया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार मकडी अपना जाला किसी बाह्य सामग्री से उत्पन्न न करके स्वय अपने भीतर से उत्पन्न करती है उसी प्रकार ईश्वर ने भी इस जगत् को किसी प्रकार की बाह्य सामग्री का प्रयोग न करते हुए स्वय अपने आप मे से ही उत्पन्न किया है। इसी अर्थ मे वह जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनो ही है। वस्तुत सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर को जगत् की रचना के लिए किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता ही नही है। इस प्रकार नैयायिको के विपरीत कुछ ईश्वरवादी जगत् की उत्पत्ति के लिए ईश्वर से अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नही करते।

परंतु कुमारिल इन ईश्वरवादियो के मत का भी खंडन करते हैं। उनका कथन है कि अपने मत की पुष्टि के लिए बादरायण ने मकडी और उसके जाले का जो उदाहरण दिया है वह भ्रामक है। वस्तुत मकडी अपने जाले का निर्माण पूर्णत अपने भीतर मे नहीं करती। उसके जाले का मूल आधार वह बाह्य सामग्री है जो वह अपने चतुर्दिक वातावरण मे भोजन के रूप मे प्राप्त करती है। यदि उसे बाह्य वातावरण से कीडो के रूप मे खाद्य सामग्री प्राप्त न हो तो वह अपने जाले का निर्माण कभी नही कर सकती। इससे स्पष्ट है कि मकड़ी का जाला अतत उसे बाह्य वातावरण से उपलब्ध भोजन-सामग्री का ही परिणाम है। अपने इस तर्क के आधार पर कुमारिल ने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वरवादी उपर्युक्त उदाहरण द्वारा ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनो ही एक साथ सिद्ध करने मे असफल रहे हैं। सक्षेप मे ईश्वर को जगत् का रचयिता मानने के विरुद्ध कुमारिल, प्रभाकर तथा अन्य मीमासको के ये ही प्रमुख तर्क हैं जिनके द्वारा उन्होने ईश्वरवादियो के इस मत को अनुचित एव अयुक्तिसगत प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

अभी तक हमने उन मुख्य आपत्तियो पर विचार किया है जो मीमासकों ने ईश्वरवादियो की इस मान्यता के विरुद्ध उठाई हैं कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है। ये सभी आपत्तियाँ इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करती हैं। इस प्रकार अपनी इन आपत्तियो द्वारा मीमासको ने सृष्टिमूलक तर्क अथवा कारणमूलक तर्क का खंडन किया है जिसे ईश्वर की सत्ता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण तर्क माना जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मीमासको द्वारा इस तर्क का खंडन उनके एक विशेष सिद्धांत का अनिवार्य परिणाम है जिसे 'सत्कार्यवाद' अथवा 'परिणामवाद' कहा जाता है और जिसका वे साख्य की भाँति पूर्णत समर्थन करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार जगत् में जिस वस्तु का अस्तित्व है वह पहले से विद्यमान किसी अन्य वस्तु का सशोधित रूप मात्र है। इसका तात्पर्य यह है

कि वास्तविक अर्थ में किसी नवीन वस्तु की उत्पत्ति सभव नही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीमांसकों का यह सत्कार्यवाद ईश्वरवाद के एक महत्त्वपूर्ण आधार को समाप्त कर देता है, क्योंकि कारणमूलक तर्क या सृष्टिमूलक तर्क को ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में प्रमुख तर्क माना जाता है।

परंतु ईश्वरवाद के विरुद्ध मीमासको की आपत्तियाँ केवल सृष्टिमूलक तर्क का खडन करने तक ही सीमित नही हैं। उन्होने ईश्वर की सत्ता के लिए नैयायिको द्वारा प्रस्तुत अन्य सभी तर्कों का भी खंडन किया है। उदाहरणार्थ, कुमारिल, प्रभाकर आदि मीमासको ने ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन मे दिए गए नैयायिको के उस तर्क के विरुद्ध भी अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं जिसे हम व्यापक अर्थमे 'नीतिपरक युक्ति' कह सकते हैं। इस युक्ति के अनुसार सभी मनुष्यो को उनके शुभ-अशुभ के अनुरूप उचित फल प्रदान करने के लिए कर्माध्यक्ष के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है। मनुष्यो द्वारा किए गए पुण्य तथा पाप के परिणामस्वरूप उनमे क्रमश: जो धर्म और अधर्म नामक गुण उत्पन्न होते हैं उन्हे केवल ईश्वर ही नियमित अथवा नियंत्रित कर सकता है, क्योंकि जड होने के कारण ये धर्म एव अधर्म स्वय अपना नियमन नही कर सकते। इस प्रकार नैयायिक मनुष्यो को उनके कर्मो का समुचित फल प्रदान करने के लिए कर्माध्यक्ष अथवा धर्म-अधर्म के नियामक या नियंता के रूप मे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य मानते हैं। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना अप्रासगिक न होगा कि हमें उनकी इस युक्ति मे कान्ट की प्रसिद्ध नीतिपरक युक्ति का पूर्वाभास प्राप्त होता है। परतु मीमासक ईश्वर की सत्ता के समर्थन मे नैयायिको द्वारा दी गई इस नीतिपरक युक्ति का भी खडन करते हैं। उन्होंने इस युक्ति के विरुद्ध निम्नलिखित दो मुख्य आपत्तियाँ उठाई हैं —

(1) मीमासको के मतानुसार ईश्वर द्वारा धर्म-अधर्म को नियंत्रित करने का विचार अयुक्तिसगत है। इसका कारण यह है कि धर्म और अधर्म केवल मनुष्यो मे ही विद्यमान रहते हैं, अत: अन्य कोई भी प्राणी — चाहे वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो — उन्हें नियमित अथवा नियंत्रित नही कर सकता। अपने इस तर्क के आधार पर मीमांसक यह कहते हैं कि केवल मनुष्यों मे विद्यमान रहने के कारण धर्म और अधर्म का ईश्वर को ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में वह उन्हे नियंत्रित या नियमित भी नही कर सकता। परतु नैयायिको की नीतिपरक युक्ति के विरुद्ध मीमासको का यह तर्क उचित प्रतीत नही होता, क्योकि इसके उत्तर मे ईश्वरवादी यह कह सकते हैं कि सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर को प्रत्येक मनुष्य के धर्म-अधर्म का पूर्ण ज्ञान होता है जिसके आधार पर वह उन्हे भलीभाँति नियमित अथवा नियंत्रित कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब तक ईश्वर की सर्वज्ञता का निषेध न किया जाए तब तक मीमांसकों के उपर्युक्त तर्क को स्वीकार करना बहुत कठिन है।

(2) नैयायिको की नीतिपरक युक्ति के विरुद्ध मीमासको की दूसरी आपत्ति यह है कि ईश्वर और धर्म-अधर्म मे किसी प्रकार का सबध सभव नहीं है। स्वयं नैयायिको ने संयोग तथा समवाय नामक दो प्रकार के संबधो को ही स्वीकार किया है किंतु ईश्वर और धर्म-अधर्म में इन दोनो मे से कोई भी सबध नही हो सकता। नैयायिको के अनुसार संयोग नामक सबध केवल द्रव्यो मे ही सभव है, परतु वे स्वय धर्म तथा अधर्म को गुण और ईश्वर को द्रव्य मानते है। ऐसी स्थिति मे ईश्वर तथा धर्म-अधर्म मे संयोग नामक सबध का होना सभव नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर और धर्म-अधर्म मे समवाय-सबध भी नही हो सकता क्योंकि धर्म-अधर्म ईश्वर मे विद्यमान न होकर केवल मनुष्यो

में ही विद्यमान रहते हैं। संक्षेप में अपने उपर्युक्त तर्क द्वारा मीमांसकों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि ईश्वर तथा धर्म-अधर्म में किसी प्रकार के संबंध की संभावना नहीं है, अतः ईश्वर उन्हें नियमित या नियंत्रित नहीं कर सकता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि कर्माध्यक्ष के रूप में ईश्वर की सत्ता नहीं है तो मनुष्यों को उनके शुभ-अशुभ कर्मों का समुचित फल कैसे प्राप्त होता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए मीमांसकों ने 'अपूर्व' नामक एक विशेष तत्त्व अथवा शक्ति की कल्पना की है। उनका मत है कि अपूर्व एक अदृश्य शक्ति है जो मनुष्यों द्वारा कर्म करने के फलस्वरूप उनमें स्वतः उत्पन्न होती है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से अपूर्व वह है जो पहले से विद्यमान नहीं था। इसका तात्पर्य यह है कि अपूर्व वस्तुतः मनुष्यों के शुभ-अशुभ कर्मों का ही अनिवार्य परिणाम है। यह अपूर्व मनुष्यों में अदृश्य शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है और उचित समय पर यही उन्हें उनके शुभ-अशुभ कर्मों का समुचित फल प्रदान करता है। इस प्रकार मीमांसकों के विचार में मनुष्यों को उनके कर्मों का फल प्रदान करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह कार्य अपूर्व द्वारा स्वतः संपन्न हो जाता है। शबर स्वामी का कथन है कि वेदों के आधार पर अपूर्व का अस्तित्व प्रमाणित होता है। वेदों में यह कहा गया है कि स्वयं यज्ञ से ही मनुष्य को फल प्राप्त होता है, देवताओं से नहीं। परंतु मीमांसक ईश्वरवादियों की इस आपत्ति का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे सके कि अदृष्ट की भाँति स्वयं जड़ होने के कारण अपूर्व मनुष्यों को उनके कर्मों का फल प्रदान नहीं कर सकता। वस्तुतः मीमांसकों का यह अपूर्व वैसा ही अतिप्राकृतिक और काल्पनिक तत्त्व है जैसा ईश्वरवादियों का ईश्वर, अतः इन दोनों को युक्तियों अथवा तर्कों द्वारा प्रमाणित करना संभव नहीं है।

उपर्युक्त नीतिपरक युक्ति के अतिरिक्त नैयायिकों ने ईश्वर की सत्ता के समर्थन में एक अन्य तर्क भी दिया है जिसका संबंध वेदों की रचना से है। नैयायिकों का कथन है कि वेदों में शाश्वत सत्य विद्यमान है अतः उनका रचयिता कोई मनुष्य नहीं हो सकता। परन्तु वेदों का कोई रचयिता अवश्य होना चाहिए, क्योंकि रचयिता के बिना किसी वस्तु की रचना संभव नहीं है। इस प्रकार नैयायिकों के मतानुसार हमारे लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि शाश्वत सत्यों से परिपूर्ण वेदों का रचयिता सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर ही है। अपने इस तर्क द्वारा नैयायिकों ने वेदों के अस्तित्व के आधार पर उनके रचयिता के रूप में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। परंतु कुमारिल, प्रभाकर आदि मीमांसक ईश्वर के अस्तित्व के लिए उनके इस तर्क को भी पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। यह सत्य है कि नास्तिक दर्शनों के विपरीत मीमांसक वेदों में अखंड श्रद्धा रखते हैं और उनकी प्रामाणिकता में पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं, किंतु वे ईश्वर को वेदों का रचयिता नहीं मानते। उनका कथन है कि वेदों में अपरिवर्तनीय तथा शाश्वत सत्य विद्यमान है, अतः ईश्वर अथवा किसी अन्य प्राणी द्वारा उनकी रचना किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस वस्तु की किसी के द्वारा रचना की जाती है वह शाश्वत नहीं हो सकती किंतु वेदों को शाश्वत माना जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि वास्तव में वेद स्वयंभू हैं और उनका कोई रचयिता नहीं है। संक्षेप में नैयायिकों के विपरीत मीमांसकों का निश्चित मत है कि वेदों के अस्तित्व के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। मीमांसकों का यह तर्क नैयायिकों की इस मान्यता का तो अवश्य खंडन करता है कि वेदों की रचना ईश्वर ने ही की है किंतु इसके द्वारा मीमांसकों की यह मान्यता प्रमाणित नहीं होती कि वेद स्वयंभू हैं और उनका कोई रचयिता नहीं है। वस्तुतः तर्कसंगत रूप से मीमांसकों के इस मत का समर्थन करना संभव नहीं है कि शाश्वत होने के कारण वेद

अरचित और स्वयभू हैं। यह मान्यता मानवीय अनुभव एव तर्कबुद्धि दोनो के विरुद्ध प्रतीत होती है। इस प्रकार वेदो की रचना के विषय मे हम युक्तिसगत रूप से न तो नैयायिको के मत का समर्थन कर सकते हैं और न मीमासको के मत का।

ईश्वर के अस्तित्व के लिए नैयायिको के उपर्युक्त तर्कों का खडन करने के साथ-साथ मीमासक उस शब्द-प्रमाण का भी खडन करते हैं जो वेदात के समर्थको ने प्रस्तुत किया है। वेदातियो का निश्चित मत है कि केवल शब्द-प्रमाण द्वारा ही ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित किया जा सकता है। वेदो तथा उपनिषदों मे बार-बार यह कहा गया है कि ईश्वर का अस्तित्व है और वह इस जगत् का रचयिता, पालनकर्ता एव कर्माध्यक्ष है। यह ईश्वर ही सपूर्ण ब्रह्माड का मूल आधार तथा उसकी अंतिम सत्ता है। वेदातियो के विचार मे ईश्वर की सत्ता के लिए श्रुति में उपलब्ध यह शब्द-प्रमाण ही एक ऐसा प्रबल प्रमाण है जिसका किसी अन्य तर्क द्वारा खडन नहीं किया जा सकता। परतु मीमासक — विशेषत कुमारिल — ईश्वर की सत्ता के समर्थन मे वेदातियो द्वारा प्रस्तुत इस शब्द-प्रमाण को भी अस्वीकार करते हैं। मीमासकों का विचार है कि वेदो तथा उपनिषदो मे ईश्वर विषयक जो कथन हैं उनका वास्तव मे वह अर्थ नहीं है जो सामान्यत प्रतीत होता है और जो ईश्वरवादी समझते हैं। इन कथनो का वास्तविक अर्थ यज्ञ आदि कर्मों के विषय मे वैदिक आदेशों से सबधित है। यदि इन कथनो को इनके वास्तविक अर्थ में ग्रहण किया जाए तो यह पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि इनका उद्देश्य वेद-मत्रों की परोक्ष प्रशस्ति मात्र है। अपने इसी तर्क के आधार पर कुमारिल यह कहते हैं कि वेदों और उपनिषदो मे ईश्वर से सबधित जो कथन है उनके द्वारा वस्तुत उसका अस्तित्व प्रमाणित नही होता। यही बात 'महाभारत' तथा 'पुराणो' मे उपलब्ध होने वाले ईश्वर विषयक कथनो के सबधो में भी कही जा सकती है। इस प्रकार कुमारिल तथा अन्य मीमासक ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन मे वेदातियो द्वारा प्रस्तुत शब्द-प्रमाण का भी खडन करते हैं।

परन्तु ईश्वर की सत्ता के लिए वेदातियो के शब्द-प्रमाण के विरुद्ध मीमासको का उपर्युक्त तर्क बहुत विश्वसनीय प्रतीत नही होता। वस्तुत मीमासको के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि वेदो एव उपनिषदो मे उपलब्ध समस्त ईश्वर विषयक कथन वेद-मत्रो अथवा वैदिक आदेशो की परोक्ष प्रशसाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मीमासक ईश्वर की सत्ता के समर्थन मे वेदातियो के शब्द प्रमाण के विरुद्ध कोई प्रबल तथा विश्वसनीय तर्क प्रस्तुत नहीं कर सके। परन्तु उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के लिए नैयायिको द्वारा प्रस्तुत प्रमाणो का अवश्य ही युक्तिसगत रूप से खडन किया है।

2. बहुदेववाद का खंडन

इस लेख को समाप्त करने से पूर्व यहाँ इस रोचक तथा महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या मीमासक निरीश्वरवादी होते हुए भी बहुदेववाद — अर्थात् अनेक देवताओ की सत्ता के सिद्धात — मे विश्वास करते हैं। मीमासा दर्शन के सदर्भ मे इस प्रश्न की प्रासगिकता का कारण यह है कि मीमासक वेदो मे अगाध श्रद्धा रखते है और इन वेदो के विभिन्न मत्रो मे इद्र, अग्नि, वरुण, मित्र, सूर्य, मारुत आदि अनेक देवताओ की स्तुति की गई है। ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि इन देवताओ के अस्तित्व के विषय में मीमासको का दृष्टिकोण

क्या है। क्या उनके विचार में इन देवताओ की वास्तविक सत्ता है? क्या वे एकेश्वरवाद के स्थान पर बहुदेववाद को स्वीकार करते है? शबर स्वामी तथा अन्य मीमांसको ने इस प्रश्न के सबध मे विस्तारपूर्वक और स्पष्ट रूप मे अपना मत व्यक्त किया है। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि वेदो मे इद्र अग्नि, वरुण, मित्र आदि अनेक देवताओ के नामो का उल्लेख मिलता है। परतु इन देवताओ के अस्तित्व के विषय मे उन्होने जो कुछ कहा है कि वह हिंदुओ मे प्रचलित इनके सबंध मे सामान्य विश्वास के ठीक विपरीत है और इसी कारण अत्यधिक आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। सामान्यत यह माना जाता है कि इन देवताओ की वास्तविक सत्ता है और विधिवत इनकी स्तुति करने के फलस्वरूप मनुष्यो को इस ससार तथा स्वर्ग मे सुख समृद्धि एव आनद की प्राप्ति होती है। इसी विश्वास के कारण यज्ञो मे इन देवताओ को विभिन्न प्रकार के खाद्य-पदार्थ अर्पित किए जाते हैं। परतु शबर, कुमारिल, प्रभाकर आदि मीमांसक इन देवताओ के अस्तित्व और कार्यो के सबध मे जनसाधारण के इस विश्वास को पूर्णत अस्वीकार करते हैं। उनका स्पष्ट तथा निश्चित मत है कि इद्र अग्नि, वरुण मित्र, सूर्य, चद्र आदि देवताओ की वास्तविक सत्ता नही है, अत उनके द्वारा मनुष्यो को सुख-समृद्धि प्रदान करने का प्रश्न ही नही उठता। मनुष्यो के जीवन पर इन देवताओ की स्तुति का कोई प्रभाव नही पड सकता, क्योंकि ये देवता स्वर्ग मे निवास करने वाले कोइ अतिप्राकृतिक प्राणी नहीं हैं और ये मानव-जीवन मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही कर सकते। ऐसी स्थिति मे इनकी उपासना या पूजा करना और यज्ञो मे इन्हे खाद्य वस्तुएँ अर्पित करना निश्चय ही व्यर्थ है। इन देवताओ की वास्तविक सत्ता न होने के कारण इनका कोई रूप तथा आकार भी नही होता।

मीमांसको का विचार है कि इद्र, अग्नि, वरुण आदि देवताओ के नाम वेद-मत्रो के महत्त्व तथा प्रभाव मे वृद्धि करने के लिए विशेष ध्वनियाँ मात्र हैं। मत्रो से भिन्न एव स्वतत्र इन देवताओ की कोई वस्तुपरक सत्ता नही है। स्पष्टत इसका तात्पर्य यही है कि ये देवता हमारी उपासना या पूजा के विषय नही हो सकते और न ही ये किसी प्रकार का नैवेद्य ग्रहण कर सकते हैं। यज्ञो मे इन्हे खाद्य वस्तुएँ भेट करना व्यर्थ और अनुचित है। इन देवताओ की सत्ता वास्तविक तथा वस्तुपरक न होकर केवल शाब्दिक ही है, अत ये मनुष्यो को उनके शुभ-अशुभ कर्मो का फल भी प्रदान नही कर सकते। हम पिछले खड मे देख चुके हैं कि मीमांसकों के मतानुसार यह कार्य अपूर्व द्वारा स्वत सपन्न हो जाता है जिसके लिए इन देवताओ के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। यज्ञ देवताओ की पूजा का साधन न होकर स्वत फलदायक होता है। अपूर्व के माध्यम से यज्ञ स्वय ही मनुष्य को मनोवाछित फल प्रदान करता है जिसमें देवताओ के हस्तक्षेप के लिए कोई स्थान नही है। यह सत्य है कि यज्ञ के कारण मनुष्य को तत्काल मनोवांछित फल नहीं मिलता, किंतु उसके फलस्वरूप जो अपूर्व उत्पन्न होता है वही उचित समय पर उसे यह फल प्रदान करता है। अपनी इसी मान्यता के कारण मीमांसक यज्ञ को मुख्य और उसकी तुलना मे देवताओ को गौण स्थान देते हैं। उनका विचार है कि देवताओ के स्थान पर यज्ञ करने वाले मनुष्य का अपना सकल्प कर्मो के मनोवाछित फल की प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मीमांसको ने ईश्वरवाद के साथ-साथ बहुदेववाद का भी पूर्ण रूप से खडन किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मीमांसक सूर्य, चंद्र अग्नि, वायु आदि को प्राकृतिक शक्तियो के रूप में भी देवता नही मानते। इस सबध मे शबर ने स्पष्ट कहा है कि इन प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानने से 'देवता' शब्द का महत्त्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि हम अपनी सामान्य दैनिक भाषा मे 'वायु' 'अग्नि' 'चद्र' आदि शब्दो का प्रयोग प्रायः उस अर्थ मे करते हैं जिसमें इन

प्राकृतिक शक्तियो को देवता के रूप मे स्वीकार नही किया जाता। सभवत मीमासको द्वारा प्राकृतिक शक्तियो को देवता न मानने का तात्पर्य यह है कि उनके विचार मे मनुष्य की स्तुति से प्रसन्न होकर ये शक्तियाँ उसे कोई मनोवाछित फल प्रदान नही करती। परतु मीमासको के विपरीत अधिकतर विद्वान प्राय इसी मत को स्वीकार करते हैं कि वैदिक ऋषि सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियो को देवता मानकर ही उनकी स्तुति करते थे और इस स्तुति द्वारा उनसे मनोवाछित फल प्राप्त करने की आशा करते थे। इसी अर्थ मे इन प्राकृतिक शक्तियो को 'देवता' की सज्ञा दी गई है। वेद-मत्रो मे वर्णित विभिन्न देवताओं को प्राय इसी रूप मे ग्रहण किया जाता है। परतु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मीमासक इद्र, अग्नि, चद्र आदि को न तो स्वर्ग मे निवास करने वाले अतिप्राकृतिक प्राणियो के रूप मे देवता स्वीकार करते हैं और न प्राकृतिक शक्तियो के रूप मे। उनके मतानुसार वेद-मत्रो मे पाए जाने वाले देवताओ के नाम विशेष प्रकार की ध्वनियाँ मात्र हैं और इन मत्रो मे प्रयुक्त शब्दों के अतिरिक्त उनकी कोई स्वतत्र सत्ता नही है।

इस प्रकार उपर्युक्त सपूर्ण विवेचन के आधार पर हम युक्तिसगत रूप से यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मीमासा दर्शन मे ईश्वरवाद तथा बहुदेववाद दोनो के लिए कोई स्थान नही है।



28

देवात्मा के दर्शन में मानवतावाद

1. पृष्ठभूमि

देवात्मा का जन्म 20 दिसम्बर 1850 मे एक धर्मपरायण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनका बाल्यकालीन नाम शिव नारायण अग्निहोत्री था जिसे उन्होंने बत्तीस वर्ष की आयु मे बदल कर सत्य नारायण अग्निहोत्री कर दिया था। तब उन्होने यह व्रत लिया था कि उनका परम लक्ष्य सत्य, शिव तथा सुंदर हो और सपूर्ण जगत् के कल्याण के लिए ही उनका जीवन व्यतीत हो। उनके सद्गुणों के कारण ही कालातर में उन्हें 'देवात्मा' कहा जाने लगा। उनके माता-पिता हिदू धर्म मे अखड श्रद्धा रखते थे और व्रत, उपवास, मूर्ति-पूजा आदि में भी उनकी दृढ आस्था थी। वे अन्य सामान्य धर्मपरायण व्यक्तियो की भाँति ईश्वर के भक्त थे और इस धार्मिक विश्वास को पूर्णत स्वीकार करते थे कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा अत्यत दयालु ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता, पालनकर्ता, सरक्षक एव सहारक है। इस प्रकार देवात्मा का पालन-पोषण आस्थावान धर्मपरायण परिवार मे हुआ था जिसके कारण उनके बाल्यकालीन जीवन पर धार्मिक परपराओ तथा सस्कारो का पर्याप्त प्रभाव रहा। युवावस्था मे विज्ञान तथा दर्शन का अध्ययन करने से पूर्व वे ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, कर्मवाद, अवतारवाद आदि हिदू धर्म के सभी मूल सिद्धातों को पूर्णत स्वीकार करते थे। ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि अपने परिवार तथा परिवेश के धार्मिक प्रभाव के कारण देवात्मा बाल्यकाल में सामान्य धर्मपरायण व्यक्ति थे। परतु अन्य साधारण बालकों के विपरीत उनमें मौलिक चितन तथा निष्पक्ष तर्क करने की अद्भुत क्षमता थी जिसके फलस्वरूप उनके जीवन पर धर्म का यह प्रभाव अधिक समय तक नहीं रह सका। जब उन्होने रुडकी के इजीनियरिग कॉलेज में विज्ञान का अध्ययन किया तो बाल्यावस्था मे उनके मन पर पडा धर्म का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा और कालानर मे यह प्रभाव लगभग पूर्णत समाप्त हो गया। इस प्रकार विज्ञान तथा दर्शन के अध्ययन के परिणामस्वरूप देवात्मा युवावस्था में अपने बाल्यकालीन धार्मिकप्रभाव से लगभग पूर्णत मुक्त हो चुके थे और दार्शनिक दृष्टि से यह उनके जीवन की एक बहुत बडी उपलब्धि थी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि देवात्मा को उनके धार्मिक प्रभाव से मुक्त करने मे उस तर्कप्रधान बौद्धिक परिवेश का भी बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान था जिसमे वे कार्य कर रहे थे। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे उन्होंने लाहौर को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया था जहाँ उनका सपर्क ब्रह्म-समाज के अनेक महान नेताओ तथा विचारको के साथ हुआ। उन्होंने राजा राम मोहन राय, देवेंद्र नाथ टैगोर, केशव चद्र सेन आदि तत्कालीन महान समाज-सुधारकों के क्रांतिकारी विचारो का अध्ययन किया जिनका उनके जीवन और दर्शन पर गहरा तथा स्थायी प्रभाव पडा। ये विचारक हिदू-समाज में प्रचलित अधविश्वासो एव हानिकारक परंपराओं के घोर विरोधी थे और जीवन

तथा जगत् के प्रति केवल तर्कपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही स्वीकार करते थे। उनका स्पष्ट और निश्चित मत था कि धर्मग्रथो मे उपलब्ध विचारो तथा सिद्धातो को केवल आस्था के आधार पर स्वीकार नही किया जा सकता; उन्हे स्वीकार करने से पूर्व निष्पक्ष तर्कना और वैज्ञानिक विधि द्वारा उनकी परीक्षा करना आवश्यक है। हमे किसी मत या मान्यता को तब तक स्वीकार नही करना चाहिए जब तक वह निष्पक्ष तर्कों तथा वैज्ञानिक विधि द्वारा सत्य प्रमाणित न हो जाए। उपर्युक्त समाज-सुधारको तथा महान विचारको के इस तर्कपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण का देवात्मा के विचारो पर व्यापक प्रभाव पडा जिसने उनके प्रकृतिवादी और मानवतावादी दर्शन के निर्माण मे बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हम आगे देखेगे कि जीवन और जगत् के प्रति इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप देवात्मा ने उन सभी मान्यताओ, विश्वासो, विचारो एव सिद्धातो को अस्वीकार किया जिन्हे वस्तुपरक वैज्ञानिक विधि एव निष्पक्ष तर्कों द्वारा सत्य प्रमाणित करना सभव नही है। भारतीय विचारको के अतिरिक्त डार्विन, स्पैंसर, मिल आदि पाश्चात्य विचारको के सिद्धातो के अध्ययन ने भी देवात्मा को अपने जीवन मे इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार जीवन और जगत् के प्रति तर्कपूर्ण निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही वह सुदृढ आधार-भूमि है जिस पर देवात्मा का प्रकृतिवादी तथा मानवतावादी दर्शन आधारित है।

2. मानवतावाद का अर्थ और उसके आधारभूत सिद्धांत

देवात्मा के दर्शन मे मानवतावादी विचारधारा का क्या स्थान है इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व मानवतावाद का अर्थ और उसके आधारभूत सिद्धातो को जान लेना आवश्यक है। जैसा कि 'मानवतावाद' शब्द से ही स्पष्ट है, यह वह दार्शनिक विचारधारा है जिसमें मानव तथा उसकी समस्याओ के विवेचन को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। इस विचारधारा का केंद्र बिंदु ईश्वर या कोई अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति न होकर स्वय मनुष्य ही है जिससे संबधित सभी महत्त्वपूर्ण पक्षो का इसके अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' के अनुसार "मानवतावाद ईश्वर से सबधित न होकर मनुष्य के हितो से सबधित है"। इसी प्रकार बाल्डविन की 'डिक्शनरी ऑफ फिलॉसॉफी एड साइकॉलॉजी' मे मानवतावाद की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "यह विचार, विश्वास अथवा कर्म सबधी वह पद्धति है जो ईश्वर का परित्याग करके मनुष्य तथा सासारिक वस्तुओ पर ही केंद्रित रहती है"। मानवतावाद की इन परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि इसका उद्देश्य ईश्वर अथवा किसी अन्य अलौकिक शक्ति के स्थान पर स्वयं मनुष्य तथा उसकी मूल समस्याओ का निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन करना है। इस दार्शनिक विचारधारा के अंतर्गत मनुष्य की उत्पत्ति, प्राकृतिक परिवेश मे उसके विकास, ब्रह्माड के साथ उसके सबंध, उसके व्यक्तित्व, स्वभाव तथा आचरण का निष्पक्ष एव वस्तुपरक वैज्ञानिक विधि द्वारा अध्ययन किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह मूलत- निरीश्वरवादी, धर्म-निरपेक्ष तथा मानव-केंद्रित विचारधारा है जो काल्पनिक अलौकिक शक्तियो के स्थान पर मनुष्य की वास्तविक समस्याओ के वैज्ञानिक अध्ययन को ही महत्त्व देती है, अत इसमे मनुष्य के व्यक्तित्व और उसके अनुभव का सर्वोच्च स्थान है।

मानवतावाद के अर्थ की संक्षिप्त विवेचना के पश्चात अब इसके कुछ मूल सिद्धातो का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है जिन्हे जान लेने से इस दार्शनिक विचारधारा का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो जाएगा। जैसा कि दर्शनशास्त्र के अध्येयता भलीभाँति जानते हैं, प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के आधारभूत सिद्धातो को मुख्य तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जिन्हे उसकी और कहा जाता है यहाँ हम के

मूल सिद्धांतो की विवेचना भी इन्हीं तीन वर्गो के आधार पर करेगे।

मानवतावाद की ज्ञानमीमासा का आधार मनुष्य की तर्कबुद्धि और उसका अनुभव ही है। मानवतावाद के अनुसार जो कुछ मानवीय अनुभव और तर्कबुद्धि से परे है वह मनुष्य के लिए अज्ञेय है, अत उसके अस्तित्व तथा स्वरूप के विषय मे वह निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कह सकता। इसी आधार पर मानवतावादी ईश्वर तथा अन्य सभी अलौकिक शक्तियो के अस्तित्व का निषेध करते हैं। उनका विचार है कि हम केवल उसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं जिसे हम अपने अनुभव अथवा अपनी तर्कबुद्धि द्वारा जानते है या जान सकते हैं, इसका अर्थ यही है कि मानवतावादी व्यापक अर्थ मे प्रत्यक्ष को ही मनुष्य के ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय प्रमाण मानते हैं। वे अनुमान, शब्द आदि ज्ञान के अन्य प्रमाणो को केवल उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जिस सीमा तक ये प्रमाण मूलत प्रत्यक्ष पर ही आधारित रहते हैं। इसी कारण मानवतावाद की ज्ञानमीमांसा मे मानवीय अनुभव, तर्कबुद्धि, विज्ञान तथा वैज्ञानिक विधियो का विशेष महत्त्व है। मानवतावादी ऐसी किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नही करते जिसे मानवीय अनुभव, तर्कबुद्धि या वैज्ञानिक विधियो द्वारा सत्य प्रमाणित नही किया जा सकता। इस प्रकार मानवतावाद तर्कसगत अनुभवमूलक ज्ञानमीमासा को ही स्वीकार करता है जिस पर सपूर्ण विज्ञान और उसकी विधियाँ आधारित हैं।

तत्त्वमीमासा की दृष्टि से मानवतावाद मूलत प्रकृतिवाद, भौतिकवाद तथा निरीश्वरवाद मे विश्वास करता है। इसके अनुसार ब्रह्माड की अतिम सत्ता ईश्वर या कोइ अन्य अलौकिक शक्ति न होकर प्रकृति ही है जो निरंतर परिवर्तनशील है। पुद्गल तथा शक्ति इसी प्रकृति के रूप हैं जिन्हे हम समस्त भौतिक वस्तुओ पेड-पौधो और प्राणियो मे देख सकते हैं। यह प्रकृति कोई दैवी शक्ति नही, अपितु समस्त निर्जीव वस्तुओ तथा सजीव प्राणियो की सनातन समष्टि है। सभी ग्रह-नक्षत्र, भौतिक वस्तुएँ, पेड-पौधे, पशु-पक्षी, मनुष्य तथा अन्य प्राणी इसी प्रकृति मे सम्मिलित है। अन्य सभी वस्तुओ तथा प्राणियो की भाँति मनुष्य भी इस प्रकृति का अभिन्न अग है जिससे पृथक हम उसके अस्तित्व और विकास की कल्पना नही कर सकते। मानवतावाद के अनुसार यह प्रकृति अनादि, अनत, स्वयभू तथा स्वचालित है, ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति ने इसकी रचना नही की। अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा हम किसी अलौकिक या दैवी शक्ति का अस्तित्व प्रमाणित नही कर सकते, अत ऐसी शक्ति मे विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसगत वैज्ञानिक आधार नही है। इस दृष्टि से मानवतावाद पूर्णत निरीश्वरवादी विचारधारा है।

ईश्वरवाद का खडन करने के साथ-साथ मानवतावाद के समर्थक आत्मा की अमरता अवतारवाद, पुनर्जन्म के सिद्धात तथा चमत्कारो की सभावना को भी पूर्णत अस्वीकार करते हैं। इन सब के विरुद्ध उनका आधारभूत तर्क यही है कि इन्हे हम तर्कबुद्धि तथा वस्तुपरक वैज्ञानिक विधि द्वारा सत्य प्रमाणित नही कर सकते, अत इनमे विश्वास करना तर्कबुद्धि के विरुद्ध आचरण करना होगा। मनुष्य का आविर्भाव एव विकास प्रकृति के अतर्गत ही हुआ है और इसी आधार पर हम उसकी उत्पत्ति तथा उसके विकास की तर्कसंगत व्याख्या कर सकते हैं। इसके लिए ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति का आधार लेना नितात अनुचित और अनावश्यक है। अन्य प्राणियो की भाँति मनुष्य का जन्म, विकास और उसकी मृत्यु भी प्राकृतिक नियमो के अनुसार ही होती है, इस सपूर्ण नैसर्गिक प्रक्रिया मे ईश्वर अथवा किसी अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति के हस्तक्षेप की बात करना निरर्थक है। सक्षेप मे यही मानवतावाद की तत्त्वमीमासा है जो मनुष्य के अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि पर आधारित है।

और की भाँति की मे भी काल्पनिक

अलौकिक शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। मानवतावाद इसी संसार में मानव-जीवन के लिए परम ध्येय के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के विषय में विचार करता है। उसकी यह स्पष्ट और निश्चित मान्यता है कि इस संसार में मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं ही करता है; ईश्वर या कोई अन्य काल्पनिक दैवी शक्ति इसमें उसकी कोई सहायता नहीं कर सकती। अपने जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए मनुष्य को स्वयं अपनी तर्कबुद्धि पर ही निर्भर रहना चाहिए, इसके लिए काल्पनिक अलौकिक शक्तियों का मिथ्या अवलंब खोजना अनुचित और अवांछनीय है। प्राकृतिक नियमों के अंतर्गत वह अपने जीवन के परम लक्ष्य को निश्चित करने तथा उसे प्राप्त करने के लिए स्वतंत्र है। भाग्यवाद का सहारा लेकर या किसी तथाकथित दैवी शक्ति पर निर्भर रह कर मनुष्य कभी उन्नति नहीं कर सकता। मानवतावाद के अनुसार मनुष्य के जीवन का लक्ष्य स्वयं अपने कल्याण के साथ-साथ संपूर्ण मानव-जाति का कल्याण है जिसके लिए उसे यथासंभव अधिकतम प्रयास करना चाहिए। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयास करते समय मनुष्य को किसी व्यक्ति की राष्ट्रीयता, जाति, उसके लिंग और धर्म पर विचार नहीं करना चाहिए। इन संकुचित परिस्थितियों से ऊपर उठकर संपूर्ण मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति के लिए प्रयास करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य है। उसे यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि संपूर्ण समाज के व्यापक हित में ही स्वयं उसका अपना कल्याण निहित है। स्पष्ट है कि मानवतावादी आचारमीमांसा में व्यक्ति के संकुचित स्वार्थवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीयतावाद, मानव-भ्रातृत्व अथवा विश्व-बंधुत्व ही मानवतावाद का मूल आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए वह मनुष्य को प्रेरित करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के इस प्राचीन भारतीय आदर्श पर आधारित मानवतावाद विश्व में प्रचलित अन्य सभी धर्मों की अपेक्षा कहीं अधिक उदार तथा व्यापक दृष्टि से मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार करता है। उसके अनुसार स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और विश्व-शांति जैसे महान आदर्शों के अनुरूप आचरण करके ही संपूर्ण मानव-जाति निरंतर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो सकती है। इस महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की अपनी तर्कबुद्धि ही उसका मार्ग प्रशस्त कर सकती है, कोई अलौकिक शक्ति नहीं। इसी कारण किसी काल्पनिक दैवी शक्ति पर आश्रित न रह कर अपने जीवन की सभी समस्याओं तथा कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य को स्वयं अपने ऊपर ही भरोसा करना होगा और अंधकार में अपने लिए स्वयं ही प्रकाश की खोज करनी होगी। मनुष्य के व्यक्तिगत आनंद तथा सामाजिक कल्याण के लिए यही एकमात्र तर्कसंगत मार्ग है। इस प्रकार मानवतावाद की आचारमीमांसा मनुष्य को निराश, भयभीत एवं परावलंबी न बनाकर उसे जीवन के प्रति आशावादी, निर्भय तथा स्वावलंबी बनाती है और साथ ही संपूर्ण मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति के लिए भी उसे प्रेरित करती है।

3. देवात्मा की मानवतावादी विचारधारा

मानवतावाद का अर्थ और उसके आधारभूत सिद्धांतों को जान लेने के पश्चात् अब यहाँ विस्तार से इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि देवात्मा का दर्शन किस अर्थ में मानवतावादी दर्शन है। दूसरे शब्दों में, हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि देवात्मा के दर्शन में मानवतावाद के उपर्युक्त मूल सिद्धांतों को कहाँ तक स्वीकार किया गया है। उक्त प्रश्न पर विचार करते समय हमें इस तथ्य को विशेष रूप से ध्यान में रखना होगा कि व्यवस्थित दर्शन एवं मानव-धर्म के रूप में मानवतावाद का उदय विज्ञान के प्रभाव के फलस्वरूप पाश्चात्य दर्शन के अंतर्गत अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ था, अतः इसका मूल आधार तर्कबुद्धि तथा

वैज्ञानिक पद्धति ही है. हम प्रथम खंड में देख चुके हैं कि ईश्वरवादियों तथा धर्मपरायण दार्शनिकों के विपरीत देवात्मा विज्ञान और उसकी वस्तुपरक तर्कसंगत पद्धति को विशेष महत्त्व देते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने दर्शन मे मानवतावाद के मूल सिद्धांतो को स्वीकार किया है और मुख्यत इन्ही सिद्धांतो के आधार पर वैज्ञानिक दृष्टि से जीवन तथा जगत् की तर्कसंगत व्याख्या की है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए यहाँ हम देवात्मा के दर्शन की ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमासा और आचारमीमासा की विस्तृत विवेचना करेगे। परतु देवात्मा के दर्शन के इन तीनो पक्षों पर विचार करने से पूर्व यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि हमारा उद्देश्य उनके सपूर्ण दर्शन की विवेचना करना नही, अपितु केवल यह स्पष्ट करना है कि उनका दर्शन किस सीमा तक मानवतावादी दर्शन है।

(1) ज्ञानमीमांसा

मानवतावाद की ज्ञानमीमासा के समान ही देवात्मा की ज्ञानमीमासा भी पूर्णत: अनुभवमूलक है। वे भी मुख्यत प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का सर्वाधिक विश्वसनीय प्रमाण मानते हैं और अनुमान शब्द आदि अन्य प्रमाणो को प्रत्यक्ष पर आधारित प्रमाणों के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यही है कि देवात्मा के मतानुसार मनुष्य का अनुभव और उसकी तर्कबुद्धि ही ज्ञान-प्राप्ति के मूल स्रोत हैं। इसी कारण ऐसे किसी विचार या सिद्धात को स्वीकार करना उचित नही है जिसे मानवीय अनुभव पर आधारित वैज्ञानिक विधियो द्वारा सत्यापित नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक विधियो से देवात्मा का तात्पर्य निरीक्षण, प्रयोग आदि उन आगमनात्मक विधियों से है जिनका प्रयोग विज्ञान के अंतर्गत किया जाता है और जिनके आधार पर वैज्ञानिक अपनी प्राक्कल्पनाओं की वस्तुपरक रूप से परीक्षा करते हैं। देवात्मा यह मानते हैं कि इन वैज्ञानिक विधियो द्वारा जिस विचार, मान्यता अथवा सिद्धात का सत्यापन सभव है केवल उसे ही सत्य माना जा सकता है। ऐसे सभी विचार या सिद्धात मिथ्या हैं जिन्हे इन वैज्ञानिक विधियो द्वारा सत्यापित नही किया जा सकता। इसी आधार पर देवात्मा ने ईश्वर तथा अन्य सभी अलौकिक शक्तियो के अस्तित्व से सबधित सिद्धातो का खडन किया है।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए वैज्ञानिक विधि के महत्त्व का उल्लेख करते हुए देवात्मा स्पष्ट करते हैं कि "मैं केवल ऐसे ज्ञान को ही स्वीकार कर सकता हूँ जो इस विधि द्वारा सत्य प्रमाणित हो चुका है। किसी बात पर केवल इसलिए विश्वास करना उचित नही है कि वह प्राचीन है या नवीन, प्रचलित है या अप्रचलित, दुखद है अथवा सुखद, स्वदेशी है अथवा विदेशी। मैं केवल उसे ही स्वीकार कर सकता हूँ जो वैज्ञानिक विधि द्वारा परीक्षा करने के पश्चात् सत्य प्रमाणित हो चुका है, अत सभी विचारो या सिद्धातो की परीक्षा करना मेरे जीवन का मुख्य उद्देश्य बन गया है"।[1] इसी प्रकार अपने जीवन मे वैज्ञानिक विधियो के उच्चतम स्थान को स्वीकार करते हुए देवात्मा ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि "जॉच करने की वैज्ञानिक विधियो के नियमों ने धीरे-धीरे मेरे हृदय पर सर्वोच्च अधिकार प्राप्त कर लिया। तर्कशास्त्र सबधी नियमो के साथ-साथ प्रयोग सबधी नियमो ने मुझे इतना अधिक अभिभूत कर दिया और वे मेरे मन के ऐसे अभिन्न अग बन गए कि मेरे लिए केवल परिकल्पना अथवा परपरा के आधार पर किसी विश्वास को स्वीकार करना असभव हो गया"।[2] देवात्मा के इन विचारो से यह पूर्णत स्पष्ट है कि वे केवल उन्ही मान्यताओ, विचारो या सिद्धातो

1 सत्य नारायण अग्निहोत्री, मुझ मे देव-जीवन का विकास खंड 1, अध्याय 5, पृ 37-38
2 सत्य नारायण अग्निहोत्री, 'आत्मकथा', पृ 3

को स्वीकार करते हैं जो निरीक्षण, प्रयोग आदि वैज्ञानिक विधियो द्वारा सत्यापित हो चुके हैं अथवा जिन्हे इन विधियों द्वारा सत्य प्रमाणित करना सभव है।

देवात्मा ने सत्य की चार कसौटियो का उल्लेख किया है जो उनकी उपर्युक्त अनुभवमूलक ज्ञानमीमासा के अनुरूप ही हैं। इन कसौटियो की सहायता से हम यह जान सकते हैं कि हमारा कौन-सा विचार, विश्वास अथवा सिद्धात सत्य है। सत्य की ये चार कसौटियाँ निम्नलिखित हैं —(1) ऐसा कोई भी विश्वास सत्य नही हो सकता जो प्रकृति से परे है। (2) ऐसा कोई भी विश्वास सत्य नही हो सकता जो प्रत्यक्ष ज्ञान के विरुद्ध है। (3) जिस विश्वास की तर्कशास्त्र के नियमो तथा उसकी विधियो के साथ सगति नही है वह सत्य नही हो सकता। (4) जो विश्वास अपरिवर्तनशील प्राकृतिक नियमो का उल्लघन करता है और जिसे समुचित परीक्षण द्वारा प्रमाणित नही किया जा सकता वह सत्य नही हो सकता।[3] देवात्मा द्वारा वर्णित सत्य की इन चार कसौटियों से यह स्पष्ट है कि ये सभी वास्तव मे नकारात्मक हैं—अर्थात् ये हमे बताती हैं कि हमारा कौन-सा विश्वास, विचार या सिद्धात सत्य नही है। परतु इन कसौटियो के आधार पर हम यह भी जान सकते हैं कि हमें अपने किस विचार, सिद्धात अथवा विश्वास को सत्य मानना चाहिए। इन सभी कसौटियो की यह अनिवार्य माँग है कि केवल वैज्ञानिक विधियो द्वारा सत्यापित विचार, विश्वास अथवा सिद्धात को ही सत्य माना जा सकता है। देवात्मा की इस अनुभवमूलक ज्ञानमीमासा का ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे वर्तमान शताब्दी के तर्कीय प्रत्यक्षवाद की ज्ञानमीमासा का पूर्वाभास मिलता है। वस्तुत यह कहना अनुचित न होगा कि कार्नेप, एयर आदि के तर्कीय प्रत्यक्षवाद की ज्ञानमीमासा देवात्मा की ज्ञानमीमासा से मूलत भिन्न नहीं है।[4] इससे अनुभववादी परपरा के परिप्रेक्ष्य मे देवात्मा के दर्शन के महत्त्व को भलीभाँति समझा जा सकता है। हम पिछले खड मे देख चुके हैं कि मानवतावादी भी इसी अनुभवमूलक ज्ञानमीमासा को स्वीकार करते हैं अत- इस दृष्टि से मानवतावाद तथा देवात्मा के दर्शन मे पर्याप्त समानता है।

(2) तत्त्वमीमांसा

देवात्मा की तत्त्वमीमांसा उनकी उपर्युक्त अनुभवमूलक ज्ञानमीमासा पर ही आधारित है। उनकी तत्त्वमीमासा को 'प्रकृतिवादी तत्त्वमीमासा' कहा जा सकता है जो मानवतावाद की तत्त्वमीमासा से मूलत भिन्न नही है। मानवतावादियो के समान ही देवात्मा ने भी प्रकृतिवादी विचारधारा के आधार पर ही ब्रह्माड की अंतिम सत्ता, उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप तथा विकास और पृथ्वी पर मानव सहित समस्त प्राणियो के आविर्भाव की व्याख्या की है। ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति के स्थान पर वे केवल प्रकृति को ही ब्रह्माड की अंतिम सत्ता के रूप मे स्वीकार करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि देवात्मा ने 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे किया है। उनके मतानुसार प्रकृति समस्त ग्रह-नक्षत्रो, भौतिक वस्तुओ, पेड-पौधो तथा प्राणियो की महा समष्टि है जो निरतर परिवर्तनशील है। पुद्गल तथा शक्ति इस प्रकृति के मूल रूप हैं जिनके माध्यम से यह हमारे समक्ष उपस्थित होती है। प्रकृति से बाहर अथवा उससे पृथक किसी वस्तु और प्राणी का अस्तित्व सभव नही है, अत ईश्वर तथा अन्य अलौकिक शक्तियो की प्राक्कल्पना पूर्णत मिथ्या है। हम अपनी तर्कबुद्धि तथा विज्ञान की वस्तुपरक विधियो द्वारा किसी

---

3 सत्य नारायण अग्निहोत्री, 'देवशास्त्र', खड 2, पृ 73-74

4 ए जे एयर 'लैंग्वेज, ट्रुथ एड लॉजिक' अध्याय 1.

अलौकिक शक्ति के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकते, अतः ऐसी किसी शक्ति में विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नही है। मुख्यतः इसी आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए देवात्मा ने ईश्वरवाद का खंडन किया है। इस संबंध में वे स्पष्ट कहते हैं कि "केवल प्रकृति ही यथार्थ सत्ता है; उसके अतिरिक्त अथवा उससे परे कुछ भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रकृति का ही भाग है, इसलिए उसके अतिरिक्त अथवा उससे बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नही है; न भूतकाल मे ऐसा था और न भविष्य में कभी ऐसा हो सकता है। . किसी व्यक्ति के लिए यह विश्वास करना झूठ के अतिरिक्त और कुछ नही है कि किसी निर्जीव वस्तु या सजीव प्राणी का प्रकृति से बाहर अस्तित्व है। जब प्रकृति से बाहर किसी प्राणी का अस्तित्व हो ही नही सकता तो किसी भी सत्यान्वेषी का यह विश्वास करना मूर्खतापूर्ण है कि ऐसे किसी प्राणी का अस्तित्व है"।[5] अपनी इसी मान्यता के आधार पर देवात्मा यह कहते हैं कि हमारे समक्ष प्रकृति तथा ईश्वर इन दोनो में से किसी एक के चुनाव का प्रश्न ही नही है, क्योंकि हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि वास्तव मे प्रकृति से बाहर ईश्वर का अस्तित्व है ही नही। इस प्रकार देवात्मा निरीश्वरवाद मे पूर्णतः विश्वास करते हैं जो उनके प्रकृतिवाद का अनिवार्य परिणाम है और इस प्रकृतिवाद को वे वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर पूर्ण रूप से सत्य मानते हैं। हम पिछले खंड मे देख चुके हैं कि मानवतावाद भी इसी प्रकृतिवादी विचारधारा में विश्वास करता है, अतः इस दृष्टि से मानवतावाद तथा देवात्मा के दर्शन की तत्त्वमीमांसा मे पूर्ण समानता है।

मानवतावादियो की भाँति प्रकृतिवाद मे विश्वास करने के कारण देवात्मा भी सृजनवाद, आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धांतो का खंडन करते हैं। उनका मत है कि ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति ने इस विश्व की रचना नही की, इसकी उत्पत्ति तथा इसका विकास प्राकृतिक कारणों के परिणामस्वरूप ही हुआ है। ऐसी स्थिति मे ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत किया जाने वाला विश्व-रचना संबधी तर्क मिथ्या और निराधार है। जगत् मे विद्यमान सभी वस्तुओ तथा प्राणियों का आविर्भाव और विकास सुनिश्चित प्राकृतिक नियमो के अनुसार ही होता है, इसके लिए किसी अलौकिक शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नही है।

ईश्वर के अतिरिक्त शरीररहित आत्मा के अस्तित्व तथा उसकी अमरता के सिद्धान्त का भी देवात्मा ने खंडन किया है। वे अपने दर्शन मे आत्मा की चर्चा अवश्य करते हैं, किंतु वे उस रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते जिस रूप मे अधिकतर भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। देवात्मा के मतानुसार आत्मा कोई शरीररहित अभौतिक द्रव्य नहीं है जो एक शरीर के पश्चात् दूसरे शरीर में प्रवेश करती है और जो कभी नष्ट नहीं होती। वस्तुतः ऐसे अजर-अमर तथा अभौतिक द्रव्य के अस्तित्व को तर्कबुद्धि और वैज्ञानिक विधि द्वारा कभी प्रमाणित नही किया जा सकता, अतः 'आत्मा' नामक ऐसे द्रव्य की सत्ता मे विश्वास करने के लिए हमारे पास कोई तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक आधार नहीं है। देवात्मा यह मानते हैं कि आत्मा प्रत्येक प्राणी की जीवनी-शक्ति है जिसका जन्म और विकास प्राकृतिक नियमो के अनुरूप जैविक कारणो के फलस्वरूप ही होता है। वस्तुतः उन्होंने 'आत्मा' तथा 'जीवनी-शक्ति' का प्रयोग पूर्णतः समानार्थक शब्दों के रूप मे ही किया है, अतः जब वे अपने दर्शन में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे उनका तात्पर्य प्रत्येक प्राणी की 'जीवनी-शक्ति' से ही है। उनका कथन है कि विभिन्न

---

5 सत्य नारायण अग्निहोत्री 'देवशास्त्र' खंड 1 पृ. 89.' खंड 2 पृ 73

प्राणियों मे इस जीवनी-शक्ति का विकास भिन्न-भिन्न स्तरो पर हुआ है। यह जीवनी-शक्ति (अथवा आत्मा) ही शरीर को बनाए रखती है और उसे समस्त कर्म करने मे समर्थ बनाती है। इसी के कारण शरीर का विकास होता है और उसके क्षतिग्रस्त कोशों के स्थान पर नवीन स्वस्थ कोशो का जन्म होता है। इस जीवनी-शक्ति (या आत्मा) के अभाव मे शरीर अपना कोई भी कार्य सपन्न नही कर सकता। इस दृष्टि से यह आत्मा शरीर के लिए नितात अनिवार्य है। परतु देवात्मा का विचार है कि शरीर के अभाव मे इस जीवनी-शक्ति अथवा आत्मा का अस्तित्व सभव नही है, अत शरीररहित आत्मा की प्राक्कल्पना मिथ्या है। आत्मा के अस्तित्व के लिए किसी प्रकार के शरीर का होना अनिवार्य है। इस प्रकार देवात्मा के विचार मे शरीर तथा उसकी जीवनी-शक्ति या आत्मा दोनो परस्पर अन्योन्याश्रित रूप मे सबद्ध हैं, न तो आत्मा के बिना शरीर बना रह सकता है और न ही शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व संभव है। इस दृष्टि से आत्मा और शरीर एक-दूसरे के लिए समान रूप से अनिवार्य हैं। आत्मा या जीवनी-शक्ति सभी प्राणियो मे भिन्न-भिन्न होती हैं; ऐसी कोई महा आत्मा नही है जो सभी प्राणियो में समान रूप मे विद्यमान रहती है। इस प्रकार देवात्मा समस्त प्राणियो मे एक ही आत्मा के अस्तित्व से सबधित कुछ भारतीय दार्शनिकों के सिद्धांत को पूर्णत अस्वीकार करते हैं। वे इस मान्यता का भी खडन करते हैं कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है। स्पष्टत इसका अर्थ यही है कि वे पुनर्जन्म के सिद्धांत को भी स्वीकार नही करते।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या शरीर के नष्ट हो जाने के साथ ही उसकी जीवनी-शक्ति अथवा आत्मा का भी विनाश हो जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में देवात्मा का कथन है कि यदि किसी भयंकर दुर्घटना या अपने अत्यधिक दुष्कर्मों के कारण कोई आत्मा अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर प्राप्त न कर सके तो वह अवश्य ही नष्ट हो जाती है। सामान्यत आत्मा अपने स्थूल शरीर से ठीक उसी के अनुरूप सूक्ष्म शरीर ग्रहण करती है और अपने कर्मो के अनुसार इसी पृथ्वी के आसपास अथवा 'सूक्ष्म परलोक' मे निवास करती है। देवात्मा ने अपनी पुस्तक 'मनुष्यात्मा के संबध में चार महा तत्त्व' के दूसरे अध्याय में आत्माओ के अपने स्थूल शरीरो से सूक्ष्म शरीरों के ग्रहण करने की प्रक्रिया तथा उस 'सूक्ष्म परलोक' की स्थिति का विस्तृत वर्णन किया है जिसमे वे मृत्यु के पश्चात निवास करती हैं। उनका कथन है कि मृत्यु के पश्चात प्रत्येक आत्मा का सूक्ष्म शरीर उसकी मृत्यु से पूर्व उसके स्थूल शरीर के पूर्णत समान होता है और उसके अच्छे या बुरे स्वभाव मे भी कोई अंतर नही होता। अत्यत सूक्ष्म होने के कारण यह सूक्ष्म शरीर साधारण आँखो से दिखाई नही देता, किंतु मूलत स्थूल शरीर के भौतिक द्रव्य से निर्मित होने के कारण वास्तव मे यह भौतिक शरीर ही होता है। इसके सभी अग अत्यत सूक्ष्म आकार मे ठीक वैसे ही होते हैं जैसे मृत्यु से पूर्व स्थूल शरीर के थे। प्रत्येक आत्मा का यह सूक्ष्म शरीर भी उसके पूर्ववर्ती स्थूल शरीर के समान ही सुख-दु:ख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, कामवासना, निद्रा आदि सब का अनुभव करता हैं। स्पष्ट है कि यह सूक्ष्म शरीर भी उन्ही प्राकृतिक नियमो द्वारा पूर्णत: शासित होता है जिन प्राकृतिक नियमो द्वारा स्थूल शरीर शासित होता था। इसमे भी वे सभी मानसिक शक्तियाँ, अच्छाइयाँ और बुराइयाँ विद्यमान रहती है जो स्थूल शरीर मे विद्यमान थीं। सूक्ष्म शरीर में भी प्रत्येक आत्मा को उसके अच्छे या बुरे कर्मो के अनुसार ही सुख अथवा दु ख प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, जो मनुष्य इस संसार में अपने जिन अगो द्वारा दुष्कर्म करता है उसकी आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर के लिए उन अगों का निर्माण करने में असमर्थ रहती है, फलत उन अगो के अभाव मे उसे परलोक मे भी अत्यधिक कष्ट भोगना पडता है इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को उसके शुभ य अशुभ कर्मों के ही स्वस्थ अथवा विकृत सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है दुष्कर्म करने वा

मनुष्य सूक्ष्म शरीर धारण करने के पश्चात् भूत, प्रेत, चुडैल आदि बन कर इसी पृथ्वी के आस-पास रहते हैं और शुभ कर्म करने वाले मनुष्य सूक्ष्म शरीर प्राप्त करके परलोक मे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। आत्माओ के सूक्ष्म शरीरो के अतिरिक्त देवात्मा ने परलोक में सूक्ष्म पृथ्वी, चद्रमा, सूर्य तथा सपूर्ण आधुनिक मानवीय सभ्यता की भी कल्पना की है।[6]

यहाँ स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि आत्माओ के सूक्ष्म शरीरो तथा परलोक के स्वरूप के विषय मे देवात्मा ने ऊपर जो कुछ कहा है क्या उसका कोई वैज्ञानिक और तर्कसगत आधार है। मेरे विचार मे वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धातो को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, देवात्मा ने सूक्ष्म शरीर तथा परलोक सबधी अपनी उपर्युक्त मान्यताओ की पुष्टि के लिए कोई वस्तुपरक वैज्ञानिक तर्क प्रस्तुत नही किए। वे हमें यह नहीं बताते कि प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुभवाश्रित सत्यापन के अभाव मे हम सूक्ष्म शरीर और परलोक विषयक उनकी प्राक्कल्पनाओं को क्यो स्वीकार कर ले। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, वे स्वय निश्चित रूप से यह मानते हैं कि ऐसी किसी प्राक्कल्पना मे विश्वास करना अनुचित है जिसका अनुभव द्वारा सत्यापन सभव न हो। उनकी यह मान्यता निश्चय ही उचित है, किंतु सूक्ष्म शरीर तथा परलोक के विषय में उन्होने जो कुछ कहा है वह इस मान्यता के ठीक विपरीत है, अत उनकी इन दोनो मान्यताओ मे सगति स्थापित करना सभव प्रतीत नही होता। फिर यहाँ यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि 'परलोक' से देवात्मा का क्या तात्पर्य है। क्या यह परलोक पृथ्वी के समान ही कोई विशेष ग्रह है अथवा क्या यह देश-कालातीत कोई अलौकिक स्थान है जिसमे सूक्ष्म शरीरधारी आत्माएँ निवास करती हैं? यदि यह कोई विशेष ग्रह है तो, जहाँ तक मुझे ज्ञात है देवात्मा ने इसकी भौगोलिक स्थिति को अपने दर्शन मे कही स्पष्ट नही किया। यदि यह देश-कालातीत कोई अलौकिक स्थान है तो इसकी अवधारणा मे स्वतोव्याघात आ जाता है, क्योंकि देश और काल से परे किसी स्थान की बात करना निरर्थक है। ऐसे एक स्थान की प्राक्कल्पना मे स्वतोव्याघात पूर्णत स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त परलोक की अवधारणा मे एक कठिनाई यह भी है कि इसे तर्कसगत प्रमाणो तथा वैज्ञानिक विधि द्वारा कभी सत्य प्रमाणित नही किया जा सकता। इस अवधारणा को स्वीकार कर लेने पर देवात्मा के दर्शन मे अलौकिक तत्त्व का समावेश हो जाता है जिसका वे स्वय दृढतापूर्वक विरोध करते हैं। उपर्युक्त प्रश्नो के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि परलोक मे निवास करने वाली सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्माओ की प्राक्कल्पना को स्वीकार करना क्यो आवश्यक है। इसे स्वीकार करने के फलस्वरूप कौन-सी दार्शनिक समस्या का समुचित समाधान होता है? क्या इसे स्वीकार करके देवात्मा पुनर्जन्म के सिद्धात की व्याख्या करना चाहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है, क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं देवात्मा पुनर्जन्म के सिद्धात को स्वीकार नही करते। वे निश्चित रूप से यह मानते हैं कि कोई भी आत्मा एक स्थूल शरीर के पश्चात् दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण नही कर सकती अत पुनर्जन्म सभव नही है। फिर सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा की अवैज्ञानिक प्राक्कल्पना को स्वीकार करने का क्या औचित्य है? मेरे विचार में देवात्मा के विज्ञानसम्मत दर्शन के सदर्भ मे इस प्रश्न का कोई तर्कसगत और सतोषप्रद उत्तर देना सभव नही है। वस्तुत यदि देवात्मा उक्त अलौकिक तथा अवैज्ञानिक प्राक्कल्पना को स्वीकार न करते तो निश्चय ही उनका दर्शन अधिक तर्कसगत और वैज्ञानिक होता।

---

6 सत्य अग्निहोत्री के सबध म चार सत्य ग्रन्थ अध्याय 2 पृ 0-25

(3) आचारमीमांसा

देवात्मा की आचारमीमांसा मूलत उनकी अनुभवमूलक ज्ञानमीमांसा तथा प्रकृतिवादी तत्त्वमीमांसा पर ही आधारित है। उनकी आचारमीमांसा का केंद्र-बिंदु मनुष्य ही है, अत इसे 'मानव-केंद्रित आचारमीमांसा' कहा जा सकता है। ईश्वरवादी दार्शनिको के विपरीत देवात्मा मनुष्य के अध्ययन को ही अपने दर्शन का मूल उद्देश्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रकृति, जगत् आदि अन्य सभी विषयो का अध्ययन अतत मनुष्य के अध्ययन का ही साधन मात्र है। मनुष्य की उत्पत्ति, उसके विकास, स्वभाव तथा ब्रह्माड मे उसके स्थान को जानने के लिए ही हम अन्य सभी विषयो का अध्ययन करते हैं। वस्तुत इसी मूल उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए देवात्मा ने अपने सपूर्ण दर्शन का निर्माण किया है। इस सबध मे वे स्पष्ट कहते हैं कि "मैं सर्वप्रथम मानवता का अग हूँ और इसके पश्चात् ब्रह्माड का, अत तुलनात्मक दृष्टि से मेरे लिए मनुष्य के स्वभाव के ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। यदि मनुष्य के रूप मे मुझे स्वय अपनी आत्मा का ज्ञान नही है और मैं ब्रह्माड का ज्ञान प्राप्त कर लेता हूँ तो इस ज्ञान का मेरे लिए क्या लाभ है?"[7] इस प्रकार देवात्मा के अनुसार मनुष्य के रूप में स्वय अपना ज्ञान प्राप्त करना—अर्थात् अपने जन्म, विकास तथा स्वभाव के विषय मे जानना—हमारा प्रमुख कर्तव्य है। अपनी इसी मानव-केंद्रित विचारधारा के अनुरूप उन्होंने अपने दर्शन मे मनुष्य की उत्पत्ति, उसके विकास स्वभाव और ब्रह्माड मे उसके स्थान की विस्तृत विवेचना की है। अपनी पुस्तक 'देवशास्त्र' के तीसरे खड मे उन्होंने मनुष्य से सबधित इन सभी विषयो पर गभीरतापूर्वक विचार किया है और वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर इनके सबध मे अपने तर्कपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। वस्तुत मनुष्य का स्वरूप तथा ब्रह्माड का स्वरूप ये दो विषय उनके दर्शन के मूल विषय हैं। परन्तु उनका स्पष्ट कथन है कि वे मनुष्य के स्वरूप के अध्ययन को ब्रह्माड के स्वरूप के अध्ययन की अपेक्षा कही अधिक महत्त्व देते हैं। इसी कारण उनके दर्शन को 'मानवतावादी दर्शन' कहना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है।

देवात्मा ने मनुष्य की उत्पत्ति और उसके विकास की पूर्णत प्रकृतिवादी व्याख्या की है जो वर्तमान युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुरूप ही है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कुछ विचारको ने उनके दर्शन को 'वैज्ञानिक मानवतावाद' की सज्ञा दी है। मनुष्य की उत्पत्ति के विषय मे देवात्मा मूलत विकासवादी विचारधारा को ही स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य का विकास भी प्राकृतिक वातावरण मे प्रकृति के अनिवार्य नियमो के अनुसार ही हुआ है। इस दृष्टि से पशु-जगत् के साथ मनुष्य का अपरिहार्य सबध है। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था मे पशु ही था, किंतु कालातर मे धीरे-धीरे उसने विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया मे अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण किया। मनुष्य के विकास की इस प्राकृतिक प्रक्रिया का ईश्वर या किसी अन्य अलौकिक शक्ति से कोई सबध नही है, क्योंकि वास्तव मे ऐसी शक्ति के अस्तित्व की प्राक्कल्पना मिथ्या और निराधार है। प्राकृतिक परिवेश मे पशु-जगत् मे विकसित होने के कारण मनुष्य मे भूख, प्यास, कामेच्छा, भय, निद्रा आदि सभी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ अथवा इच्छाएँ विद्यमान हैं। परतु मूलत पशु-जगत मे विकसित होते हुए भी मनुष्य पशु से बहुत भिन्न तथा विकास की दृष्टि से उसकी अपेक्षा कही अधिक उच्च स्तर पर है। विवेक तर्कबुद्धि, नैतिकता, सौंदर्य-चेतना तथा मनुष्य के अन्य अनेक मानसिक गुण उसे पशु से केवल पृथक ही नही करते, अपितु उसकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट भी बनाते हैं। इस प्रकार देवात्मा के मतानुसार पशु-जगत् में मनुष्य के विकसित होने का तात्पर्य यह कदापि नही है कि मनुष्य को अपना जीवन पशु के समान ही व्यतीत

---

7 सत्य नारायण 'अग्निहोत्री' 'मनुष्य मे देव-जीवन का विकास' खड १ पृ 19

करना चाहिए। इसके विपरीत मनुष्य की विशेषता और महानता इसी मे है कि वह अपने उच्चतम मानसिक तथा नैतिक गुणो के अनुरूप आचरण करे। परतु इसके साथ ही उसे अपनी नैसर्गिक शारीरिक इच्छाओ की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए, क्योंकि ये इच्छाएँ भी उसके स्वभाव का अनिवार्य अग हैं और इनका निषेध करना स्वय मानव-स्वभाव के विरुद्ध आचरण करना होगा। देवात्मा का विचार है कि मनुष्य को अपनी नैसर्गिक इच्छाओ की पूर्ति ऐसे सयमित ढग से करनी चाहिए कि इसके फलस्वरूप स्वय उसका तथा समाज का हित हो और स्वय उसे एव अन्य व्यक्तियो को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। इसका अर्थ यह है कि अनियत्रित रूप मे अपनी प्राकृतिक इच्छाओ की तृप्ति करना निश्चय ही अनुचित है, किंतु इन इच्छाओ का निषेध करना तथा इनका बलपूर्वक दमन करना भी उतना ही अनुचित एव अवांछनीय है। इस प्रकार देवात्मा की आचारमीमासा भोगवाद तथा सन्यासवाद इन दोनो अतिवादी सिद्धातो का समान रूप मे निषेध करती है। यह इन दोनो अतिवादी सिद्धातो के बीच मे स्थित मध्यम मार्ग को स्वीकार करने के कारण मानव-जीवन के लिए इन दोनो सिद्धातो की आचारमीमासा की अपेक्षा कही अधिक सतुलित तथा श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त देवात्मा की यह सतुलित आचारमीमांसा जीवन और जगत् के प्रति उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण के भी पूर्णत अनुरूप है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि देवात्मा की आचारमीमांसा में मोक्ष तथा विकास इन दो अवधारणाओ का विशेष महत्त्व है। इन दोनो अवधारणाओ के आधार पर उन्होने आचारमीमासा से सबंधित इन मूल प्रश्नो का उत्तर दिया है कि मनुष्य को अपने जीवन में कैसा आचरण करना चाहिए और उसके जीवन का परम लक्ष्य क्या है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की भाँति देवात्मा ने भी मोक्ष की चर्चा की है, किंतु उन्होने 'मोक्ष' का जो अर्थ बताया है वह अन्य भारतीय दार्शनिको द्वारा बताए गए इसके अर्थ से बहुत भिन्न है। हम देख चुके हैं कि देवात्मा अनश्वर तथा अभौतिक द्रव्य के रूप मे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, अत उनके अनुसार 'विदेह मुक्ति' के रूप मे 'मोक्ष' की बात करना निरर्थक और निराधार है। वस्तुतः मनुष्य अपने वर्तमान जीवन मे ही एक विशेष प्रकार के बधन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। देवात्मा ने मनुष्य के इस विशेष प्रकार के बधन तथा उससे मुक्ति प्राप्त करने की व्याख्या इस प्रकार की है। मनुष्य मे अधिकाधिक सुख प्राप्त करने की अत्यत प्रबल इच्छा होती है जिसके फलस्वरूप उसके भीतर 'निम्नकोटि के अनुराग' तथा 'निम्नकोटि की घृणाएँ' उत्पन्न हो जाती हैं। निम्नकोटि के अनुरागो से देवात्मा का तात्पर्य अनियत्रित रूप मे सभी प्रकार के इंद्रिय-सुख प्राप्त करने की इच्छाओ से है। असयमपूर्वक शारीरिक सुख प्राप्त करने की ये इच्छाएँ मनुष्य को स्वार्थी तथा क्रूर बना देती हैं, फलत वह अपने आप को समाज से अलग समझने लगता है। जब मनुष्य की ये अनियत्रित तीव्र इच्छाएँ पूरी नही होती तो उसके मन मे उन सब वस्तुओ तथा व्यक्तियो के प्रति घृणाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो उसकी इन इच्छाओ की पूर्ति मे बाधक हैं। इन्ही घृणाओ को देवात्मा ने 'निम्नकोटि की घृणाएँ' कहा है। भोजन तथा अन्य खाद्य पदार्थों के प्रति असयमित आकर्षण, भोगविलास की अनियंत्रित लालसा, नशीली वस्तुओं की तीव्र इच्छा, विवाहेतर प्रेम, आलस्यपूर्ण जीवन, अपने कर्तव्यो की उपेक्षा, अधिकारी न होते हुए भी स्वय अपने लिए प्रशसा या पुरस्कार की इच्छा आदि बुराइयाँ निम्नकोटि के अनुरागो के उदाहरण हैं। इन निम्नकोटि के अनुरागो मे बाधक निर्दोष व्यक्तियो से ईर्ष्या तथा घृणा करना, प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर कर्म करना, श्रेष्ठ व्यक्तियो के प्रति तिरस्कार की भावना रखना आदि बुराइयो को देवात्मा ने 'निम्नकोटि की घृणाएँ' कहा है। उनका मत है कि जब मनुष्य उपर्युक्त निम्नकोटि के अनुरागो तथा निम्नकोटि की घृणाओ के वशीभूत होकर कर्म करता है तो उसकी आत्मा का अध पतन हो जाता है और वह एक विशेष

प्रकार के बधन मे बध जाती है। मानव-जीवन को अध पतन की ओर ले जाने वाले इस बधन से मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष है जिसे मनुष्य कठोर साधना द्वारा अपने वर्तमान जीवन में ही प्राप्त कर सकता है। जिस व्यक्ति ने निम्नकोटि के अनुरागो और निम्नकोटि की घृणाओ पर विजय प्राप्त कर ली है वही वास्तव मे मुक्त है। इस प्रकार देवात्मा ने मोक्ष की अवधारणा की नवीन मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है।

परंतु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि देवात्मा मनुष्य के उच्चतम नैतिक जीवन के लिए केवल मोक्ष को ही पर्याप्त नही मानते, उनका विचार है कि इसके लिए विकास का होना भी अनिवार्य है। वस्तुत विकास की अवधारणा का मोक्ष की अवधारणा के साथ अनिवार्य सबध है। 'विकास' से देवात्मा का तात्पर्य मनुष्य के भीतर उच्चकोटि के अनुरागो तथा उच्चकोटि की घृणाओ के उत्पन्न होने से है। जब मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है—अर्थात् जब वह निम्नकोटि के अनुरागो और निम्नकोटि की घृणाओ से मुक्त हो जाता है—तभी वह अपने भीतर उच्चकोटि के अनुरागों तथा उच्चकोटि की घृणाओ को उत्पन्न करके विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। सभी प्राणियो के प्रति करुणा अथवा दया की भावना, आत्मत्याग, परोपकार, उच्च आदर्शो एव मूल्यों के प्रति सम्मान, सभी प्रकार की बुराइयो को नियंत्रित करने की इच्छा, न्याय, कृतज्ञता, कर्तव्य-पालन की इच्छा, सत्य के अनुसधान की जिज्ञासा, सौंदर्य-चेतना आदि सद्वृत्तियाँ उच्चकोटि के अनुरागो के उदाहरण हैं। इसी प्रकार असत्य एव निर्दयता मे घृणा करना, अशुभ विचारों तथा अशुभ कर्मों से घृणा करना, सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयो से घृणा करना आदि उच्चकोटि की घृणाओ के उदाहरण हैं जिन्हे देवात्मा उच्चकोटि के अनुरागो के समान ही नैतिक दृष्टि से वांछनीय मानते हैं। इन उच्चकोटि की घृणाओं को ही पाश्चात्य दार्शनिक जी०ई० मूर ने 'मिश्रित शुभ' की सज्ञा दी है। यद्यपि वे इन्हें उच्चतम शुभ नही मानते, फिर भी देवात्मा की भाँति उन्होने भी इन्हे नैतिक दृष्टि से वाछनीय माना है।[8] देवात्मा का कथन है कि निम्नकोटि के अनुरागो तथा निम्नकोटि की घृणाओ से मुक्त होकर अपने भीतर उच्चकोटि के अनुरागो और उच्चकोटि की घृणाओ को विकसित करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है, क्योंकि इसी मे उसका वास्तविक विकास निहित है। मोक्ष तथा विकास के इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उसे निरतर कठोर साधना करनी होगी। अपनी पुस्तक 'देवशास्त्र' के चतुर्थ खड मे देवात्मा ने मनुष्य के लिए इस कठोर साधना के अनेक उपायो की विस्तृत विवेचना की है जिनके अनुरूप आचरण करके वह उच्चतम नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। देवात्मा निश्चित रूप से यह मानते हैं कि अपने मोक्ष और विकास के लिए मनुष्य को स्वय ही सतत प्रयास करना होगा, क्योंकि ईश्वर या कोई अन्य काल्पनिक अलौकिक शक्ति इसमे उसकी सहायता नही कर सकती।

यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि देवात्मा की आचारमीमासा का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। यह केवल मनुष्य के व्यक्तिगत कल्याण तथा सामाजिक हित तक ही सीमित नही है; इसमे पशु-पक्षियों के कल्याण और पेड़-पौधो एवं सपूर्ण प्राकृतिक परिवेश की रक्षा के लिए भी मनुष्य को प्रेरित किया गया है। देवात्मा की आचारमीमांसा की इस व्यापकता का कारण उनकी यह मान्यता है कि मनुष्य का संबध केवल अन्य मनुष्यों के साथ ही नहीं, अपितु सपूर्ण चराचर जगत् के साथ है, क्योंकि वह वास्तव मे इस सपूर्ण जगत् का अभिन्न अग है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का आचरण ऐसा होना चाहिए जिसके फलस्वरूप समस्त प्राणी-जगत् का कल्याण हो और वनस्पति सहित सपूर्ण प्राकृतिक परिवेश भी सुरक्षित रह सके। इसी व्यापक उद्देश्य की

8 जी ई मूर ऐथिक्स' 6 पृ 26-27

पूर्ति के लिए देवात्मा ने मनुष्य में दया, करुणा, स्नेह, सहानुभूति, परोपकार, कृतज्ञता, निस्स्वार्थ सेवा, आत्मत्याग आदि सद्वृत्तियों के अधिकाधिक विकास का होना अनिवार्य माना है और इसे विशेष महत्त्व दिया है। मनुष्य के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि मानव का सर्वप्रथम कर्तव्य इस सत्य का अनुभव करना है कि सभी मनुष्य एक-दूसरे पर निर्भर हैं, अतः उन्हें अपने भीतर पारस्परिक सहयोग, प्रेम, सहानुभूति आदि परोपकारात्मक भावनाओं को निरंतर विकसित करना चाहिए जिससे संपूर्ण मानव-जाति का जीवन आनंदमय हो सके। परंतु मनुष्य का कर्तव्य केवल मानव-जाति के कल्याण तक ही सीमित नहीं है, उसे पशु-पक्षियों के प्रति भी अपने दायित्व का अनुभव करना चाहिए, क्योंकि मूलतः पशु-जगत् से ही उसका विकास हुआ है। पशु-पक्षियों के प्रति निर्दयता घोर नैतिक अपराध है। मनुष्य को उनके साथ सदा स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए और उनके जीवन को सुरक्षित रखने के लिए यथासंभव प्रयास करना चाहिए। पशु-पक्षियों के अतिरिक्त पेड़-पौधों तथा प्राकृतिक परिवेश पर भी मनुष्य का जीवन पूर्णतः निर्भर है, अतः उनकी वृद्धि और रक्षा के लिए निरंतर प्रयत्न करना भी उसका नैतिक कर्तव्य है। अपने जीवन के लिए पेड़-पौधों की अनिवार्यता तथा महत्ता को ध्यान में रखते हुए उसे उनके प्रति भी स्नेह का अनुभव करना चाहिए और जल-वायु सहित संपूर्ण प्राकृतिक परिवेश को दूषित होने से यथासंभव बचाना चाहिए। इस प्रकार देवात्मा की आचारमीमांसा में केवल मानव-जाति के हित का ही नहीं, अपितु समस्त प्राणी-जगत् के कल्याण तथा वनस्पति सहित संपूर्ण भौतिक जगत् के विकास का भी ध्यान रखा गया है, अतः उनकी यह आचारमीमांसा मानवतावाद की आचारमीमांसा की अपेक्षा निश्चय ही कहीं अधिक व्यापक है।

देवात्मा की आचारमीमांसा के विवेचन को समाप्त करने से पूर्व यहाँ उनके द्वारा वर्णित 'आदर्श मानव' की अवधारणा का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। उन्होंने सभी मनुष्यों के लिए अनुकरणीय जिस 'आदर्श मानव' की अवधारणा को प्रस्तुत किया है वह उनके प्रकृतिवादी तथा वैज्ञानिक दर्शन के अनुरूप ही है। देवात्मा यह मानते हैं कि आदर्श मानव कोई अलौकिक प्राणी न होकर मूलतः प्राकृतिक जगत् से विकसित इसी संसार का ऐसा मनुष्य है जिसमें उच्चतम मानवीय सद्गुण अधिकतम मात्रा में विद्यमान रहते हैं। ऐसे आदर्श मानव के स्वरूप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि वह सदा सत्य का ही अनुसंधान करता है और झूठ से घृणा करता है। वह भय या प्रलोभन के कारण कभी भी सत्य का परित्याग करके झूठ को स्वीकार नहीं करता। इसके अतिरिक्त आदर्श मानव अपने जीवन में सदैव अच्छाई के प्रति पूर्णतः समर्पित रहता है और बुराई से घृणा करता है। वह क्रूरता, वासना, स्वार्थलिप्सा, लोभ, भय, क्रोध, मोह, अहंकार आदि अपनी सभी दुष्प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके अपने भीतर स्नेह, सहानुभूति, दया, करुणा, परोपकार, निस्स्वार्थ सेवा, आत्मत्याग आदि सद्वृत्तियों का अधिकतम विकास करता है। इस प्रकार सत्य तथा अच्छाई के प्रति पूर्ण समर्पण और झूठ एवं बुराई के प्रति तीव्र घृणा आदर्श मानव के जीवन की मूल विशेषताएँ हैं जो उसे साधारण मनुष्यों से पृथक करती हैं। उसकी ये मूल विशेषताएँ केवल सैद्धांतिक घोषणाओं तक ही सीमित न रहकर उसके संपूर्ण दैनिक जीवन में अभिव्यक्त होती हैं। वह पूर्ववर्णित निम्नकोटि के अनुरागों तथा निम्नकोटि की घृणाओं से पूर्णतः मुक्त होकर केवल उच्चकोटि के अनुरागों एवं उच्चकोटि की घृणाओं के अनुरूप ही आचरण करता है। वह अपने जीवन में सुख के स्थान पर सत्य तथा शुभत्व को ही महत्त्व देता है और ऐसा कोई कर्म नहीं करता जो इन दोनों अथवा इनमें से किसी एक के विरुद्ध हो। सत्य और शुभत्व के लिए वह सहर्ष अपने सभी सुखों का परित्याग कर देता है। ऐसे आदर्श मानव को ही 'देवात्मा' की संज्ञा दी गई है जो अलौकिक प्राणी न होते हुए भी विकास के [illegible] स्तर पर है। उसका जीवन सभी

मनुष्यों के लिए अनुकरणीय है और उन्हें आदर्श मानव बनने के लिए निरन्तर प्रेरित करता है। उसका देवत्वपूर्ण आचरण सामान्य मनुष्यों को निम्नकोटि के अनुरागों तथा निम्नकोटि की घृणाओं के बंधन से मुक्त करके उन्हें सदैव उच्चकोटि के अनुरागों एवं उच्चकोटि की घृणाओं के अनुरूप आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है और इस प्रकार उन्हें मोक्ष तथा विकास के पथ पर अग्रसर करता है। वस्तुतः देवात्मा के अनुसार ऐसे आदर्श मानवों से परिपूर्ण समाज का निर्माण ही विकास की प्रक्रिया का अंतिम लक्ष्य है जिसे मनुष्य स्वयं अपने सतत प्रयास द्वारा प्राप्त कर सकता है।

(4) निष्कर्ष

पिछले खंडों में हमने देवात्मा के दर्शन के कुछ प्रमुख पक्षों की संक्षिप्त विवेचना की है। इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि उनका दर्शन वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित मूलतः प्रकृतिवादी दर्शन है और इसमें मानवतावादी विचारधारा को विशेष महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मांड, प्रकृति तथा मनुष्य का तर्कपूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन देवात्मा के दर्शन का केंद्रबिंदु है जिसमें काल्पनिक अलौकिक शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है। इस दृष्टि से यह दर्शन ईश्वरवादी तथा अध्यात्मवादी दर्शन से मूलतः भिन्न है। हम देख चुके हैं कि ईश्वरवादी दर्शन के विपरीत देवात्मा के दर्शन में प्राकृतिक जगत् में विकसित प्राणी के रूप में मनुष्य तथा उसकी समस्याओं के अध्ययन को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसी कारण उनके दर्शन को 'मानवतावादी दर्शन' कहना पूर्णतः युक्तिसंगत प्रतीत होता है। मानवतावाद तथा उनके प्रकृतिवादी दर्शन में अनेक आधारभूत समानताएँ हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख हम पिछले खंडों में कर चुके हैं। दोनों ही अलौकिक शक्तियों एवं चमत्कारों के अस्तित्व का निषेध करते हुए केवल परिवर्तनशील प्रकृति को ही ब्रह्मांड की अंतिम सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने अनुभव तथा अपनी तर्कबुद्धि द्वारा ही प्रकृति के महान रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। दोनों ही मनुष्य को इस बात के लिए प्रोत्साहित करते हैं कि वह ईश्वर या किसी अन्य दैवी शक्ति पर आश्रित न रहकर पूर्णतः स्वावलंबी बने और पारलौकिक जीवन की मिथ्या परिकल्पना का परित्याग करके अपने वर्तमान जीवन का ही सभी दृष्टियों से अधिकतम विकास करे। दोनों की यह निश्चित मान्यता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है, कोई अन्य शक्ति उसके भाग्य का निर्माण नहीं कर सकती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानवतावाद और देवात्मा दोनों मूलतः एक ही प्रकृतिवादी तथा मानव-केंद्रित वैज्ञानिक विचारधारा में विश्वास करते हैं, अतः दोनों में आधारभूत समानताओं का होना स्वाभाविक ही है।

परन्तु उपर्युक्त समानताओं के साथ-साथ मानवतावाद तथा देवात्मा के दर्शन में कुछ मूल भेद भी हैं जिनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर देना आवश्यक है। मानवतावाद मुख्यतः मनुष्य के सामाजिक जीवन पर ही अपना ध्यान केंद्रित करता है जबकि देवात्मा के दर्शन का केंद्रबिंदु मानव का व्यक्तिगत जीवन है। मानवतावादी दर्शन में उन सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं को सुधारने पर विशेष रूप से बल दिया जाता है जो मनुष्य के जीवन को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। इसमें विश्वास करने वाले दार्शनिकों ने व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष के लिए कोई स्पष्ट और निश्चित कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया। परंतु देवात्मा के दर्शन में मनुष्य के सामाजिक जीवन के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति के नैतिक विकास को भी समुचित महत्त्व दिया गया है। देवात्मा यह मानते हैं कि मनुष्य की सामाजिक प्रगति अंततः व्यक्ति के नैतिक उत्थान पर ही निर्भर है, अतः उन्होंने अपने दर्शन में व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष के लिए साधना को सर्वोच्च स्थान दिया है

उनके अनुसार निरंतर कठोर साधना द्वारा ही व्यक्ति अपने भीतर नैतिक सद्गुणों का अधिकतम विकास कर सकता है और अपनी उन दुष्प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर सकता है जो स्वयं उसके लिए तथा समाज के लिए हानिकारक है।

देवात्मा के विचार मे मानव-जीवन का आदर्श आत्म-ज्ञान एव आत्म-विकास है जिसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपने भीतर विद्यमान अच्छाई तथा बुराई के मूल कारणों को समझे, अच्छाई से सबधित सद्वृत्तियो का विकास करे और बुराई से सबंधित दुष्प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त करे। आत्म-ज्ञान तथा आत्म-विकास का यह मार्ग ही वास्तव मे मोक्ष और विकास का मार्ग है जिसकी ओर अग्रसर होने के लिए मनुष्य को सतत कठोर साधना करनी होगी। इसी कारण मानवतावादियो के विपरीत देवात्मा ने व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए कठोर साधना को अनिवार्य माना है और अपने दर्शन मे इस साधना के उपायो का विषद विवेचन किया है। उनकी निश्चित मान्यता है कि इस साधना द्वारा ही मनुष्य निम्नकोटि के अनुरागो तथा निम्नकोटि की घृणाओ से मुक्त होकर अपने जीवन में उच्चकोटि के अनुरागों एव उच्चकोटि की घृणाओ के अनुरूप आचरण करते हुए 'देवात्मा' के महान आदर्श की ओर अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार सामाजिक कल्याण के साथ-साथ उसके मूल आधार व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष को विशेष महत्त्व देने के कारण देवात्मा का दर्शन मानवतावादी दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक, सतुलित तथा उत्कृष्ट है। वर्तमान युग मे महाविनाशकारी परमाणु अस्त्रो की भयानक विभीषिका से त्रस्त मानवता के लिए उनके इस तर्कसगत प्रकृतिवादी तथा मानवतावादी दर्शन की प्रासंगिकता और आवश्यकता निर्विवाद है।

परिशिष्ट

गाँधी जी की दृष्टि में नारी की सामाजिक स्थिति

गाँधी जी यह निश्चित रूप से मानते थे कि स्त्रियो की सामाजिक और आर्थिक स्थिति मे सुधार किए बिना भारत की सर्वतोमुखी प्रगति सभव नही है। हमारे देश की लगभग आधी जनसख्या स्त्रियो की है, अत उनकी सर्वागीण उन्नति के बिना भारत के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना भी नही की जा सकती। यही कारण है कि गाँधी जी ने भारतीय नारियो की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप इन समस्याओ के सतोषजनक समाधान के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं। उन्होने नारी और पुरुष की समानता, बाल-विवाह बाल-विधवाओं की स्थिति, दहेज-प्रथा, पर्दा-प्रथा देवदासी-प्रथा आदि सामाजिक समस्याओ के सबध मे सविस्तार अपने विचार व्यक्त किए हैं जो नारी के प्रति उनके उदार तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण के द्योतक हैं। इन समस्याओं को हल करने के लिए आज से पचास या साठ वर्ष पूर्व उन्होने जो सुझाव दिए थे वे आज भी पूर्णत सार्थक और मान्य हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भारत की इन सामाजिक समस्याओ के विषय मे गाँधी जी का दृष्टिकोण कितना व्यावहारिक, यथार्थवादी तथा प्रगतिशील था। प्रस्तुत लेख मे हम इन समस्याओ से सबधित उनके कुछ महत्त्वपूर्ण सुझावो का सक्षेप में उल्लेख करेंगे।

1 स्त्री और पुरुष की समानता

परिवार तथा समाज मे महत्त्व की दृष्टि से गाँधी जी नारी और पुरुष के पूर्णत समान अधिकारो मे विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य होने के नाते नारी और पुरुष की मूल समस्याएँ तथा आवश्यकताएँ समान हैं। वे समान रूप से सुख-दु ख तथा सभी मूल सवेगो और भावनाओ का अनुभव करते हैं। इस दृष्टि से स्त्री और पुरुष एक दूसरे से पृथक न होकर परस्पर पूरक हैं। वे एक दूसरे के सक्रिय सहयोग के बिना जीवित नही रह सकते।[1] ऐसी स्थिति में नारी को पुरुष की अपेक्षा किसी भी दृष्टि से निम्न अथवा निकृष्ट समझना गाँधी जी बहुत अनुचित एव निदनीय मानते हैं। उन्होने बहुत खेदपूर्वक इस तथ्य का उल्लेख किया है कि युगो से पुरुष स्त्री को अपने अधीन तथा अपने सुख का साधन मात्र समझता रहा है। भौतिक वस्तुओ की भाँति स्त्री को भी उसने अपनी ऐसी सपत्ति मान लिया है जिसका वह अपने सुख के लिए इच्छानुसार उपभोग कर सकता है। पुरुष के इस स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेने के कारण स्वय स्त्री मे भी आत्महीनता की भावना उत्पन्न हो गई है और वह अपने आप को उसकी अपेक्षा हीन समझने लगी है।[2] परतु गाँधी जी नारी के लिए इस आत्महीनता की भावना से मुक्त होना बहुत आवश्यक मानते

---

1 'सलैक्शनस् फ्रॉम गाँधी' सपादक निर्मल कुमार बोस, पृ० 27।

2 वही पुस्तक पृ० 27।

हैं। इसी कारण उन्होंने नारी के उन महान गुणों की ओर विशेष रूप से उसका ध्यान आकृष्ट किया है जो उनके विचार में स्वभावत: उसमें पाए जाते हैं। इन गुणों में स्नेह, करुणा, सहनशीलता, कष्टसहिष्णुता आदि का गाँधी जी ने विशेष रूप से उल्लेख किया है जो उनके अनुसार नारी के स्वभाव का अभिन्न अंग बन चुके हैं। इन्हीं सद्गुणों के कारण नारी को महान मानते हुए वे कहते हैं कि ''नारी अहिंसा का अवतार है। अहिंसा का अर्थ है असीम प्रेम और असीम प्रेम का अर्थ है कष्ट सहने की असीम शक्ति। स्त्री—जो पुरुष की माता है—के अतिरिक्त अधिकतम मात्रा में यह महान शक्ति और किस में है? उसे अपना यह प्रेम संपूर्ण मानव-जाति को प्रदान करना चाहिए, उसे यह भूल जाना चाहिए कि वह कभी पुरुष की वासना-तृप्ति की वस्तु थी अथवा हो सकती है। तभी वह पुरुष की माता और उसके भाग्य का निर्माण तथा उसका नेतृत्व करने वाली शक्ति के रूप में उसके समक्ष अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकती है। वही युद्ध और संघर्ष से पीड़ित संसार को शांति की कला सिखा सकती है''।[3] इस प्रकार गाँधी जी स्त्री को पुरुष के समान ही नहीं, अपितु मानवीय सद्गुणों की दृष्टि से उसकी अपेक्षा अधिक महान भी मानते हैं।

अपनी इसी उदार विचारधारा के अनुरूप गाँधी जी वैवाहिक जीवन में स्त्री और पुरुष के समान अधिकारों को स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि पति-पत्नी जीवन के सभी क्षेत्रों में परस्पर पूरक होने के कारण एक दूसरे के साथी अथवा सहयोगी हैं, अत: पत्नी को पति के अधीन समझना बहुत बड़ी भूल है। भारत में शताब्दियों से पुरुष यही भूल करता आ रहा है जिसके फलस्वरूप परिवार तथा समाज में नारी को उसका गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सका। इस दृष्टि से गाँधी जी के विचार में हिंदू संस्कृति ने नारी के साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है। इस अन्याय का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि ''हिंदू संस्कृति ने पत्नी को पति के अत्यधिक अधीन मानकर और उसके व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में पूर्णत: विलीन करने पर जोर देकर भूल की है। इसके परिणामस्वरूप पति कभी-कभी अपने अधिकारों का बहुत दुरुपयोग करता है जिसके कारण वह पशु के निम्न स्तर तक पहुँच जाता है। इस अत्याचार को रोकने का उपाय कानून बनाना नहीं, अपितु स्त्रियों को शिक्षित करना तथा पतियों के अनुचित व्यवहार के विरुद्ध जनमत का निर्माण करना ही है''।[4] नारी के विषय में हिंदू संस्कृति के विरुद्ध गाँधी जी का उपर्युक्त आरोप कहाँ तक उचित है इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बहुत कठिन है, किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पिछली कई शताब्दियों से हिंदू समाज में नारी के प्रति न्याय नहीं किया गया। विवाह तथा काम संबंधी नैतिकता के जो कठोर नियम नारी पर लागू किए गए उनसे पुरुष को लगभग मुक्त रखा गया जिसके फलस्वरूप नारी और पुरुष के संबंध में हिंदू समाज ने अन्यायपूर्ण दोहरी नैतिकता को पूर्णत: स्वीकार कर लिया। अन्य अनेक समाज-सुधारकों की भाँति गाँधी जी ने नारी के प्रति इस अन्याय का दृढ़तापूर्वक तीव्र विरोध किया है। वे बहुत खेदपूर्वक यह कहते हैं कि हिंदू समाज में पति अपनी पत्नी को प्राय: समान अधिकार नहीं देता। वह अपने लिए उन नैतिक बंधनों को स्वीकार नहीं करता जो वह अपनी पत्नी पर दृढ़तापूर्वक लगाता है। वह पारिवारिक समस्याओं के विषय में महत्त्वपूर्ण निर्णय करने से पूर्व अपनी पत्नी का परामर्श लेना आवश्यक नहीं समझता। ''वह अपनी पत्नी को अपनी संपत्ति समझता है और बेचारी पत्नी भी पति के इस दावे में विश्वास

3 वही पुस्तक, पृ 272-273
4 'हिंदू धर्म', संपादक भारतन कुमारप्पा, पृ० 421

करते हुए प्राय अपनी भावनाओ का दमन करती रहती है परतु स्त्री और पुरुष के समान अधिकारो में विश्वास करने के कारण गाँधी जी पति के इस अन्यायपूर्ण दावे को बहुत अनुचित एव निदनीय मानते हैं। उनका कथन है कि भारत में पति-पत्नी का आदर्श संबंध राम और सीता का सबध है, किंतु सीता राम की दासी नही थी। पत्नी को पति के अधीन मान लेना नारी के व्यक्तित्व का बहुत बडा अपमान है। परस्पर पूरक तथा सहयोगी होने के कारण पति और पत्नी मे से कोई भी किसी के अधीन नही है। पति-पत्नी के पारस्परिक सबध के विषय मे अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी ने लिखा है कि "पत्नी पति की दासी नही अपितु सगिनी तथा सहायता करने वाली सहचरी है जो उसके सुख-दुःख मे समान रूप से उसका साथ देती है, वह स्वय अपना मार्ग चुनने के लिए उतनी ही स्वतत्र है जितना पति। मैं स्त्रियों को अधिकतम स्वतत्रता देना चाहता हूँ"।[6] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गाँधी जी वैवाहिक जीवन मे स्त्री को पुरुष की अपेक्षा किसी भी दृष्टि से कम अथवा हीन नहीं मानते।

स्त्री और पुरुष की इस समानता मे विश्वास करने के कारण गाँधी जी हिदू समाज मे प्रचलित उस अंधविश्वास को निदनीय तथा हानिकारक मानते हैं जिसके अनुसार पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाता है। रूढीवादी हिदुओ मे आज भी यह अधविश्वास विद्यमान है कि पुत्र के बिना माता-पिता को स्वर्ग की प्राप्ति नही हो सकती, अत पुत्र का होना अनिवार्य है। इस अधविश्वास के कारण बहुत-से परिवारो मे पति-पत्नी के दाम्पत्य सबध की मधुरता नष्ट हो जाती है और नारी की स्थिति भी बहुत दयनीय हो जाती है। पुत्र-प्राप्ति की कामना से प्रेरित होकर अनेक दम्पति अपने परिवार मे पुत्रियो की सख्या मे अनावश्यक वृद्धि करते रहते हैं, जिसके कारण उनका दाम्पत्य जीवन प्राय दु खमय हो जाता है। इसके अतिरिक्त पुत्र-प्राप्ति की यह प्रबल कामना स्त्री और पुरुष के समान अधिकारो पर भी कुठाराघात करती है। इन्ही सब तथ्यो के कारण गाँधी जी ने केवल पुत्र प्राप्त करने की इच्छा को अनुचित और निदनीय माना है। उनका कथन है कि स्त्री और पुरुष की समानता के इस युग मे पुत्र तथा पुत्री मे भेदभाव करना न्यायसगत एव उचित नही है। पुत्र के जन्म पर प्रसन्न होने तथा पुत्री के उत्पन्न होने पर शोक मनाने का कोई उचित कारण नहीं है। वास्तव मे पुत्र और पुत्री दोनों का समान महत्त्व है, क्योकि ससार को बनाए रखने के लिए ये दोनो अनिवार्य हैं।[7] परतु गाँधी जी के विचार मे पुत्र की अनिवार्यता सबधी इस अधविश्वास तथा पुत्र और पुत्री मे अन्यायपूर्ण भेदभाव को इसके विरुद्ध जनमत जागृत करके और समाज मे नारी को उसका गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करके ही दूर किया जा सकता है।

अन्य क्षेत्रो की भाँति कानून के क्षेत्र मे भी गाँधी जी नारी को पुरुष के समान ही अधिकार देने का समर्थन करते हैं। उनका मत है कि कानून की दृष्टि मे नारी और पुरुष समान हैं, अत कानून द्वारा नारी पर ऐसा कोई प्रतिबध नही लगाया जाना चाहिए जो पुरुष पर नही लगाया गया है। इस का अर्थ यह है कि राजनीति, संपत्ति, विवाह, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन आदि सभी क्षेत्रो मे स्त्री को वे ही कानूनी अधिकार प्राप्त होने चाहिए जो पुरुष को दिए गए हैं। इस सबध मे स्त्री के प्रकार का भेदभाव करना उसके प्रति अन्याय है। इसी कारण गाँधी जी ने माता-पिता

5 वही पुस्तक, पृ० 405

6 'सलैक्शन्स फ्रॉम गाँधी, पृ० 273-274

7 'हिदू धर्म', पृ० 419.

की संपत्ति में पुत्र और पुत्री के समान अधिकार को स्वीकार किया है। वे वैवाहिक संबंध-विच्छेद के विषय में भी स्त्री और पुरुष को पूर्ण रूप से समान अधिकार देने के पक्ष में हैं। उनका कथन है कि शिक्षा प्राप्त करने के अनुपात के अनुसार ही नारी अपने कानूनी अधिकारों के प्रति अधिकाधिक जागरूक होती जाएगी और तब वह इस संबंध में अपने साथ होने वाले भेदभाव का दृढतापूर्वक विरोध करेगी।[8] परंतु नारी के लिए समान कानूनी अधिकारों की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी गाँधी जी यह मानते हैं कि केवल इन अधिकारों को प्राप्त कर लेने से ही उसकी पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। इन समस्याओं को हल करने के लिए स्वयं शिक्षित स्त्रियों को अधिकाधिक प्रयास करना होगा। इसके लिए गाँधी जी भारत की राजनीति में स्त्रियों का सक्रिय भाग लेना आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि राजनीति में भाग लेकर स्त्रियाँ न केवल अपनी समस्याओं के समाधान के लिए सफल प्रयास कर सकती हैं, अपितु वे देश की राजनीति को भी अधिक शुद्ध तथा अहिंसात्मक बना सकती हैं। स्त्रियों के विषय में अपनी इसी मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "नारी त्याग और कष्टसहिष्णुता की सजीव प्रतिमा है, अतः सार्वजनिक जीवन में उसका प्रवेश राजनीति को शुद्ध बनाएगा और राजनीतिज्ञों की असीम महत्त्वाकांक्षा तथा संपत्ति एकत्र करने की इच्छा को सीमित करेगा"।[9] परंतु नारी के संबंध में गाँधी जी की इस मान्यता का समर्थन करना संभव नहीं है, क्योंकि भारत तथा अन्य अनेक देशों की राजनीति का इतिहास इसे निश्चित रूप से मिथ्या प्रमाणित करता है। भारत में अनेक वर्षों तक एक नारी का शासन रहा है और यह सर्वविदित तथ्य है कि इस अवधि में भारत की राजनीति शुद्ध होने के स्थान पर अधिक क्रूर, छलपूर्ण तथा हिंसात्मक ही होती गई है। वस्तुतः हमें इस कटु सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि नारी में भी वे सभी सामान्य दुर्बलताएँ होती हैं जो पुरुष में पाई जाती हैं, अतः इस दृष्टि से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक महान अथवा उत्कृष्ट नहीं है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त नहीं होने चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों ही समाज के अभिन्न अंग हैं और दोनों में ही मानवीय दुर्बलताएँ पाई जाती हैं, अतः उनमें से किसी एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक निकृष्ट या उत्कृष्ट न मानते हुए दोनों को समान अधिकार प्रदान किए जाने चाहिए। इस संबंध में यही युक्तिसंगत और संतुलित दृष्टिकोण प्रतीत होता है।

यह बहुत खेद की बात है कि हिंदू समाज के लिए कानून बनाने वाले कुछ प्राचीन स्मृतिकारों ने नारी और पुरुष के संबंध में इस संतुलित दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है और नारी को पुरुष की दासी मानकर समान अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ पति और पत्नी के पारस्परिक संबंधों के विषय में कुछ स्मृतिकारों के विचार यहाँ प्रस्तुत हैं — "नारी को स्वयं यज्ञ और व्रत करने की आवश्यकता नहीं है। वह पति की सेवा करके ही स्वर्ग में उच्च स्थान प्राप्त करती है। ... पति चाहे चरित्रहीन, व्यभिचारी तथा समस्त सद्गुणों से शून्य ही क्यों न हो, पत्नी को उसे देवता मानना चाहिए। ... जो नारी अपने पिता के परिवार के विषय में गर्व करते हुए पति की आज्ञा का उल्लंघन करती है उसे लोगों के बहुत बड़े समूह के सामने राजा द्वारा शिकारी कुत्तों के आगे डाल दिया जाना चाहिए। ... यदि कोई पत्नी शराबी, दुर्व्यसनी अथवा रोगी पति की आज्ञा का उल्लंघन करती है तो उसे तीन महीनों के लिए मूल्यवान वस्त्रों तथा आभूषणों से वंचित करके

8 वही पुस्तक, पृ. 428
9 वही पुस्तक, पृ. 428

अलग रखा जाना चाहिए"।[10] "स्त्रियों को अपने पतियों की आज्ञा माननी चाहिए, यही उनका सब से बड़ा कर्तव्य है"।[11] "जो स्त्री पति के जीवित रहते हुए यज्ञ, व्रत आदि कर्म करती है वह पति की आयु को घटाती है और नरक में जाती है। जो स्त्री पवित्र जल चाहती है उसे अपने पति के चरण अथवा उसका सारा शरीर धोकर वह पानी पीना चाहिए, तब वह स्वर्ग मे उच्चतम स्थान प्राप्त करती है"।[12] "किसी भी व्यक्ति को पति की आज्ञा का उल्लघन करने वाली स्त्री द्वारा दिया गया भोजन नही खाना चाहिए। ऐसी स्त्री को व्यभिचारिणी समझा जाना चाहिए।"[13] "स्त्री के लिए पति के सम्मान से अधिक अच्छा ससार और कोई नही है। जो स्त्री पति को अप्रसन्न करती है वह मृत्यु के पश्चात उसके संसार में नही जा सकती, अत उसे कभी भी अपने पति को रुष्ट नही करना चाहिए।

नारी के सबध मे स्मृतिकारो के उपर्युक्त उद्धरण कुछ पाठको ने गॉधी जी के समक्ष प्रस्तुत किए थे और उनसे अनुरोध किया था कि इनके विषय मे अपने विचार व्यक्त करे। इसी कारण गॉधी जी ने नारी के प्रति स्मृतिकारो के उपर्युक्त दृष्टिकोण के सबध मे गभीरतापूर्वक विचार करते हुए अपनी स्पष्ट और निश्चित प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की है। उनका कथन है कि नारी के सबध में इस प्रकार के विचार वास्तव मे स्मृतिकारो के विचार नही हैं, बाद मे कुछ स्वार्थी व्यक्तियो ने स्मृतियो मे ये विचार डाल दिए हैं। यदि इन्हे वास्तव में स्मृतिकारो के विचार मान लिया जाए तो उनके विचारो मे स्वतोव्याघात आ जाता है, क्योकि स्वय इन्ही स्मृतिकारो ने नारी को उच्च स्थान दिया है और परिवार मे उसकी पूजा करने के लिए कहा है। मनु का यह कथन सर्वविदित है कि जहाँ नारियों की पूजा होती है वही देवताओ का निवास होता है। इसी प्रकार अन्य स्मृतिकारो ने भी नारी के महत्त्व को स्वीकार किया है। इसी कारण गॉधी जी का विचार है कि नारी को पुरुष की दासी बताने वाले वाक्य वस्तुत स्मृतिकारो के नही हैं। स्मृतिकारो के विषय मे अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "स्मृतियाँ परस्पर विरोधी वाक्यो से भरी पडी हैं। इन परस्पर विरोधी वाक्यो से यही युक्तिसगत निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे सभी वाक्य प्रक्षेप हैं जो प्रचलित एव मान्य नैतिकता और विशेषत स्वय स्मृतियो द्वारा दिए गए नैतिक उपदेशों के विरुद्ध हैं, अत इन्हे अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। जिन स्मृतिकारो ने आत्मसयम का उपदेश देने वाले प्रेरणादायक वाक्य लिखे वे मनुष्य मे पाशविक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करने वाले वाक्य नही लिख सकते थे"। स्मृतिकारो के समर्थन मे गॉधी जी का उपर्युक्त तर्क उचित ही प्रतीत होता है, क्योकि जो महान विचारक मनुष्य मात्र की प्रतिष्ठा मे विश्वास करते थे वे नारी को पुरुष के उपभोग की सामग्री नही मान सकते थे। इस तर्क को स्वीकार कर लेने पर स्मृतियो के वे सभी वाक्य अवाछनीय प्रक्षेप मात्र माने जा सकते हैं जो किसी भी रूप में नारी की प्रतिष्ठा को कम करते हैं। परतु फिर भी यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि ये वाक्य स्वय स्मृतिकारों ने ही लिखे हो तो क्या इन्हे स्वीकार किया जा सकता है। कुछ व्यक्तियो द्वारा यही प्रश्न पूछे जाने पर गॉधी जी ने इसका स्पष्ट और निश्चित रूप,

10 मनु, 5-145, 5-154, 8-371, 10-78
11 याग्यवल्क्य, 1-18
12 अत्री, 136-37
13 अँगिरस, 69
14 वशिष्ठ 21-14
15 'हिंदू धर्म' पृ० 398

से नकारात्मक उत्तर दिया है। उनका कथन है कि जो कुछ न्याय और नैतिकता के विरुद्ध है उसे कभी उचित नहीं माना जा सकता, अत नारी की प्रतिष्ठा को गिराने वाले जो वाक्य स्मृतियों में हैं उन्हे निकाल दिया जाना चाहिए। ऐसे वाक्य निश्चय ही धर्म और नैतिकता के अनुरूप नहीं हैं। हमे ईश्वर ने तर्कबुद्धि प्रदान की है, अत स्मृतियो मे लिखी सभी बातो को स्वीकार कर लेना हमारे लिए न तो आवश्यक है और न वाछनीय। "जो कुछ धर्मग्रथो में लिखा है उसे ईश्वर का वचन मानकर हमे अनिवार्यत स्वीकार नही कर लेना चाहिए। . धर्मग्रथो मे आवश्यक सशोधन करने के लिए एक ऐसी अधिकार-प्राप्त समिति बनाई जानी चाहिए जो ऐसे सभी वाक्यों को उनमे से निकाल दे जिनका अब कोई नैतिक मूल्य नही रहा और जो धर्म एव नैतिकता के मूल सिद्धातो के विरुद्ध हैं"।[16] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गाँधी जी धर्मग्रथो का भी तर्कबुद्धि द्वारा निष्पक्ष मूल्याकन करना आवश्यक मानते हैं और वे उनका अधानुकरण करने के पक्ष मे नही हैं। ऐसी स्थिति में यदि स्मृतिकारो ने स्त्री और पुरुष की समानता का निषेध करने वाले वाक्य लिखे हैं तो उनके अनुसार आचरण न करना गाँधी जी प्रत्येक व्यक्ति का अनिवार्य कर्तव्य मानते हैं। इस प्रकार वे ऐसे किसी दृष्टिकोण को उचित एव युक्तिसगत नही मानते जो स्त्री और पुरुष की समानता के विचार का अस्वीकार करता है।

परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष के समान अधिकारो की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी गाँधी जी उन दोनो के नैसर्गिक अतर की उपेक्षा नही करते। उनका मत है कि दोनो के अधिकार समान होते हुए भी उनके कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। नारी का मुख्य कार्य घर और परिवार की देखभाल करना है जबकि पुरुष का मुख्य उत्तरदायित्व परिवार की सुरक्षा तथा उसके लिए धनोपार्जन करना है। मातृत्व और शिशु-पालन के लिए नारी मे कुछ ऐसे गुणो का होना आवश्यक है जो प्राय पुरुष मे नही होते। मानव-जाति का विकास एव उत्थान अतत इस बात पर निर्भर है कि नारी मातृत्व तथा शिशु-पालन सबधी अपने इस महान उत्तरदायित्व को कहाँ तक और कितनी कुशलता से पूरा करती है। गाँधी जी यह मानते हैं कि बच्चो का पालन-पोषण नारी का विशेषाधिकार है और इस सबध मे उसकी सक्रिय सहायता के बिना मानव-जाति का विनाश निश्चित है।[17] पुरुष का उत्तरदायित्व अपने परिवार तथा देश की रक्षा करना है। इस कार्य के लिए नारी को प्रोत्साहित अथवा बाध्य करना उचित नही है। गाँधी जी के विचार मे इस कार्य-विभाजन के फलस्वरूप नारी का महत्त्व पुरुष की अपेक्षा किसी भी दृष्टि से कम नही होता, क्योंकि मानव-जाति के अस्तित्व और विकास के लिए नारी का कार्य भी उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष का। इस दृष्टि मे वे अलग-अलग कार्य करते हुए भी एक दूसरे के सहयोगी तथा परस्पर पूरक हैं। नारी के पारिवारिक उत्तरदायित्व के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी कहते हैं कि "मेरे विचार में यह बात स्त्री और पुरुष दोनो के लिए अपमानजनक है कि नारी को घर का उत्तरदायित्व छोडकर उसकी रक्षा के उद्देश्य से बदूक उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। .. अपने घर को भलीभाँति व्यवस्थित करना उतना ही वीरता का कार्य है जितना बाह्य आक्रमण से उसकी रक्षा करना।"[18] इस प्रकार गाँधी जी स्त्री और पुरुष की उस समानता मे विश्वास नहीं करते जो उनके नैसर्गिक पारस्परिक सहयोग को नष्ट करके उन्हे जीवन के सभी

16 वही पुस्तक, पृ 430
17 'सलैक्शन्स फ्रॉम गाँधी' पृ० 271
18 वही पुस्तक, पृ 271-272

क्षेत्रों में एक दूसरे के साथ अधिकाधिक प्रतिस्पर्धा करने के लिए बाध्य करती है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे नारी की तथाकथित स्वतंत्रता के उस आंदोलन के समर्थक नहीं हैं जो आजकल पाश्चात्य देशों में कुछ स्त्रियों द्वारा चलाया जा रहा है। स्त्री और पुरुष के कार्य-विभाजन के विषय में गाँधी जी ने जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि वे परिवार तथा समाज में दोनों की प्रतिस्पर्धा को अनुचित एवं अवांछनीय मानते हैं। उनका विचार है कि पारस्परिक सहयोग को समाप्त कर देने वाली इस प्रकार की कटु प्रतिस्पर्धा न तो स्वयं स्त्री के हित में है और न परिवार तथा समाज के हित में, अतः स्त्री और पुरुष की समानता के नाम पर ऐसी प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित करना संपूर्ण मानव-जाति के लिए घातक होगा। मेरे विचार में स्त्री और पुरुष की समानता के संबंध में गाँधी जी का यह दृष्टिकोण यथार्थवादी, न्यायसंगत तथा संतुलित है।

2. भारतीय नारी की सामाजिक समस्याएँ

स्त्री और पुरुष की समानता के अतिरिक्त गाँधी जी ने भारत की कुछ ऐसी सामाजिक समस्याओं के विषय में भी अपने विचार प्रकट किए हैं जिनका प्रत्यक्ष संबंध नारी की सामाजिक स्थिति से है और जिनके समुचित समाधान के बिना उसकी सामाजिक स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। इन समस्याओं में बाल-विवाह, बाल-विधवाओं की स्थिति, दहेज-प्रथा, पर्दा-प्रथा और देवदासी-प्रथा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ हम संक्षेप में इन सामाजिक समस्याओं के संबंध में गाँधी जी के विचार प्रस्तुत करेंगे।

गाँधी जी विवाह को वयस्क व्यक्तियों का बहुत महत्त्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्व मानते हैं जिसे वहन करने के लिए पर्याप्त धैर्य, परिपक्वता, सहनशीलता और आत्मनिर्भरता की आवश्यकता होती है। विवाह के उद्देश्यों के संबंध में उनका कथन है कि "आध्यात्मिक विकास को विवाह में सर्वप्रथम स्थान दिया जाना चाहिए, मानवता की सेवा को दूसरा, पारिवारिक हितों तथा सामाजिक व्यवस्था को तीसरा और पारस्परिक आकर्षण तथा प्रेम को अंतिम स्थान दिया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि अन्य तीन उद्देश्यों की पूर्ति के अभाव में केवल प्रेम को विवाह का पर्याप्त आधार नहीं माना जाना चाहिए। इसके साथ ही यदि अन्य तीन उद्देश्यों की पूर्ति होती है और प्रेम का अभाव है तो भी विवाह नहीं होना चाहिए"।[19] स्पष्ट है कि गाँधी जी विवाह का बहुत व्यापक उद्देश्य स्वीकार करते हैं। वे काम-सुख की प्राप्ति को विवाह का उद्देश्य नहीं मानते। उनका निश्चित मत है कि केवल संतानोत्पत्ति के लिए ही विवाहित स्त्री-पुरुषों को संभोग करना चाहिए काम-सुख प्राप्त करने के लिए नहीं। संतानोत्पत्ति के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए गाँधी जी ने विवाहित व्यक्तियों के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को विशेष महत्त्व दिया है और इसे विवाह की अनिवार्य शर्त माना है। जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति विवाह में भी वे आत्मसंयम को बहुत आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि विवाह स्त्री-पुरुष के सुख का साधन नहीं, अपितु एक महान सामाजिक कर्तव्य है जिसकी पूर्ति आत्मसंयम द्वारा ही संभव है। विवाह को एक पवित्र आदर्श मानकर विवाहित व्यक्तियों को संयमपूर्वक दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसी दृष्टि से हिंदू संस्कृति में विवाह को विशेष महत्त्व दिया गया है और गृहस्थाश्रम को अन्य तीनों आश्रमों का आवश्यक आधार माना गया है। ब्रह्मचर्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी गाँधी जी विवाह को साधारण स्त्री-पुरुषों के लिए स्वाभाविक और वांछनीय मानते हैं। इस संबंध में उनका कथन है कि

---

19 वही पुस्तक, पृ. 278

"मानव-सेवा के लिए लडकियो का अविवाहित रहना निम्सदेह अत्युत्तम बात है, किंतु तथ्य यह ह कि लाखो लडकियो मे से केवल एक ही ऐसा कर सकती है। विवाह जीवन मे स्वाभाविक बात है और इसे किसी भी अर्थ मे निदनीय मानना पूर्णतया अनुचित है। हिदू धर्म मे विवाह चार आश्रमो मे से एक है। वस्तुत अन्य तीनो आश्रम इसी पर आधारित हैं"।[20] इस प्रकार गॉधी जी विवाह को मनुष्य के कठिन सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप मे ही स्वीकार करते है, सुख-प्राप्ति के साधन के रूप मे नही।

यह स्पष्ट है कि बालक-बालिकाओ के लिए विवाह सबधी इस कठिन एव गभीर उत्तरदायित्व को पूरा करना सभव नही है। इस उत्तरदायित्व को वहन करने के लिए वे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से परिपक्व नही होते, अत अल्पायु मे ही उनपर यह उत्तरदायित्व डाल देना उनके प्रति बहुत बडा अन्याय है। यह दु ख की बात है कि भारत मे सैकडो वर्षो से बालक-बालिकाओ के प्रति यह अन्याय होता रहा है और कुछ सीमा तक आज भी हो रहा है। बाल-विवाह की प्रथा का दृढतापूवक विरोध करते हुए गॉधी जी ने इस सामाजिक अन्याय के विरुद्ध स्पष्ट रूप से अपने विचार व्यक्त किए है। वे इस प्रथा को व्यक्ति, परिवार और समाज सभी के लिए बहुत हानिकारक मानते है। उनका विचार है कि इसी के कारण बालक-बालिकाओ के शारीरिक और मानसिक विकास म बाधा पडती है, अत वे वयस्क होकर अपना पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व भली भाँति पूरा नही कर पाते। परिपक्व और स्वतत्र व्यक्तित्व का विकास न हो सकने के कारण वे सदा अपन माता-पिता अथवा अन्य अभिभावको पर ही आश्रित बने रहते है। इसके अतिरिक्त बाल-विवाह के फलस्वरूप बहुत-सी लडकियाँ अल्पायु मे ही विधवा हो जाती हैं और उन्हे अपना सारा जीवन प्राय घोर कष्ट मे व्यतीत करना पडता है। यह स्थिति समाज के लिए निश्चय ही बहुत हानिकारक है। इन्ही सब कारणो से बाल-विवाह-प्रथा का तीव्र विरोध करते हुए गॉधी जी ने लिखा है कि मै बाल्यावस्था मे होने वाले विवाहो से घृणा करता हूँ। मै उन माता-पिताओ की क्रूर उदासीनता की निदा करता हूँ जो अपनी बेटियो को पूर्णत अनभिज्ञ तथा अशिक्षित रखते है और उनका पालन-पोषण केवल इसीलिए करते है कि अल्पायु मे ही किसी साधनसपन्न व्यक्ति से उनका विवाह कर दे। ऐसे विवाहो को प्रारभ मे ही अवैध घोषित कर दिया जाना चाहिए। आपको अपनी कामवासना पर इस सीमा तक अवश्य नियत्रण रखना चाहिए कि आप सोलह वर्ष से कम आयु की किसी लडकी से विवाह न करे। यदि मेरे हाथ मे हो तो मै इस आयु को कम से कम बीस वष निर्धारित करना चाहूँगा"।[21] उपयुक्त उद्धरण से बाल-विवाह के विरुद्ध गॉधी जी का दृष्टिकोण पूर्णत स्पष्ट हो जाता है।

कुछ व्यक्तियो ने गॉधी जी को पत्र लिख कर हिदू स्मृतिकारो के वचनो के आधार पर बाल-विवाह का समर्थन किया था। ऐसे व्यक्तियो के मत को अस्वीकार करते हुए गॉधी जी ने कहा है कि वास्तव मे स्मृतिकार बाल-विवाह का समर्थन नही करते। इन विद्वान स्मृतिकारो से यह आशा नही की जा सकती कि वे मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक विकास के आधारभूत तथ्यो स अनभिज्ञ थे और इन तथ्यो की उपेक्षा करके बालक-बालिकाओ के विवाह को उचित अथवा वाछनीय मानते थे। इसके साथ ही गॉधी जी यह भी कहते है कि यदि स्मृतिकारो ने बाल-विवाह का समर्थन किया है तो भी हमे अपने व्यापक अनुभव तथा वर्तमान वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर उनके

20 वही पुस्तक पृ 275

वही पुस्तक 4

मन का अस्वीकार कर देना चाहिए वस्तुतः गांधी जी बाल विवाह को एक ऐसी कुप्रथा मानते है जो मानव समाज के लिए हानिकारक होने के साथ-साथ धर्म और नैतिकता के भी विरुद्ध है। उनके विचार में बालक-बालिकाओ का विवाह करना मानवता और ईश्वर दोनो के प्रति घोर अपराध है। विवाह करने का अर्थ है एक नए जीवन मे प्रवेश करना जो स्त्री और पुरुष दोनो पर बहुत कठिन उत्तरदायित्व डालता है। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए दोनों को ही शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से परिपक्व होना चाहिए और उन्हे स्वतत्रतापूर्वक अपना जीवन-साथी चुनने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। परतु बालक-बालिकाओ के लिए यह सभव नही है इसी कारण गाँधी जी उनके विवाह को अनुचित तथा अवांछनीय मानते हैं। उनका कथन है कि बाल-विवाह की यह प्रथा मनुष्य को शारीरिक तथा मानसिक दोनो दृष्टियो से अध पतन की ओर ले जाती है, अत धर्म के नाम पर इसका समर्थन करना बहुत निंदनीय है।[23] इस हानिकारक प्रथा का निराकरण करने के लिए प्रभावशाली कानून बनाने के साथ-साथ गाँधी जी इसके विरुद्ध सुदृढ जनमत जागृत करना भी बहुत आवश्यक मानते है। वस्तुत जनसाधारण को व्यक्ति और समाज के लिए इसके दुष्परिणामो का ज्ञान कराके ही इसे समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार गाँधी जी के विचार मे अन्य सामाजिक बुराइयो की भाँति बाल-विवाह-प्रथा का अत करने के लिए भी व्यापक जन-शिक्षा बहुत आवश्यक है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, बाल-विवाह का एक बहुत बडा दुष्परिणाम बाल-विधवाओ की सख्या मे वृद्धि का होना है। आज से पचास या साठ वर्ष पूर्व, जब गाँधी जी इस सामाजिक समस्या पर विचार कर रहे थे, भारत मे बाल-विधवाओ की सख्या काफी बडी थी। उस समय इन लडकियो का पुनर्विवाह भी सभव नहीं था, क्योकि इसे समाज मे बहुत अनुचित एव निंदनीय माना जाता था। परन्तु एक महान समाज-सुधारक होने के नाते गाँधी जी इन बाल-विधवाओ के पुनर्विवाह को वाछनीय ही नही, अपितु आवश्यक भी मानते थे। उनका कहना था कि वास्तव मे इन लडकियो का विवाह हुआ ही नही, क्योंकि जिस समय इनका विवाह किया गया उस समय वे अल्पायु के कारण विवाह का अर्थ ही नही जानती थीं। ऐसी स्थिति में इन बाल-विधवाओ को वस्तुत अविवाहिता ही माना जाना चाहिए। परिवार और समाज मे इन निर्दोष लडकियो की दयनीय स्थिति पर गाँधी जी ने बहुत दुःख तथा क्षोभ व्यक्त किया है। इन लडकियो के प्रति परिवार की उदासीनता और पुरुष वर्ग की क्रूरता की निंदा करते हुए वे कहते हैं कि 'किसी बाल-विधवा को देखकर मेरा हृदय काँप उठता है और जब मैं किसी विधुर पुरुष को — जिसकी पत्नी का देहांत अभी-अभी हुआ है — अपने लिए बडी निर्लज्जता से दूसरे विवाह का प्रबध करते हुए देखता हूँ तो मैं क्रोध से काँप उठता हूँ।. ऐसे पिता को जिसने अपनी बच्ची का विवाह किसी वृद्ध पुरुष अथवा किशोरावस्था के लडके से करके उस बच्ची के साथ विश्वासघात किया है उसके विधवा हो जाने पर उसका पुनर्विवाह कराके कम से कम अपने इस पाप का प्रायश्चित अवश्य करना चाहिए। . हम धर्म के नाम पर गो-रक्षा के लिए चिल्लाते हैं, कितु हम एक विधवा लडकी की रक्षा नही करना चाहते। अल्पायु की लडकियों पर वैधव्य थोपना एक घृणित अपराध है जिसके लिए हम हिंदू लोग प्रतिदिन भारी मूल्य चुका रहे हैं। धर्म अथवा रीति-रिवाज द्वारा थोपा हुआ वैधव्य असह्य भार है और वह गुप्त दुराचार द्वारा घर को अपवित्र तथा धर्म को पतित करता है। यदि हम अपनी पवित्रता चाहते हैं और हिंदू धर्म को बचाना चाहते हैं तो हमें अपने आप को इस थोपे हुए वैधव्य के

22 हिन्दू धर्म पृ 402.

23 वही पुस्तक पृ 399.

विष से मुक्त करना चाहिए"।[24] बाल विधवाओं के विषय में गाँधी जी के उपर्युक्त विचारो मे यह स्पष्ट है कि वे इन लडकियो के पुनर्विवाह का प्रबल समर्थन करते थे। वे यह अनुभव करते थे कि इन लडकियो को नैसर्गिक दाम्पत्य सुख से वंचित करके समाज इन पर बहुत बडा अन्याचार कर रहा है, अत वे इन्हें इस सामाजिक अत्याचार से मुक्ति दिलाना चाहते थ। इसी कारण उन्होंने इन बाल-विधवाओ को 'कुमारी लडकियाँ' कहकर इनके विवाह को आवश्यक माना है।

उस समय कुछ व्यक्तियो ने हिंदू शास्त्रा के तर्कों द्वारा बाल-विधवाओ के सबध में गाँधी जी के इन उदार विचारो का विरोध किया था। उदाहरणार्थ कन्या-दान के आधार पर बाल-विधवाओ के पुनर्विवाह का विरोध करते हुए कुछ व्यक्तियो ने कहा था कि जब एक बार लडकी का पिता किसी पुरुष को अपनी कन्या का दान कर देता है तो वह दूसरी बार किसी अन्य पुरुष को उसी कन्या का दान नही कर सकता, अत विधवा हो जाने पर उसका पुनर्विवाह कराना अधर्म होगा। इस तर्क का उत्तर देते हुए गाँधी जी ने कहा है कि छोटी बालिकाओ के सबध मे कन्या-दान का कोई अर्थ नही होता। पिता अपनी बेटी का सरक्षक है, स्वामी नहीं। बेटी उसकी सपत्ति नही है जिसे वह चाहे किसी को भी दान कर दे। जब पिता अपने अधिकार का दुरुपयोग करता है, तो वह बेटी पर अपने इस अधिकार को भी खो देता है। 'कन्या-दान' को उसके शाब्दिक अर्थ मे ग्रहण करना भाषा और धर्म दोनों का दुरुपयोग है।[25] विधवाओं के पुनर्विवाह के विरुद्ध कुछ व्यक्तियो ने यह तर्क भी दिया था कि इससे उनके मोक्ष में बाधा पडती है। इन व्यक्तियो के मतानुसार आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करके ये विधवा स्त्रियाँ मृत्यु के पश्चात् मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। इसी आधार पर ये व्यक्ति विधवाओ के पुनर्विवाह को स्वयं उन्ही के लिए अवाछनीय तथा पाप मानते हैं। इस तर्क को अस्वीकार करते हुए गाँधी जी ने कहा है कि यदि विधवाओ का पुनर्विवाह पाप है तो निश्चय ही विधुर पुरुषो का पुनर्विवाह भी पाप है।[26] यह कथन अनुचित और निराधार है कि विधवाएँ ब्रह्मचर्य का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं। जो ब्रह्मचर्य किसी व्यक्ति पर बलपूर्वक थोपा जाता है उसका कोई महत्त्व नही है। ऐसा ब्रह्मचर्य गुप्त व्यभिचार द्वारा समाज को अध पतन की ओर ही ले जाता है। फिर यदि बूढे विधुर पुरुषों का पुनर्विवाह उनके मोक्ष में बाधक नही होता तो ऐसी बाल-विधवाओ का पुनर्विवाह भी निश्चय ही उनके मोक्ष मे कोई बाधा नहीं डाल सकता जिनका वास्तविक अर्थ मे पहले कभी विवाह हुआ ही नही और जिन्हे गलती मे ही 'विधवा' कहा जाता है।[27] इस प्रकार विधवाओ के पुनर्विवाह के विरुद्ध दिए जाने वाले प्राचीन तर्कों का खडन करके गाँधी जी ने अपने इस मत की पुष्टि की है कि इन लडकियो का पुनर्विवाह हिंदू शास्त्रो के अनुरूप होने के कारण उचित एवं वाछनीय है।

कुछ व्यक्तियो ने गाँधी जी से यह प्रश्न पूछा था कि क्या वे केवल बाल-विधवाओ के पुनर्विवाह का ही समर्थन करते हैं? क्या वे ऐसी स्त्रियों के पुनर्विवाह को उचित नही मानते जो युवावस्था अथवा प्रौढावस्था में विधवा हुई हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गाँधी जी ने कहा था कि बाल विधवाओ का पुनर्विवाह अवश्य होना चाहिए, क्योंकि उन्होने अपनी इच्छा से विवाह नही किया और उन्हे वास्तविक अर्थ में कभी दाम्पत्य सुख प्राप्त नही हुआ जिसे प्राप्त करना उनका न्यायोचित अधिकार है। परतु जो स्त्री युवावस्था मे अपनी इच्छानुसार विवाह करने के पश्चात्

24 सलैक्सन्स फ्रॉम गाँधी, पृ 279

25 हिन्दू धर्म, पृ 407

26 सलैक्सन्स फ्रॉम गाँधी, पृ 280

27 हिन्दू धर्म पृ 4 4

विधवा हुई है उसे स्वयं यह निर्णय करने का अधिकार है कि वह पुनर्विवाह करे या न करे इस संबंध मे उसे कोई निर्णय करने के लिए बाध्य नही किया जाना चाहिए गाँधी जी का विचार है कि विधुरो तथा विधवाओ के पुनर्विवाह के संबंध मे किसी प्रकार का भेदभाव करना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। इन दोनो के पुनर्विवाह के विषय मे समान नियम ही होना चाहिए। यदि पचास वर्ष का विधुर पुनर्विवाह कर सकता है तो उसी आयु की विधवा को भी पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। परंतु व्यक्तिगत रूप से गाँधी जी युवावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था मे विधवा तथा विधुर दोनो के पुनर्विवाह के विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि "मैं हिंदू कानून में ऐसे सुधार का समर्थन करना चाहूँगा जो उस विधवा या विधुर के पुनर्विवाह को पाप घोषित करे जिसने अपनी इच्छानुसार परिपक्वावस्था मे विवाह किया था"।[28] परंतु मेरे विचार मे गाँधी जी का यह मत उचित नही है, क्योंकि यह दाम्पत्य सुख से वंचित युवक-युवतियो की नैसर्गिक तथा अनिवार्य आवश्यकताओं की उपेक्षा करता है। जीवन-साथी संबंधी मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यही कहना उचित होगा कि किसी भी अवस्था मे स्त्री तथा पुरुष दोनो को अपनी इच्छानुसार पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। वैधव्य कोई पवित्र अवस्था नहीं है जिसे बनाए रखने का प्रयास किया जाए। परंतु गाँधी जी स्वेच्छया स्वीकार किए गए वैधव्य को पवित्र अवस्था मानकर इसकी प्रशंसा करते हैं और इसे स्त्री तथा पुरुष दोनो के लिए वांछनीय मानते हैं।[29] परंतु मेरे विचार मे मनुष्य के लिए किसी भी आयु मे वैधव्य एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है जिससे मुक्त होने का उसे अवश्य अधिकार प्राप्त होना चाहिए। धर्म अथवा नैतिकता के नाम पर मनुष्य को उसके इस नैसर्गिक अधिकार से वंचित करना उसके प्रति अन्याय होगा। हाँ, गाँधी जी का यह मत अवश्य उचित एवं न्यायसंगत है कि पुनर्विवाह का अधिकार देने के संबंध मे स्त्री और पुरुष के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नही किया जाना चाहिए।

बाल-विवाह की भाँति दहेज-प्रथा भी शताब्दियों से हमारे देश मे बहुत जटिल सामाजिक समस्या बनी रही है और यह समस्या आज भी अपने विकराल रूप मे हमारे समक्ष विद्यमान है। इस दहेज-प्रथा के कारण नारी की प्रतिष्ठा तथा सामाजिक स्थिति को भारी आघात पहुँचा है, सैकडो परिवारो की सुख-शांति मे बाधा पडी है और बहुत-सी योग्य एवं गुणवती लडकियो के लिए उपयुक्त जीवन-साथी प्राप्त करना कठिन हो गया है। इस कुप्रथा का सहारा लेकर योग्य लडको के माता-पिता उनका विवाह करते समय कन्या पक्ष से अपने लड़को के पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा का सारा खर्च वसूल करने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार अधिकतर लडकियों का विवाह उनके गुणो के आधार पर नहीं, अपितु उनके परिवार की आर्थिक स्थिति के आधार पर ही निश्चित होता है। फलतः जिस लडकी के परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नही है वह सभी दृष्टियो से योग्य होते हुए भी उपयुक्त जीवन-साथी प्राप्त करने के अपने अधिकार से प्राय वंचित रह जाती है। इस प्रकार दहेज-प्रथा ने हमारे समाज मे विवाह जैसे पवित्र बंधन को भी लडको और लडकियो के क्रय-विक्रय का साधन मात्र बना दिया है। इस प्रथा के इन्ही सब सामाजिक दुष्परिणामो के कारण गाँधी जी ने इसका तीव्र विरोध किया है। उनका कथन है कि विवाह को परिवार के लिए धन-प्राप्ति का साधन नही बनाया जाना चाहिए। माता-पिता को अपनी पुत्रियो को यह शिक्षा देनी चाहिए कि जो युवक विवाह के लिए कीमत वसूल करना चाहते हैं उनसे वे कभी विवाह न करे। ऐसे लालची युवको से विवाह करके अपनी प्रतिष्ठा गिराने की अपेक्षा इन लडकियो

28 वही पुस्तक, पृ 414.

29 मरैकमन्स फ्रॉम गाँधी पृ 280

के लिए अविवाहिता रहना अधिक सम्मानजनक होगा। विवाह की एकमात्र सम्मानपूर्ण शर्त पारस्परिक प्रेम के कारण स्वेच्छया प्रदान की गई सहमति है।[30] भारत में शताब्दियों से प्रचलित जाति-प्रथा को गाँधी जी दहेज-प्रथा का प्रमुख कारण मानते है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि जब तक हमारे देश में जाति-प्रथा विद्यमान है तब तक दहेज की प्रथा को कभी समाप्त नही किया जा सकता। जाति-प्रथा के फलस्वरूप युवक-युवतियों के लिए जीवन-साथी प्राप्त करने का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है, अत लडको के माता-पिता को दहेज के रूप मे लडकियो के माता-पिता से धन-सपत्ति माँगने का अवसर मिल जाता है। इसी कारण जाति-प्रथा को दहेज की प्रथा के लिए उत्तरदायी मानते हुए गाँधी जी कहते हैं कि ''जब तक एक विशेष जाति के कुछ सौ युवको अथवा कुछ सौ युवतियो तक ही चुनाव सीमित रहेगा तब तक दहेज-प्रथा बनी रहेगी – फिर चाहे इसके विरुद्ध कुछ भी क्यो न कहा जाए। यदि इस बुराई को समाप्त करना है तो लडकियो, लडको तथा उनके माता-पिता को जाति के बधनो को तोडना होगा। इसका अर्थ यह है कि हमे अपने राष्ट्र के युवक-युवतियो को अच्छे चरित्र के निर्माण के लिए ऐसी शिक्षा देनी होगी जो उनके विचारो मे क्रातिकारी परिवर्तन कर दे''।[31] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दहेज-प्रथा का अत करने के लिए गाँधी जी शताब्दियो मे प्रचलित जाति-प्रथा को समाप्त करना आवश्यक मानते हैं और उनका यह मत निश्चय ही उचित एव मान्य है।

दहेज-प्रथा के समान ही भारत मे प्रचलित पर्दा-प्रथा का भी गाँधी जी ने दृढतापूर्वक विरोध किया है। उनका विचार है कि इस प्रथा द्वारा बलपूर्वक नारी के सतीत्व की रक्षा नही की जा सकती क्योकि बाहरी दबाव से सतीत्व को नारी पर थोपना सभव नही है। वह अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा ही अपने शील और सतीत्व को बनाए रख सकती है, पर्दे मे रखकर इसके लिए उसे विवश नही किया जा सकता। वास्तविक शील और सतीत्व वही है जो सभी प्रकार के प्रलोभनो के होते हुए भी कभी नही टूटता। ऐसे सतीत्व को बनाए रखने के लिए पर्दे की कोई आवश्यकता नही है। जिस स्त्री की इच्छाशक्ति बलवती है और जिसका चरित्र अच्छा है वह किसी प्रकार का पर्दा किए बिना स्वतत्रतापूर्वक बाहय कार्य करते हुए भी अपने सतीत्व की रक्षा कर सकती है। इसके विपरीत यदि उसका चरित्र दुर्बल है तो वह पर्दे मे रह कर भी भ्रष्ट हो सकती है। इसी कारण गाँधी जी कहते है कि ''वास्तविक पर्दा तो हृदय का पर्दा है। जो स्त्री प्रत्येक पुरुष की ओर पर्दे से चोरी-चोरी झाँकती रहती है और उसके विषय मे सोचती रहती है वह इसकी मूल भावना के विरुद्ध कार्य करती है''।[32] इस प्रकार गाँधी जी के विचार मे पर्दा-प्रथा से उस उद्देश्य की पूर्ति कभी नही हो सकती जिसे ध्यान मे रखकर इस प्रथा को स्त्री के लिए आवश्यक माना जाता रहा है। पुरुष को स्त्री पर पूर्ण विश्वास करते हुए उसे स्वय अपने सतीत्व की रक्षा के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। इस दृष्टि से पर्दा-प्रथा की कोई सार्थकता अथवा उपयोगिता नही है।

पर्दा-प्रथा के सबध मे गाँधी जी ने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी उठाया है कि पुरुष नारी के सतीत्व के विषय में आखिर इतना उद्विग्न तथा चिंतित्त क्यो है। वे पुरुष वर्ग से यह प्रश्न करते है कि क्या नारी भी पुरुष की पवित्रता के सबध मे इतनी चिता करती है। स्वय ही इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि ''हम पुरुषो की पवित्रता के सबध मे स्त्रियो को चिंतित होते हुए नही देखते। फिर पुरुषो को क्या अधिकार है कि वे स्त्रियो की पवित्रता के विषय मे नियम बनाएँ। यह पवित्रता बाहर

30 वही पुस्तक, पृ 275·
31 वही पुस्तक, पृ 275
32 वही पुस्तक, पृ 280

से नही थोपी जा सकती यह व्यक्ति के अपने प्रयास के उसके मन से ही उत्पन्न होती है''।[33] इस उद्धरण मे स्पष्ट है कि गॉधी जी पर्दा-प्रथा को पुरुष के अहकार का परिणाम तथा स्त्री और पुरुष की समानता मे बाधक मानते हैं। आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व जब गॉधी जी इस समस्या पर अपने विचार व्यक्त कर रहे थे -- बहुत-से शिक्षित परिवारो मे भी पर्दा-प्रथा को स्वीकार किया जाता था। इसी कारण वे बहुत खेदपूर्वक यह कहते है कि हमारी शिक्षा भी इस दुष्प्रथा का अत करने मे हमारेलिए सहायक नही हो सकी। यह सत्य है कि आज शिक्षित परिवारो मे पर्दा-प्रथा लगभग समाप्तहो गई है, कितु अशिक्षित और अर्धशिक्षित परिवारो मे यह प्रथा अब भी प्रचलित है। ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रथा के सबध मे गॉधी जी के विचार आज भी बहुत सार्थक और प्रासगिक हैं। वे पर्दा-प्रथा को एक क्रूर प्रथा मानते हैं जो हमारे समाज को बहुत बडी हानि पहुॅचा रही है। इसे स्त्रियों के प्रति अन्यायपूर्ण मानते हुए वे कहते हैं कि ''स्त्रियो को वही स्वतत्रता क्यो नही मिलनी चाहिए जो पुरुषो को प्राप्त है? हमे अपने एक अग को पूर्णत अथवा अशत शक्तिहीन नही बनाना चाहिए। भारत की स्त्रियो के स्वतत्र विकास में हस्तक्षेप करके हम स्वतत्र और साहसी व्यक्तियो के विकास मे बाधा डाल रहे है। हमे अपने शक्तिशाली प्रयास द्वारा पर्दे को फाड कर फेक देना चाहिए।''[34]

बाल-विवाह, दहेज-प्रथा और पर्दा-प्रथा की भॉति गॉधी जी ने महाराष्ट्र और दक्षिणी भारत मे प्रचलित देवदासी प्रथा की भी तीव्र निदा की है। इस प्रथा के अनुसार कुछ व्यक्ति अपनी पुत्रियो को बाल्यावस्था मे ही मदिरो के पुजारियो को समर्पित कर देते हैं। जब ये लडकियॉ बडी हो जाती हैं तो भगवान् तथा धर्म के नाम पर पुजारी इन्हे अपनी दासियॉ बना लेते हैं और अपनी वासना-तृप्ति के लिए इनका उपयोग करते हैं। ये लडकियॉ परिवार तथा समाज से पृथक कर दी जाती हैं और इन्हे विवाह करने की आज्ञा नही दी जाती, अत इन्हे पारिवारिक एव दाम्पत्य सुख कभी प्राप्त नही होता। इस प्रकार देवदासी प्रथा द्वारा धर्म के नाम पर ये निर्दोष लडकियॉ भ्रष्ट पुजारियो की वासना-तृप्ति का साधन मात्र बना दी जाती हैं और ईश्वर के कोप से भयभीत धर्मपरायण समाज यह भ्रष्टाचार चुपचाप सहन करता है। परतु धर्म के नाम पर होने वाले इस सामाजिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध भी गॉधी जी ने बडी दृढता से आवाज उठाई है। वे देवदासी प्रथा को निर्दय एव घृणित प्रथा मानते हैं जो हिदू समाज पर बहुत बडा कलक है। उनका कथन है कि अनैतिक उद्देश्य के लिए बालिकाओ को समर्पित करना धर्म और ईश्वर दोनो के प्रति घोर अपराध है। इन लडकियों को देवदासियॉ कह कर हम इन्हे भ्रष्ट व्यक्तियो की वासना-तृप्ति का साधन बना देते हैं और इस प्रकार धर्म के नाम पर स्वय ईश्वर का घोर अपमान करते हैं। यह बडे दु ख की बात है कि इस भ्रष्टाचार को समाप्त करने के स्थान पर हमारे समाज में धर्म के आधार पर इसे सहन किया जा रहा है। देवदासी प्रथा के विरुद्ध अपने इसी रोष को अभिव्यक्त करते हुए गॉधी जी ने लिखा है कि ''जो हिदू इससे किसी भी रूप मे सबंधित है उन्हे समाज को इस घृणित रोग मे मुक्त करना चाहिए। यदि मनुष्य अपनी वासना परनियत्रण रखे और समाज इस बुराई का दृढतापूर्वक विरोध करे तो इसे सरलतापूर्वक समाप्त किया जा सकता है।. . देवदासी प्रथा उन सब के लिए कलक है जो इसका समर्थन करते हैं। यदि जनता इसके सबध मे शिथिलता न दिखाती तो यह कब की समाप्त हो गई होती''।[35] इस प्रकार अन्य सभी सामाजिक बुराइयों की भॉति देवदासी प्रथा का निराकरण करने के लिए भी गॉधी जी इसके विरुद्ध जनता में जागृति उत्पन्न करना बहुत आवश्यक मानते हैं। उनका

---

33 वही पुस्तक, पृ 280.

34 हिन्दू धर्म, पृ 424.

35 वही पुस्तक, पृ 425, 427.

यह मत उचित ही है, क्योकि व्यापक जन-शिक्षा के बिना किसी भी सामाजिक बुराई को समाप्त करना सभव नही है।

उपर्युक्त सामाजिक समस्याओ के अतिरिक्त भारतीय समाज मे दिखावे की प्रवृत्ति के विरुद्ध भी गाँधी जी ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। धनवान व्यक्तियो मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। वे जन्मदिवस, विवाह, पुत्रजन्म आदि अवसरो पर धन का अनावश्यक व्यय करके अपनी आर्थिक संपन्नता का प्रदर्शन करते हैं और इस प्रकार समाज मे उच्च स्थान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे समय-समय पर विभिन्न उत्सवो का आयोजन करते रहते है जिनमे धन का बहुत अपव्यय किया जाता है। इस दिखावे के कारण जब इन धनवान व्यक्तियो को समाज मे सम्मान प्राप्त होता है तो इनका अनुकरण करते हुए अन्य व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सपन्न न होते हुए भी यथाशक्ति अपनी झूठी सपन्नता का दिखावा करने लगते हैं। भारत जैसे निर्धन देश के लिए दिखावे की इस प्रवृत्ति को गाँधी जी एक ऐसी सामाजिक बुराई मानते हैं जो राष्ट्र की प्रगति मे बहुत बडी बाधा डालती है। समाज पर इस प्रवृत्ति के हानिकारक प्रभाव का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि "इसके कारण हजारो गरीब लोग जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ से भी अपने आपको वचित कर लेते हैं और सूद की बहुत ऊँची दरों पर लिए गए ऋण का भारी बोझ स्वय अपने ऊपर लाद लेते हैं। यदि देश के शिक्षित युवक – विशेषत धनवान व्यक्तियो के बेटे – सभी प्रकार के अनावश्यक व्यय का दृढतापूर्वक विरोध करे तो राष्ट्र के साधनों के इस अपव्यय को सरलता से समाप्त किया जा सकता है"।[36] स्पष्ट है कि भारतीय समाज को दिखावे की इस हानिकारक प्रवृत्ति से मुक्त कराने का उत्तरदायित्व गाँधी जी इस देश के शिक्षित युवक-युवतियो पर ही डालते है। यह दु ख की बात है कि हमारे देश का शिक्षित युवक वर्ग अपने इस महान सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर सका जिसके परिणामस्वरूप हमारे समाज मे प्रदर्शन की यह घातक प्रवृत्ति निरतर बढती ही जा रही है। इस दुखद तथ्य को ध्यान मे रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि आज से सत्तर या पचहत्तर वर्ष पूर्व इस दुष्प्रवृत्ति के सबध मे गाँधी जी ने जो कुछ कहा था वह आज भी पूर्णत सार्थक और मान्य है।

यह समझना कठिन नही है कि अभी तक जिन सामाजिक समस्याओ पर विचार किया गया है उनका नारी की सामाजिक स्थिति पर बहुत गहरा और व्यापक प्रभाव पडता है। बाल-विवाह दहेज-प्रथा, पर्दा-प्रथा, देवदासी प्रथा और प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण परिवार तथा समाज मे नारी की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचता है और पुरुष की तुलना मे उसका महत्त्व बहुत कम हो जाता है। इन सभी दुष्प्रथाओं के कारण ही शताब्दियो से भारतीय समाज मे नारी अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नही कर सकी। यह सत्य है कि स्वतत्रता के पश्चात् भारतीय संविधान द्वारा सभी क्षेत्रो मे नारी को पुरुष के समान ही अवसर तथा अधिकार प्रदान किए गए है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वह अभी भी परिवार और समाज मे पुरुष के समान स्थान प्राप्त नही कर सकी। इसका मुख्य कारण हमारे देश मे प्रचलित वे सभी सामाजिक बुराइयाँ हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। स्पष्ट है कि इन्हे समाप्त किए बिना नारी की वर्तमान सामाजिक स्थिति मे सुधार होने की कोई आशा नही की जा सकती। यही कारण है कि गाँधी जी ने अपने समाज-सुधार सबधी कार्यक्रम मे इन सभी सामाजिक बुराइयो के निराकरण को सर्वोच्च स्थान दिया है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, इन बुराइयो को समाप्त करने का उत्तरदायित्व वे मुख्यत भारत के युवा वर्ग पर ही डालते हैं। उनका विचार है कि हमारे समाज मे युवा वर्ग ही शांतिपूर्ण एव अहिंसात्मक सामाजिक क्रांति

6 वही पुस्तक पृ 428.

आरभ कर सकता है वे स्पष्ट कहते हैं कि युवक युवतियो को अपने माता पिता तथा अन्य अभिभावकों के ऐसे आदेशो को स्वीकार नही करना चाहिए जो समाज के लिए हानिकारक हैं और जिनके कारण नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता है। भारत मे माता-पिता प्राय' अपनी वयस्क सतान पर भी अपने रूढ़ीवादी विचारो को थोपने का अधिकाधिक प्रयत्न करते हैं, वे युवक-युवतियो को नवीन विचारो के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने की स्वतत्रता नहीं देते। यह स्थिति वाछनीय सामाजिक क्राति मे निश्चय ही बहुत बडी बाधा डालती है, अत इसे अनुचित एव अन्यायपूर्ण मानते हुए गाँधी जी ने लिखा है कि "हमारे शास्त्रो के अनुसार माता-पिता को सोलह वर्ष और इससे अधिक आयु के लडके को अपना विश्वासपात्र मित्र समझना चाहिए, ऐसा बालक नही जिसे वे कोई कार्य करने के लिए बाध्य कर सके। परन्तु हमारे देश मे कुछ माता-पिता ऐसा समझते है कि उनके वयस्क पुत्र-पुत्रियो को भी उनकी प्रत्येक इच्छा— विशेषत विवाह सबंधी इच्छा— को अनिवार्यत: स्वीकार करना चाहिए, वे यह मान लेते है कि उनकी सतान की अपनी कोई इच्छा है ही नही। . . मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इन परिस्थितियो मे माता-पिता के रोष से भयभीत न होना युवक-युवतियों का अधिकार ही नही, प्रत्युत उनका धार्मिक कर्तव्य भी है। मेरा यह अनुभव रहा है कि जब वयस्क सतान कोई उचित एव न्यायपूर्ण कार्य करने का निश्चय करती है और अपने इस निश्चय पर पूर्णत- दृढ रहती है तो माता-पिता कम से कम कठिनाई उत्पन्न करते हैं। जब वे एक बार यह समझ लेते है कि उनके बच्चों का निश्चय पूर्णतया अपरिवर्तनीय है तो वे इसे स्वीकार कर लेते हैं"।[37] इस प्रकार गाँधी जी नई पीढ़ी का यह अधिकार ही नही, अपितु आवश्यक कर्तव्य भी मानते हैं कि वह शातिपूर्ण एव अहिसात्मक सामाजिक क्राति के लिए आवश्यकता पडने पर माता-पिता के रूढिवादी विचारो को अस्वीकार करके युक्तिसगत तथा न्यायपूर्ण नवीन दृष्टिकोण के अनुसार कार्य करे।

नारी की सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए गाँधी जी के उपर्युक्त सुझाव का विशेष महत्त्व है, क्योंकि भारत की नई पीढ़ी ही शताब्दियो से प्रचलित हानिकारक सामाजिक प्रथाओ का अत करके परिवार तथा समाज मे नारी को उसका गौरवपूर्ण स्थान प्रदान कर सकती है।

37 वही पुस्तक, पृ 416.

पारिभाषिक हिंदी शब्दों के अँग्रेजी पर्याय

अंतःकरण	conscience	अवर्णनात्मक	non-descriptive
अंतःप्रज्ञा	intuition	अशुभ	evil
अंतःप्रज्ञात्मक	intuitive	असंज्ञानात्मक	non-cognitive
अंतःप्रज्ञावाद	intuitionism	असंज्ञानवाद	non-cognitivism
अंतःप्रज्ञावादी	intuitionist	असंज्ञानवादी	non-cognitivist
अन्तश्चेतना	conscience	असत्यापनीय	unverifiable
अकार्यात्मक	non-functional	अज्ञात	unknown
अतिमानव	superman	अज्ञेयवाद	agnosticism
अतीन्द्रिय	supersensible	अज्ञेयवादी	agnostic
अद्वितीय	unique	आगमनात्मक	inductive
अधिनायकवादी	dictatorial	आचारमीमांसा	Ethics
अधिनीतिशास्त्र	Meta-ethics	आत्म-प्रेम	Self-love
अधि-नैतिक	meta-ethical	आधार वाक्य	premise
अधिष्ठान	substratum	आपातिक	contingent
अनियतत्ववाद	indeterminism	आवर्तन	recurrence
अनियतत्ववादी	indeterminist	ईश्वरपरक	theological
अनुचिन्तन	reflection	ईश्वरवाद	theism
अनुपम	unique	ईश्वर विद्या	Theology
अनुभव	experience	उत्पादन	productivity
अनुभवातीत	transcendent	उत्तरदायित्व	responsibility
अनुभववाद	empiricism	उदात्तीकरण	sublimation
अनुभववादी	empiricist	उद्देश्य	subject
अनुमान	inference	उपयोगितावाद	utilitarianism
अनुमोदन	approval	उपयोग-सिद्धान्त	use-theory
अनैच्छिक	involuntary,	एकतन्त्र	autocracy
	(non-voluntary)	एकतत्ववाद	monism
अनौचित्य	wrongness	एकरूपता	uniformity
अननुमोदन	disapproval	ऐच्छिक	voluntary
अन्योन्य क्रियावाद	interactionism	औचित्य	rightness
अनवस्था दोष	regress	कारणमूलक	causal
अपरोक्ष	direct	कार्यात्मक	functional
अबोधगम्य	unintelligible	गुण	quality
अभिप्रेरणा	motive	गुणात्मक	qualitative
अभिवृत्ति	attitude	गौण	secondary
अमूर्त	abstract	गवाक्षहीन	windowless
अमरता	immortality	चाहिए	ought
अवधारणा	concept	चिदणु	monad

चिदणुवाद	monadology
जगतकारण युक्ति	cosmological argument
जटिल	complex
जन्मजात	innate
छद्म कथन	pseudo-statement
तात्विक	metaphysical
तार्किक	logical
तटस्थेश्वरवाद	deism
तटस्थेश्वरवादी	deist
तत्वमीमांसा	Metaphysics
तथ्य	fact
तथ्यात्मक	factual
तर्कीय	logical
तर्कबुद्धि	reason
तर्कशास्त्र	Logic
दास-नैतिकता	slave-morality
दैववाद	fatalism
द्रव्य	substance
द्वैतिक	secondary
द्वैतवाद	dualism
द्वंद्वात्मक प्रणाली	dialectical method
निगमन	deduction
निगमनात्मक	deductive
नियतत्ववाद	determinism
नियतत्ववादी	determinist
निरीश्वरवाद	atheism
निरीक्षण	observation
निर्देशात्मक	demonstrative
निर्देशात्मक सिद्धांत	referential theory
निर्प्राकृतिक	non-natural
निश्चित	certain
पुद्गल	matter
पुनरावृत्यात्मक	Tautologous
पुनरुक्ति	Tautology
पूर्ण-प्रत्यय	absolute idea
पूर्वमान्यता	pre-supposition
पूर्व स्थापित का सिद्धांत	theory of pre-established harmony
प्राक्कल्पना	hypothesis
प्राकृतिक	natural
प्रागनुभविक	a priori
प्राथमिक	primary
परामर्शात्मक	prescriptive
परामर्शात्मकता	prescriptivity
परामर्शवाद	prescriptivism
परामर्शवादी	prescriptivist
प्रायिक	probable
परिमाणात्मक	quantitative
प्रकृतिवाद	naturalism
प्रकृतिवादी	naturalist
प्रतिकृति	image
प्रतिनिधित्ववाद	representationism
प्रतिपक्ष	anti-thesis
प्रतिज्ञप्ति	proposition
प्रत्यय	idea
प्रत्यय-सत्ता-युक्ति	ontological argument
प्रत्यक्षवाद	positivism
प्रत्यक्षवादी	positivist
प्रभु-नैतिकता	master-morality
प्रमाण	proof
परमतत्व	absolute
पर्याय	mode
पक्ष	thesis
बुद्धिगम्य	intelligible
बोधगम्य	intelligible
बोधगम्यता	intelligibility
बौद्धिक	rational
बहुतत्ववाद	pluralism
भाग्यवाद	fatalism
भौतिकवाद	materialism
मानकीय	normative
मानवत्वारोपी	anthropomorphic
मूल कर्त्तव्य	prima-facie-duty
मूल्य	value
	transvaluation
मन	mind

मनस	mind
राज्य	state
वास्तविक	real
विकल्प	alternative
वितरण	distribution
विधेय	predicate
विवेक सगत	rational
विश्लेषणात्मक	analytical
व्याघात का नियम	law of contradiction
व्यावहारिक तर्कबुद्धि	practical reason
व्यक्ति	individual
व्यक्तिनिष्ठ	Subjective
व्यक्तिनिष्ठवाद	Subjectivism
व्यक्तिनिष्ठवादी	Subjectivist
वर्णनात्मक	descriptive
वस्तुनिष्ठवाद	objectivism
शाश्वत	eternal
शुभ	good
शक्ति	energy
शक्ति की इच्छा	will to power
सामाजिक समझौता	social contract
सामान्य	abstract, general
साम्यवाद	communism
सार्वजनीन	universalizable
सार्वजनीनता	universalizability
सार्वभौम	Universal
सुख	happiness
सुखवाद	hedonism
सैद्धांतिक तर्कबुद्धि	theoretical reason
सौंदर्यशास्त्र	Aesthetics
सकल्प-स्वातन्त्र्य	freedom of will
सपक्ष	synthesis
सबद्ध	relation
सरक्षण	conservation
सवेग	emotion
सवेगात्मक	emotive
सवेगवाद	emotivism
सवेगवादी	emotivist
मानवतावाद	humanism
सवेदन	sensation
सवेदनात्मक	sensational
सवर्ग	category
सत्ता	reality, existence
सत्यापन	verification
सद्गुण	virtue
समष्टि	whole
ज्ञान-मीमांसा	Epistemology

लेखक के विषय में

अमृतसर के अधविद्यालय मे प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् प्रोफेसर वेद प्रकाश वर्मा ने मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त की। आगरा कॉलेज के छात्र के रूप मे उन्होने 1960 मे आगरा विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र मे एम ए की परीक्षा उत्तीर्ण की जिसमे उन्होने प्रथम श्रेणी के साथ-साथ सपूर्ण विश्वविद्यालय मे प्रथम स्थान भी प्राप्त किया।

सेट जॉन्स कॉलेज, आगरा तथा आगरा कॉलेज आगरा मे लगभग दो वर्ष तक अध्यापन-कार्य करने के उपरान्त प्रोफेसर वर्मा को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से शोध-छात्रवृत्ति प्राप्त हुई और 1963 मे उन्होने दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग मे समकालीन नैतिक दर्शन पर शोध-कार्य प्रारम्भ किया। इसी विश्वविद्यालय ने उन्हे 1967 मे पी-एच डी की उपाधि प्रदान की। सितम्बर 1967 से वे दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग मे अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। नैतिक दर्शन तथा धर्म-दर्शन उनके अध्ययन-अध्यापन के प्रमुख विषय है जिन पर उन्होने अनेक ग्रथ एव शोध-पत्र लिखे है।

अब तक प्रोफेसर वर्मा की निम्नलिखित सात पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है

1 **नीतिशास्त्र के मूल सिद्धात**, अलाइड पब्लिशर्ज, नई दिल्ली प्रथम सस्करण 1977; द्वितीय सस्करण 1982, अनमुद्रण 1984 तथा 1987, तृतीय सस्करण 1988
2 **डेविड ह्यूम का दर्शन**, राजस्थान हिंदी ग्रथ अकादमी जयपुर, 1978
3 **सम कन्टेम्परेरी मैटा-ऐथिकल थ्योरीज**, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1978
4 **महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन**, इद प्रकाशन दिल्ली, पथम सस्करण 1979, द्वितीय सस्करण 1989
5 **लुई ब्रेल**—व्यक्तित्व और कृतित्व रोटरी क्लब, दिल्ली नाथ 1981
6 **समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन** —हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय प्रथम सस्करण—1982, द्वितीय सस्करण—1986
7 **अधि-नीतिशास्त्र के मुख्य सिद्धात** , अलाइड पब्लिशर्ज नई दिल्ली, 1987

इन पुस्तको मे से पहली, दूसरी, चौथी तथा सातवी पुस्तक पर उत्तरप्रदेश हिंदी सस्थान, लखनऊ द्वारा और छठी पुस्तक पर अखिल भारतीय दर्शन-परिषद द्वारा प्रोफेसर वर्मा को पुरस्कार प्रदान किए गए है।

उपर्युक्त पुस्तको के अतिरिक्त प्रोफेसर वर्मा ने हिंदी तथा अंग्रेजी मे दर्शन विषयक बहुत से शोध-पत्र भी लिखे हैं जो दर्शन-शास्त्र सबधी पुस्तको और पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके हैं।